पाश्चात्य दर्शन का इतिहास

खण्ड 2

राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर



सम्पादक प्रो. दयाकृष्ण

पाश्चात्य दर्शन का इतिहास

खण्ड–२

सम्पादक

प्रो० दयाकृष्ण

राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर

हिन्दी में पाश्चात्य दर्शन के समग्र इतिहास पर हिन्दी में अभी तक कोई पुस्तक नहीं थी, केवल डेकार्ट से आरम्भ होने वाले युग पर ही, जिसे आधुनिक युग भी कहा जाता है, कुछ पुस्तकें इधर प्रकाशित हुई हैं। इस प्रकार पाश्चात्य दर्शन के समग्र इतिहास पर इस पुस्तक का प्रकाशन इस दिशा में बहुत महत्त्वपूर्ण प्रथम चरण है। इसमें विभिन्न लेखकों से उनकी रुचि और विशेषज्ञता के अनुसार दार्शनिकों पर लेख लिखवाये गये हैं। इतिहास-लेखक की दृष्टि से यद्यपि यह विधि उचित नहीं है, किन्तु इसके कुछ दूसरे लाभ हैं—इससे पृथक्-पृथक् दार्शनिकों पर अधिक प्रामाणिक अध्ययन प्राप्त हो जाता है। प्रो. दयाकृष्ण ने, जो कि स्वयं एक उत्कृष्ट चिन्तक और दार्शनिक लेखक हैं, इस ग्रन्थ के लिए यथासंभव उत्कृष्टतम दार्शनिक लेखकों का सहयोग प्राप्त किया है, इसलिए हमें पूर्ण विश्वास है कि यह ग्रन्थ हमारे विद्यार्थियों और अध्यापकों के लिए अत्यधिक उपादेय होगा।

मूल्य : 43·00

पाश्चात्य दर्शन का इतिहास
खण्ड 2

पाश्चात्य दर्शन का इतिहास

खण्ड–२

सम्पादक

प्रो० दयाकृष्ण

राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर

शिक्षा तथा समाज कल्याण मंत्रालय, भारत सरकार की विश्वविद्यालय स्तरीय ग्रंथ निर्माण योजना के अन्तर्गत, राजस्थान हिन्दी ग्रंथ अकादमी, जयपुर द्वारा प्रकाशित

प्रथम संस्करण : 1984

PASCHATYA DARSHANA KA ITIHAS

भारत सरकार द्वारा रियायती मूल्य पर
उपलब्ध कराये गये कागज से निर्मित

मूल्य : 43.00

प्रकाशक :

राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी
ए–26/2, विद्यालय मार्ग, तिलक नगर,
जयपुर

मुद्रक :

दि कपूर प्रेस
जयपुर

प्राक्कथन

हिन्दी ग्रन्थ अकादमी अपने जीवन काल के पन्द्रह वर्ष पूरे कर चुकी है। 15 जुलाई 1984 को इस संस्था ने सोलहवें वर्ष में प्रवेश किया है। इस अल्पावधि में संस्था ने विभिन्न विषयों के लगभग 325 मानक ग्रन्थों का हिन्दी में प्रकाशन कर मातृभाषा के माध्यम में विश्वविद्यालय के छात्रों व विषय विशेष के पाठकों के समक्ष भाषा वैविध्यता की कठिनाई दूर करने में अपना अकिंचन योगदान दिया है।

अकादमी के कई प्रकाशन द्वितीय व तृतीय आवृत्तियों में छप चुके हैं। इसके लिए हम सुयोग्य पाठकों व लेखकों के अत्यन्त ऋणी हैं।

प्रकाशन जगत में मानक ग्रन्थों का कम मूल्य पर प्रकाशन एक ऐसा प्रयत्न है जिससे विश्वविद्यालय स्तर एवं विषय विशेष के विशेषज्ञों के ग्रन्थ आसानी से हिन्दी में उपलब्ध हो सकें। प्रयत्न यह रहा है कि अकादमी शोध ग्रन्थों का प्रकाशन अधिकाधिक करे इससे लेखक एवं पाठक दोनों ही लाभान्वित हो सकें तथा प्रामाणिक विषय वस्तु पाठकों को सुलभ होती रहे। लेखक को भी नव सृजन के लिए उत्साह व प्रेरणा मिलती रहे जिससे प्रकाशन के अभाव में महत्वपूर्ण पाण्डुलिपियां अप्रकाशित ही नहीं रह जायें। वास्तव में हिन्दी ग्रन्थ अकादमी इसे अपना उत्तरदायित्व समझती रही है कि दुर्लभ विषय ग्रन्थों का ही प्रकाशन किया जाय। हमें यह कहते गर्व होता है कि अकादमी द्वारा प्रकाशित कतिपय ग्रन्थ केन्द्र एवं अन्य राज्यों के बोर्ड व संस्थानों द्वारा पुरस्कृत किये गये हैं और इनके विद्वान लेखक सम्मानित हुए हैं।

भारत सरकार के शिक्षा मंत्रालय की अनुप्रेरणा व सहयोग हिन्दी ग्रन्थ अकादमी को स्वरूप ग्रहण करने से लेकर योजनाबद्ध प्रकाशन कार्य में अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं। राज्य सरकार ने इस अकादमी को आरम्भ से ही पूरा-पूरा सहयोग देकर पल्लवित किया है।

अकादमी अपने भावी कार्यक्रमों में राजस्थान से सम्बन्धित दुर्लभ ग्रन्थों के प्रकाशन कार्य को प्रमुखता देने जा रही है जिससे विलुप्त कड़ियाँ जुड़ सकें। यह भी

प्रयत्न है कि तकनीकी एवं अधुनिकतम विषय वस्तु के ग्रन्थ योजनाबद्ध प्रकाशित हों जिससे सम्पूर्ण विषय वस्तु का ज्ञान प्राप्त करने में छात्रों को किसी तरह का अभाव अनुभव नहीं हो।

सुप्रसिद्ध दार्शनिक डा० दयाकृष्ण द्वारा सम्पादित 'पाश्चात्य दर्शन का इतिहास, खण्ड-2' को प्रकाशित करते हुए हमें अतीव प्रसन्नता है। पुस्तक स्नातकोत्तर स्तर के छात्रों एवम् अध्यापकों के लिए अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होगी, ऐसी हमें आशा है। इसमें विभिन्न प्रसिद्ध पाश्चात्य दार्शनिकों-डेकार्ट से बर्गसां तक-पर प्रामाणिक व मौलिक विवेचन अधिकारी विद्वानों द्वारा प्रस्तुत किया गया है, जो विषय में रुचिशील व्यक्तियों के लिए अमूल्य निधि रूप होगा।

हम इसके सम्पादक व सहयोगी लेखकों के प्रति प्रदत्त सहयोग हेतु अत्यधिक आभारी हैं।

शिवचरण माथुर
मुख्यमंत्री, राजस्थान सरकार
एवं
अध्यक्ष, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी

(डा०) पुरुषोत्तम नागर
निदेशक
राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी

दो शब्द

पाश्चात्य दर्शन के इतिहास का प्रथम भाग राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी द्वारा 1978 में प्रकाशित हो चुका है, हालांकि भूल से उस पर "प्रथम भाग" छपना शेष रह गया है।

आज करीब चार वर्ष बाद उसके दूसरे भाग का छपना उस संकल्प को साकार करना है जो बहुत वर्ष पहले, अनजाने में, शल्य जी के आग्रह पर मैंने स्वीकार कर लिया था। उस समय सोचा भी न था कि कार्य इतना लम्बा खिंच जाएगा, और इसका तो स्वप्न में भी आभास न था कि इतना सरल दिखने वाला काम इतनी अधिक कठिनाइयों को जन्म देगा। यदि इन कठिनाइयों का पता होता तो शायद काम हाथ में लेने की हिम्मत ही न होती।

पाश्चात्य दर्शन का यह दूसरा भाग डेकार्ट से प्रारम्भ होकर बर्गसाँ पर समाप्त होता है। यह पश्चिमी दर्शन का वह युग है जिसमें दर्शन की मुख्य समस्याएं, विशेषकर वह जो ज्ञान-मीमांसा से सम्बन्धित है, अपने उस विशिष्ट रूप को प्राप्त हुई जो आज भी उस प्रत्येक विचारक को जो पश्चिमी विचार-धारा से प्रभावित है, प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से, चिन्तन की विधा देती है। साधारणतः इस युग की विचारधारा को दो भागों में विभक्त किया जाता है, एक वह जो ब्रिटिश अनुभववाद के नाम से विख्यात है और दूसरी वह जो यूरोपीय बुद्धिवाद के नाम से जानी जाती है। भूगोल के हिसाब से यह नामकरण कितना ही अटपटा क्यों न लगे फिर भी यह उस सत्य की ओर ध्यान दिलाता है जिसके अनुसार ब्रिटेन ने अपने को कभी यूरोप का अंग नहीं माना। और इसी प्रकार यूरोपीय देशों ने भी इसको अपने से अलग ही समझा। आज भी एक प्रकार से ब्रिटेन और उससे प्रभावित देशों की दार्शनिक परम्परा में और युरोप के देशों की दार्शनिक परम्परा में मूलभूत अन्तर है। यदि नवहेगेलवाद के दार्शनिक प्रसंग को छोड़ दें तो आंग्ल दार्शनिक यूरोपीय विचारधारा से बहुत कम प्रभावित लगेंगे।

इस ग्रन्थ में इस युग की प्रत्येक दार्शनिक परम्परा के मूर्धन्य दार्शनिक चिन्तकों पर स्वतन्त्र रूप से लेख लिखे गए हैं और इसका वैशिष्ट्य यह है कि अधिकतर लेखकों ने अपने लेखों को पश्चिमी दर्शन के इतिहास की पुस्तकों पर

आधारित न करके उस दार्शनिक के स्वतन्त्र मूल ग्रन्थों के आधार पर ही अपने लेख लिखने की चेष्टा की है। इस प्रकार से यह ग्रन्थ उन दूसरे ग्रन्थों से जो हिन्दी में इस विषय पर लिखे गए हैं मूलरूप से भिन्न है। दर्शन के इतिहास और मूल दार्शनिक ग्रन्थों में सम्बन्ध तो होता है परन्तु जैसा कि हर पाठक जानता है कि जब वह दर्शन के किसी इतिहास की पुस्तक को पढ़ने के बाद लेखक के मूलग्रन्थ का गहराई से अवलोकन करता है तो वह अधिकतर पाता है कि कुछ समानता होते हुए भी दोनों में गहरे भेद हैं। जब किसी दार्शनिक के मूल ग्रन्थों का अध्ययन होता है तब ऐसा प्रतीत होता है कि इस विषय में जो पहले की समझी समझाई बातें थीं वे ठीक नहीं थीं। दार्शनिक का विचार उससे अधिक गहरा और संशलिष्ट प्रतीत होता है जितना कि दर्शन का इतिहास उसे दर्शाता है। इसलिए यदि कई स्थानों पर दार्शनिकों के ऊपर जो लेख इस ग्रन्थ में संकलित हैं उनको पढ़कर यदि किसी को यह लगे कि इन दार्शनिकों के मत के बारे में जो उसके अपने विचार हैं उनसे यह भिन्न है तो उसे आश्चर्य नहीं होना चाहिए। कई बार लेखों को पढ़ते समय मुझे स्वयं भी ऐसा ही लगा था और मूल ग्रन्थों को देखकर ही मुझे ऐसा आभास हुआ कि मेरी समझ उस दार्शनिक के विचार के बारे में उतनी सही नहीं है जितनी मैंने मान रखी थी। जब मूल ग्रन्थ को देखने के बाद भी मेरे मत में विशेष परिवर्तन नहीं हुआ तो मैंने लेखकों का ध्यान इस ओर दिलाया और उन्होंने कुछ आवश्यक परिवर्तन इस विषय में किए। कहीं-कहीं ऐसा लगता था कि दार्शनिक के विचार को कई प्रकार से समझा जा सकता है, और वे सब विकल्प ठीक मालूम होते हैं। यह बात दार्शनिकों के सुविख्यात भाष्यकारों और टीकाकारों के बारे में भी सुविदित है।

दूसरी बात जो इस ग्रन्थ के बारे में कही जा सकती है वह यह है कि इसके लेखकों ने अपने लेख केवल मूल ग्रन्थों के आधार पर ही नहीं लिखे हैं बल्कि उनके विषय में नए प्रश्न उठाए हैं और नई दृष्टि भी दी है। कांट पर शल्य जी का लेख इसका उत्कृष्ट उदाहरण है। मूर पर डा० राजेन्द्रप्रसाद का लेख इतना सरल, स्पष्ट और बुद्धिगम्य होते हुए भी उसके विचारतंत्र को गहराई से पकड़ता है। डेकार्ट पर डा. भारद्वाज का लेख कुछ नई बातें कहता है जबकि स्पिनोज़ा पर डा. त्रिपाठी का लेख उसके दर्शन को अद्वैतवादी दृष्टिकोण से देखने की चेष्टा करता है। लाइब्निज़ को अधिकतर मोनेडोलॉजी के लेखक के रूप में समझा जाता है पर जिन्होंने लोयमकर (Loemker) का नया अनूदित संकलन देखा है और जिस पर डा. शिवानन्द शर्मा का लेख आधारित है वे यह जानते हैं कि इस दार्शनिक को समझने के लिए उसकी अन्य कृतियों का ज्ञान कितना आवश्यक है। इसी प्रकार श्री ए. एम. घोष और डा. भटनागर के लेख गहन चिन्तन के प्रतीक हैं। कांट से हेगेल तक के दार्शनिकों पर डा० गोविन्द चन्द्र पांडे को लिखने का आग्रह किया था पर जब वे किसी कारणवश न लिख सके तो शल्य जी को लेख लिखने के लिए कहा

गया और कांट, फिख्ते, शैलिंग जैसे दुरूह दार्शनिकों के विचार पर गंभीर लेख लिखकर उन्होंने ग्रन्थ के सम्पूर्ण होने में जो सहायता दी है उसे मैं ही जानता हूं। सुशीलकुमार सक्सेना की ब्रैडले पर प्रसिद्ध पुस्तक **म्यूरहैड लाइब्रेरी ऑफ फिलासफी** में छपी है। उन्होंने उसी दार्शनिक पर लेख लिख कर इस ग्रंथ को अधिक प्रमाणिक रूप देने में सहायता दी है।

विभिन्न लेखकों के विभिन्न दार्शनिकों पर लेख लिखने में जहां एक ओर यह लाभ रहता है कि दार्शनिक के विचार के प्रति अधिक ईमानदारी बरती जा सके और उसको उसके स्वयं के परिप्रेक्ष्य में समझा जा सके वहाँ एक यह कठिनाई भी उत्पन्न होती है कि दार्शनिक परम्परा को समग्र रूप में समझने का प्रयास ही नहीं होता। इस कमी को पूरा करने के लिए मैंने पश्चिमी दर्शन के आधुनिक इतिहास पर स्वयं एक विहंगम, पर समग्र, दृष्टि डालने की चेष्टा की है इसमें उन उपलब्धियों पर ध्यान आकर्षित करने की चेष्टा है जो मेरे विचार में इस युग की सबसे महत्वपूर्ण देन है। आशा है कि इससे पाठक को दर्शन के इस युग को समग्र रूप में देखने में सहायता मिलेगी।

दयाकृष्ण
सम्पादक

विषय सूची

—

पाश्चात्य दर्शन का आधुनिक युग
एक विहंगम दृष्टि
[डेकार्ट से बर्गसाँ तक]

पश्चिमी दर्शन के इतिहास का आधुनिक युग प्रायः डेकार्ट से प्रारम्भ हुआ समझा जाता है। परन्तु गहराई से देखने पर ऐसा लगेगा कि यह वास्तव में उस नई दृष्टि से प्रारम्भ होता है जिसने ज्ञान को देखने की दिशा मे एक नई दृष्टि उत्पन्न की। यह दृष्टि गेलीलियो और बेकन के नाम से सम्बन्धित है। इसने न केवल इन्द्रियानुभूति को ही ज्ञान का आधार माना परन्तु ज्ञान की खोज के लिए एक ऐसी विधि पर भी ज़ोर दिया जो मनुष्य के किसी विषय के बारे में परिकल्पित ज्ञान को परख सके। इस प्रकार इन्द्रियानुभूति ज्ञान का स्रोत न होकर केवल एक कसौटी ही सिद्ध हुई। वह एक प्रकार का ऐसा न्यायालय थी जिसमें किसी भी विषय के ज्ञान के बारे में विभिन्न मतों के बीच फैसला हो सकता था। केवल तर्क या बुद्धि के सहारे ही ज्ञान की प्राप्ति नहीं की जा सकती। ज्ञान को ज्ञान होने के लिए इन्द्रियानुभव के क्षेत्र में अपने को सिद्ध करना पड़ता है।

दूसरी ओर, पश्चिमी दर्शन के इतिहास में जिसे आधुनिक युग कहते हैं वह पश्चिमी सभ्यता के इतिहास के वैशिष्ट्य से भी सम्बन्धित है। और वह यह कि ईसाई धर्म के प्रभुत्व के स्थापित होने के बाद सत्य के बारे में यह निश्चित हो चुका था कि जो कुछ बाईबिल में है, वह ही चरम सत्य है, और उस पर सन्देह करना पाप है। जो स्वयं ईश्वर ने कहा है वह कैसे गलत माना जा सकता है। इस सन्दर्भ में अवश्य डेकार्ट एक प्रकार से आधुनिक युग के प्रतीक हैं, क्योंकि उन्होंने सार्वभौमिक संदेह-विधि को अपनाया ही नहीं परन्तु उसको वह रूप दिया जो आज सबकी बपौती बन चुका है। उन्होंने यह कह कर आधुनिक युग का श्रीगणेश किया कि जिस किसी पर भी संदेह किया जा सकता है, उस पर संदेह करना चाहिए और ज्ञान की भव्य इमारत की आधारशिला केवल ऐसे ही आधार-वाक्यों पर बनाई जा सकती है जिन पर संदेह किया ही नहीं जा सके। और उन्होने यह भी स्पष्ट किया कि जैसे ही संदेह की प्रक्रिया प्रारम्भ होती है तो शायद ही कोई ऐसी चीज़ बची रहती है जिसके

विषय में संदेह किया ही नहीं जा सके। सामान्य विश्वास केवल विश्वास मात्र ही है, क्योंकि यह तो सबको पता ही है कि कभी न कभी हम स्वयं या अन्य कोई उसके विषय में धोखा खा चुके हैं या खा सकते हैं। और ज्ञान को इस प्रकार संदेह की दृष्टि से देखने पर उनको कोई भी ज्ञान संदेह से रहित प्रतीत न हुआ और तभी उनको ऐसा लगा कि यह ठीक मानने पर भी कम से कम जो व्यक्ति संदेह कर रहा है उस पर तो संदेह नहीं किया जा सकता क्योंकि संदेह पर संदेह करना उस संदेह की पुनरावृत्ति मात्र है और इस प्रकार कम से कम यह तो कहा ही जा सकता है कि संदेह की प्रक्रिया है और यदि हम यह मानें कि कोई क्रिया या विचार स्वयं में अस्तित्वमान नहीं हो सकता, तो यह माना पड़ेगा कि कोई संदेह करता है। इसी को उन्होंने अपने प्रसिद्ध वाक्य "मैं सोचता हूँ, इसलिए मैं हूँ" में कहा है। आधुनिक दर्शन की सुदृढ़ नींव इस वाक्य में पाई जा सकती है; क्योंकि यदि चेतना का प्रत्येक विषय मूलभूत संदेह की दृष्टि से देखा जा सकता है तो एक प्रकार से सारा जगत, यहाँ तक कि विषय रूप में मैं स्वयं, संदेह से ग्रसित है और केवल चेतना या दृष्टा जिसके लिए ये सब विषय हैं, वही संदेह से मुक्त एकमात्र सत् है।

एक प्रकार से ऐसी ही बात सांख्य दर्शन में भी की गई है जहाँ पुरुष केवल दृष्टा-मात्र है। और जो कुछ भी विषय रूप में प्राप्त होता है चाहे फिर वह प्रत्यक्ष हो या मनस्, बुद्धि हो या कर्म की भावना सब प्रकृति के अंश हैं, फिर चाहे स्थूल हों या सूक्ष्म। डेकार्ट के विचार ने सांख्य का रूप तो नहीं लिया; इसके कारण अनेक हो सकते हैं। परन्तु एक कारण शायद यह भी था कि सांख्य का द्वैत संदेह पर आश्रित नहीं है और वह जगत् को या प्रकृति को उतना ही सच मानता है जितना कि पुरुष को।

यह प्रश्न पूछा जा सकता है कि डेकार्ट ने जो संदेह की प्रक्रिया प्रत्येक विषय के संदर्भ में की, वह क्या विषय की प्रतीति पर भी की जा सकती है। जो मुझे दीखता है, वह लाल है, इस पर संदेह किया जा सकता है क्योंकि अनेक बार जो प्रत्यक्ष का विषय है उसके बारे में मुझे भ्रम हुआ है। परन्तु कोई यदि ऐसा कहे कि जो मुझे दीखता है, "वह लाल प्रतीत होता है," तो क्या वह तब भी संदेह का विषय हो सकता है ? क्या इस प्रकार के अनुभूत विषय नहीं हैं जिनमें प्रतीति और सत्य में एक प्रकार से तादात्मय है। उदाहरण के लिए कोई यदि यह कहे कि उसे दर्द हो रहा है तो यदि वह धोखा नहीं दे रहा है तो क्या यह मानना नहीं पड़ेगा कि उसे वास्तव में दर्द हो रहा है ? पीड़ा की प्रतीति और पीड़ा का सत् क्या एक ही चीज़ नहीं है। डेकार्ट ने इस प्रश्न को इस रूप में तो नहीं उठाया परन्तु जहाँ तक पहला प्रश्न है, उसके सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि यदि यह मान भी लें कि जो प्रतीति हो रही है उस पर संदेह नहीं किया जा सकता, तब भी उसके विषय में कम से कम दो बातें तो कही ही जा सकती हैं : एक तो यह, कि उसमें कोई अनिवार्यता नहीं

है। जो प्रतीत हो रहा है उससे भिन्न भी प्रतीत हो सकता था। यदि लाल दिखाई दे रहा है तो यह कोई आवश्यक नहीं कि लाल ही दिखाई दे, अन्य रंग की प्रतीति भी हो सकती थी। दूसरी बात इस संदर्भ में यह भी सदैव उठाई जा सकती है कि प्रतीति के विषय को पहिचानना एक प्रकार से उसका वर्गीकरण करना है और इस वर्गीकरण के गलत होने की हमेशा आशंका हो सकती है। क्योंकि यह भाषा को सीखने पर और उसके सही प्रयोग पर निर्भर करता है। जिन लोगों को रंग दिखाई नहीं देते या जिनको अंग्रेज़ी में रक्तांध (कलर ब्लाइंड) कहते हैं वे भी अधिकतर रंग से सम्बन्धित वाक्यों का प्रयोग ठीक-ठीक ही करते हैं। अब यदि परीक्षण से यह सिद्ध किया जा सकता है कि उन्हें रंग का उस रूप में प्रत्यक्षानुभव नहीं हो रहा है और न हो सकता है, जिस प्रकार उन मनुष्यों को होता है जिनको रंगों का संवेदन ठीक-ठीक होता है, तो यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि उनका भाषा के माध्यम से अपने अनुभव का वर्गीकरण गलत है। डेकार्ट के चेतना या आत्म संबंधी प्रमाण के मूल में इसलिए यह भी निहित है कि उसी सत् को अकाट्य रूप में सत् माना जा सकता है जिस पर संदेह असंभव हो यानि जिसका निषेध करने पर भी उस सत्य की पुनरावृत्ति हो। संदेह पर संदेह करना एक प्रकार से संदेह की पुनर्स्थापना ही है।

यदि ध्यान से देखें तो सत्य का यह मानदण्ड उससे भिन्न है जो यह कहता है कि अनिवार्य सत्य वही है जिसका निषेध आत्मव्याघाती होता है। यह निषेध आत्मव्याघाती नहीं है क्योंकि यहाँ निषेध की असंभाव्यता आत्म के चित् स्वरूप होने से सम्बन्धित है। कहने का आशय यह है कि चेतना स्वयं अपना निषेध करने में समर्थ नहीं है।

इस प्रकार डेकार्ट का दर्शन जहाँ स्वचेतन आत्म को दर्शन का केन्द्र बिन्दु बनाता है वहीं वह जगत और चेतना के बीच एक ऐसे द्वैत का निर्माण करता है जिसमें आधुनिक दर्शन की सुदृढ़ जड़ें स्थापित हैं। यदि आत्म का गुण चेतना या विचार है, तो जो विषय रूप जगत है उसका गुण, उसके अनुसार, विस्तार है और दोनों के बीच सम्बन्ध की समस्या एक प्रकार से बनी रहती है।

डेकार्ट ने अपने विचार क्षेत्र में, या चेतना के विषय के सम्बन्ध में, एक ऐसे विचार को प्रधानता दी जिसके आधार पर उसने संदेह के इस चक्र-व्यूह से निकलने की कोशिश की और वह था एक ऐसी पूर्ण सत्ता का विचार जिसको हम "ईश्वर" कहकर संबोधित करते हैं। यह विचार चूँकि पूर्ण सत् का है इसलिए डेकार्ट की राय में इसमें स्वयं अस्तित्व छिपा हुआ है क्योंकि यदि पूर्ण सत् भी अस्तित्ववान न हो तो वह पूर्ण कैसे हो सकता है। इसलिए "ईश्वर" केवल विचार मात्र ही नहीं है; उसका अस्तित्व है और उसमें संदेह नहीं किया जा सकता। ईश्वर और आत्मा दोनों के बारे में ही यह सच है कि उनके विचार में ही उनकी सत्ता निहित है। डेकार्ट के

दर्शन में ईश्वर के सम्बन्ध में तो यह बात सर्वविदित है, किन्तु यह कम लोगों ने ही देखा है कि आत्म के सम्बन्ध में भी उसका प्रमाण काफ़ी हद तक वैसा ही है। अंग्रेजी में जिसको ऑन्टोलोजीकल आर्गूमेन्ट (Ontological Argument) कहते हैं, वह विचार-मात्र से उसकी सत्ता को सिद्ध करता है जिसका विचार है और यह बात आत्म और ईश्वर दोनों के लिए सत्य है। भेद केवल यह है कि आत्म की सत्ता की अनुभूति होती है जबकि ईश्वर साधारण अर्थ में अनुभूति का विषय नहीं है; वह केवल विचार का विषय है।

डेकार्ट ने अपने तर्क में यह भी माना कि ईश्वर के विचार का कारण मैं स्वयं नहीं हो सकता, क्योंकि मैं स्वयं अपूर्ण हूँ और कार्य में उससे अधिक सत्व नहीं हो सकता, जितना कि कारण में होता है। इस आधार पर भी उसने ईश्वर की स्वतन्त्र सत्ता को स्थापित करने की चेष्टा की। इस सन्दर्भ में भी यह विचार-योग्य बात है कि उसने यह न सोचा कि आत्म की अपूर्णता का विचार भी भ्रमपूर्ण हो सकता है। भारतीय दर्शनों में तो आत्म को अपूर्ण मानना ही अविद्या का लक्षण माना जायेगा क्योंकि अपूर्ण वही हो सकता है जो विषय-रूप हो और क्योंकि न आत्मा, न ईश्वर विषय रूप में उपस्थित होते हैं इसलिए दोनों के विषय में सीमित होने या अपूर्ण होने की बात करना व्यर्थ है। दूसरी ओर, "सीमित होने" और "अपूर्ण होने" में भी भेद करने की आवश्यकता है। पूर्णता या अपूर्णता एक मूल्यात्मक विधेय है जबकि सीमित-असीमित होना एक प्रकार से परिमाणात्मक है, और अधिकतर ऐसा माना जाता है कि सब प्रकार की वस्तुओं के सन्दर्भ में परिमाण की बात करना उचित नहीं होता।

डेकार्ट की यह मान्यता कि कार्य कारण से अधिक सत् नहीं हो सकता वास्तव ठीक प्रतीत नहीं होती। यह एक प्रकार से उसी निगमनात्मक तर्कशैली की पूर्व मान्यता पर आधारित प्रतीत होती है जिसमें यह कहा जाता है कि निष्कर्ष में आधार वाक्यों से अधिक कुछ नहीं होना चाहिए और यदि ऐसा है तो निगमन की क्रिया को अवैध मानना होगा। परन्तु कार्य-कारण सम्बन्ध तो कोई निगमनात्मक प्रक्रिया नहीं है और आज तो निगमनात्मक प्रक्रिया में भी कम या अधिक की बात इतनी स्पष्ट नहीं है जितनी कि पहले मानी जाती थी। उदाहरण के लिए अधिकांश व्यक्ति यह स्वीकार करेंगे कि p or q वाक्य केवल p वाक्य से कुछ अधिक ही कहता है परन्तु p से p or q का निगमन पूर्णतया वैध माना जाता है। इस उदाहरण से कोई यदि पूर्णतया संतुष्ट न भी हो, तो भी यह तो स्पष्ट ही है कि डेकार्ट ने आत्म की असंदिग्धता और ईश्वर की असंदिग्धता में एक मूलभूत भेद किया था जिसका महत्त्व उसने स्वयं नहीं देखा। आत्म जिस अर्थ में असंदिग्ध है, उस अर्थ में ईश्वर असंदिग्ध नहीं है और जिस अर्थ में ईश्वर की सत्ता उसके विचार में ही निहित है उसी अर्थ में आत्म के विचार में भी उसकी सत्ता निहित है।

डेकार्ट के परवर्ती दार्शनिकों ने डेकार्ट के आत्म या ईश्वर संबंधी प्रमाणों पर कोई विशेष ध्यान नहीं दिया। इसके विपरीत चेतन और जड़ के बीच जिस मूलभूत भेद की बात उसने की और उनके बीच के संबंध की समस्या जो उसने उठाई, वे उससे ही उलझे रहे। एक प्रकार से यह बात दर्शन के विकास में आकस्मिकता की ओर संकेत करती है। किसी दार्शनिक के विचार का वह कौन सा पहलू होता है जिस पर परवर्ती दार्शनिक ध्यान देते हैं और जिसको वे आगे बढ़ाने की कोशिश करते हैं, यह उनकी अपनी उस दृष्टि पर निर्भर करती है, जो एक प्रकार से उस समय की सम-सामयिक समस्याओं से जुड़ी रहती है। डेकार्ट के जड़ और चेतन में मूलभूत भेद की बात को एक प्रकार से परवर्ती दार्शनिकों ने स्वीकारा और उनके संबंध की समस्या को ईश्वर या किसी ऐसे अन्य मूल तत्त्व द्वारा सुलझाने की कोशिश की जो स्वय दोनों से परे था। वास्तव में समस्या के दो रूप हैं : एक यह कि परस्पर विरोधी या मूलतः भिन्न गुणों वाली वस्तुओं में किसी प्रकार का कार्य-कारण संबंध नहीं हो सकता। दूसरा यह कि यदि ईश्वर या किसी एक मूलभूत द्रव्य को माना जाए, तो वास्तव में कार्य-कारण प्रक्रिया का मूल कारण या मूल स्रोत भी उसको ही मानना पड़ेगा। अन्य सब कारण तो केवल आगन्तुक रूप में ही कारण समझे जा सकते हैं। पहली पूर्व मान्यता के आधार के लिए कोई विशेष तर्क नहीं दिया गया है। यह केवल एक पूर्व मान्यता ही लगती है कि किन्हीं दो चीज़ों के बीच में संबंध उनके बीच में किसी प्रकार के सादृश्य को पूर्वमान्य करती है।

भारतीय परम्परा में यह बात सांख्य दर्शन के संदर्भ में पुरुष और प्रकृति के संबंध में कही गई है। प्रकृति एक प्रकार से जड़ और विषय रूप दोनों है हालाँकि उसे जड़ कहने की बजाय यदि विषय कहें तो अधिक ठीक होगा। परन्तु यदि दो चीजें दो हैं तो उनके बीच सादृश्य और भेद दोनों को ही मानना होगा और यदि हम यह मानते हैं कि जहाँ भेद है वहाँ संबंध नहीं होगा तो यह निष्कर्ष निकालना पड़ेगा कि कोई दो चीजें यदि वे दो हैं तो उनके बीच संबंध हो ही नहीं सकता। पर इस तरह तो इस संदर्भ में जड़ पदार्थों के बीच या चेतन पदार्थों के बीच भी संबंध की समस्या बनी रहेगी। ऐसा स्पष्ट नहीं है कि डेकार्ट ने एक-धर्मी पदार्थों के बीच होने वाले कार्य-कारण संबंध या किन्हीं अन्य संबंधों के बारे में किसी कठिनाई को अनुभव किया। विशेष रूप में विभिन्न चेतन पदार्थों के बीच संबंध के विषय में उसने विवाद उठाया या नहीं यह कहना मुश्किल है, क्योंकि दो चेतन सत्ताओं के बीच में साधारणतः सबंध, यदि ईश्वर को छोड़ दें, तो जड़ शरीर के माध्यम से ही होता है। यदि हम यह नहीं मानें कि चेतनाओं के बीच में सदैव सीधा सम्बन्ध होता है, तो चेतन पदार्थों के बीच में संबंध की समस्या और जड़ पदार्थों के बीच में सबंध की समस्या में एक मूलभूत अन्तर रहेगा। परन्तु दर्शन के इतिहास में ऐसा नहीं लगता कि यह अन्तर स्पष्ट रूप से देखा गया है।

डेकार्ट के परवर्ती दार्शनिक या तो ईश्वर को जड़ और चेतन के बीच संबंध का आधार मानते हैं या, और भी गहरे रूप में, प्रत्येक कार्य-कारण शृंखला का, चाहे वह जड़ वस्तुओं के बीच में हो या चेतन वस्तुओं के बीच में या उन दोनों के बीच में, आधार ईश्वर को ही मानते हैं। केवल ईश्वर में ही एक कारणात्मक या क्रियात्मक शक्ति है। संयोगवादी दार्शनिक और उनके बाद स्पिनोज़ा, लाइब्निज़ आदि ने इस संबंध को समझने की चेष्टा की।

स्पिनोज़ा ने द्रव्य रूप सत् की धारणा को अधिक स्पष्ट करते हुए बताया कि इस धारणा में ही यह निहित है कि ऐसा सत् एक ही हो सकता है, दो या दो से अधिक नहीं। अगर सत् की धारणा को हम इस प्रकार मानें कि "वह वह है जिसका आधार उसके स्वयं के अन्दर है," तो इस विचार में ही यह निहित है कि ऐसा द्रव्य सत् एक ही हो सकता है, क्योंकि यदि हम एक से अधिक की कल्पना करेंगे तो वह एक दूसरे से सम्बन्धित होंगे, कम से कम इस रूप में कि एक दूसरे से भिन्न हैं और इसलिए एक को समझने में दूसरे के संदर्भ को अनिवार्य रूप से लाना पड़ेगा। स्पिनोज़ा ने सत् का अन्य लक्षण भी बताया है, जैसे कि द्रव्य सत् वह है जो स्वयं अपने आप द्वारा ही पूर्ण रूप से समझा जा सके, यानि, जिसको समझने के लिए किसी अन्य की अपेक्षा न हो। यहाँ दो बातों पर ध्यान देना आवश्यक है। पहली यह कि क्या यहाँ हमारे सत् को समझने के संदर्भ में बात की जा रही है या स्वयं उस सत् के बारे में ही कुछ कहा जा रहा है। एक प्रकार से समझने की बात पर ज़ोर दें तो समझने वाला कोई अन्य होगा और जिसे समझा जायेगा वह उससे भिन्न कोई दूसरा और। इस प्रकार परिभाषा में ही द्वैत की स्थापना हो जायेगी। दूसरी ओर यदि हम यह कहें कि चरम द्रव्य सिर्फ वही है जिसका आधार उसमें स्वयं है, यानि जिसको हम स्वयंभू कहते हैं, तो यह निष्कर्ष नहीं निकलेगा कि ऐसे द्रव्य-सत् अनेक नहीं हो सकते। परिभाषा के इस दूसरे रूप को आधार बना कर ही बाद में लाइब्निज़ ने अनेक द्रव्य-सत् की कल्पना की और कहा कि यदि हम चरमसत् को चित् रूप में देखें या वह जिसका देश से कोई सम्बन्ध नहीं है तो स्पिनोज़ा की परिभाषा से यह निगमित नहीं होता कि ऐसा सत् एक ही हो सकता है, अनेक नहीं। इस प्रकार के द्रव्यसत् की कल्पना उसने अपने मोनेड के प्रसिद्ध प्रत्यय में की।

स्पिनोज़ा ने चूँकि चरम द्रव्य-सत् को एक ही माना था इसलिए उसने विस्तार और विचार को इसके दो अनन्त गुणों के रूप में देखा, जिनके स्वयं अनन्त विशिष्ट पर्याय हैं। चूँकि जड़ और चेतन दिखाई देने वाली प्रक्रियाएँ एक ही मूल-सत् की दो विशिष्ट विधाएँ हैं इसलिए उसके अनुसार जो चेतन–सत् में अभिव्यक्त होता है, वही दूसरे जड़–रूप में भी अभिव्यक्त होता है। इस प्रकार हालाँकि जड़ और चेतन के बीच कोई कार्य-कारण सम्बन्ध नहीं है, तब भी एक प्रकार से वह एक दूसरे को स्वतंत्र रूप में प्रतिबिंबित करते हैं। यह स्वतन्त्र प्रतिबिम्ब का सिद्धान्त बाद में लाइब्निज़ में भी मिलेगा।

द्रव्य रूप सत् की कल्पना का विचार पश्चिमी दर्शन में अनेक रूपों में मिलता है। एक प्रकार से सत्ता मीमांसा की यह मूलभूत समस्या रही है। यदि एक से अधिक चरम द्रव्य-सत् मानें तो उनके बीच सम्बन्ध की समस्या होती है। और यदि केवल एक ही द्रव्य-सत् की परिकल्पना की जाये तो जगत के वैविध्य की समीक्षा कठिन हो जाती है। इस संदर्भ में लाइब्निज़ ने एक दृष्टिकोण प्रस्तुत करने की चेष्टा की। उसने ऐसे अनन्त द्रव्य-सत् की कल्पना की जो एक-दूसरे से पूर्णरूप से भिन्न हैं और जिनका एक दूसरे से कोई सम्बन्ध भी नहीं है। यह कल्पना एक प्रकार से दर्शन के इतिहास में अनूठी है। लाइब्निज़ ने द्रव्य-सत् को चेतना के बिन्दुओं के रूप में कल्पित किया और चूँकि चेतना में भेद केवल स्पष्टता से प्रतिबिंबित करने के आधार पर ही हो सकता है, इसलिए इन अनेक सत्ताओं में भेद उसने स्पष्टता के संदर्भ में ही माना। परन्तु यदि भेद केवल इतना ही है तो जो इन अनेक प्रकारों से प्रतिबिंबित होता है वह तो एक ही रहता है, केवल उसके प्रतिबिंबित होने की स्पष्टता के द्वारा ही विविधता उत्पन्न होती है।

परन्तु प्रतिबिंबित क्या है, यह प्रश्न यदि उठाया जाये तो लाइब्निज़ के मत के अनुसार यही कहना होगा कि चेतना स्वयं अपने में ही प्रतिबिंबित होती है। चेतना में स्वयं दो गुण विद्यमान हैं। एक कृतत्व रूप में; दूसरा ग्रहण करने, जानने, भोगने आदि के रूप में। परन्तु यह दोनों चेतना के ही दो पक्ष हैं। स्वयं चेतना जिसका सृजन करती है उसको ही विषय रूप में अनुभूत करती है। इस प्रकार से अस्तित्व की विभिन्नता चेतना की विभिन्नता के सापेक्ष है और इस क्रम में यह मानना पड़ता है कि ऐसी चेतना ज़रूर होगी जो पूर्णतः स्पष्ट है यानि जिसका कृतत्व और विषय पक्ष अपनी चरम सीमा पर है और वास्तव में इसी को हम ईश्वर कहते हैं।

ऐसा हो सकता है कि यहाँ इस प्रकार से लाइब्निज़ को समझना उसके मत से बिलकुल शतप्रतिशत मेल न खाता हो परन्तु इस पर संदेह नहीं किया जा सकता कि जो कुछ उसने कहा है, उसको बोधगम्य बनाने में यह सहायक अवश्य होता है। बाद में बर्कले ने यह माना कि केवल चेतना में ही कृतत्व शक्ति है और चेतना ही कृतत्व शक्ति से जो विचार उत्पन्न करती है उनको ही वह विषय रूप में ग्रहण करती है। इसलिए वास्तव में चेतना से स्वतन्त्र जड़ वस्तु का कोई अस्तित्व ही नहीं है। जो विषय-रूप है वही एक प्रकार से जड कहा जा सकता है। इस संदर्भ में बर्कले और लाइब्निज़ एक प्रकार से एकमत ही हैं, हालाँकि दर्शन के इतिहासकारों ने इस साम्य को नहीं देखा है। यह अजीब सी बात है कि दर्शन की परम्परा में बर्कले को अनुभववादी तथा लाइब्निज को प्रत्ययवादी कहा जाता है परन्तु वास्तव में दोनों का मत यही है कि सत्ता केवल चित्-रूप होती है या ऐसी जो चित् से स्वयं उत्पन्न होकर चित् के लिए विषय रूप में उपस्थित हो। लाइब्निज़ ने सत्ता में तारतम्य की समस्या

को इस प्रकार से सुलझाया कि वास्तव में भिन्न होते हुए भी यह भिन्नता केवल दृष्टिकोणों की भिन्नता है; या दूसरे शब्दों में कहें तो, स्तर की भिन्नता है। जहाँ तक उनके स्वरूप का सम्बन्ध है, वह तो एक ही है, और उस एक को ही वे विभिन्न रूप में अभिव्यक्त करते हैं।

द्रव्य सत् की समस्या का अन्य रूप लॉक से लेकर ह्यूम तक के दार्शनिक चिन्तन में अभिव्यक्त होता है। लॉक ने गुणों के बीच एक मूलभूत भेद दर्शाने की चेष्टा की और उसका आधार उसने उनका चेतना से स्वतन्त्र होना या उस पर आश्रित होना माना। कल्पना और प्रत्यक्ष का भेद सर्वविदित है। कल्पना वह होती है जो मनुष्य की चेतना से स्वयं निर्मित होती है और प्रत्यक्ष वह होता है जो मनुष्य की चेतना से निर्मित न होकर स्वतन्त्र रूप से ग्रहण किया जाता है। प्रत्यक्ष में स्वयं इस प्रकार का भेद अधिकतर नहीं किया जाता कि उसका कुछ भाग या अंश ऐसा है जो मनुष्य की स्वयं अपनी देन है और कुछ ऐसा जो उससे स्वतंत्र है। जैसे-जैसे शरीर और मन का प्रत्यक्ष पर प्रभाव होने से सम्बन्धित ज्ञान बढ़ा, वैसे-वैसे यह स्पष्ट होने लगा कि रूप, रंग, गंध, स्पर्श आदि जो इन्द्रियसंवेद्य गुण हैं, वे इन्द्रिय सापेक्ष हैं और चेतना सापेक्ष भी। इनकी स्वतन्त्र रूप में सत्ता मानना कठिन है, क्योंकि यदि संसार में कोई चेतन प्राणी न हो तो यह कहना कठिन होगा कि जगत् में रंग, ध्वनि, स्पर्श आदि विद्यमान होंगे। परन्तु तब भी यह तो मानना ही पड़ेगा कि आकार, आकृति, विस्तार आदि गुण वस्तुओं में रहेंगे और इसी के आधार पर लॉक ने गुणों के दो स्तरों में भेद किया। एक वह जो वस्तुओं में स्वयं है और दूसरे वह जो वस्तुओं में तब उत्पन्न होते हैं या आरोपित होते हैं जब वे किसी चेतन प्राणी के सम्बन्ध में आते हैं। इसी भेद के आधार पर भौतिक विज्ञान ने जगत् के मूल तत्त्व को जड़ द्रव्य और गति में देखा या इससे भी आगे चल कर स्वयं द्रव्य को भी ऊर्जा के स्थूल रूप में देखने की चेष्टा की। यह कहना कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी कि लॉक के विचार का व्यापक प्रभाव भौतिक विज्ञान पर पड़ा। व्हाइट-हैड के प्रसिद्ध शब्दों में विज्ञान ने जगत को इस प्रकार से देखा कि उसमें न शब्द है न गन्ध, न रूप है न रंग। जो कुछ भी है वह केवल आकार है, आकृति है, विस्तार है। इस प्रकार से देखने पर जो संवेद्य जगत् है जिसमें मनुष्य रहता है और क्रियाशील होता है वह एक प्रकार से असत्य ही ठहरता है।

परन्तु विज्ञान ने लॉक की बात तो सुनी, पर बर्कले ने लॉक के मत के खंडन में जो तर्क प्रस्तुत किया उसकी ओर ध्यान नहीं दिया। बर्कले का कथन था कि गुणों में लॉक ने जो भेद किया है वह वास्तव में किया ही नहीं जा सकता क्योंकि आकार, आकृति, विस्तार आदि भी उतने ही इन्द्रिय सापेक्ष और चेतना सापेक्ष हैं जितने कि कोई अन्य गुण। वास्तव में किसी भी ऐसे गुण को मानना जो चेतना से पूर्णरूप से स्वतन्त्र हो, असंभव है और यदि यह बात मान ली जाए तो भेद केवल चेतना और उसके विषय में होता है, चेतना और उससे स्वतन्त्र विषय में नहीं; क्योंकि चेतना से स्वतन्त्र विषय की कल्पना ही एक प्रकार से आत्मव्याघाती है।

बर्कले ने इस भेद को स्वीकार किया कि विषय ऐसा हो सकता है जो मेरी चेतना पर आश्रित नहीं हो; यानि उससे स्वतन्त्र हो; पर यह मानने से इनकार किया कि वह किसी अन्य चेतना से भी स्वतन्त्र हो सकता है। इसी आधार पर उसने ईश्वर की सत्ता के लिए तर्क प्रस्तुत किया कि ऐसे अनेक विषय हैं जो न मेरी चेतना पर आश्रित हैं न किसी अन्य चेतना पर। इसलिए यह मानना पड़ेगा कि वे किसी ऐसी असीम चेतना के विषय हैं जो सब सीमित चेतनाओं से परे हैं। यहाँ ध्यान देने योग्य बात यह कि जगत की स्वतन्त्र प्रतीति से बर्कले ईश्वर की सत्ता की ओर बढ़ता है जबकि डेकार्ट पहले ईश्वर की सत्ता को स्थापित करता है और उससे जगत के सत्य अस्तित्व को निष्कर्ष के रूप में निकालता है।

बर्कले ने लॉक द्वारा किये गये गुणों के भेद को अस्वीकार तो किया परन्तु उसने चेतना से स्वतंत्र होने के अर्थ को या चेतना पर आश्रित होने के अर्थ को पूर्ण रूप से समझने की चेष्टा नहीं की। कल्पना का विषय चेतना पर आश्रित होता है परन्तु कल्पित किये जाने के बाद वह चेतना के समक्ष उसी प्रकार प्रस्तुत होता है जैसे कोई अन्य विषय। यदि कल्पना संरचना का रूप ले ले तो वह संरचनात्मक विषय चेतनाश्रित होते हुए भी एक बार रचित हो जाने के बाद चेतना से स्वतन्त्र रूप में इस प्रकार अवस्थित होता है कि वह अन्य स्वतन्त्र चेतनाओं का विषय भी बन सकता है। दूसरी ओर यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि हम उन गुणों को अधिक वस्तुनिष्ठ मानते हैं जिन पर कार्य रूपी प्रभाव डाल कर हम उनको कारण रूप में बदल सकते हैं और उनके द्वारा किसी अन्य प्रकार के गुणों की सृष्टि कर सकते हैं। लॉक का किया हुआ चेतना से स्वतन्त्र और चेतनाश्रित गुणों के बीच में जो भेद है वह इस प्रकार से देखा जा सकता है कि जो स्वतन्त्र गुण हैं वे कारण रूप में उन गुणों को उत्पन्न कर सकते हैं जिन्हें वह स्वतन्त्र नहीं मानता। पर यदि इस प्रकार देखें तो जो दूसरे दर्जे के या गौण कहे जाने वाले गुण हैं, यानि जो इन्द्रियों पर आश्रित हैं, वे स्वयं कारण रूप में प्रयोग किये जा सकते हैं। जैसा कि सबको विदित है जब हम तृतीय स्तर के गुणों यानि मूल्यों की सृष्टि करते हैं तो द्वितीय स्तर के गुणों के द्वारा ही करते हैं। कला का सृजन, रूप, रंग, शब्द आदि के द्वारा ही किया जाता है। मंच पर जो दृश्यमान है उसी से हम एक नए जगत की सृष्टि करते हैं जहाँ नए मूल्य और नए आयाम सृष्ट होते हैं। इस दृष्टि से देखें तो उसको स्वतन्त्र रूप में सत् मानना होगा जिसका कारण-रूप में प्रयोग हो सकता है। पर यह बात न तो लॉक ने देखी और न बर्कले ने। हाँ, बर्कले ने अन्य चेतनाओं के सम्बन्ध में एक भेद जरूर माना क्योंकि वे कम से कम विषय रूप में तो उपस्थित नहीं होतीं। पर यदि वे विषय रूप में उपस्थित नहीं होतीं तब किस रूप में उपस्थित होती हैं, ऐसा उसने स्पष्ट नहीं किया। यह भी स्पष्ट नहीं है कि क्या हमारा ईश्वर का ज्ञान बर्कले के विचार में उसी प्रकार का है जिस प्रकार कि

अन्य चेतनाओं का ? ऐसा लगता है कि बर्कले ने प्रत्यक्ष विषय के आधार पर विभिन्न प्रकार के अनुमानिक विषयों में भेद नहीं किया विशेषकर उनमें जो स्वयं प्रत्यक्ष का विषय हो सकते हैं और वे जिनके बारे में प्रत्यक्ष का विषय होने की बात ही नहीं की जा सकती ।

बर्कले ने अमूर्त प्रत्ययों का खण्डन अवश्य किया परन्तु यदि केवल प्रत्यक्ष ही सत् है तो मनुष्य और पशु के ज्ञान में क्या भेद रह जायेगा और अनुमानगत ज्ञान की सत्ता क्या होगी, इस पर बर्कले ने विशेष विचार नहीं किया । लॉक ने द्रव्य को गुणों के आधार रूप में माना था और साथ ही यह भी कहा था कि इससे ज्यादा कि वह आधार रूप है, और कुछ नहीं कहा जा सकता है, न जाना जा सकता है । इसी संदर्भ में बर्कले का कहना था कि ऐसा ज्ञान क्या ज्ञान है जहाँ इससे अधिक कुछ नहीं कह सकते और ऐसी चीज को मानने की क्या आवश्यकता है जो केवल आधार रूप ही है परन्तु स्वयं में कुछ भी नहीं । ऐसी सत्ता तो केवल विचारमूलक होगी और विचार की आवश्यकता की पूर्ति के लिए मानी गई प्रतीत होगी; स्वयं में उसकी अपनी कोई सत्ता नहीं है । इसीलिए गुणों का कोई आधार मानने की आवश्यकता नहीं है । परन्तु बर्कले को यही कठिनाई आत्म को द्रव्य-रूप मानने में प्रतीत नहीं हुई । जड़ द्रव्य को पदार्थ रूप में मानना उसे अस्वीकार था । परन्तु जहाँ तक चेतन द्रव्य का प्रश्न है उसको अस्वीकार करना ही उसे अजीब लगा, स्वीकार करना नहीं । सहज रूप में अपने को अस्वीकार भी कौन कर सकता है, और यदि कोई ऐसा करता भी है, तो यह एक प्रकार से केवल भाषा के स्तर पर ही होगा, विचार के स्तर पर नहीं । शायद यही बात डेकार्ट ने कहने की चेष्टा की थी। परन्तु चेतन द्रव्य केवल मैं स्वयं ही तो नहीं हूँ, अन्य भी तो हैं और उन अन्य चेतना के केन्द्र बिन्दुओं का ज्ञान विषय-रूप में नहीं होकर भी मुझसे अन्य के रूप में तो है ही । बर्कले ने उनकी सत्ता को स्वीकार तो किया परन्तु इससे उत्पन्न होने वाली कठिनाइयों की ओर, विशेषकर गुणों के आधार रूप में द्रव्य को मानने के संदर्भ में जो कठिनाई उत्पन्न होती है, उनके बारे में कोई विशेष विचार नहीं किया ।

इस संदर्भ में विचार की परम्परा को अपनी चरम तर्क-सीमा तक यदि किसी ने बगैर किसी हिचकिचाहट के पहुँचाया तो वह ह्यूम था जिसने द्रव्य मात्र की सत्ता को, चाहे वह चेतन हो या जड़, मानने से इनकार किया । पश्चिमी दर्शन के इतिहास में ह्यूम का स्थान बहुत महत्त्व का रहा है परन्तु जैसा कि दर्शन के विद्वान जानते हैं यह बात तो बहुत पहले बौद्ध दार्शनिक भारत में कह चुके थे और इस सम्बन्ध में बौद्धों और उनके विरोधी नैयायिकों आदि के बीच में बहुत कुछ विवाद भी हुआ था । पश्चिमी दार्शनिक इस विवाद से और इस संदर्भ में दिए गए तर्क वितर्क से पूर्णतः अपरिचित थे, इसलिए उनको ह्यूम का मत बहुत क्रान्तिकारी लगा । उनकी अपनी दार्शनिक परम्परा में हेरेक्लाइटस ने भी कुछ इसी प्रकार की बात

कही थी परन्तु एक तो हेरेक्लाइटस बहुत पहले हुआ था और दूसरे उसके कोई विशेष अनुयायी भी नहीं हुए थे जो उस प्रकार की दार्शनिक विचारधारा की परम्परा को जन्म देते। ह्यूम के विचार को सर्वथा नवीन मानने का एक और कारण यह भी था कि हेरेक्लाइटस ने अपने मत का प्रतिपादन तर्क के आधार पर नहीं बल्कि कुछ सूत्र-रूपी उक्तियों के माध्यम से किया था।

बर्कले ने इसी संदर्भ में दर्शन के मूल, एब्सट्रेक्ट विचार के विचार पर भी कुठाराघात किया था। इसमें उसका तर्क यह था कि किसी ऐसे विचार की कल्पना ही कैसे की जा सकती है जो न तो ऐसा है न वैसा, या दूसरे जो सब प्रकार का है, यानि, जिसमें या तो कोई भी गुण नहीं है या अनेक विरोधी गुण एक साथ हैं। ह्यूम ने एक प्रकार से इसी विचार को चरम सीमा तक पहुँचाया और दोनों बातों का समन्वय करके इस मत की स्थापना की कि जो वास्तव में है वह एक प्रवाह मात्र है जिसमें पूर्वापर या कालक्रम के सम्बन्ध के अलावा और कोई सम्बन्ध नहीं है। जो अनुभूत है वह केवल गुणों का ऐसा संघात मात्र है जिसमें केवल सहचर्य सम्बन्ध है, फिर चाहे वे इन्द्रियों से ग्रहण हों या मन से, और चाहे उनका पूर्वापर सम्बन्ध हम में इस प्रकार के सहज विश्वास को जन्म दे कि जब पहले प्रकार के गुण अनुभूत होंगे तब दूसरों की अनुभूति भी होगी। इसी सन्दर्भ में ह्यूम का प्रसिद्ध कार्य-कारण विचार का खण्डन है और जैसे उसने द्रव्य के विचार का पूर्ण रूप से खण्डन किया उसी प्रकार से घटनाओं में किसी अनिवार्य सम्बन्ध का भी जिसको अधिकतर हम कार्यकारण के सम्बन्ध के नाम से अभिहित करते हैं।

ह्यूम ने यह सब तो कहा पर इसकी चर्चा नहीं की कि यदि जो कुछ है वह अनुभूत सत् है तब शरीर और इन्द्रियों का ज्ञान हमें कैसे होता है और मन या आत्म का कैसे॥ बाद में रसल ने इसी कमी को पूरा करने की चेष्टा की और अपने प्रसिद्ध सिद्धान्त का प्रतिपादन किया कि जो मूल रूप में सत् है वह केवल एक सद्यः अनुभूत सम्बन्धों का ऐसा प्रवाह है जिसको स्वयं में हम न जड़ कह सकते हैं न चेतन, परन्तु जिससे या जिसमें हम दो संरचनाएँ करते हैं, एक ओर जगत की और दूसरी ओर मन या आत्म की। इन दो संरचनाओं का मूल स्रोत वह प्रवाह ही है जो दो भागों में मूलतः विभक्त है, एक जिसको हम इन्द्रियों के संदर्भ में ही परि-भाषित कर इन्द्रिय-संवेद्य का नाम देते हैं और दूसरा जिन्हें हम तार्किक बुद्धि के संदर्भ में ही परिभाषित कर सकते हैं और जिन्हें हम तार्किक सम्बन्ध या गणितीय सम्बन्ध कहते हैं। ज्ञान की संरचना इन दोनों के मिलन से ही उत्पन्न होती है और दो विशेष सत् की रचना करती है, एक जगत रूप में और दूसरी आत्म रूप में।

रसल ने जो कहा है वह वास्तव में ह्यूम के परवर्ती विचारक कान्ट के मत का एक प्रकार से आधुनिक रूपान्तरण समझा जा सकता है। कान्ट का नाम दर्शन के इतिहास में जगत् प्रसिद्ध है और वास्तव में वह उन गिने-चुने दार्शनिकों में हैं

जिन्होंने दर्शन को एक मूल दृष्टि दी। दर्शन के इतिहास में प्रायः ऐसा कहा जाता है कि कान्ट ने ह्यू म के प्रश्नों का उत्तर देने की चेष्टा की और यह बात कान्ट के उस कथन से भी परिलक्षित होती है जिसमें उसने यह कहा था कि ह्यू म ने मुझे उस गहरी निद्रा से जगाया जिसमें मैं सहज विचार के विश्वासों के प्रति शंकाशील नहीं था। परन्तु ऐसा क्या डेकार्ट ने बहुत पहले नहीं किया था? ह्यू म के दार्शनिक विचारों के द्वारा कान्ट में कुछ नये प्रश्न जाग्रत हुए, यह ऐतिहासिक महत्त्व की बात है, दार्शनिक महत्त्व की नहीं। और यदि गहराई से देखें तो कान्ट के विचार का मूल आधार पश्चिमी दर्शन के इतिहास में मिलेगा, न कि केवल ह्यू म के दर्शन में। जैसा कि सर्वविदित है, पश्चिमी दर्शन के इतिहास में प्लेटो ने यह कहा था कि इन्द्रियानुभव से जो ज्ञान प्राप्त होता है वह वास्तव में ज्ञान कहलाने का अधिकारी नहीं है क्योंकि ज्ञान उसी को कहा जा सकता है जो सार्वभौम रूप से सत्य हो और निरपेक्ष हो। परन्तु ऐसा ज्ञान तो इन्द्रियों से कभी भी प्राप्त नहीं हो सकता। वह तो हमेशा देश और काल के ही सापेक्ष नहीं होता, बल्कि स्वयं मनुष्य के भी सापेक्ष होता है। इसीलिए प्लेटो का यह स्पष्ट मत था कि ज्ञान केवल बुद्धि से ही ग्रहण किया जा सकता है, इन्द्रियों से नहीं। परन्तु बुद्धि से जो ग्रहण होता है और वह जो कल्पना से ग्रहीत होता है, उनमें भेद क्या है। जो कल्पित होता है उसे ज्ञान नहीं कहा जाता और इसका आधार यदि यह मानें कि कल्पना इन्द्रियानुभव पर आधारित होती है और व्यक्ति सापेक्ष होती है तो शुद्ध बुद्धि से प्राप्त ज्ञान में और कल्पना के विषय में भेद इसी आधार पर करना होगा कि वह ज्ञान जो शुद्ध बुद्धि द्वारा ग्राह्य होता है उसका इन्द्रियानुभव में कोई भी आधार नहीं होता और न वह व्यक्ति सापेक्ष ही है। दूसरी बात का मानना तो एक प्रकार से आसान है परन्तु किसी ऐसे ज्ञान की कल्पना करना जो इन्द्रियानुभव में किसी भी तरह आधारित न हो, कठिन है।

एक प्रकार से यह बात लॉक पहले ही स्पष्ट कर चुका था, पर कान्ट ने इस बात को एक नये सिरे से उठाया और उसने इस प्रश्न को इस तरह से रखा कि क्या इन्द्रियानुभव को अनुभव होने के लिए किसी अन्य बात की अपेक्षा नहीं है। यह बात मनुष्य के अनुभव के संदर्भ में ही उठाई गई है; अन्य प्राणियों के संदर्भ में नहीं। वास्तव में मनुष्य का प्रत्यक्षगत ज्ञान भी एक प्रकार से वाक्यात्मक रूप लेता है। वह कहता है कि "यह, यह है या यह, यह नहीं है।" इस प्रकार प्रत्यक्ष में भी जो अनुभूत है उसका ज्ञान एक ऐसा रूप लेता है जो विचार की कोटियों में आबद्ध है।

कान्ट ने केवल यही बात नहीं कही, बल्कि इससे भी गहरे जाकर देश और काल जिसमें समस्त प्रत्यक्षानुभव बद्ध होता है उनकी ओर भी ध्यान दिलाया। देश बाह्यानुभव-रूप प्रतीत होता है। प्रत्येक इन्द्रियानुभूति देश और काल में अवश्य होती है और ऐसा प्रतीत होता है कि देश स्वयं विषय रूप है और प्रत्येक के द्वारा ग्रहण

होता है । यही बात काल के संदर्भ में भी लागू होती है, हालाँकि काल उस प्रकार से विषय रूप में उपस्थित नहीं होता जिस प्रकार से दृष्टि और स्पर्श के द्वारा देश की प्रत्यक्षानुभूति होती प्रतीत होती है । काल की अनुभूति एक प्रकार से अन्तरानुभव के द्वारा ही हुई कही जा सकती है परन्तु कान्ट ने देश और काल को बाह्य विषय रूप न मान कर बाह्य और आन्तरिक प्रत्यक्ष की आकारिक पूर्वमान्यता के रूप में उपस्थित किया । इसके लिए उसने यह तर्क दिया कि यदि इनको विषय रूप माना जाए तो अनेक विसंगतियाँ उत्पन्न होती हैं । अपनी प्रसिद्ध **एन्टीनोमीज़** (Antinomies) के द्वारा उसने यह सिद्ध करने की चेष्टा की कि यदि हम उनको विषय रूप में स्वीकार करें तो परस्पर विरोधी मतों की पुष्टि देश और काल के बारे में की जा सकती है । यह सिद्ध किया जा सकता है कि देश और काल अनन्त हैं यानि उनका कभी न आदि है न अन्त, पर इसके विपरीत यह भी उतना ही तर्कपूर्ण ढंग से सिद्ध किया जा सकता है कि देश और काल सीमित हैं, उनका आदि तो था, अन्त हो या न हो । यही बात उसने कार्यकारण के सम्बन्ध के बारे में भी कही ।

यहाँ जो विशेष ध्यान देने योग्य बात है, वह यह है कि कांट ने एक ऐसी तार्किक विधि का दर्शन में उद्घाटन किया जो एक प्रकार से सर्वथा नवीन थी । उसको इस प्रकार से समझा जा सकता है कि जो चीज़ विषय रूप नहीं है उसको यदि हम विषय रूप में समझें तो वह एन्टीनोमीज़ को जन्म देगी, यानि, ऐसे विपरीत सिद्धान्तों को जो एक दूसरे के परस्पर अत्यन्त विरोधी होते हुए भी तर्क से सही सिद्ध होते प्रतीत होते हैं, दर्शन में ऐसी स्थिति का होना इस बात का द्योतक है कि हम किसी ऐसी चीज़ को विषय रूप में मान रहे हैं जिसको विषय रूप में नहीं मानना चाहिए । दर्शन का इतिहास इस बात का साक्षी है कि अनेकों दार्शनिक परस्पर विरोधी बातों को तर्क सिद्ध करते रहे हैं । कान्ट के अनुसार यह इस कारण हुआ कि अपने मतों में एक दूसरे के विरोधी होते हुए भी वे इस बात पर सहमत थे कि जिन चीज़ों की वे समीक्षा कर रहे थे वे विषय रूप थीं, अनुभव का विषय थीं, जबकि ऐसा नहीं था ।

दर्शन के इतिहास के मूल में ही उसने एक ऐसे दोष को खोज निकाला जो उसके पहले कम से कम इतने स्पष्ट रूप में सर्वविदित नहीं था । एक प्रकार से कान्ट ने इस बात को भी स्पष्ट किया कि गणित और ज्यामिति के ज्ञान क्यों अनिवार्य और सार्वभौम हैं और क्यों वे केवल शुद्ध बुद्धि से ज्ञात होने के बावजूद इन्द्रियानुभूत विषयों पर अनिवार्य रूप से लागू होते हैं । यह बात ग्रीक दर्शन के शुरू में ही गणित और ज्यामिति के बारे में प्रसिद्ध थी । एक प्रकार से इसी ने ज्ञान के उस मानदण्ड को स्थापित किया जिसके अनुसार ज्ञान उसी को कहा जा सकता है जो निरपेक्ष हो, सार्वभौम हो, शुद्ध बुद्धि के द्वारा ग्रहीत हो और फिर भी जो इन्द्रियानुभूत जगह में अनिवार्य रूप से लागू हो । कान्ट ने गणित और ज्यामिति के

इन गुणों को इस बात से निगमित बताया कि देश और काल जो ज्यामिति और गणित से सम्बन्धित हैं, विषय रूप न होकर इन्द्रियानुभव प्रत्यक्ष के ऐसे प्रागानुभव आकार रूप हैं जिनके बिना वह प्रत्यक्षानुभूति असम्भव है और इसलिए उनमें जो भी गुण अन्तर्निहित हैं, वे अनिवार्य रूप से इन्द्रियानुभूत विषयों में भी अभिव्यक्त होंगे ।

इनके विषय न होने का प्रमाण कान्ट ने इस प्रकार दिया कि यदि इनको विषय रूप माना जाये तो यह एन्टीनोमीज़् को जन्म देगा यानि दो परस्पर विरोधी बातों को एक साथ सत्य सिद्ध करेगा । यही विचार कान्ट ने कार्य-कारण संबंध को अनुभूत विषयों में सम्बन्ध न मानने के लिए भी दिया था । जो बात देश और काल के बारे में तथा इन्द्रियप्रत्यक्षों के बीच कार्य-कारण सम्बन्ध के बारे में कान्ट ने कही वही ज्ञान के एक अन्य स्तर, यानि वह जो वाक्यों में प्रकट होता है या बाँधा जाता है, के बारे में भी कही । ज्ञान हमेशा यह रूप लेता है कि "ऐसा है" या "ऐसा नहीं है" और जो "ऐसा है" या "ऐसा नहीं है" वह "सबके" बारे में है या "कुछ" के बारे में है या किसी "वस्तु विशेष" के बारे में है । अरस्तू ने जो वाक्यों का वर्गीकरण किया था उसी को आधार मानकर कान्ट ने वाक्यात्मक ज्ञान की प्रागनुभविक कोटियाँ बताईं और यह कहा कि किसी भी ज्ञान का ज्ञानरूप होना प्रत्यक्षानुभव को इन कोटियों में बाँधना ही है । यह कोटियाँ अंग्रेजी में जिन्हें Quantity, Quality, Relation और Modality कहते हैं, ज्ञान के संदर्भ में बताई गई हैं और प्रत्येक वर्ग के तीन-तीन विशिष्ट रूप माने गये हैं । इसीलिए कुल कोटियाँ 12 मानी जाती हैं । परन्तु यह बात ध्यान देने की है कि कार्य-कारण सम्बन्ध की कोटि को छोड़कर कान्ट ने अन्य किसी ऐसी कोटि के प्रागनुभविक होने के लिए कोई उस प्रकार का तर्क प्रस्तुत नहीं किया जिस प्रकार का उसने देश, काल, और कार्य-कारण के सम्बन्ध के लिए किया है । इसी प्रकार यह भी कुछ स्पष्ट नहीं है कि कान्ट के अनुसार प्रत्येक ज्ञान जो वाक्य रूप में उपस्थित किया जाता है या ग्रहण होता है वह इन चारों कोटियों में से अपने किसी न किसी एक रूप में अवश्य आबद्ध होता है या प्रत्येक बारह की बारह कोटियाँ उस पर एक साथ लागू होती हैं । प्रथम दृष्टि में ठीक तो ऐसा ही लगता है कि प्रत्येक वाक्य या, दूसरे शब्दों में कहें तो प्रत्येक ज्ञान इन चारों कोटियों में से प्रत्येक की किसी न किसी विशेष उपकोटि में आबद्ध होता है । कोई भी ज्ञान एक न एक प्रकार का अवश्य होगा और यदि वह एक प्रकार का है तो उसी कोटि में दूसरे प्रकार का नहीं हो सकता । परन्तु ऐसा मानने पर यह कठिनाई उत्पन्न होती है कि दर्शन के इतिहास पर कान्ट की जो दृष्टि है यह उसके विपरीत है । उस दृष्टि के अनुसार तो यह सिद्ध होता है कि दर्शन में परस्पर विरोधी सिद्धान्तों को सत्य मानने का कारण यह था कि कोटियों को एकांगी रूप में उस पर लागू किया गया जो सत् था जबकि वस्तुस्थिति यह है

कि देखने में एक दूसरे के विपरीत कोटियाँ भी एक साथ जो अनुभूत सत् हैं उस पर लागू होती हैं । इस समस्या पर कांट के दर्शन के समीक्षाकारों ने कुछ अधिक ध्यान नहीं दिया है और न ही कान्ट के भारतीय व्याख्याकारों ने । जैन मत में जो अनेकान्त और नय के सिद्धान्त हैं उससे भी सादृश्य या भेद की किसी ने चर्चा नहीं की है ।

कान्ट ने इसी बात को आगे भी बढ़ाया और यह कहने की कोशिश की कि दर्शन की सारी समस्याएँ इसी से उत्पन्न होती हैं कि हम कोटियों को विचार की कोटियाँ न मानकर या ज्ञान की कोटियाँ न मानकर सत्ता की ही कोटियाँ मान बैठे हैं । ऐसा मानने पर परस्पर विरोधी बातें सत्य सिद्ध होती प्रतीत होती हैं । परन्तु यदि ऐसा न मानें तो जो चरम सत् स्वयं में है उसके विषय में सिवाय इसके कि वह है और कुछ नहीं कहा जा सकता । यदि कान्ट का विचार इस चरम सत् को केवल अनिर्वचनीय कहने तक ही सीमित होता तो शायद उतने महत्त्व की बात न होती क्योंकि एक प्रकार से अनेकों दार्शनिक किसी न किसी रूप में इस बात को मानते हैं । परन्तु कान्ट ने इस विचार को एक नई दिशा यह कह कर दी कि कर्म के नैतिक संकल्प के संदर्भ में जो हमें अनुभूति होती है उसको यदि सार्थक मानना है तो वह इसी रूप में माना जा सकता है कि हम यह स्वीकार करें कि उस अनुभूति में जो चरम सत् है उससे एक प्रकार का अनुभूत तादात्मय स्थापित होता है । नैतिक कर्म या अधिक ठीक तरह से कहें तो नैतिक कर्म का संकल्प आत्मा की स्वतन्त्रता को पूर्वमान्य करता है क्योंकि यदि हम स्वतन्त्र नहीं हैं तो नैतिक उत्तरदायित्व की बात करना ही वृथा है । पर इस तरह की स्वतन्त्रता तो कार्य-कारण की कोटि के परे होगी और इसलिए ज्ञान का विषय नहीं हो पायेगी । वह तो ऐसा कारण है जो स्वयं कार्य रूप नहीं है और इसलिए यदि नैतिक संकल्प जैसी कोई चीज हमारे अनुभव में आती है तो कान्ट के अनुसार हमको यह मानना पड़ेगा कि स्वतन्त्रता है, यद्यपि वह ज्ञान की परिधि के बाहर है ।

भारतीय दर्शन की परम्परा में अध्यात्म की अनुभूति आत्मानुभूति या ईश्वरानुभूति के रूप में ही ली गई है और उस अर्थ में उसको साधारण विषय रूप नहीं माना गया है । परन्तु चरमसत् का अनुभव किसी उत्तरदायित्व की भावना के साथ संलग्न हो, ऐसा कभी भी स्वीकार नहीं किया गया । मोक्ष की चर्चा सब जगह है और एक प्रकार से मोक्ष स्वतन्त्रता का ही दूसरा नाम है, परन्तु स्वतन्त्रता का अर्थ नैतिक उत्तरदायित्व है या कर्तव्य कर्म का शुद्ध संकल्प रूप है, ऐसा भारतीय चिन्तन में दुर्लभ है । क्योंकि वास्तव में अन्य का होना ही उन्होंने बन्धन का लक्षण माना है । कान्ट के विचार की यह नवीनता उसे पश्चिमी दर्शन के इतिहास की उस मूल कड़ी से जोड़ती है जिसने मनुष्य को एक सामाजिक प्राणी के रूप में देखा है और नैतिकता को ही उसका चरम पुरुषार्थ माना है । कान्ट के दर्शन के अन्य

अनेकों पहलू भी हैं जिनकी विस्तार से चर्चा शैल्यजी के लेख में है और उनके बारे में यहाँ कुछ विशेष कहना अनावश्यक है।

कान्ट के परवर्ती विचारकों ने कान्ट ने जो मूल समस्याएँ उठाई थीं और उनको सुलझाने की जो दृष्टि दी थी उसी को आगे बढ़ाया। फ़िख्ते, शैलिंग और हेगेल ने भिन्न-भिन्न विषयों में कान्ट की विचारधारा को भिन्न दिशाओं में ले जाने की कोशिश की। इन सब कोशिशों के मूल में जो प्रवृत्ति थी वह उन समस्याओं को हल करने की थी जो कांट के उस द्वैत से उत्पन्न हुई थी जो उसने वास्तव में सत् है और जो हमारे ज्ञान के विषय के रूप में प्रस्तुत होता है, उसके बीच में किया था। वास्तव में समस्या पुरानी है क्योंकि जो भी मनुष्य को ज्ञात होता है उसको मूल रूप में मनुष्य-सापेक्ष तो मानना ही पड़ेगा। कम से कम इसमें तो किसी को भी आपत्ति नहीं होगी कि जो कुछ भी मनुष्य जानता है या जानने का दावा करता है, वह सब वैसा का वैसा ही मनुष्य से स्वतन्त्र रूप में सत् नहीं है। यदि ज्ञान की ऐतिहासिकता को ध्यान में रखें तो यह निश्चय ही सत्य प्रतीत होगा कि काल के किसी भी एक बिन्दु पर जिसे ज्ञान की संज्ञा दी जाती है, वह अनिवार्यतः अपूर्ण होने के साथ-साथ ऐसे अंशों को भी अपने में सम्मिलित करता है जिनके असत्य होने की गहरी आशंका है। और चूँकि काल कभी समाप्त नहीं होता है इसलिए ज्ञान हमेशा ही असंपूर्ण और अशतः असत् रहेगा। परन्तु जो सत् स्वयं में है उसे तो इन लक्षणों से बाधित नहीं माना जा सकता और इसलिए न उसमें कोई असत् का अंश है, न उसकी संपूर्णता में कोई कमी। यह ठीक है कि इस स्पष्ट मान्यता में भी कुछ कठिनाइयाँ तो हैं ही। ये विशेष तौर पर उन सत्ताओं के बारे में हैं जो स्वयं मनुष्य की कृति हैं और जिनके बारे में ज्ञान की समस्या भी कुछ उसी प्रकार की है जैसी कि उन विषयों के बारे में जो मनुष्य की प्रत्ययात्मकता से पूर्णरूपेण स्वतन्त्र हैं। दूसरी ओर यह भी स्पष्ट है कि किसी ऐसे भेद का खण्डन तभी किया जा सकता है जब कि कोई यह माने कि मनुष्य में जो बुद्धि का अंश है वह न व्यक्तिगत है न व्यक्तिनिष्ठ और जो मनुष्य को विषय रूप में दीखने वाला जगत है उसके मूल में भी वही बुद्धि है जो उसकी अपनी वैयक्तिकता से अवछिन्न होकर उसमें प्रकट होती प्रतीत होती है। और इसके भी दो भेद हो सकते हैं। एक वह जो बुद्धि से प्राप्त सत् को कालातीत मानता है और कालक्रम में जो घटित होता प्रतीत होता है उसको एक प्रकार से इन्द्रियों का आवरण या मायाजाल। दूसरी ओर काल को एक अन्य रूप में भी देखा जा सकता है। इस रूप में कि जो कालातीत है, वही काल में अभिव्यक्त होता है और चूँकि सत् अनन्त है इसलिए वह अपने को काल की क्रमबद्ध अनन्तता में अभिव्यक्त करता है और इस अभिव्यक्ति के द्वारा ही हम उसके स्वरूप को कुछ-कुछ समझ पाते हैं।

कहने का आशय यह है कि इतिहास सत् से अलग या परे नहीं है, बल्कि उसका ही रूप है और बुद्धि स्वयं अपने को विषय रूप में और कालक्रम में अवस्थित करती है और इस तरह से अपने को जानती है। हेगेल ने इन्हीं दो निष्कर्षों को अपने दर्शन में चरमसीमा पर पहुँचाया। उसका प्रसिद्ध कथन कि बुद्धि ही सत् है और सत् ही बुद्धि है (The rational is real and the real is rational) इस ओर इशारा करता है। दूसरी ओर हेगेल ने अपने विचार में जो इतिहास को स्थान दिया वह इसका द्योतक है। हेगेल का कहना कि किसी वस्तु को जानना एक प्रकार से उसके इतिहास को ही जानना है। इतिहास से अलग करके उसको देखना उसके स्वरूप को नहीं समझना है। हेगेल ने एक बात और भी कही और वह यह थी कि मनुष्य की जो कृति है और जो स्थूल रूप में उसी प्रकार उससे स्वतन्त्र दिखाई देती है जैसे मानवेतर प्रकृति दिखाई पड़ती है, वह वास्तव में बुद्धि का ही एक मूर्त रूप है। इसी को वह objective spirit कहता है। मनुष्य से स्वतन्त्र प्रकृति का विचार उसके अनुसार एक ऐसा विचार है जो एक प्रकार से ज्ञानावशेष के रूप में बना रहता है, या यों कहें कि जो ज्ञान की सीमा के रूप में सदैव ज्ञान के साथ जुड़ा हुआ है लेकिन जो स्वयं में वास्तव में कुछ नहीं है ठीक उसी प्रकार जैसे हमारी गति के लिए क्षितिज की प्रतीति जो हमेशा उतना ही आगे बढ़ता जाता है जितना कि हम आगे बढ़ते हैं लेकिन जो वास्तव में कुछ भी नहीं है और इसीलिए जिसे न कभी पकड़ा जा सकता है, न छुआ जा सकता है, न जिस तक पहुँचा जा सकता है।

कांट के बाद हेगेल से बड़ा दार्शनिक शायद ही कोई हुआ हो और ऐसा कहा जा सकता है कि ज्ञान के दो अन्तिम विकल्प कान्ट और हेगेल में प्रकट हुए। कांट के अनुसार जो सत् है उसका ज्ञान हम केवल अपनी बुद्धि की कोटियों द्वारा ही कर सकते हैं। उसका वास्तविक स्वरूप क्या है यह हम कभी भी नहीं जान सकते, कम से कम ज्ञान-रूप में। इसके विपरीत हेगेल का कथन था कि यदि कोई वास्तविक रूप में अज्ञेय है तो उसकी अज्ञेयता जानी ही नहीं जा सकती क्योंकि यह जानना कि कोई चीज़ अज्ञेय है उसको जानने की दिशा मे पहला कदम उठाना है। इसलिए हेगेल के विचार में बुद्धि और सत् में कोई भेद कभी माना ही नहीं जा सकता। हेगेल के परवर्ती दार्शनिकों ने एक प्रकार से कांट के उस पक्ष पर जोर दिया जो बुद्धिनिष्ठ न होकर हमारे संकल्पों या हमारी भावनाओं में केन्द्रित था। शॉपेनहावर और नीत्शे इस प्रवृत्ति के सबसे बड़े दार्शनिक थे। परन्तु दोनों ने एक प्रकार से कांट के नैतिक संकल्प से ध्यान हटा कर केवल चित्त शक्ति का जो मात्र संकल्प रूप है उस पर अपने विचार केन्द्रित किए।

शॉपेनहावर ने तो मूल जीवन्त प्राण-शक्ति को एक प्रकार से नैतिकता का विरोधी ही माना और विचार-निष्ठ बुद्धि को उसका प्रतियोगी। नैतिकता का काम

इस प्रकार से शक्ति के उद्दाम और चिरन्तन जीवन-प्रवाह को रोकने मात्र का रह गया। शायद और भी मूल रूप में इस प्राण-शक्ति को नैतिक-अनैतिक या अच्छे-बुरे से स्वतन्त्र रूप में ही स्वीकार करना होगा। कहने का अर्थ यह है कि जो वास्तव में सत् है वह शक्ति रूप है और यह शक्ति उसके अनुसार एक ऐसी अनियन्त्रित उद्दाम, चिरन्तन जीवन वासना है जिसकी क्षुधा कभी भी पूरी नहीं हो सकती और इस क्षुधा की पूर्ति के लिए साधन रूप में वह जिस विचार की प्रक्रिया को जन्म देती है वह कभी-कभी इसका मनोरथ पूर्ण करने की क्रिया से स्वतन्त्र होकर अपने स्वयं के लक्ष्य स्थापित कर लेती है और कभी तो वह इसके विरोध में खड़ी होकर इस चरम तृष्णा से उद्वेलित सतत् प्रवाह के मूल को ही नष्ट करने की चेष्टा करती है। शॉपेनहावर पर बौद्ध विचार की स्पष्ट छाप प्रतीत होती है और उसने स्वयं भी भारतीय दर्शन के ग्रन्थ, खास तौर पर उपनिषदों का वर्णन किया है।

इसके विपरीत नीत्शे चरम शक्ति को केवल जीवन्त प्राण-शक्ति के रूप में ही नहीं देखता बल्कि उसे एक ऐसे रूप में देखता है जिसमें वह अपने को अधिकाधिक शक्तिशाली रूप में स्थापित करने के लिए सतत् प्रयत्नशील है। नीत्शे के विचार में संकल्प शक्ति का लक्ष्य अधिक शक्तिमान होना है और नैतिकता का मानदण्ड भी यह शक्ति स्वयं में है। दोनों ही विचारकों के सम्बन्ध में अनेक समस्याएँ हैं परन्तु मुख्य समस्या तो यह प्रतीत होती है कि यदि चरम सत् शक्ति मात्र है तो उसमें किसी भी प्रकार का परिवर्तन कैसे किया जा सकता है। इस समस्या पर कोई विशेष विचार इन दार्शनिकों में नहीं मिलता। दूसरी ओर शक्ति की बात करके इन दार्शनिकों ने दर्शन का ध्यान बुद्धि और तर्क से हटा कर उस मूल की ओर केन्द्रित किया जहाँ से बुद्धि और तर्क उदय होते हैं और जो उनसे परे हैं। एक प्रकार से यह कहने की कोशिश की गई कि बौद्धिक चिन्तन, जो एक प्रकार से दर्शन की आत्मा ही है, चरम सत् को पकड़ने में असमर्थ है। तर्क या बुद्धि साधारण रूप में उन साध्यों की पूर्ति के लिए ही प्रयोग होते हैं जो साध्य उनको कहीं और से मिले हैं। स्वतन्त्र रूप में वे केवल एक ऐसा कल्पनाजगत बुन सकते हैं या कल्पना प्रासाद बना सकते हैं जिसका सत् से कोई सम्बन्ध नहीं है। नीत्शे की मृत्यु के साथ ही 19वीं शताब्दी का अन्त होता है और 20वीं शताब्दी का प्रारम्भ।

ब्रे डले और बर्गसाँ के दर्शन यूरोपीय दर्शन की विभिन्न धाराओं की केवल प्रतिध्वनि मात्र ही नहीं हैं; उनका अपना स्वयं का वैशिष्ट्य भी है, परन्तु उतना नहीं जितना कि इन विचारधाराओं के प्रधान प्रवर्तक दार्शनिकों का है। ब्रे डले तो अपने को हेगेलीय दर्शन से न केवल प्रभावित ही मानता है परन्तु अपने को उसका अनुयायी भी समझता है। इंगलैण्ड में नवहेगेलवाद के प्रमुख दार्शनिकों में उसका उच्चतम स्थान है। परन्तु गहराई से देखा जाए तो उसने हेगेल के विचार को एक ऐसी दिशा दी

जो स्वयं हेगेल की मूलभूत धारणा के विपरीत थी। एक प्रकार से हेगेल बुद्धि को सर्वोपरि मानता था हालाँकि उसकी बुद्धि की अवधारणा न केवल साधारण अवधारणा से भिन्न है, परन्तु अन्य दार्शनिकों की अवधारणा से भी। और इसी प्रकार वह बुद्धि और सत् का तादातमय भी स्वीकार करता था। परन्तु ब्रेडले का कहना था कि बुद्धि कभी भी सत् को नहीं पकड़ सकती क्योंकि वह हमेशा सम्बन्धों के द्वारा ही जानने की चेष्टा करती है, और सम्बन्ध अपने आप में अनेक विसंगतियों से भरे पड़े हैं जिनको अनदेखा करके ही हम सत् को बुद्धितन्त्र से पकड़ने की बात कर सकते हैं, फिर चाहे वह अरस्तू का तन्त्र हो या हेगेल का। इस प्रकार से ब्रेडले हेगेल की मूल धारणा पर ही आघात करता है और इस ओर संकेत करता है कि शायद सत् की अनुभूति बुद्धि से परे किसी अन्य अनुभव में होती है जो स्वयं भेद-रहित होता है।

बर्गसाँ ने भी यही बात कुछ अन्य प्रकार से कही हालाँकि उसको हेगेलीय दर्शन की विचारधारा में कभी भी नहीं माना जा सकता। उसके अनुसार यही नहीं है कि बुद्धि सत् को पकड़ने में असमर्थ है परन्तु वह सत् को एक ऐसा रूप देती है जो उसके स्वरूप के बिलकुल विपरीत है। जबकि ब्रेडले बुद्धि को सम्बन्धात्मक मानता है, बर्गसाँ के अनुसार वह मूलतः उसी को ग्रहण कर सकती है जो स्थिर है, यानि, जिसमें न कोई परिवर्तन है, न गति। बुद्धि एक प्रकार से उस नियम की खोज करती है जिसके अनुसार परिवर्तन घटित होते हैं और इस प्रकार से परिवर्तन की परिवर्तनीयता पर ही आघात करती है। कहने का अर्थ यह है कि जो वास्तव में परिवर्तनशील है वह किस दिशा में परिवर्तित होगा यह हमेशा अगम्य और अज्ञात ही रहना चाहिए। यदि हम उसको किसी प्रकार भी ज्ञात होने का रूप देते हैं तो उसकी जो मूल प्रकृति है उसका ही खण्डन करते हैं। इसीलिए बर्गसाँ के विचार में प्राण-शक्ति का जो सतत् प्रवाह निरन्तर परिवर्तनशील और गतिमान है, उसको बुद्धि जड़ रूप देकर ही समझने की चेष्टा करती है। बुद्धि का क्षेत्र वह है जो जड़ है, जिसमें प्राण और चेतना समाप्त हो चुकी होती है।

अपनी जड़ की धारणा को बर्गसाँ इस प्रकार से समझाने की चेष्टा करता है कि वह वो है जो प्राणशक्ति अपने चिरन्तन प्रवाह में पीछे छोड़ आई है और जिसमें एक प्रकार से मृत स्थिरता आ गई है। इसको इस प्रकार से भी समझ सकते हैं कि जैसे कोई चिरन्तन सृजनशील प्राणी हमेशा नई-नई रचनाएँ करता रहता है और उसके लिए वास्तव में सत् यह सृजन की प्रक्रिया है, वह नहीं जिसका वह सृजन कर चुका है। उसकी ओर तो ध्यान उन्हीं लोगों का जाता है जो स्वयं रचनाशील नहीं हैं, बल्कि जो दूसरों की रचनाओं का मूल्यांकन करते हैं या उन्हें समझने की चेष्टा करते हैं। समस्त विज्ञान को बर्गसाँ इसी प्रकार देखता है और उसको सत्य ज्ञान का साधन न मानकर यह ही मानता है कि वह जो सत् है उसको असत् में परिवर्तित करके ही जान पाता है।

ब्रेडले और बर्गसाँ के साथ हम 20वीं शताब्दी में प्रवेश करते हैं और हालाँकि ये दार्शनिक 20वीं शताब्दी के दर्शन की मुख्य धाराओं का प्रतिनिधित्व नहीं करते परन्तु फिर भी इनका जो बुद्धि के प्रति दृष्टिकोण है उसमें शॉपेनहावर और नीत्शे से निसृत होने वाली धारा की प्रतिध्वनि मिलती है। बीसवीं शताब्दी के दर्शन की एक धारा तो वह है जो शॉपेनहावर और नीत्शे से प्रभावित होती है। वह बुद्धि को गौण रूप में मानकर उस प्राणवान जीवन्त अनुभव की मूल प्रक्रिया की ओर दर्शन का ध्यान मोड़ने की कोशिश करती है जो सब विचार के मूल में है और जो उससे स्वतन्त्र रूप में अबाध बहती है। इस प्रकार वे दर्शन को उस सतत् अनुभव के प्रवाह के साथ सम्बन्धित करने की चेष्टा करते हैं जिसमें कि हम सब अधिकांश क्षणों में जीते हैं। 20वीं सदी के दर्शन की दूसरी धारा गणित, तर्क और विज्ञान के नये आयामों से उत्पन्न होती है। बुद्धि के विशाल प्रासाद में नए खण्ड और मंजिलें बनती हैं और दर्शन की यह विधा उनका महत्त्व समझने में ही अपना चरम लक्ष्य मानती है। दोनों धाराओं में कोई सामञ्जस्य अभी तक उत्पन्न नहीं हुआ है परन्तु कोई भी विचारशील व्यक्ति आधुनिक दर्शन की इन दोनों क्षेत्रों में उपलब्धियों को अस्वीकार नहीं कर सकता। पश्चिमी दर्शन का लम्बा इतिहास जो ग्रीक काल से शुरू होकर अब तक सतत् प्रवाहमान रहा है और जो अब एक प्रकार से विश्वदर्शन का रूप ले रहा है वह क्या और नई दिशाएँ लेगा, यह कहना कठिन है। इससे भी कठिन शायद इस प्रश्न का उत्तर ढूँढ़ना है कि भारतीय और चीनी दार्शनिक परम्पराओं का आधुनिक युग में क्या स्थान रहेगा और वे आजकल के दर्शन को किस प्रकार प्रभावित करेंगी। यह कम से कम उन दार्शनिकों के लिए जो इन संस्कृतियों के उत्तराधिकारी हैं, महत्त्वपूर्ण प्रश्न के रूप में तो उत्पन्न होता ही है परन्तु इसका इससे भी गहरा सम्बन्ध इन संस्कृतियों के भविष्य से जुड़ा हुआ है।

1
रेने डेकार्ट
(1596—1650)

(1) डेकार्ट का जीवन :

रेने डेकार्ट का जन्म मार्च 31, 1596 को ला हइ (La Haye), तुरेन (Touraine) फ्रांस में हुआ। उनके पिता सेना से सेवानिवृत्ति प्राप्त कर ब्रिटानी (Brittany) की संसद में पारिषद् थे। डेकार्ट अपने पिता के तीसरे लड़के थे। सन् 1604 में आठ वर्ष की आयु में उन्हें मेन में नव-संस्थापित ला फ्लेश् (La Fleche) नामक जेसुइट कालेज में पढ़ने के लिए भेजा गया। सन् 1612 तक डेकार्ट इसी कालेज में रहे। यहाँ पर उन्होंने तत्कालीन विद्या-प्रणाली के अनुसार साहित्य, इतिहास, तथा धर्मशास्त्र के अतिरिक्त तर्क, गणित, और दर्शन-शास्त्र में अच्छी शिक्षा ग्रहण की। कालेज छोडने के पश्चात् सन् 1614 में वे विधिशास्त्र पढ़ने के लिए पोरतियर गये जहाँ सन् 1616 में उन्होंने स्नातकीय स्तर की शिक्षा प्राप्त की।

किताबी शिक्षा में डेकार्ट का मन नहीं लगा।[1] वे दूसरे लोगों के विचारों और विश्वासों के बल पर अपना जीवन चलाना नहीं चाहते थे। उनका ध्येय था केवल अपने आप को ही अपने जीवन का मार्गदर्शक बनाना। इस ध्येय की पूर्ति के लिए उन्होंने पुस्तकों का आश्रय छोड़कर, स्वयं ही अपने आप के बारे में तथा अपने से इतर व्यक्तियों और वस्तुओं आदि के बारे में ऐसे ज्ञान की खोज में निकल पड़ने का निश्चय किया जिस पर संदेह ही नहीं किया जा सके। एतदर्थ सन् 1618 में वे हॉलैण्ड गये और वहाँ नसाओ (Nassau) के शहज़ादा मौरिस की सेना में भरती हो गये। सेना में रहते हुए उन्हें गणितीय अध्ययन के लिए पर्याप्त समय मिलता था और उसका उन्होंने पूरा उपयोग किया। उन्हीं दिनों ब्रेडा में डेकार्ट की मुलाकात बीकमेन से हुई। सन् 1619 में उन्होंने हॉलैण्ड छोड़ा और विश्व-दर्शन की अपनी इच्छा की पूर्ति की तलाश में वे, उन्हीं दिनों आरम्भ हुए तीस वर्षीय युद्ध में भाग

---

1. डिसकोर्स ऑन मेथड, भाग–2

लेने के लिए बेवेरिया के ड्यूक की सेना में भरती हो गये। इसी वर्ष के नवम्बर मास में उन्हें इस बात का अन्तर्ज्ञान हुआ कि विश्लेषणात्मक ज्यामिति की विधि-प्रणाली को दूसरे विषयों के अध्ययन के लिए भी अपनाया जा सकता है। इसी अन्तर्ज्ञान के अनुभव को उन्होंने अपने डिसकोर्स नामक ग्रन्थ में इस प्रकार बताया है। एक दिन जब कड़ाके की सर्दी पड़ रही थी तो उन्होंने एक कुटीर में आश्रय लिया और एक अंगीठी के पास सट करके बैठ गये। इस प्रकार जब उनका शरीर थोड़ा गर्म हुआ तो वे दार्शनिक ध्यान में निमग्न हो गये। दिन के ढलने तक उनके दार्शनिक सिद्धान्त की सम्पूर्ण रूपरेखा स्पष्ट रूप से उनके सामने आ गई। डेकार्ट सन् 1622 तक सेना में रहे, और तत्पश्चात् पेरिस में लौट आये।

सन् 1623 से 1625 तक डेकार्ट इटली में घूमते रहे। इसके बाद जब वे फ्रांस में वापिस आये तो उन्हें लगा कि शहरी जीवन में दार्शनिक चिन्तन के लिए अनेकानेक बाधायें और परेशानियाँ रहती हैं। अतः सन् 1625 से 1628 तक कभी तो वे गांव में रहे और कभी पेरिस में। स्वभाव से ही वे निवृत्ति-परक व्यक्ति थे। अतः सन् 1628 में वे फिर से हॉलैण्ड चले गये। फ्रांस अपनी सम्पत्ति बेच देने से उन्हें जो रकम मिली उससे वे काफ़ी अच्छी तरह निर्विघ्न रूप से जीवन निर्वाह कर सकते थे। इस प्रकार सन् 1628 से 1649 तक वे हॉलैण्ड में ही रहे। इस बीच में केवल तीन बार वे थोड़े-थोड़े समय के लिए फ्रांस अवश्य गये।

सन् 1628 में डेकार्ट ने अपनी पुस्तक **रूल्ज़ फॉर दि गाइडेन्स ऑफ दि माइण्ड** लिखी। सन् 1633 में ईसाई जाँच न्यायालय द्वारा गेलीलियो को मृत्यु दण्ड मिलने के बारे में उन्हें पता चला। फलस्वरूप सन् 1634 में उन्होंने अपनी कृति **दि वर्ल्ड** के प्रकाशन को रोक दिया। भौतिकी विषयक इस कृति में डेकार्ट ने कोपरनिकस का सिद्धान्त अपनाया था और उन्हें डर था कि यदि इस कृति को उन्होंने प्रकाशित किया तो उनकी गति वही होगी जो गेलीलियो की हुई। वास्तव में, डेकार्ट चर्च से झगड़ा मोल लेना नहीं चाहते थे और न ही वे इस प्रकार झगड़े में व्यर्थ ही समय को नष्ट कर अपने दार्शनिक तथा वैज्ञानिक कार्य को अधूरा ही छोड़ जाना चाहते थे।

डेकार्ट ने आजीवन विवाह नहीं किया। तथापि उनकी अपनी संतान थी। सन् 1635 में उन्होंने अपनी लड़की का नामकरण किया। सन् 1637 में उनकी कृति **डिसकोर्स** का फ्रेंच भाषा में प्रकाशन हुआ। इसी कृति के साथ तीन दूसरे निबन्ध—'ला डिओप्ट्रिक' (La Dioptrique) 'मीटिओर्ज़,' (La Meteores) और 'ज्योमीट्री' (La Geometric)—भी एकत्रित रूप से प्रकाशित हुए। वास्तव में, **डिसकोर्स** इन तीन निबन्धों की भूमिका के रूप में ही प्रकाशित किया गया। इन तीन वैज्ञानिक निबन्धों में ज्यामिति विषयक निबन्ध बहुत प्रसिद्ध है, क्योंकि इसी में डेकार्ट ने विश्लेषणात्मक ज्यामिति के सिद्धान्तों का सुविस्तृत विवरण दिया है। सन् 1640 में डेकार्ट की अपनी लड़की और उनके पिता का देहान्त हो गया।

सन् 1641 में उन्होंने लैटिन भाषा में अपनी कृति **मेडिटेशन्ज़ ऑन दि फर्स्ट फिलासफ़ी** का प्रकाशन किया। सन् 1644 में **दि प्रिंसिपिल्ज़ ऑफ फिलासफ़ी** प्रकाशित हुई। ये दोनों कृतियाँ शहज़ादी एलिज़ाबेथ को समर्पित हैं। सन् 1649 में[1] स्वीडन की महारानी क्रिस्टीना के निमन्त्रण पर डेकार्ट हॉलैण्ड छोड़ स्टोकहोम (स्वीडन) चले गए। वहाँ जाकर उन्होंने अपनी कृति **दि पैशन्स ऑफ दि सोल** का प्रकाशन किया। यह कृति स्वीडन की महारानी को समर्पित है। स्टोकहोम में वे स्वीडन की महारानी के गुरु बने। स्वीडिश शीतकाल की कडी सर्दी और उस पर सवेरे के पाँच बजे उठकर एक महारानी को दार्शनिक शिक्षा देने जाना—ये सब डेकार्ट के शरीर से सहन न हुआ। ये बीमार पड़ गये और सन् 1650 की ग्यारह फरवरी को स्टोकहोम में ही उनका देहान्त हो गया।

(2) डेकार्ट का युग :

डेकार्ट के दर्शन को समझने के लिए, उनके जीवन के तथ्यों के अतिरिक्त, उनके युग के सामाजिक और बौद्धिक वातावरण के बारे में भी दो-एक बातों को ध्यान में रख लेना आवश्यक है। सत्रहवीं शताब्दी के विशेष रूप से पूर्वार्ध में ईसाई धर्म का बहुत ज़ोर था। सामाजिक और राजनैतिक स्वातन्त्र्य की कल्पना करना भी असम्भव था। विज्ञान के क्षेत्र में भी यदि किसी वैज्ञानिक ने कोई ऐसी खोज प्रकाशित की जो चर्च को मान्य न हुई तो उस वैज्ञानिक को ईसाई जाँच न्यायालय ने कड़े से कड़ा, यहाँ तक कि फाँसी का भी दण्ड दिया। यही दशा गेलीलियो के साथ हुई। यही कारण था कि जब डेकार्ट ने देखा कि उनकी अपनी कृति **दि वर्ल्ड** में भी गेलीलियो के विचारों से मिलते-जुलते विचार हैं तो तुरंत ही उन्होंने अपनी कृति के प्रकाशन को रोक दिया। वास्तव में, डेकार्ट स्वयं एक श्रद्धालु ईसाई थे। वे धर्म के मामलों में चर्च के प्रभुत्व को स्वीकार करते थे किन्तु दर्शन और विज्ञान के क्षेत्र में चर्च के प्रभुत्व के बारे में उनके मन में अन्तर्द्वन्द्व रहा। दर्शन और विज्ञान की चर्च से स्वतन्त्रता का विचार उनके मन में बार-बार उठता था। तथापि, इस दिशा में वे चार्च को चुनौती देने की स्थिति में नहीं थे। डेकार्ट का यह अन्तर्द्वन्द्व उनके **प्रिंसिपिल्ज़** के अंतिम दो वाक्यों में स्पष्ट रूप से प्रकट होता है: "अपनी वैयक्तिक सीमाओं को पूरी तरह से ध्यान में रखते हुए मैं कोई भी अधिकारपूर्ण दावा नहीं

---

2. **मेडिटेशन्ज़** के प्रकाशित होने से थोड़ा पहले डेकार्ट के मित्र मरसेने (Mersene) ने इस कृति की पाण्डुलिपि उस काल के तीन प्रसिद्ध दार्शनिकों-आरनॉल्ड, गेस्सेन्डी तथा हॉब्ज़—को दिखाई। इन दार्शनिकों ने डेकार्ट के सिद्धान्त पर महत्त्वपूर्ण आलोचनाएँ कीं। ये सब आलोचनाएँ डेकार्ट ने अपने प्रत्युत्तर और समाधानों के साथ **मेडिटेशन्ज़** के द्वितीय संस्करण में प्रकाशित कीं।

करता। मैं अपने सारे विचारों के प्रामाण्य के लिए कैथोलिक चर्च के प्रभुत्व को स्वीकार करता हूँ और मेरे से ज़्यादा समझदार व्यक्तियों के निर्णय को मानता हूँ। मैं यह चाहूँगा कि मेरी किसी भी धारणा में कोई भी व्यक्ति तब तक विश्वास न करे जब तक कि वह उसे स्पष्ट और अकाट्य तर्क के आधार पर स्वयं सत्य नहीं मान ले।"[3] डेकार्ट के मन में यह अन्तर्द्वन्द्व आजीवन बना रहा।

इसके विपरीत डेकार्ट का युग गणित और प्राकृतिक विज्ञान का युग भी था। गणितीय ज्ञान को ज्ञान का आदर्श माना जाता था। एक ओर तो ज्ञान में अनाशक्य और अनिवार्य सत्यता की तलाश थी, और दूसरी ओर ज्ञानार्जन के मामले में गणित की निगमिक विधि प्रणाली को अपनाने पर आग्रह था। यही तलाश और आग्रह हम डेकार्ट में भी देखते हैं। अपने डिसकोर्स के दूसरे भाग में वर्णित चार नियम[4] डेकार्ट की इसी तलाश और आग्रह का प्रमाण हैं।

सत्रहवीं शताब्दी के पूर्वार्ध में जॉह्न केपलर (1561–1630), गेलीलियो गेलीलाई (1564-1642), और फ्रांसिस बेकन (1561-1626) ऐसे महान वैज्ञानिक भी हुए। इन सब का ध्येय था कि विज्ञान को ठोस और पक्की नींव पर खड़ा किया जाये। इस दृष्टि से उन्होंने विज्ञान की विधि प्रणाली पर बहुत ज़ोर दिया। एरिस्टोटल की सिलॉजिस्टिक विधि को लाभदायक न मानकर उन्होंने वैज्ञानिक खोज के लिए आगमिक और प्रयोगात्मक विधि-प्रणाली अपनायी। इस दिशा में फ्रांसिस बेकन का कार्य विशेष रूप में उल्लेखनीय है। बेकन ने आगमिक विधि पर इतना ज्यादा ज़ोर दिया कि वे इसे दर्शन की भी एक मात्र विधि मान बैठे। डेकार्ट भी इन वैज्ञानिकों से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सके। भौतिक पदार्थ के बारे में उनकी मेकेनिस्टिक (Mechanistic) धारणा इसी प्रभाव को प्रकट करती है। तथापि, उनकी वैज्ञानिक कृतियों में प्रयोगों का अभाव है। इसके दो कारण हो सकते हैं। एक तो उस युग में वैज्ञानिक प्रयोग करने के लिए साज़-सामान का पर्याप्त विकास नहीं हो पाया था। और, दूसरा यह कि डेकार्ट के मन में गणितीय विधि-प्रणाली का आकर्षण अधिक था। वे यह भी मानते थे कि गणितीय विधि प्रणाली का उपयोग ज्ञान के किसी भी क्षेत्र में किया जा सकता है, और इसी विधि-प्रणाली के बल पर ज्ञान में अनाशंक्यता और अनिवार्य सत्य पर पहुँचा जा सकता है। कुछ भी हो, डेकार्ट दर्शन को एक ठोस और पक्की नींव पर खड़ा करना चाहते थे। एतदर्थ उन्हें एक सशक्त विधि-प्रणाली की खोज थी। ऐसी सशक्त विधि-प्रणाली की रूपरेखा उन्हें गणित की निगमिक प्रणाली में ही मिली।

---

3. प्रिंसिपिल्ज़ ऑफ़ फ़िलासफ़ी, भाग-2, सं० 207.
4. डिसकोर्स, भाग-2.

(3) दार्शनिक विधि के चार नियम :

अपने डिसकोर्स में डेकार्ट ने चार नियमों का विवरण दिया है। ये चार नियम उनकी दार्शनिक रीति को समचीन रूप से अभिव्यक्त करते हैं :

पहला—जब तक मुझे किसी चीज की सत्यता का स्पष्ट ज्ञान नहीं हो जाए तब तक उसे कभी भी सत्य नहीं मानना। अर्थात् अपनी धारणा बनाते हुए जल्दबाजी और पूर्वग्रह को सतर्कतापूर्वक दूर करना। तथा, अपनी धारणा में केवल वही चीज ग्रहण करना जो मेरे मनःचक्षु के समक्ष इतनी स्पष्ट और विभेदपूर्ण है कि उसकी सत्यता में सन्देह करने का मुझे मौका ही न मिले।

दूसरा—जब भी किसी समस्या पर विचार करना हो तो उसके उचित समाधान के लिए उसका यथासंभव और यथेष्ट अवयवों में विश्लेषण करना।

तीसरा—किसी भी प्रश्न पर व्यवस्थित ढंग से विचार करना। सरल, सहज और सुगम्य चीज़ों के ज्ञान से शुरू करके, आहिस्ता-आहिस्ता एक निश्चित क्रम में बढ़ते हुए, उन चीज़ों का ज्ञान प्राप्त करना जो इन सरल, सहज और सुगम्य चीजों से बनी हैं और जटिलतर हैं। और, इस प्रकार विचारों में एक तरह की क्रमबद्धता ले आना यद्यपि स्वभावतः चीजों में इस प्रकार की क्रमबद्धता तथा व्यवस्था का अभाव है।

चौथा—अपने विचारों में कदम-कदम पर इस प्रकार की परिगणना और सर्वेक्षण कर लेना ताकि मुझे इस बात का पूर्ण निश्चय हो जाये कि मेरी विचार-शृंखला में कहीं भी कोई कड़ी छूट तो नहीं गयी है।

डेकार्ट ने जिस ढंग से इन नियमों को अभिव्यक्त किया है उससे यह स्पष्ट होता है कि वे नियम इतने अधिक व्यापक हैं कि वे किसी भी समस्या के समाधान के लिए नियोजित विचार प्रक्रिया के सम्बन्ध में लागू हो सकते हैं। डेकार्ट स्वयं भी इस बात को जानते थे। उनका कहना था कि "मेरी विधि-प्रणाली किसी भी विषय विशेष से बँधी हुई नहीं है"[5] अतः यह दर्शन और गणित के अतिरिक्त विज्ञान की किसी भी समस्या के संबंध में समान रूप से अपनायी जा सकती है। दूसरे शब्दों में, यदि इन नियमों को हम किसी समस्या विशेष के समाधान की प्रक्रिया के प्रसंग में रख के देखें तो तभी हमें पता चलेगा कि किसी चीज़ को स्पष्ट और विभेदपूर्ण ढंग से जानना क्या होता है तथा उस समस्या के अवयवों का अपर्याप्त विश्लेषण क्या होता है, इत्यादि। कहने का तात्पर्य यह है कि इन नियमों को किसी प्रसंग विशेष में रखे बिना डेकार्ट की विधि प्रणाली को समझना कठिन है, क्योंकि अपने आप में ये नियम अत्यधिक व्यापक हैं। विशेष रूप से, चीज़ो के 'स्पष्ट और विभेदपूर्ण ज्ञान' की धारणा तो व्यक्ति

---

5. डिसकोर्स, भाग-2.

ग्रौर उसके ज्ञान के सापेक्ष होने के कारण ग्रत्यधिक ग्रस्पष्ट है। फिर भी, डेकार्ट की सारी दार्शनिक विधि और उनका दार्शनिक सिद्धांत इसी धारणा को अपना ग्राधार केन्द्र माने हुए है। उनके दर्शन को समझने में उनकी इस धारणा की कठिनाइयां बार-बार हमारे सामने ग्राती हैं।

'स्पष्ट एवं विभेदपूर्ण ज्ञान' की धारणा के ग्रस्पष्ट होने तथा उपर्युक्त चार नियमों को समझने में कठिनाइयों के बावजूद भी, डेकार्ट की विधि-प्रणाली की दो प्रमुख विशेषताएँ उल्लेखनीय हैं। पहली विशेषता यह है कि डेकार्ट की दार्शनिक विधि-प्रणाली स्वरूपतः विश्लेषणात्मक है। उन्होंने इसे खोज करने की विधि भी कहा है। वास्तव में, डेकार्ट का ग्राग्रह दार्शनिक खोज पर ग्रधिक था ग्रौर इस प्रकार की खोज के लिए ही उन्हें ग्रपनी विश्लेषणात्मक विधि का प्रयोग करना ग्रभिप्रेत था। इस दृष्टि से उनकी विधि का प्रयोग इस प्रकार है। हम कोई भी समस्या ग्रथवा प्रश्न लें, तो उसके समाधान के लिए पहले उसका सुगम्य ग्रवयवों में विश्लेषण करना ग्रावश्यक है। उनका विश्वास था कि इस प्रकार के विश्लेषण से ही किसी समस्या के उचित समाधान की खोज करना सम्भव है।

खोज करने की विधि ग्रौर पूर्वान्वेषित ज्ञान को व्यवस्थित रूप से पेश करने की विधि में भेद करना ग्रावश्यक है। डेकार्ट के पूर्ववर्ती दार्शनिकों की रुचि खोज में इतनी नहीं थी। वे पूर्वान्वेषित ज्ञान को ग्रधिक से अधिक सुचारु रूप से पेश करने में रुचि रखते थे। किन्तु, डेकार्ट के सामने बेकन ग्रौर गेलीलियो का ग्रादर्श था। वे एक ऐसी विधि की तलाश में थे जिसके द्वारा वे दार्शनिक क्षेत्र में नयी खोज कर सकें। उनकी विश्लेषणात्मक विधि इसी प्रकार की विधि है। मेडिटेशन्ज में दिए गए उनके ग्रपने दार्शनिक विवेचन में उन्होंने इसी विधि के क्रम—'खोज के क्रम'—को ग्रपनाया है। ग्रर्थात् जिस क्रम से उन्हें दार्शनिक ज्ञान हुग्रा उसी क्रम में ही उन्होंने उसे विवेचित किया।

डेकार्ट ग्रपनी विश्लेषणात्मक विधि को संश्लेषणात्मक विधि से ग्रलग मानते हैं।* संश्लेषणात्मक विधि का उदाहरण युक्लिड की निगमिक प्रणाली में मिलता है जहां कुछ स्वतःसिद्ध पूर्वमान्यताग्रों से ग्रनुमान-नियमों ग्रौर लक्षणों की सहायता से ज्यामिति के प्रमेयों को निगमित किया जाता है। डेकार्ट युक्लिड की इस प्रकार की निगमिक विधि को रूढ़िगत दर्शन का ग्रग मानते थे, और इसे ग्रपनी विश्लेषणात्मक विधि से नीचे दरजे का समझते थे। तथापि, उन्होंने ग्रपने द्वितीय प्रत्युत्तरों में ग्रालोचकों के ग्राग्रह पर इस प्रकार की संश्लेषणात्मक विधि के अनुसार ग्रपने

---

* "विश्लेषणात्मक" तथा "संश्लेषणात्मक" से डेकार्ट का वह ग्रर्थ नहीं है, जो कांट के बाद दर्शन के इतिहास में साधारण तौर पर लिया जाता है। डेकार्ट के ग्रपने ग्रर्थ के बारे में इस लेख के ग्रन्त में दिया हुग्रा परिशिष्ट देखिये।

दार्शनिक सिद्धान्त का विवेचन भी किया है। डेकार्ट के इस मत के बावजूद भी यह कथनीय है कि उनके उत्तरकालीन बुद्धिवादी दार्शनिक विकास के इतिहास में जिस दार्शनिक विधि-प्रणाली को अपनाया गया—विशेषरूप से स्पिनोज़ा द्वारा—वह संश्लेषणात्मक याने निगमिक प्रणाली ही थी और वही स्पष्ट ज्ञान का आदर्श बनी।

डेकार्ट की विधि की दूसरी विशेषता यह है कि उनके विचार में इस विधि के बहुविध उपयोग हैं। इसका न केवल वैज्ञानिक खोज और दार्शनिक खोज के सिलसिले में ही प्रयोग किया जा सकता है, अपितु ज्ञानार्जन के किसी भी क्षेत्र में इस विधि का प्रयोग किया जा सकता है। डेकार्ट की इस मान्यता से यह प्रतीत होता है कि वे गणित, दर्शन और विज्ञान आदि ज्ञान के सभी अंगों को एक ही कड़ी में पिरोना चाहते थे। उनकी दृष्टि में ज्ञान के ये सब क्षेत्र एक दूसरे से अलग-अलग नहीं हैं। इन सब में ज्ञान उपार्जन करने की एक ही विधि है—विश्लेषणात्मक विधि। इसी बात को उन्होंने ज्ञान-वृक्ष की उपमा से भी प्रकट किया है। उनका कहना है कि विभिन्न ज्ञान एक ही ज्ञान-वृक्ष के अलग-अलग अंग हैं। दर्शन अथवा तत्त्वज्ञान इसकी जड़ें हैं, भौतिकी इसका धड़ या स्कन्ध है, और दूसरे विज्ञान जिनमें रोग-चिकित्सा तथा नीति ज्ञान भी शामिल है, इस ज्ञान-वृक्ष की विभिन्न शाखाएँ हैं। डेकार्ट के इस प्रकार के विचारों के प्रकाश में यह कहा जा सकता है कि वे दर्शन और विज्ञान में निरन्तरता का सतत संबंध देखते थे। वास्तव में, उनकी कृतियों में उनके इस मत की संपुष्टि भी मिलती है। इस दृष्टि से उनके **डिसकोर्स** का पूरा नाम उल्लेखनीय है—'उस विधि प्रणाली का विवेचन जिस विधि प्रणाली से मन-बुद्धि को सही ढंग से नियोजित किया जा सके और विभिन्न विज्ञानों में सचाई की खोज की जा सके।' इसके अतिरिक्त, उन्होंने अपनी कृति **रूल्ज फॉर दि डाइरेक्शन ऑफ दी माइंड** को अपनी तीन वैज्ञानिक कृतियों के पूर्व कथन के रूप में ही लिखा और प्रकाशित किया है। इन बातों से स्पष्ट होता है कि डेकार्ट गणित, दर्शन तथा विज्ञान को एक ही लड़ी में पिरो देने के प्रयत्न में संलग्न रहे। तथापि, उन्हें इस बात को मानने से इनकार नहीं था कि दर्शन और विज्ञान में जिस तरह के तर्क दिये जाते हैं वे विभिन्न प्रकार के होते हैं। अर्थात्, विज्ञान में आनुभाविकी साक्ष्य तथा गणितीय विश्लेषण की आवश्यकता रहती है, जबकि दर्शन में धारणाओं के तार्किक विश्लेषण और अन्तर्ज्ञान पर आग्रह किया जाता है।

उपर्युक्त विश्लेषण से स्पष्ट होता है कि डेकार्ट के चार नियम केवल दार्शनिक विधि-प्रणाली को ही सूचित नहीं करते। वे अत्यधिक व्यापक हैं। उनके नियम तभी दार्शनिक विधि कहलाते हैं जब उन्हें दर्शन के क्षेत्र में प्रयुक्त किया जाता है। इस दृष्टि से डेकार्ट का प्रथम नियम विशेष महत्त्वपूर्ण है। इस नियम के अनुसार दार्शनिक तब तक किसी चीज को सत्य स्वीकार नहीं करे जब तक वह उस चीज़ को इतनी स्पष्टता और विभेदपूर्ण दृष्टि के साथ न देख ले कि उसकी सत्यता में उसे शंका

करने की कोई गुंजाइश ही नहीं रहे। अब यदि इस नियम की दार्शनिक खोज के सिलसिले में प्रयुक्त किया जाये तो यही नियम डेकार्ट की शंका पर आधारित विधि को जन्म देता है। इसी शंका-विधि को अपनाने के फलस्वरूप डेकार्ट, अपनी दार्शनिक खोज के प्रारम्भ में ही, इस बात की घोषणा करते हैं कि जहां तक सम्भव है वे हरेक चीज़ की सत्यता में शंका करेंगे और इस प्रकार से वे उन तथ्यों पर पहुंचने का प्रयत्न करेंगे जो शंका से परे हैं अथवा उनमें शंका करने की कोई गुंजाइश ही नहीं रह जाती। और, यदि वे इस प्रकार के अनाशंक्य एवं निश्चित तथ्यों की खोज कर लेते हैं तो वे उन तथ्यों के आधार पर दूसरे निश्चित तथ्यों की खोज करेंगे ताकि वे इस प्रकार अपने दार्शनिक सिद्धान्तों को ठोस और मजबूत नींव पर खड़ा करने में समर्थ हो सकें।

डेकार्ट की इस योजना के विषय में दो-तीन बातों का उल्लेख करना वांछनीय है। पहला, डेकार्ट को किसी अनाशक्य और निश्चित तथ्य अथवा सत्य की तलाश थी। दूसरा, इस निश्चित तथ्य के आधार पर वे दूसरे निश्चित तथ्यों (सत्यों) को निगमित करना चाहते थे। और, तीसरा, इस प्रकार गणित के निगमिक मॉडल पर अपने दार्शनिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन करने में उनकी रुचि थी। स्पष्ट है कि वे गणित को निश्चित ज्ञान का आदर्श मानते थे। तथापि, जिस ढंग से उन्होंने अपनी शंका-विधि का विवेचन किया है उसके बारे में कुछेक अस्पष्टताएं बनी हुई हैं। डेकार्ट ने प्रायः कहा है कि उनका उद्देश्य उस ज्ञान की खोज करना है जो सत्य है। किंतु अपनी वास्तविक विचार-प्रक्रिया में वे इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए उस ज्ञान की तलाश में जुट जाते हैं जो न केवल सत्य ही है अपितु अनाशंक्य और, कड़े अर्थों में, निश्चयात्मक सत्य हैं। ध्यानपूर्वक देखा जाये तो "केवल सत्य" और "अनाशंक्य एवं निश्चयात्मक सत्य" में काफ़ी अन्तर है। इन दो प्रकार के सत्यों की खोज भी अलग-अलग ही होगी। किंतु, डेकार्ट ऐसा नहीं समझते। उनके मत में इन दो प्रकार के सत्यों की खोज में कोई भेद नहीं है। कुछ भी हो, इस विषय में अस्पष्टता बनी हुई है। ऐसा भी कहा जा सकता है कि डेकार्ट गणित को ज्ञान का आदर्श मानते थे और उनसे प्रभावित थे। परंतु, यह कारण भी विचाराधीन अस्पष्टता का निराकरण नहीं कर ा, क्योंकि डेकार्ट के मतानुसार जो गुण गणित-शास्त्र को ज्ञान का आदर्श बनाता है, वह है गणित के ज्ञान की निश्चयात्मकता। किंतु प्रश्न यह उठता है कि वे ऐसा क्यों सोचते हैं। इस बात का कारण कदाचित् तत्कालीन ऐतिहासिक स्थितियों में खोजा जा सकता है। उस समय धार्मिक ज्ञान के क्षेत्र में निश्चयात्मकता तथा धर्म के प्रभुत्व के विषय में अनेकानेक शंकाएँ प्रकट की जाने लगी थीं। इन्हीं शंकाओं के आधार पर ऐसा तर्क दिया जाने लगा था कि किसी भी क्षेत्र में अनाशंक्य और निश्चयात्मक ज्ञान सम्भव नहीं है। कदाचित् इसीलिए डेकार्ट की तलाश एक मात्र निश्चयात्मक ज्ञान की तलाश थी और कदाचित् इसीलिए ही वे केवल सत्य और

अनाशक्य एवं निश्चयात्मक सत्य में कोई भेद नहीं करते। उनकी दृष्टि से एक प्रकार के सत्य की तलाश वास्तव में दूसरे प्रकार के सत्य की ही तलाश है।

अनाशंक्य और निश्चयात्मक ज्ञान की डेकार्ट की तलाश का एक और कारण भी था। उनके युग की एक विशेषता यह भी रही है कि तत्कालीन दार्शनिक चिन्तन आत्मकेन्द्रित दृष्टिकोण को लेकर चला। अर्थात् 'मैं क्या जानता हूं ?' और 'क्या जान सकता हूं ?' और 'मेरा ज्ञान कहां तक शंका से परे और निश्चयात्मक है ?' इस प्रकार के प्रश्नों से दार्शनिक अपना चिन्तन आरम्भ करता था। ज्ञान मीमांसा पर यही आग्रह तत्कालीन और उसके परवर्ती दर्शन को उसके पूर्ववर्ती और रूढ़िवादी दर्शन से अलग करता है। डेकार्ट का दार्शनिक चिन्तन भी इसी प्रकार के आत्मकेन्द्रित दृष्टिकोण से शुरू होता है। वे इसी बुनियादी प्रश्न को उठाते हैं कि 'मैं क्या जानता हूं ?' उनके मतानुसार इस प्रश्न का उत्तर अपने विश्वासों पर विचार करने के बल पर दिया जा सकता है। अब यदि हम ज्ञान को संपुष्टित सत्य विश्वास मानें तो मेरे किसी भी ज्ञान की यह एक आवश्यक शर्त हो जाती है कि मेरे विश्वास सत्य हों। किन्तु अपने विश्वासों पर केवल विचार मात्र से हम यह कैसे कह सकते हैं कि मेरे अमुक विश्वास सत्य हैं और अमुक विश्वास असत्य ? क्योंकि, व्यक्ति के दृष्टिकोण से, तो उसका कोई विश्वास रखना ही यह बताता है कि वह तो उस विश्वास को सत्य ही मानता है। किन्तु, विश्वास रखना और उस विश्वास का सत्य होना ये दो अलग-अलग धारणाएं हैं। ऐसी स्थिति में डेकार्ट के पास एक ही रास्ता रह जाता है और वह यह कि केवल अन्तर्विचार के आधार पर ही यह बताया जा सके कि किसी विश्वास के रखने मात्र से ही उस विश्वास की सत्यता सिद्ध होती है। डेकार्ट की विधि प्रणाली के प्रथम नियम में यही बात निहित है—अनाशंक्य और निश्चयात्मक ज्ञान की खोज। दूसरे शब्दों में, डेकार्ट के मतानुसार स्वतःप्रामाणिकता ही सच्चे ज्ञान की विशेषता है। इसी प्रकार का ज्ञान ही शंका से परे और निश्चयात्मक ज्ञान है। इस प्रकार का ज्ञान होने की स्थिति में किसी भी व्यक्ति के लिए यह पूछना असम्भव हो जाता है कि 'क्या मैं जानता हूं कि मुझे इस सत्य का ज्ञान है ?' सच्चे ज्ञान की इसी विशेषता पर आगे चल कर स्पिनोज़ा ने ज़ोरदार आग्रह किया।

डेकार्ट अपनी शंका-विधि का प्रयोग इस प्रकार करते हैं। जहां भी किसी भी ज्ञान में तनिक सी भी शंका हो अथवा उसमें शंका की कल्पना की जा सके तो उसमें तब तक के लिए अपना विश्वास न रखो जब तक कि उसमें शंका की गुंजाइश बनी रहे। अपनी इस विधि के अनुसार वे समस्त भौतिक जगत में, अपने शरीर की सत्ता में, ईश्वर की सत्ता में, भूत के अस्तित्व में, और गणित के सत्यों में भी अपने विश्वास को स्थगित कर देते हैं। कम-से-कम वे ऐसा करने का दावा जरूर करते हैं। इन सब चीज़ों के संबंध में अपने ज्ञान को शंकास्पद सिद्ध करने के लिए डेकार्ट ने जो तर्क दिए हैं वे अधूरे लगते हैं और इसके फलस्वरूप उनके संबंध में

अनेकानेक मतभेद बने हुए हैं। पहला, जब डेकार्ट शंका की सम्भावना की बात करते हैं तो वह सम्भावना किस प्रकार की है—तार्किक अथवा किसी और प्रकार की? कभी-कभी लगता है कि वे शंका की तार्किक सम्भावना की बात नहीं कर रहे हैं। इस संबंध में अपनी विवेचना में वे कहते हैं कि केवल उन्हीं विश्वासों को ज्ञान कहा जायेगा जिन विश्वासों में शंका करने का वास्तव में अवसर ही न मिले। पुनश्च, अपने विश्वास को स्थगित करने के लिए उन्होंने जो तर्क दिये हैं, उनमें भ्रांति की वास्तविक परिस्थितियों पर ध्यान दिलाया गया है। उदाहरणतः उन्होंने इन्द्रियजन्य भ्रांतियों पर आधारित असत्य विश्वासों की ओर निर्देश किया है। विशेष रूप से, स्वप्नमूलक भ्रांतियों के बारे में तो प्रायः जिक्र किया है। तथापि, उल्लेखनीय बात यह है कि इस प्रकार की वास्तविक परिस्थितियों के आधार पर तर्कतः सार्वभौमिक शंकावाद की स्थापना नहीं की जा सकती। यद्यपि इस प्रकार की परिस्थितियों की गणना के आधार पर यह अनुमान तो अवश्य निकलता है कि भूत में हमारे कुछेक अथवा सभी विश्वास बाद में ग़लत साबित हुए; परन्तु इससे यह अनुमान तो नहीं निकलता कि भविष्य में भी हमारे सारे विश्वास असत्य सिद्ध हो जायेंगे। इस प्रकार का अनुमान निकालना तर्क की दृष्टि से अवैध होगा।

ऐसा प्रतीत होता है कि वास्तव में डेकार्ट ने स्वयं इन्द्रियजन्य भ्रांतियों और स्वप्न के आधार पर सार्वभौमिक शंकावाद का अनुमान नहीं निकाला। अपनी विवेचना में उन्होंने इन बातों की ओर इसलिए निर्देश किया कि इन्द्रियानुभव के आधार पर बने विश्वासों में शंकारहितता और निश्चयात्मकता के दावे को कमज़ोर कर दिया जाये। और इस प्रकार सार्वभौमिक भ्रांति की धारणा में स्वाभाविक अविश्वास को टाला जा सके। इस बात में सन्देह नहीं कि अपनी कृति मेडिटेशन्ज में वे एक ऐसा तर्क देते हैं जिससे यह स्पष्ट होता है कि उन्होंने सार्वभौमिक शंकावाद की भ्रांति के वास्तविक उदाहरणों के आधार पर स्थापित करने का प्रयत्न नहीं किया। वे केवल तर्क के लिए एक ऐसे परम शक्तिशाली शैतान की कल्पना करते हैं जो ज्ञान के क्षेत्र में हमें धोखा देने पर तुला हुआ है। इस प्रकार का शैतान हमारे साधारण जीवन के सारे विश्वासों में हमें धोखा दे सकता है। उदाहरणतः वह शैतान हमें भरमाये हुए है कि हम जागृत अवस्था में हैं जबकि वास्तव में हम स्पष्ट स्वप्न देख रहे हैं, इत्यादि। इस तर्क के माध्यम से डेकार्ट जो बात कहना चाहते हैं वह यह है कि साधारण जीवन के प्रत्येक विश्वास को शंकास्पद मान लेने की धारणा में किंचित मात्र भी बेतुकापन नहीं है।

दर्शन के इतिहास में डेकार्ट के शंकावाद ने आलोचकों का अत्यधिक ध्यान आकर्षित किया है। प्रश्न उठता है कि क्या डेकार्ट संशयवादी दार्शनिक हैं? मेरे विचार में उन्हें संशयवादी दार्शनिक कहना गलती होगी; क्योंकि उनके तर्कों में शंका को दार्शनिक विश्लेषण के साधन मात्र के रूप में प्रयोग किया गया है। वास्तव में, उनकी तलाश शंका से परे, निश्चयात्मक सत्य पर पहुँचने की थी; और उनके

मतानुसार वे इस प्रकार के सत्य पर पहुँचने में सफल भी हुए। अपने प्रथम तथा अन्तिम मेडिटेशन्ज़ में उन्होंने इस बात को बारम्बार स्पष्ट किया है कि अविवेकपूर्ण शंका निरर्थक होती है। उनके मतानुसार, वास्तव में, अतिशयोक्तिपूर्ण शंका वह विधि है जिसके प्रयोग से हम ज्ञान के क्षेत्र में शंका से परे और निश्चयात्मक विश्वासों को पहचान कर उन्हें शंकास्पद और अनिश्चयात्मक विश्वासों से पृथक् करते हैं। दूसरे शब्दों में, शंका के साधनत्व के आधार पर ही हम सत्य और असत्य में विवेक कर पाते हैं।

(4) 'मैं सोचता हूँ, अतः मैं हूँ' :

डेकार्ट ने प्रत्येक विश्वास की सत्यता में शंका की और उसे सत्य स्वीकार करने से इनकार कर दिया। किन्तु, अन्त में जाकर जब वे प्रत्येक विश्वास के असत्य होने के विषय में सोच रहे थे तो उन्हें अनुभव हुआ कि 'मैं', जो सोच रहा है, उसकी सत्ता होना अनिवार्य है। अर्थात् मेरी सत्ता अनाशंक्य और निश्चयात्मक सत्य है। अपने चौथे डिसकोर्स में वे अपनी इस खोज का वर्णन इस प्रकार करते हैं : 'जब मैं प्रत्येक चीज के असत्य होने के बारे में सोच रहा था, तो मैंने देखा (अनुभव किया) कि ऐसा होना ही चाहिए कि 'मैं' जो सोच रहा था, उसकी सत्ता है। और, इस बात को समझते हुए कि यह सत्य 'मैं सोच रहा हूँ, अतः मेरी सत्ता है' इतना ठोस और पक्का है, कि इसे संशयवादियों के बड़े से बड़े तर्क भी नहीं काट सकते, तो मैंने निश्चय कर लिया कि इस सत्य को अपने दर्शन का आधारभूत सत्य स्वीकार करने में मुझे किंचित् मात्र भी शंका नहीं होनी चाहिए।"[6]

डेकार्ट इस सत्य में शंका नहीं करते, क्योंकि उनकी दृष्टि में इस सत्य में शंका करना असम्भव है। यह सत्य उनकी अपनी सत्ता के बारे में है और यह शंका से परे निश्चयात्मक सत्य है। क्योंकि, यदि कोई व्यक्ति अपने प्रत्येक विश्वास की सत्यता में शंका करता है, और यदि यह कुछ भी सोचता है तो शंका करने और सोचने के लिए उसकी अपनी सत्ता होना अनिवार्य है। यही बात डेकार्ट की प्रसिद्ध उक्ति 'मैं सोचता हूँ, अतः मैं हूँ' से प्रकट होती है।

अपने दर्शन की इस आधारभूत खोज के लिए दूसरे मेडिटेशन में डेकार्ट ने अपने तर्क को जिस प्रकार प्रस्तुत किया है वह उसके चौथे डिसकोर्स में प्रस्तुत तर्क से थोड़ा भिन्न-सा है। इस संबंध में तीन बातें उल्लेखनीय हैं। पहला, यह बात स्पष्ट नहीं है कि शंका करने अथवा सोचने—जो चैतन्य के दो विशेष रूप हैं—के माध्यम से ही आत्मा की सत्ता प्रकट होती है। चैतन्य का कोई भी रूप आत्म की सत्ता प्रकट करने में पूर्णतः समर्थ है। दूसरा, यह सूत्र कि 'मैं सोचता हूँ, अतः मैं हूँ' वास्तव में मेडिटेशन्ज़ में अपने इस रूप में नहीं पाया जाता। मेडिटेशन्ज़ में डेकार्ट

---

6. डिसकोर्स, भाग–4.

को इसका एक अन्य रूपान्तर ज्यादा पसन्द है। वह यह है : "मैं हूँ, मेरी सत्ता है, अनिवार्य रूप से सत्य है जब-जब मैं इसे मुँह से कहता हूं अथवा विचार में इसकी कल्पना करता हूँ।"[7] तीसरा, इस आधारभूत सत्य को मेडिटेशन्ज में दूसरे ढंग से दुष्ट शैतान की कल्पना से भी अभिव्यक्त किया गया है। वह इस प्रकार है : 'यदि वह मुझे धोखे में रखता है तो भी इसमें सन्देह नहीं कि मेरी सत्ता है। चाहे वह मुझे कितना ही धोखा क्यों न दे ले, वह ऐसा कभी नहीं कर पायेगा कि मेरे सोचने के समय जब मेरी सत्ता है, मेरी सत्ता न हो।'[8]

डेकार्ट के इस प्रसिद्ध सूत्र में—'मैं सोचता हूँ, अतः मैं हूँ'—में जो निश्चयात्मकता अथवा अनाशंक्यता प्रकट होती है उसका उन्होंने कोई विश्लेषण नहीं किया। वे इतने से ही पर्याप्त सन्तुष्ट हो गये कि अपने दर्शन को ठोस और मज़बूत नींव पर खड़ा करने के लिए उन्हें एक निश्चयात्मक और अनाशंक्य आधार मिल गया है। इसके अलावा वे इस सत्य को एक मौलिक और आधारभूत तथ्य मानते थे। उनकी दृष्टि में यह एक ऐसा तथ्य है जिसकी सत्यता उसके ज्ञान में ही प्रकट होती है। यह अनाशंक्य और निश्चयात्मक सत्य है। बीसवी शताब्दी के कुछेक आधुनिक दार्शनिकों ने इस संबंध में इस प्रश्न पर विचार किया है कि डेकार्ट के इस सूत्र में किस प्रकार की अनाशंक्यता प्रकट होती है। उन्होंने इस अनाशंक्यता का कुछ विश्लेषण भी किया है। ए० जे० ऐअर[9] का मत है कि डेकार्ट के सूत्र को अनाशंक्य कहने का अर्थ कुछ इस प्रकार से समझा जा सकता है : किसी भी वाक्य को अनाशंक्य कहा जायेगा यदि और केवल यदि इस वाक्य की सत्यता कि 'प सत्य है', एक दूसरे वाक्य 'मैं शंका करता हूँ कि क्या प सत्य है' से निगमित हो। इस अर्थ से 'मेरी सत्ता है', 'मैं शंका कर रहा हूँ', और 'मैं सोच रहा हूँ'–इस प्रकार के वाक्यों की अनाशंक्यता फलित होती है। याद रहे कि 'मैं सोच रहा हूँ' यह वाक्य 'मैं शंका कर रहा हूँ' इस वाक्य से निगमित होता है। याको हिन्टिका[10] ने 'अनाशंक्यता' प्रत्यय का तार्किक विश्लेषण जे० एल० ऑस्टिन की अनुष्ठानपरक वाक्यों की धारणा के आधार पर किया है। बर्नार्ड विलियम्ज़ का कहना है कि इस प्रकार के विश्लेषण डेकार्ट के सूत्र 'मैं सोचता हूँ अतः मैं हूँ' के एक महत्त्वपूर्ण तार्किक गुण को प्रकाश में लाते हैं। वह गुण यह है कि हम 'मैं हूं' और 'मैं सोच रहा हूँ' इन वाक्यों का सार्थक

---

7. **मेडिटेशन्ज ऑन दि फर्स्ट फिलासफ़ी**, सं० 2
8. **मेडिटेशन्ज**, सं० 2
9. एअर, ए० जे०, **दि प्रॉबलम्ज़ ऑफ नॉलेज**, (न्यूयॉर्क : सेंट मार्टिन्स प्रेस : 1956), पृष्ठ 45–54
10. 'कोजिटो अरगो सम : इनफ़ेन्स और परफॉरमेन्स', **दि फलासोफिकल रिव्यू**, जनवरी 1962 ; पृष्ठ 3–32

रूप से निषेध नहीं कर सकते, यद्यपि व्याकरण की दृष्टि से इस प्रकार के निषेध वाक्य कितने ही सही क्यों न हों। 'मैं नहीं हूँ' अथवा 'मेरी सत्ता नहीं है,' और 'मैं नहीं सोच रहा हूँ' ये वाक्य वास्तव में अनिवार्य रूप से विरोधात्मक हो जाते हैं। इस प्रकार की विरोधात्मकता को भले ही हम तार्किक विरोध न कहें, परन्तु शब्दार्थिकी की दृष्टि से इन वाक्यों को हम विषम ज़रूर कहेंगे। इस प्रकार के वाक्य कदापि सत्य नहीं हो सकते, क्योंकि 'मैं नहीं हूँ', अथवा 'मैं नहीं सोच रहा हूँ' को सत्य कहकर हम इन वाक्यों के सत्य होने की अनिवार्य शर्त को ही रद्द कर बैठते हैं। विलियम्ज़ का सुझाव है कि डेकार्ट ने अपने सूत्र को अनाशंक्य कह करके इसी धारणा को प्रकट किया है।[11]

उपर्युक्त तीन आधुनिक व्याख्याओं से डेकार्ट के सूत्र के तार्किक स्वरूप पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। तथापि, वे डेकार्ट के अपने मत को कदाचित् सही और पूरे ढंग से पेश करने में सफल नहीं माने जा सकते। 'मैं सोचता हूँ, अतः मैं हूँ' का स्पष्ट करते हुए डेकार्ट लिखते हैं कि 'सोचना' चैतन्य का एक रूप है। इस संबंध में उन्होंने स्वयं Cogitatio या Pençee शब्द का प्रयोग किया है। इस शब्द का प्रयोग इतना व्यापक है कि व्यक्ति की चेतन दशा, प्रक्रिया अथवा सक्रियता के किसी भी रूप को—उदाहरणतः इच्छा करना इत्यादि को—Cogitatio शब्द से इंगित किया जा सकता है। इस शब्द का इतना व्यापक प्रयोग उन्हें पूर्णतया मान्य था। अपने दूसरे मेडिटेशन में वे कहते हैं :" 'तो फिर मैं क्या हूँ ?' एक चेतन सत्ता। वह क्या है ? वह वह सत्ता है जो शंका करती है, जिसे बोध होता है, जो किसी कथन के बारे में हां या ना कहती है, जो चाहती है, चाहने से इनकार करती है; और भी, जिसमें बुद्धि और कल्पना शक्ति है।"[12] डेकार्ट इस बात को पूरी तरह स्पष्ट कर देते हैं कि 'मैं सोचता हूँ, अतः मैं हूँ'—यह सूत्र Cogitatio अथवा चेतनता के किसी भी रूप के लिए लागू होता है। उदाहरणतः 'मैं शंका करता हूँ अतः मैं हूँ' ठीक उसी प्रकार से अनाशंक्य और निश्चात्मक सत्य है जिस प्रकार से 'मैं सोचता हूँ अतः मैं हूँ' यह सत्य निश्चयात्मक और अनाशंक्य है। इससे स्पष्ट होता है कि डेकार्ट के मतानुसार न केवल 'मैं सोच रहा हूँ' ही अनाशंक्य है, बल्कि 'मैं शंका कर रहा हूँ', 'मैं कल्पना कर रहा हूँ', 'मुझे अनुभव हो रहा है कि मैं बाह्य जगत की वस्तुएँ देख रहा हूँ', इत्यादि वाक्य—जो सब स्वरूपतः अव्यवहित अनुभव के वाक्य हैं—यदि सत्य कहे जायेंगे तो निश्चय ही अनाशंक्य रूप से सत्य कहे जायेंगे।

---

11. 'दि सरटेनटी ऑफ दि कोजिटो', डेकार्ट (ए कल्लेकशन ऑफ क्रिटिकल एस्सेज़), संपादक विल्लिस डोनेगी, लण्डन : मेकमिलन एण्ड कम्पनी, 1967; पृष्ठ 88–107.
12. मेडिटेशन्ज़, सं० 2.

यहां एक टिप्पणी आवश्यक है। वह यह कि यदि 'मैं कुछ सोच रहा हूँ' इस प्रकार के अव्यवहित अनुभव के वाक्यों को निश्चयात्मक अथवा अनाशंक्य मान लिया जाये तो एक कठिनाई उत्पन्न होती है। इस प्रकार के वाक्यों के निषेध से तार्किक विरोध अथवा शब्दार्थिकीय विषमता बिल्कुल पैदा नहीं होती; बल्कि इनके निषेध सार्थक और सुसंगत प्रतीत होते हैं। उदाहरणतः यह वाक्य कि 'मैं कुछ नहीं सोच रहा हूँ' पूर्ण रूप से सार्थक है और सुसंगत भी। इसके विपरीत 'मैं हूँ' इत्यादि प्रकार के वाक्यों के निषेध—अर्थात् 'मैं नहीं हूँ' इत्यादि—निश्चय ही विषम और एक तरह से विरोधात्मक प्रतीत होते हैं। और, तर्क की दृष्टि से यदि 'मैं हूँ' इत्यादि ये वस्तुतः सच्चे वाक्य हैं, तो इन्हें भी डेकार्ट के मतानुसार अव्यवहित अनुभव के वाक्य ही कहना होगा।

अब यदि 'मैं हूँ' और 'मैं कुछ सोच रहा हूँ' ये दोनों प्रकार के वाक्य एक ही अर्थ में अव्यवहित अनुभव के वाक्य हैं, तो कहते बनता है कि 'मैं हूँ,' वाक्य की अनाशंक्यता और मैं कुछ सोच रहा हूँ' इस वाक्य की अनाशंक्यता में बहुत फ़र्क है। पहले प्रकार के वाक्य का निषेध विषम अथवा विरोधात्मक है; जबकि दूसरे प्रकार के वाक्य का निषेध पूर्ण रूप से सार्थक और सुसंगत है। व्यवहार में भी भाषा प्रयोग की दृष्टि से एक झूठ बोलने के खूब काम में आ सकता है, जबकि दूसरा इस काम के लिए बिल्कुल घातक है। यदि हम इन दो प्रकार के वाक्यों की अनाशंक्यता में बिल्कुल भी भेद न करना चाहें, तो उस स्थिति में हम यह भी कह सकते हैं कि पहले प्रकार के शब्द-समूह, अर्थात् 'मैं हूँ' प्रकार के शब्द-समूह वस्तुतः सच्चे सत्ता-सूचक वाक्य नहीं हैं, यद्यपि व्याकरण की दृष्टि से ऐसे शब्द-समूहों को भी वाक्य कहा जाता है। याद रहे कि इस प्रकार का तर्क 'सत्ता' के गुणवाचक शब्द न होने की धारणा पर आधारित है।

'मैं सोचता हूँ, अतः मैं हूँ' के संबंध में अक्सर पूछा जाता है कि क्या डेकार्ट का यह सूत्र अनुमिति को अभिव्यक्त करता है? इस प्रश्न पर उनके युग से लेकर आज तक काफ़ी विचार-विमर्श हुआ है। इस प्रश्न के संबंध में उन्होंने स्वयं जो कुछ कहा अथवा लिखा है उसे हम पूरी तरह से सुसंगत तो नहीं कह सकते; अतः उनके मत की व्याख्या करने में काफी कठिनाइयां पेश आती हैं। तथापि, दो बातें कुछ स्पष्टता के साथ हमारे सामने आती हैं : एक तो यह कि 'मैं सोचता हूँ अतः मैं हूँ' यह सूत्र—इसमें 'अतः' अनुमिति सूचक शब्द होते हुए भी अनुमान को अभिव्यक्त नहीं करता। अर्थात् ऐसा नहीं है कि इस प्रकार जब हम अपनी सत्ता के बारे में ज्ञान प्राप्त करते हैं तो वह ज्ञान अनुमिति से फलित होता है। दूसरी बात जो सामने आती है वह यह है कि 'मैं सोचता हूँ अतः मैं हूँ' 'यह किन्हीं अन्य आधार-वाक्यों पर आधारित सिलॉजिस्टिक अनुमान भी नहीं है। अर्थात् 'मैं हूँ' यह सत्तासूचक वाक्य इन दो वाक्यों—'वे सब चीजें जो सोचती हैं, सत्ता रखती हैं' और 'मैं सोचता हूँ' के आधार पर

निगमित होती है—ऐसा भी नहीं कहा जा सकता। दूसरे सैट के प्रश्नों के अपने प्रत्युत्तर में डेकार्ट लिखते हैं कि 'हम देखते हैं कि हम चेतन व्यक्ति हैं।' यह एक मूलभूत धारणा है जो किसी सिलॉजिज्म का अनुमान नहीं है। और फिर कोई व्यक्ति जब यह कहता है कि 'मैं अनुभव कर रहा हूँ, अतः मैं हूँ या मेरी सत्ता है' तो वह अपनी सत्ता को किसी सिलॉजिज्म के द्वारा अपने अनुभव करने के आधार पर निगमित नहीं करता; परंतु वह उसे अपने अव्यवहित अन्तरानुभव में स्वयं प्रकाशमान् तथ्य की तरह पहचानता है। यह बात इस तथ्य से भी स्पष्ट होती है कि यदि वह सिलॉजिज्म के द्वारा अपनी सत्ता को निगमित कर रहा होता, तो उस स्थिति में उसके लिए पहले इस आधार-वाक्य कि—'जो भी अनुभव करता है कि वह है, उसकी सत्ता है'—की सत्यता को जानना आवश्यक होता; जबकि वास्तव में बात यह है कि इस साधारण नियम का ज्ञान व्यक्ति के अपनी सत्ता को माने बिना किसी भी अनुभव को अनुभूत करने की असम्भाव्यता के ज्ञान पर आधारित है। इसका कारण यह है कि हमारा मानस कुछ इस प्रकार का बना हुआ है कि हम सामान्य वाक्यों का ज्ञान किन्हीं विशिष्ट ज्ञान के आधार पर ही प्राप्त कर सकते हैं।[13]

डेकार्ट के इस स्पष्टीकरण से ज्ञात होता है कि वे अपने दर्शन के आधारभूत सत्य को सिलॉजिस्टिक अनुमान के इस आधार वाक्य पर कि 'सब चीजें जो सोचती हैं कि वे हैं, उनकी सत्ता है' पर आधारित नहीं मानते। तथापि, 'मैं सोचता हूँ अतः मैं हूँ' एक दूसरे प्रकार का नियम पूर्वगृहीत प्रतीत होता है। वह यह कि 'सोचने के लिए यह आवश्यक शर्त है कि (सोचने वाले की) सत्ता हो। उनके आधारभूत सत्य में इस प्रकार का नियम पूर्वगृहीत है, यह बात डेकार्ट को भी मान्य है। उनका मत है कि "जो अनुभव कर रहा है उसकी सत्ता का न होना असम्भव है।"[14] वे इस नियम को 'नित्य सत्य' (verite eternelle) भी कहते हैं। इससे पता चलता है कि डेकार्ट के मतानुसार कुछेक ऐसे सत्य भी होते हैं जो इतने मौलिक हैं कि न तो उसका ज्ञान अनुभव पर आधारित होता है और न ही वे शंका की परिधि में आते हैं। इस प्रकार के अनाशंक्य और निश्चयात्मक सत्यों के बल पर ही शंका और शंकास्पद विश्वासों के फंदे से बाहर निकला जा सकता है। 'मैं सोचता हूँ अतः मैं हूँ' एक इसी प्रकार का अनाशंक्य और निश्चयात्मक सत्य है। इसकी सत्यता का ज्ञान हमारे अव्यवहित अन्तरानुभव में प्रकट होता है; परन्तु वह उस अनुभव पर आधारित नहीं है।

(5) आत्म और शरीर में मौलिक विभिन्नता :

डेकार्ट ने अपने पत्र-व्यवहार में नवम्बर 14, 1640 को एण्ड्रीज़ कोल्विअस (Andreas Colvius) को लिखा कि यह सच है कि सेंट ऑगस्तीन ने भी उनके जैसे

---

13. देखिए 'द्वितीय सैट के प्रश्नों के प्रत्युत्तर'।
14. **प्रिंसिपिल्ज, भाग–1, संख्या 10.**

तर्क का--अर्थात् 'मैं सोचता हूँ अतः मैं हूँ' के सदृश तर्क का--अपनी कृतियों में प्रयोग किया है। किन्तु, ऑगस्तीन ने 'इस तर्क का प्रयोग हमारी सत्ता के बारे में हमारे विश्वास को सच्चा सिद्ध करने के लिए किया है। साथ ही इस तर्क के आधार पर उन्होंने यह भी बताने का प्रयत्न किया है कि हम मनुष्य लोग त्रिगुट याने ट्रिनिटी का ही एक प्रतिबिम्बित रूप हैं।' डेकार्ट इस बात को स्पष्ट करते हुए अपने उसी पत्र में लिखते हैं कि इस तर्क का मैंने जो प्रयोग किया है वह सेंट ऑगस्तीन के प्रयोग से भिन्न है। 'मैंने इस तर्क का प्रयोग यह सिद्ध करने के लिए किया है कि मैं जो सोचता हूँ वह एक अभौतिक पदार्थ है जिसमें दैहिकता का नितान्त अभाव है।' उनके इस पत्र से स्पष्ट होता है कि 'मैं सोचता हूँ अतः मैं हूँ' के संबंध में डेकार्ट दो तरह का दावा करते हैं : एक तो यह कि 'मैं' जिसकी सत्ता उन्होंने सिद्ध की है, एक ऐसा पदार्थ है जिसका स्वभाव ही सोचना है। अर्थात् 'मैं' यानि आत्म स्वभावतः चैतन्यस्वरूप है। दूसरा, यह कि 'मैं' अथवा आत्म शरीर से नितान्त भिन्न पदार्थ है। शरीर दैहिक पदार्थ है जबकि आत्म चैतन्य स्वरूप होने के नाते चेतन पदार्थ है।

ये दोनों दावे डेकार्ट के दर्शन के मूलभूत सिद्धान्त हैं; और ये एक दूसरे से घनिष्ठ रूप से संबधित होते हुए भी तर्क की दृष्टि से बिल्कुल अलग-अलग हैं। इन दोनों सिद्धांतों को डेकार्ट ने अपने आधारभूत सूत्र 'मैं सोचता हूँ अतः मैं हूँ' से निगमित करने का दावा भी किया है। यदि उनके इस दावे को मान भी लिया जाये तो भी यह बात स्पष्ट नहीं होती कि इस सूत्र के आधार पर आत्म और शरीर की, अथवा भौतिक और अभौतिक पदार्थों की, विभिन्नता का उनका मत किस प्रकार से पुष्ट होता है ? थॉमस हॉब्ज़ द्वारा इस प्रकार की आपत्ति उठाये जाने पर डेकार्ट अपने प्रत्युत्तर में इस बात पर आग्रह करते हैं कि आत्म और शरीर की, अथवा भौतिक और अभौतिक पदार्थों की, विभिन्नता के अपने मत को उन्होंने दूसरे मेडिटेशन में नहीं बल्कि छठे यानि अंतिम मेडिटेशन में सिद्ध किया है। तथापि, उनके इतना कहने मात्र से बात बनती नहीं; और न ही उनकी इस बात को हम बहुत गंभीरतापूर्वक ले सकते हैं। इसका कारण यह है कि उनका विभिन्नता का मत उनके दर्शन के मूलभूत सूत्र 'मैं सोचता हूँ अतः मैं हूँ' के साथ इस कदर गहराई से जुड़ा हुआ है कि यह कहना अत्यंत कठिन है कि उनके विभिन्नता के मत में कोई ऐसी चीज है जो उनके मूलभूत सूत्र की विधि-प्रणाली में निहित न हो। और न ही उनकी इस धारणा को कि 'मैं' यानि आत्म स्वरूपतः चैतन्य अथवा चेतन पदार्थ है, को उनके विभिन्नता के मत और उनके मूलभूत सूत्र की विधि-प्रणाली से ही अलग किया जा सकता है। कुछ भी हो, डेकार्ट ने विभिन्नता के अपने मत को सिद्ध करने के लिए जो तर्क दिये हैं उन्हें समझना आवश्यक है।

डेकार्ट के मतानुसार, आत्म की शरीर से विभिन्नता की धारणा उनकी कृति मेडिटेशन्ज़ की दो मूलभूत धारणाओं में से एक है। यह बात उनकी इस कृति के

पूरे शीर्षक को देखने मात्र ही से स्पष्ट हो जाती है । पूरा शीर्षक यह है—'मूलभूत दर्शन संबंधी विचारणाएँ--जिसमें ईश्वर की सत्ता तथा आत्म की शरीर से वास्तविक विभिन्नता को सिद्ध किया गया है ।' यह शीर्षक इस कृति के द्वितीय संस्करण का है । प्रथम संस्करण का शीर्षक इस प्रकार था—'····जिसमें ईश्वर की सत्ता तथा आत्म की अनश्वरता को सिद्ध किया गया है ।' प्रथम संस्करण के इस शीर्षक को बदल देने में डेकार्ट ने कदाचित् यह सोचा होगा कि मेडिटेशन्ज़ में आत्म की अनश्वरता को सिद्ध करना तो दूर रहा इस बारे में बात तक नहीं की गयी है । साथ ही द्वितीय संस्करण का उनका शीर्षक मेडिटेशन्ज़ की दो मूलभूत धारणाओं पर पाठक का ध्यान केंद्रित करने में सहायता देता है ।

आत्म की शरीर से मूलभूत विभिन्नता के बारे में डेकार्ट का पहला तर्क संक्षेप में इस प्रकार है । चैतन्य स्वरूप अपनी सत्ता का मुझे अनाशंक्य और निश्चयात्मक ज्ञान है, जबकि 'मेरा शरीर भी है' यह संदेहास्पद है, अर्थात् शरीर की सत्ता है या नहीं, इसके विषय में शंका की जा सकती है । दूसरे शब्दों में, शरीर संबंधी मेरा ज्ञान शंक्य और अनिश्चयात्मक है । अतः मैं और मेरा शरीर (यदि मेरा कोई शरीर भी है तो) एक दूसरे से वास्तव में विभिन्न हैं ।

आर्नोल्ड को डेकार्ट का यह तर्क स्वीकार्य नहीं हुआ । उन्होंने आपत्ति की कि इस तर्क में डेकार्ट ने अपनी बोध दशा विषयक अपने विश्वास को आधार माना है । किंतु, इस प्रकार के विश्वास को तर्क का आधार मानना ग़लती है । इसका कारण यह है कि डेकार्ट को अपनी बोध दशा के बारे में भ्रांति अथवा गलती भी तो हो सकती है । आर्नोल्ड को प्रत्युत्तर देते हुए डेकार्ट इस संबंध में अपने निर्भ्रम बोध के आधार पर अपनी बात को स्पष्ट करने का प्रयास करते हैं । उनका यह प्रयास एक तर्क का रूप ले लेता है, और वह यह है : यह बात वास्तव में और पूर्ण रूप से सम्भव है कि 'मैं' अथवा आत्म देह अथवा शरीर से बिल्कुल अलग रह सकती है । इस सम्भावना का मुझे निर्भ्रम बोध है । इससे सिद्ध हुआ कि आत्म और शरीर वास्तव में विभिन्न हैं ।

डेकार्ट के इस तर्क की कमज़ोरी यह है कि वे मात्र संभावना और वास्तविकता में कोई विवेक नहीं कर रहे हैं । चाहे कोई यह मान भी ले कि शरीर की सत्ता से अलग और स्वतंत्र आत्म की सत्ता संभव है; किन्तु इस बात के आधार पर यह मानना तो आवश्यक नहीं है कि आत्म और शरीर की, वास्तव में, अलग-अलग सत्ता है । जो है अथवा वास्तव में है, वह सम्भव भी है; किन्तु जो संभव है, वह वास्तव में नहीं भी हो सकता है । इस बात को दूसरे शब्दों में कहा जाये तो यों कहा जायेगा कि संभव सत्ता के आधार पर वास्तविक सत्ता का अनुमान करना तर्क की दृष्टि से अवैध है । डेकार्ट ने यही ग़लती की है ।

पुनश्च, डेकार्ट के तर्क से वह अनुमान निगमित नहीं होता जो वे निकालना चाहते हैं। प्रस्तुत आधार वाक्यों से अधिक से अधिक केवल इतना ही अनुमानित किया जा सकता है कि यह अनिवार्य नहीं है कि आत्म की सत्ता होने के साथ-साथ शरीर की सत्ता का होना भी आवश्यक है। किन्तु, इस तर्क से यह अनुमानित बिल्कुल नहीं होता कि आत्म और शरीर में एकत्व का संबंध सम्भव नहीं है और न ही इस तर्क से यह निष्कर्ष निकलता है कि आत्म और शरीर में, वास्तविकता में, एकत्व का संबंध नहीं है। फिर भी, डेकार्ट ने भ्रांतिवश यह मान लिया कि आत्म और शरीर, वास्तव में, विभिन्न और एक दूसरे से अलग-अलग पदार्थ हैं।

इससे भी ज्यादा कमज़ोर डेकार्ट के वे तर्क हैं जो उन्होंने यह सिद्ध करने के लिए दिए हैं कि 'मैं' अथवा आत्म चैतन्यस्वरूप है अथवा वह एक चेतन तत्त्व है। इस संबंध में उनका विवेचन दुर्बोध और अधपकी खिचड़ी सा बन गया है। ऐसा लगता है कि 'मैं सोचता हूँ, अतः मैं हूँ' के आधार पर—अर्थात् यह सोचना सम्भव नहीं है कि मैं नहीं सोच रहा हूँ, अथवा मैं नहीं हूँ, अथवा मेरी सत्ता नहीं है—इस प्रकार के तर्क के आधार पर डेकार्ट यह दावा कर बैठते हैं कि चैतन्य अथवा सोचना ही 'मैं' अथवा आत्म का स्वरूप है। यदि इस दावे को सत्य मान लिया जाये तो इससे अनिवार्य रूप से यह निगमित होता है कि चैतन्य के बिना मेरा अस्तित्व नहीं है। दूसरे शब्दों में, मेरे चेतन होने अथवा सोचने का अर्थ ही यही है कि मेरी सत्ता है।[15]

डेकार्ट के तर्क और विवेचन में आई अनेकानेक अस्पष्टताओं एवं कठिनाइयों को दूर करना नितान्त असम्भव नहीं है। वास्तव में, डेकार्ट की उलझन यह है कि वे अपने दर्शन की उन आधारभूत धारणाओं को तर्क द्वारा सिद्ध करना चाहते हैं जो वास्तव में उनके दार्शनिक दृष्टिकोण की मूलभूत धारणाएं हैं। इस प्रकार की मान्यताओं को तार्किक साधनों के आधार पर सिद्ध नहीं किया जा सकता। यह डेकार्ट की भूल थी। यह उनकी मान्यता है कि चीज़ों के दो ही अनिवार्य गुण होते हैं—एक चेतना और दूसरी भौतिकता। विश्व में जितने भी पदार्थ हैं वे या तो चेतन पदार्थ हैं और या भौतिक पदार्थ। कुछ ऐसे पदार्थ हैं जो उत्पाद्य हैं और कुछ ऐसे जो स्वयंजात् होते हैं। ईश्वर स्वयंजात्, स्वयंभू पदार्थ है। इसके विपरीत, सभी भौतिक पदार्थ उत्पाद्य हैं। सभी चेतन और भौतिक पदार्थों का स्वरूप उनके अनिवार्य गुणों के आधार पर निर्धारित किया जा सकता है। यही डेकार्ट ने किया भी है। प्रश्न उठता है कि किसी भी पदार्थ और उसके अनिवार्य गुण में क्या भेद है? डेकार्ट के मतानुसार, यह भद पदार्थ में स्वयं न होकर केवल बुद्धि पर आधारित है। इसके अतिरिक्त किसी भी पदार्थ के अन्य दूसरे गुण उसके अनिवार्य गुण ही के विभिन्न प्रकार होते हैं। चेतन वस्तुओं के दूसरे सभी गुण चेतना के ही विभिन्न प्रकार हैं। इसी प्रकार भौतिक वस्तुओं के दूसरे गुण भौतिकता के ही भिन्न-भिन्न प्रकार हैं।

---

15. डेकार्ट का जनवरी 19, 1642 का पत्र।

अब अगर हम इन मान्यताओं को समझ लें, तो इनसे यह बात पूरी तरह स्पष्ट हो जाती है कि यदि 'मैं' अथवा आत्म स्वभाव से चैतन्यस्वरूप है तो निश्चय ही उसमें किसी भी भौतिक गुण का विद्यमान होना नितान्त असम्भव है। अतः आत्म और शरीर एक दूसरे से बिल्कुल विभिन्न प्रकार के पदार्थ हैं। इतना होने के बावजूद भी डेकार्ट के विवेचन में इस बात का स्पष्टीकरण ढूंढ़ना बेकार है कि चैतन्य को पदार्थों का अनिवार्य गुण क्यों मानते हैं? यह धारणा उनके दर्शन की मूलभूत मान्यताओं का अभिन्न अंग है। इस धारणा में निहित चैतन्य और भौतिकता के द्वैतवाद से ही डेकार्ट का दार्शनिक चिन्तन प्रारंभ होता है; और यह द्वैतवाद ही उनकी तत्त्व-मीमांसा की पराकाष्ठा भी है।

(6) ईश्वर की सत्ता का ज्ञान :

हम ऊपर यह देख ही चुके हैं कि डेकार्ट के मतानुसार उनके दर्शन का मूलभूत सूत्र 'मैं सोचता हूँ, अतः मैं हूँ' उस ज्ञान को प्रकट करता है जो ज्ञान अनाशंक्य और निश्चयात्मक है। आत्म की सत्ता सूचक इस ज्ञान को अपने दर्शन की ठोस और मज़बूत नींव बना लेने के पश्चात् अब उन्हें चाहिए कि वे दूसरे वस्तुओं की सत्ता को—विशेष रूप से बाह्य, भौतिक जगत् की सत्ता को—आत्म की सत्ता के ज्ञान के आधार पर ही सिद्ध करें। सत्ता विषयक ज्ञान की खोज करने के लिए इस प्रकार का क्रम स्वाभाविक भी लगता है। किन्तु, डेकार्ट ऐसा नहीं करते। वे आत्मसत्ता के अनाशंक्य और निश्चयात्मक ज्ञान के आधार पर पहले ईश्वर की सत्ता संबंधी अपने ज्ञान को प्रमाणित करते हैं, और तत्पश्चात्, ईश्वर की सत्ता के ज्ञानके आधार पर बाह्य भौतिक जगत की सत्ता को सिद्ध करते हैं। अपने विवेचन में इस प्रकार का क्रम उनके दर्शन की खास विशेषता है। ऐतिहासिक दृष्टि से इस विशेषता का महत्त्व यह है कि डेकार्ट के परवर्ती लगभग सभी दार्शनिकों ने आत्म-चेतना की समस्या को ही ज्ञान मीमांसा की आधारभूत समस्या माना। परन्तु, डेकार्ट ने इस समस्या का जो समाधान किया—अर्थात् बाह्य भौतिक जगत् की सत्ता का ज्ञान ईश्वर की सत्ता के ज्ञान पर ही आधारित है—उनके इस समाधान को उन्होंने स्वीकार नहीं किया। इस विशेषता के आधार पर हम यह भी कह सकते हैं कि डेकार्ट का दार्शनिक सिद्धान्त, समूचे रूप से, मूलतः एक धार्मिक और द्वैतवादी तत्त्वज्ञान है जो मध्ययुगीन धारणाओं से पूरी तरह मुक्त नहीं है। डेकार्ट के इसी द्वैतवादी—आत्म और शरीर के द्वैतवादी—दार्शनिक प्रसंग में ही आगे चलकर सन्देहवाद, आत्मसापेक्ष ज्ञानवाद, तथा प्रत्ययवाद, आदि प्रवृत्तियों का जन्म हुआ।

ईश्वर की सत्ता को सिद्ध करने के लिए डेकार्ट ने जो तर्क दिए हैं वे सभी तर्क हमारी आत्म-चेतना के और इस चेतना के विषयों के विश्लेषण पर आधारित हैं। विशेष रूप से वे इस बात पर आधारित हैं कि मनुष्य के मन में ईश्वर यानि पूर्ण और अनन्त सत्ता की चेतना अथवा धारणा है। इस चेतना अथवा धारणा का

स्वरूप ही कुछ इस प्रकार है कि इसके होने मात्र ही से इसके विषय की स्वतन्त्र सत्ता भी सिद्ध हो जाती है।[16]

डेकार्ट अपने तर्क में ईश्वर की सत्ता विषयक इस चेतना के साथ-साथ कारण-कार्य के संबंध में रूढ़ि से प्राप्त एक सिद्धान्त का प्रयोग भी करते हैं। वह सिद्धान्त इस प्रकार है : कारण में अनिवार्य रूप से कम-से-कम उतनी सत्ता और पूर्णता होना ही चाहिए जितनी सत्ता और पूर्णता उसके कार्य में निहित है। वे इस सिद्धान्त की सचाई के बारे में कोई प्रश्न नहीं करते ; अपितु वे इसे एक स्वतः प्रमाणित सत्य मान कर चलते हैं। कारण-कार्य संबंधी इस सिद्धांत को ईश्वर की सत्ता विषयक हमारी चेतना के पक्ष में लागू किया जा सकता है ; और डेकार्ट यही करते हैं। उनका कहना है कि हरेक चेतना का कोई-न-कोई विषय होता ही है। यह दूसरी बात है कि उसके विषय की सत्ता हो अथवा न हो, किन्तु चेतना का विषय होना अनिवार्य है। अब किसी भी चेतना की चेतना के तौर पर तो सत्ता है ही। और इस दृष्टि से सभी चेतनाओं में सत्ता का गुण समान रूप से पाया जाता है। पर किसी भी चेतना का कोई-न-कोई विषय अवश्य ही होता है। लेकिन विषय की दृष्टि से सभी विषयों में स्वतन्त्र सत्ता और पूर्णता का गुण समान रूप से नहीं पाया जाता। इस दृष्टि से, कारण-कार्य के सिद्धान्त के आधार पर, इतना तो कहा ही जा सकता है कि चेतना के किसी भी विषय में उतनी मात्रा में तो सत्ता अवश्य ही होनी चाहिए जितनी मात्रा में वह उस विषय में स्वतन्त्र रूप से विद्यमान है।

डेकार्ट के इसी मत को दूसरे शब्दों में यों कहा जा सकता है : किसी भी चेतना अथवा धारणा के कारण की कम से कम उतनी ही सत्ता तो है जितनी सत्ता उस चेतना अथवा धारणा रूपी कार्य की है। इस सत्ता को हम दो दृष्टिकोणों से देख सकते हैं—उसके स्वरूप की दृष्टि से, और उसके विषय की दृष्टि से। यदि किसी चेतना अथवा धारणा के कारण की उतनी ही सत्ता है जितनी उस चेतना की अपनी स्वरूपतः है, तो उस स्थिति में हम कहेंगे कि चेतनारूपी कार्य की सत्ता कारण में स्वरूप से ही विद्यमान है। यदि किसी चेतना के कारण की सत्ता (कार्यरूपी) चेतना की सत्ता से अधिक है तो हम कहेंगे कि चेतना रूपी कार्य अपने कारण में उत्कर्ष रूप में निहित है।

अब डेकार्ट का तर्क बताया जा सकता है। हमारी सभी चेतनाओं अथवा धारणाओं में ईश्वर की चेतना अथवा धारणा की सत्ता, विषय की दृष्टि से, सब चेतनाओं की सत्ता से मात्रा में अधिक और उत्कृष्ट है। इसका कारण यह है कि यह चेतना एक पूर्ण सत्ता की चेतना अथवा धारणा है। अतः इस चेतना के कारण की सत्ता भी स्वरूपतः इस (चेतना रूपी) कार्य की सत्ता के बराबर होना अनिवार्य है। परन्तु, इसका कारण

16. देखिए द्वितीय सैट के प्रश्नों के प्रत्युत्तर।

निश्चय ही मैं स्वयं नहीं हूँ; क्योंकि मेरे मन में शंका तथा अज्ञान है, और शंका तथा अज्ञान का होना स्पष्टतः अपूर्णता की निशानी है। अतः सिद्ध हुआ कि मेरे से स्वतन्त्र अनिवार्य रूप से एक और सत्ता भी है जो निश्चय ही पूर्ण है। वह सत्ता ही ईश्वर है। वे कहते हैं :

"अब केवल इस बात पर विचार करना रह जाता है कि क्या ईश्वर विषयक मेरी धारणा में कोई ऐसी चीज़ है कि जिसका कारण मैं नहीं हूँ। 'ईश्वर' शब्द से मेरा अर्थ उस पदार्थ से है जो अनन्त, स्वतंत्र, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान, और जो मुझे और मेरे इतर दूसरी सभी सत्तावान् चीजों को पैदा करने वाला है। मैं जितना ज्यादा इन गुणों पर विचार करता हूँ, उतना ही मुझे यह कम सम्भव प्रतीत होता है कि इन सब चीजों का कारण मैं हूँ। अतः, जो मैंने ऊपर कहा है उसके आधार पर यह अनुमानित होता है कि ईश्वर की सत्ता है।"[17]

अपने इस तर्क पर दो आपत्तियां डेकार्ट को प्रत्याशित थीं। प्रथम आपत्ति यह है : ऐसा सोचा जा सकता है कि डेकार्ट की अनन्त और पूर्ण सत्ता की चेतना अथवा धारणा का आधार उनकी अपनी अपूर्णता की चेतना थी। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि डेकार्ट ने देखा कि मनुष्य एक सीमित और अपूर्ण सत्ता है। यह सोचकर उन्होंने एक ऐसी सत्ता की कल्पना की जिसमें इन सीमाओं और अपूर्णताओं का अभाव हो। इस प्रकार की कल्पना ही उनकी अनन्त और पूर्ण सत्ता की कल्पना है। कहने का तात्पर्य यह है कि डेकार्ट की पूर्ण सत्ता की चेतना वास्तव में नकारात्मक कल्पना के अलावा और कुछ भी नहीं है।

डेकार्ट के मतानुसार यह आपत्ति ठीक नहीं है। वे इसका निराकरण इस प्रकार करते हैं। ईश्वर की सत्ता की चेतना अथवा धारणा नकारात्मक ढंग से कल्पित अनन्त की सत्ता की कल्पना नहीं है। यह उस प्रकार की सत्ता की चेतना नहीं है कि हम उसकी सीमाओं की कल्पना करने में असमर्थ होते हैं। अपितु, यह उस पूर्ण सत्ता की चेतना है जो वास्तव में अनन्त है, और जिसके बारे में हम यह भी निश्चयात्मक रूप से जानते हैं कि वह हर प्रकार की सीमाओं अथवा अपूर्णताओं से अछूता है। दूसरे शब्दों में, ईश्वर केवल अपरिमित रूप से ही नहीं, वह तो अनन्त रूप से महान् सत्ता है।[18]

दूसरी आपत्ति यह की जा सकती है कि ईश्वर की विभिन्न पूर्णताएँ अनैकत्रित रूप से अलग-अलग सत्ताओं में तो उपलब्ध हो सकती हैं, किन्तु यह आवश्यक नहीं है कि वे सब एक ही महान् सत्ता में जो अनन्ततः पूर्ण है, एकत्रित रूप से उपलब्ध हों। इस दृष्टि से, ईश्वरीय पूर्णताओं के उपलब्ध होने के बावजूद भी यह कहा जा

---

17. **मेडिटेशन्ज, संख्या 3.**
18. **प्रिन्सिपिल्ज, भाग–1, संख्या 26.**

सकता है कि ईश्वर की सत्ता नहीं है। इस आपत्ति का निराकरण डेकार्ट इस प्रकार करते हैं : ईश्वर पूर्ण है; उसमें एकत्व, सूक्ष्मत्व, अथवा निरवयवत्व इत्यादि गुण उसके सर्वोत्तम पूर्णत्व के ही लक्षण हैं। अतः उपर्युक्त आपत्ति अयुक्त है।[19]

डेकार्ट के इस तर्क की दो विशेषताओं को भी ध्यान में रख लेना जरूरी है। पहली विशेषता यह है कि ईश्वर विषयक डेकार्ट के दार्शनिक चिन्तन में एक तरह का तनाव दिखाई देता है। एक ओर तो उनका तर्क ईश्वर विषयक सुस्पष्ट एवं निश्चयात्मक चेतना अथवा धारणा पर आधारित है,[20] और दूसरी ओर यह ईश्वर की अनन्तता और मनुष्य की सीमितता तथा अपूर्णता में पारस्परिक भेद-विभेद पर आधारित है। तर्क की दृष्टि से ये दोनों आधार अलग-अलग हैं, और इनका एक दूसरे से भेद करना आवश्यक है। किन्तु इस तनाव से रूढ़ि से चली आ रही ईश्वर संबंधी इस धारणा की पुष्टि मिलती है कि ईश्वर विषयक मनुष्य की धारणा अनिवार्य रूप से अत्यन्त ही सीमित और अपूर्ण है। ऐतिहासिक दृष्टि से, यह तनाव केवल डेकार्ट के दर्शन में ही नहीं, अपितु 17वीं शताब्दी के ईश्वर संबंधी समस्त चिन्तन में दिखाई देता है अर्थात् एक ओर तो मानुषिक सीमितता तथा अपूर्णता का गहरा अहसास और दूसरी ओर मानुषिक बुद्धि की शक्ति को असीम मानने की प्रवृत्ति—इन दोनों में पारस्परिक तनाव।

दूसरी विशेषता यह है कि डेकार्ट अपने तर्क में इस धारणा को भी अपनाते हैं कि सत्ता और पूर्णता के सम्बन्ध में परिमाण और स्तर की बात भी हो सकती है। अर्थात् ऐसा कहना निरर्थक नहीं है कि अमुक वस्तु की सत्ता अथवा पूर्णता की मात्रा कम है और अमुक वस्तु की ज्यादा। इसी प्रकार उनके मतानुसार यह कहना भी निरर्थक नहीं है कि किसी वस्तु की सत्ता अथवा पूर्णता अमुक स्तर की है और किसी दूसरी वस्तु की सत्ता अमुक स्तर की। किन्तु, डेकार्ट की यह धारणा वास्तव में रूढ़िगत दर्शन की ही विशेषता है, जिस रूढ़िगत दर्शन से वे अपने को मुक्त करना चाहते थे। कहने का आशय यह है कि उनका दर्शन रूढ़िगत दर्शन से, ऐतिहासिक दृष्टिकोण से, बिल्कुल कटा हुआ नहीं है, जैसा कि वे समझते थे। रूढ़िगत दर्शन की अनेक धारणाएँ और मत उनके दर्शन में भी पाये जाते हैं, यद्यपि डेकार्ट ने तत्कालीन दार्शनिक चिन्तन को निश्चय ही नया मोड़ और दिशा दी। परन्तु इन्हीं धारणाओं के फलस्वरूप ही उनके दर्शन में—विशेषरूप से ईश्वर-विषयक उनके तर्क में—काफ़ी तनाव और अस्पष्टता आ गई है।

डेकार्ट ने कुछ ऐसी युक्तियाँ भी दी हैं जिनसे यह प्रतीत होता है कि वे ईश्वर को अपनी (यानि मनुष्य की) सत्ता का कारण मानते हैं। मनुष्य अपने आप को पैदा

---

19. देखिए 'द्वितीय सैट के प्रश्नों के प्रत्युत्तर'।
20. अपने तृतीय मेडिटेशन्ज़ में वे लिखते हैं : 'ईश्वर विषयक मेरी धारणा में सर्वाधिक मात्रा में सचाई है; और (यह) मेरी सभी धारणाओं से अधिक स्पष्ट और सुनिश्चित धारणा है।, (मेडिटेशन्ज़, भाग–3).

नहीं कर सकता; क्योंकि गुणों को उत्पन्न करने की अपेक्षा पदार्थों को उत्पन्न करने के लिए कहीं अधिक और श्रेष्ठ पूर्णता की आवश्यकता है। अतः यदि मनुष्य में अपने आप को—जो एक चेतन पदार्थ है—पैदा करने की शक्ति होती, तो निश्चय ही वह अपने आप में पूर्णत्व के सभी गुण भी पैदा करता। परन्तु, वास्तविकता यह है कि मनुष्य अपूर्ण है। इससे स्पष्ट होता है कि उसने अपने आप को स्वयं पैदा नहीं किया; अपितु वह किसी अन्य द्वारा पैदा किया गया है, और यह अन्य अन्ततोगत्वा ईश्वर ही हो सकता है। पुनश्च, यह भी नहीं माना जा सकता कि मनुष्य की सत्ता अगले क्षण भी रहेगी, और इससे भी यह सिद्ध होता है कि अपनी सत्ता का वह स्वय कारण नहीं है; क्योंकि किसी भी पदार्थ के बने रहने के लिए कम से कम उतनी ही शक्ति चाहिए जितनी शक्ति उसको पैदा करने के लिए ज़रूरी होती है। इससे भी स्पष्ट होता है कि ईश्वर ही उसकी सत्ता का कारण है। अतः ईश्वर की सत्ता है। डेकार्ट की इस युक्ति से पता चलता है कि उनके मतानुसार अखिल विश्व ईश्वर की ही सृष्टि है। ईश्वर ही से सब चीजें पैदा होती हैं; और वही उसकी सत्ता का पालन-पोषण और रक्षण करता है। ईश्वर के बिना इस जगत् में कुछ भी सम्भव नहीं है। कोई यह भी नहीं कह सकता है कि मनुष्य को उसके मां-बाप ने पैदा किया है, ईश्वर ने नहीं। कारण यह कि मनुष्य के माता-पिता भी तो मनुष्य ही होंगे; और उनके मनस् में भी ईश्वर की सत्ता की चेतना होगी ही। इस चेतना का कारण अपूर्ण मनुष्य नहीं हो सकता, क्यों कि जैसा पहले कहा जा चुका है, अपूर्ण पूर्ण का कारण नहीं हो सकता। अतः ईश्वर की सत्ता है।

ईश्वर की सत्ता सिद्ध करने के लिए डेकार्ट की इस युक्ति से पता चलता है कि ईश्वर की सत्ता की चेतना अथवा धारणा पर आधारित तर्क, और वह तर्क जो ईश्वर को मनुष्य और जगत् का सृष्टा मान कर चलता है,--ये दोनों तर्क एक दूसरे से स्वतन्त्र नहीं हैं। और, न ही डेकार्ट उन्हें स्वतन्त्र मानना चाहते हैं। वे इस बात को विशेष रूप से स्पष्ट करते हैं कि वे अपनी यानि मनुष्य की अनित्य सत्ता के आधार पर ईश्वर की नित्य सत्ता की स्थापना नहीं करना चाहते। न ही यह सम्भव ही है--नित्य सत्ता की स्थापना अनित्य सत्ता के आधार पर नहीं हो सकती। यही कारण है कि उन्हें ईश्वर की सत्ता को सिद्ध करने के लिए सृष्टि नियम पर आधारित रूढ़िगत तर्क बिल्कुल ही मान्य नहीं है।

ईश्वर की सत्ता के लिए, उपर्युक्त तर्क से स्वतन्त्र एक दूसरा तर्क भी डेकार्ट ने दिया है जो उनके पाँचवें मेडिटेशन्ज़ में उपलब्ध है। इस तर्क में भी वे ईश्वर विषयक चेतना का प्रयोग करते हैं। किन्तु इस बार वे इस चेतना के उद्‌गम अथवा कारण पर ध्यान न देकर उसके अन्तर्विश्लेषण पर आग्रह करते हैं। यह तर्क इस बात पर आधारित है कि सत्ता का होना उन पूर्णताओं में से है जो स्वयं ईश्वर की धारणा का अनिवार्य अंग है क्योंकि यदि ईश्वर की सत्ता नहीं होगी, तो उसे पूर्ण

मानना असम्भव होगा। अतः यह अनिवार्य है कि ईश्वर की सत्ता है।[21] दूसरे शब्दों में, इस तर्क के अनुसार, ईश्वर की सत्ता ईश्वर की धारणा के विश्लेषण मात्र से ही स्पष्ट हो जाती है। डेकार्ट का यह तर्क ईश्वर की सत्ता के लिए दिये गये ओन्टोलॉजिकल तर्क का ही एक सीधा और सरल रूपान्तर है। वे इस तर्क को वैध मानते हुए भी, अपने विवेचन में इसे दूसरा स्थान देते हैं। विशेष रूप से इसकी काण्ट द्वारा आलोचना किये जाने के पश्चात् बाद के दार्शनिकों ने इस तर्क को असन्तोषजनक मानकर अस्वीकार कर दिया; क्योंकि अब स्पष्ट हो गया था कि यह तर्क सत्ता की धारणा के गलत विश्लेषण पर आधारित है।

ईश्वर के स्वरूप के विषय में डेकार्ट के दो मत विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। पहला मत यह है कि ईश्वर के सर्वशक्तिमान होने का यह अर्थ भी होना चाहिए कि वह तर्कतः असम्भव को भी सम्भव करने में पूर्णतः समर्थ है। इस प्रकार, पहले मतानुसार नित्य सत्य को भी ईश्वरेच्छा के अधीन माना गया है। अपनी इच्छा से ईश्वर ऐसा भी कर सकता था कि दो और दो चार न हों, यद्यपि, क्योंकि उसने ऐसा किया नहीं, यह बात हमारी सीमित समझ के बाहर है कि ऐसा हो भी सकता है।

दूसरा मत इतने महत्त्व का नहीं है। डेकार्ट ईश्वर को मनुष्य का निमित्त कारण मानना चाहते थे। तथापि, उन्होंने इस पर आग्रह नहीं किया। इस प्रकार का सुझाव देने में उनका आशय यह था कि ईश्वर को अपने-आप का कारण मान लेने में हम कोई नकारात्मक बात नहीं कह रहे हैं, यानि हम यह नहीं कह रहे हैं कि ईश्वर का कोई कारण ही नहीं है, और न ही हम यह कह रहे हैं कि ईश्वर के स्वरूप को समझने के लिए उसकी सत्ता का पर्याप्त कारण बताना अनिवार्य रूप से जरूरी ही है। डेकार्ट अपने सुझाव से केवल इतनी ही बात पर जोर देना चाहते थे कि ईश्वर की सत्ता उसकी अपनी क्रियाशीलता पर ही आधारित है।

(7) बाह्य जगत् की सत्ता का ज्ञान और ईश्वर :

ईश्वर के अनेक गुणों में से तीन गुण डेकार्ट द्वारा दी गयी ज्ञान-मीमांसा के लिए विशेष रूप से महत्त्व के हैं। एक तो यह कि ईश्वर कभी भी गलती नहीं करता—वह सर्वत्र एवं पूर्ण है। ईश्वर न तो कोई ग़लती ही करता है और न ही उसमें किसी प्रकार की अपूर्णता अथवा दोष ही है।[22] दूसरा, ईश्वर हमें कभी भी

---

21. डेकार्ट के शब्दों में : 'इसी प्रकार सत्ता जो एक पूर्णता है उससे रहित ईश्वर जो प्रत्येक दृष्टि से पूर्ण है, की कल्पना करना घाटी रहित पर्वत की कल्पना करने से कम बेतुकापन नहीं है।'
(मेडिटेशन्ज, भाग–5)

22. मेडिटेशन्ज, भाग–3.

धोखा नहीं देता—वह धोखेबाज़ नहीं है। 'ईश्वर कभी ग़लती नहीं करता और न ही उसमें किसी प्रकार का दोष ही है। इससे पर्याप्त स्पष्ट हो जाता है कि वह धोखेबाज भी कभी नहीं हो सकता। क्योंकि, हमारी सहज बुद्धि से हमें मालूम है कि धोखा करना और चालाकी अनिवार्य रूप से किसी-न-किसी दोष से ही फलित होते हैं।'[23]

ईश्वर का तीसरा गुण जिसका डेकार्ट ने अपनी ज्ञान मीमांसा में प्रयोग किया है, वह यह है कि ईश्वर दयानिधान है—वह सदैव हमें सद्ज्ञान की ओर ले जाता है, और कभी भी हमें अज्ञान अथवा मिथ्याज्ञान की दिशा में ले जाना नहीं चाहेगा। डेकार्ट द्वारा दी गई ज्ञान-मीमांसा के लिए ईश्वर के ये तीन गुण अत्यन्त आवश्यक हैं; क्योंकि ये ही गुण उनकी ज्ञान-मीमांसा में हमारे ऐतिहासिक ज्ञान और बाह्य जगत की सत्ता विषयक हमारे ज्ञान की सम्भावना का आधार बनते हैं। दूसरे शब्दों में, ईश्वर के यह तीन गुण हमारे साधारण ज्ञान, गणित, और विज्ञान में उपलब्ध ज्ञान की प्रामाणिकता की गारन्टी और आधार हैं। ये गुण डेकार्ट की ज्ञान-मीमांसा के लिए इसलिए भी आवश्यक हैं; क्योंकि ज्ञान के मामले में 'स्पष्ट और विभेदपूर्ण धारणा' नामक ज्ञान की सत्यता का उनका मानदण्ड अपने दार्शनिक विवेचन में उन्हें बहुत दूर तक नहीं ले जाता। इस मानदण्ड के द्वारा हम अनाशंक्य आत्म चेतना के विश्लेषण के आधार पर बाह्य जगत की सत्ता विषयक ठोस ज्ञान पर नहीं पहुँच पाते; क्योंकि आत्म चेतना अथवा धारणा हमारी परिवर्तनशील सवेदनाओं पर आश्रित है; और इस बात की संभावना रह जाती है कि कदाचित् हमारी संवेदनाओं के अनुरूप स्वतन्त्र भौतिक जगत् अथवा भूत (काल) की सत्ता ही नहीं हो।

इस प्रकार की सम्भावना मान लेने में तर्क की दृष्टि से कोई आपत्ति नहीं है; क्योंकि इस सम्भावना में कहीं भी कोई आत्मविरोध नहीं है। तथापि, डेकार्ट के मतानुसार ऐसा कहा जा सकता है कि जहाँ तक हमारी सहज बुद्धि का सम्बन्ध है हम यह मानने के लिए अपनी प्रकृति और स्वभाव से ही बाध्य हैं कि हमारी सवेदनाओं के अनुरूप स्वतन्त्र भौतिक जगत् की सत्ता है। हम अपनी सहज बुद्धि के आधार पर यह भी कह सकते हैं कि इस प्रकार के हमारे विश्वास असत्य नहीं हैं। कम-से-कम इस विश्वास को असत्य सिद्ध करने के पक्ष में कोई अकाट्य प्रमाण नहीं है। यह ठीक है कि केवल संवेदनाओं की सत्ता के आधार पर यह नहीं अनुमान किया जा सकता कि उनके अनुरूप भौतिक जगत् की सत्ता भी अनिवार्य है। और न ही इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि उनके अनुरूप भौतिक जगत् की सत्ता नितान्त असम्भव है। इस स्थिति में डेकार्ट का मत है कि यदि संवेदनाओं के अनुरूप जगत् की सत्ता न होती तो भौतिक जगत् की सत्ता में इस प्रकार का हमारा विश्वास बिल्कुल ही भ्रांतिपूर्ण होता। उस स्थिति में हमारे भ्रांतिपूर्ण विश्वास के

23. मेडिटेशन्ज़, भाग–3.

लिए ईश्वर ही उत्तरदायी होता जिसने सद्ज्ञान की खोज में हमारे सारे प्रयत्नों को सदा के लिए निष्फल बना दिया होता। अब यदि इस प्रकार की स्थिति को मान लिया जाये तो उस अवस्था में यह भी मानना पड़ेगा कि ईश्वर निश्चय ही दुष्टात्मा है। परन्तु, ईश्वर दुष्टात्मा नहीं है। वह पूर्ण है, उसमें किसी प्रकार का कोई दोष भी नहीं है। वह हमें धोखा नहीं दे सकता। अतः संवेदनाओं के आधार पर उनके अनुरूप भौतिक जगत् और भूतकाल की सत्ता में हमारा सहज–स्वाभाविक विश्वास असत्य नहीं है। सर्वज्ञ, दोषरहित और पुण्यात्म-स्वरूप ईश्वर की सत्ता हमारे विश्वास की सत्यता की साक्षी है। अतः इससे यह सिद्ध हुआ कि भूत काल में होने वाली घटनाएँ और भौतिक जगत् की आत्म से स्वतन्त्र सत्ता है। भूत और भौतिक जगत् की आत्म से स्वतन्त्र सत्ता स्थापित करने के पक्ष में डेकार्ट का तर्क यही है।

डेकार्ट के इस तर्क की मूलभूत विशेषता यह है कि उन्होंने ईश्वर के साक्षित्व को हमारे केवल उन विश्वासों तक सीमित रखा है जो विश्वास हमारी सहज बुद्धि के आधार पर असत्य सिद्ध नहीं होते; अपितु हमारी सहज बुद्धि उनको सत्य मानने की हमारी स्वाभाविक प्रवृत्ति को सुदृढ़ता के साथ पुष्ट करती है। डेकार्ट इस बात को पूरी तरह स्पष्ट कर देते हैं कि ईश्वर के साक्षित्व के आधार पर हम अपने पूर्वाग्रहों को पुष्ट नहीं कर सकते। और, यदि हमने ऐसा किया तो दार्शनिक विश्लेषण के लिए अपनायी गई डेकार्ट की मौलिक विधि—शंका-विधि—अनायास ही निष्फल हो जायेगी। यदि हम मिथ्याज्ञान से दूर रहना चाहते हैं तो सबसे पहले हमें यह चाहिए कि हम शंका-विधि के अनुसार अपने विश्वासों तथा धारणाओं का विश्लेषण कर, जहाँ तक सम्भव हो उन्हें स्पष्ट कर लें। इस प्रकार के विश्लेषण एवं स्पष्टीकरण का फल यह भी हो सकता है कि जिन विश्वासों को हम ईश्वर के साक्षित्व के आधार पर सत्य स्वीकार करेंगे वे विश्वास हमारे उन विश्वासों से भिन्न होंगे जिन्हें हम अपने पूर्वाग्रहों के कारण सत्य स्वीकार करने को तत्पर हो जाते हैं। डेकार्ट के इस मत से स्पष्ट होता है कि ईश्वरीय विधान के अन्तर्गत मिथ्या ज्ञान से दूर रहने का बस एक ही तरीका है। वह यह है कि ज्ञानार्जन के मामले में हम अपनी बुद्धि और आत्मबल का ठीक-ठीक प्रयोग करें। डेकार्ट का यह मत और भी अधिक स्पष्ट हो जाता है यदि हम इस बात को ध्यान में रखें कि उनकी दृष्टि में, स्वीकृति विश्वास का अभिन्न अंग है। किसी विश्वास को सत्य मानना ही उस विश्वास को स्वीकार करना है; और दूसरी ओर; किसी विश्वास को स्वीकार करना ही उसे सत्य मानना है। पुनश्च, स्वीकृति दी जाती है अथवा रोक दी जाती है। इस प्रकार स्वीकृति का देना या न देना आत्मबल के अधीन है। इस विश्लेषण से स्पष्ट होता है कि बुद्धि और आत्मबल दोनों ही प्रत्येक विश्वास के अभिन्न अंग हैं। ज्ञान के क्षेत्र में जब भी हम ग़लती करते हैं

अर्थात् भ्रांति में पड़ जाते हैं तो, उस स्थिति में, डेकार्ट बताते हैं कि हम अपने आत्मबल का गलत प्रयोग करते हैं। हम उन विश्वासों को स्वीकार कर लेते हैं जो हमें, यदि हम आत्मबल का सही प्रयोग करते, कभी भी स्वीकार्य नहीं होते।

डेकार्ट नीति के क्षेत्र में भी गलती अथवा भ्रांति का उसी ढंग से विवेचन करते हैं जैसे कि ज्ञान के क्षेत्र में। दोनों ही क्षेत्रों में व्यक्ति ईश्वरीय विधान के आधीन है। ईश्वर उसे सद्ज्ञान और सत्कर्मों की ओर ले जाता है। किन्तु, किसी भी सद्-विश्वास और सत्कर्म के लिए आत्मबल का होना भी अनिवार्य शर्त है। पुनश्च, जिस प्रकार ज्ञान के क्षेत्र में उसी प्रकार नीति के क्षेत्र में भी गलती अथवा भ्रांति में पड़ जाने का स्वाभाविक मोह हो जाता है। सत्कर्म की राह में शारीरिक सुखों का मोह रुकावट बनता है; और सद्ज्ञान के मार्ग में उलझी हुई शारीरिक संवेदनाएँ मोह का कारण बनती हैं। ध्यान रहे कि दोनों ही क्षेत्रों में शारीरिक क्रियाएँ ही सद्ज्ञान अथवा सत्कर्म के मार्ग में बाधक बनती हैं। डेकार्ट के इस मत में सेंट ऑगस्तीन और प्लेटो का सूक्ष्म प्रभाव स्पष्ट रूप से दिखाई देता है।

हमने कहा है कि डेकार्ट के मतानुसार हमारे सभी विश्वास स्वीकृति-अस्वीकृति का विषय होने के नाते आत्मबल पर निर्भर करते हैं। यदि यह मत सही है तो इसके विश्लेषण से यह निष्कर्ष भी निकलता है कि किसी भी विश्वास के सम्बन्ध में हम अपनी स्वीकृति रोक भी सकते हैं। अब इस बात को डेकार्ट के दर्शन के आधारभूत विश्वासों पर लागू कीजिए—विशेष रूप से उनके मूलभूत विश्वास 'मैं सोचता हूँ, अतः मैं हूँ' पर, और ईश्वर की सत्ता सम्बन्धी उनके तर्क के आधारभूत विश्वासों पर। ज्यों ही हम ऐसा करते हैं तो डेकार्ट के विचाराधीन मत में निहित दो प्रकार की कठिनाइयाँ हमारे सामने आती हैं।

पहली कठिनाई यह है कि यदि हम विश्वासों की सत्यता को परखने के लिए डेकार्ट के 'स्पष्ट और भिन्न की धारणा' के मानदण्ड को मान लें तो, उस स्थिति में, ज्ञान अथवा विश्वासों के क्षेत्र में बुद्धि और आत्मबल के जिस विभेद पर उन्होंने आग्रह किया है वह विभेद हम कर नहीं सकते। यह इस प्रकार है : अपनी दार्शनिक मीमांसा को ठोस और मज़बूत नींव पर खड़ा करने के लिए डेकार्ट अपने इस नियम पर ज़ोर देते हैं कि हमें केवल वही विश्वास सत्य मानने अथवा स्वीकार करने चाहिए जिन विश्वासों के विषय में हमें सुस्पष्ट और प्रभिन्न ज्ञान हो, और इनका लक्षण वे इस प्रकार देते हैं :—'मैं उसे स्पष्ट ज्ञान कहता हूँ जो बुद्धि के सक्रिय होने पर तत्काल विद्यमान और स्पष्ट होता है। ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार हम कहते हैं कि दृष्टि के सामने विद्यमान वस्तु को, जिसका दृढ़ और स्पष्ट प्रभाव आँख पर पड़ रहा है, को हम स्पष्ट रूप से देख रहे हैं। मैं उसे प्रभिन्न ज्ञान कहता हूँ जो न केवल स्पष्ट ही है अपितु दूसरे ज्ञानों से यथार्थतः विभिन्न भी है ताकि उसमें कोई भी ऐसा अंश नहीं है जो स्पष्ट न हो।.......इस प्रकार कोई ज्ञान प्रभिन्न हुए बिना स्पष्ट तो हो सकता है, किन्तु वह स्पष्ट हुए बिना प्रभिन्न नहीं हो सकता।'[24]

24. प्रिंसिपिल्ज़, भाग–1, संख्या 45.

अब यदि हम ज्ञान के क्षेत्र में डेकार्ट का यह मानदण्ड विश्वासों के सम्बन्ध में लागू करें तो हमारे सामने यह कठिनाई आती है। किसी भी विश्वास के 'स्पष्ट और प्रभिन्न ज्ञान' होने के दो अर्थ हो सकते हैं। एक, किसी विश्वास के 'स्पष्ट और प्रभिन्न ज्ञान' होने का यह अर्थ हो सकता है कि केवल उन्हीं विश्वासों को स्वीकार करना चाहिए, अर्थात् सत्य मानना चाहिए, जिनका हमें स्पष्ट और भेदयुक्त ज्ञान है। दूसरा, 'स्पष्ट और प्रभिन्न ज्ञान' का यह अर्थ भी हो सकता है कि हमें किसी भी विश्वास की स्वयं की सत्यता का स्पष्ट और प्रभिन्न ज्ञान होना चाहिए। ये दोनों अर्थ अलग-अलग अर्थ हैं किन्तु, डेकार्ट की दृष्टि में यदि हमें किसी विश्वास का पहले अर्थ में स्पष्ट और भेदयुक्त ज्ञान है तो दूसरे अर्थ में भी उसका स्पष्ट और प्रभिन्न ज्ञान हमें होना ही चाहिए। यह बात उनकी कृतियों में अनेक स्थलों पर स्पष्ट होती है। किन्तु, यदि हम डेकार्ट के इस मत को मान लें तो कहना पड़ेगा कि ज्ञान के क्षेत्र में विश्वासों के सम्बन्ध में स्वीकृति का कोई काम ही नहीं रह जाता। क्योंकि, जो भी व्यक्ति किसी विश्वास की सत्यता को स्पष्ट और प्रभेद ढंग से जानता है, उसके लिए यह अनिवार्य है कि वह उस विश्वास को भी मानता है। उसके लिए पहले जानने और फिर मानने में भेद ही नहीं रहता। इस प्रकार, मूलभूत, अनाशंक्य और निश्चयात्मक ज्ञान के स्तर पर विश्वासों के सम्बन्ध में हम बुद्धि और आत्मबल में कोई भी भेद नहीं रख पायेंगे।

दूसरी कठिनाई यह है, कि यदि हम कभी भी किसी भी विश्वास के सम्बन्ध में अपनी स्वीकृति रोक सकते हैं, विशेष रूप से यदि हम 'मैं सोचता हूँ अतः मैं हूँ' जैसे अपरिहार्य विश्वासों को भी अस्वीकार कर सकते हैं, तो डेकार्ट के मत से यह स्पष्ट नहीं होता कि इस प्रकार के विश्वासों के सम्बन्ध में स्वीकृति को रोक देने की स्थितियों को कैसे दूर किया जा सकता है। डेकार्ट को अनाशंक्य और निश्चयात्मक विश्वासों की तलाश है; और यदि किसी भी विश्वास के सम्बन्ध में स्वीकृति को रोका जा सकता है तो अनाशंक्य और निश्चयात्मक विश्वासों की सम्भावना ही कहाँ रह जाती है?

डेकार्ट इन प्रश्नों का उत्तर काफी अस्पष्टता के साथ देते हैं। कभी उनका कहना है कि हम उन विश्वासों को भी, जिनका हमें स्पष्ट और प्रभेद ज्ञान है, अस्वीकृत कर सकते हैं। किन्तु, जब वे सर्वज्ञ ईश्वर की सत्ता को स्थापित कर चुकते हैं, तो कहते हैं कि स्पष्ट और प्रभेद विश्वासों को अस्वीकृत करने का कोई भी कारण नहीं रह जाता। क्योंकि, हम जानते हैं कि ईश्वर दयानिधान है; उसने हमें बनाया ही ऐसा है कि जब भी हमें किसी विश्वास का स्पष्ट और प्रभेद ज्ञान होता है तो निश्चय ही वह विश्वास सत्य होता है। ज़ाहिर है, कि डेकार्ट का इस प्रकार का तर्क युक्तियुक्त नहीं है। हम देख ही चुके हैं कि ईश्वर की सत्ता को स्थापित करने के लिए उनके द्वारा दिए गए तर्क स्वयं 'स्पष्ट और प्रभेद ज्ञान' की धारणा पर निर्भर करते

हैं। अतः स्पष्ट है कि कठिनाई से बचने के लिए उनका इस प्रकार का तर्क वास्तव में एक दायरे में घूमता है।[25]

इस आपत्ति को दूर करने का डेकार्ट ने प्रयत्न अवश्य किया है। उनका कहना है कि ईश्वर की सत्ता पर आधारित उनका तर्क केवल उन विश्वासों के लिए लागू होता है जिन विश्वासों का स्पष्ट और प्रभेद ज्ञान अभी नहीं हुआ है, और सम्प्रति वे केवल स्मृति का ही विषय बने हुए हैं। डेकार्ट का यह तर्क उनके दर्शन के सामान्य ढाँचे के अनुरूप है। इस सम्बन्ध में उन्होंने 'अन्तर्ज्ञान' और 'निगमन' में भेद भी किया है। उनके मतानुसार 'निगमन' में अनेक अन्तर्ज्ञानों को स्मृति द्वारा जोड़ा गया होता है। कुछ भी हो, वृत्तात्मक तर्क सम्बन्धी आपत्ति को दूर करने का डेकार्ट का यह प्रयत्न अस्पष्टताओं और ईश्वर की सत्ता पर आधारित अवैध तर्क से भरा हुआ है। अतः इस बात में सन्देह नहीं कि इस विषय पर उनकी कृतियों से कोई सुसंगत अथवा तर्कसंगत मत निकाला नहीं जा सकता।[26]

(8) आत्म और शरीर में पारस्परिक सम्बन्ध :

डेकार्ट के मतानुसार मनुष्य दो विभिन्न तत्त्वों का बना हुआ है—आत्म अथवा मनस् और शरीर। उसका शरीर प्रकृति का अंश है, जबकि उसका आत्म एक विशुद्ध चेतन पदार्थ है। आत्म जीवन का तत्त्व नहीं है; जीवन का तत्त्व शरीर है जो एक पूर्णतः नियमबद्ध व्यवस्था अथवा संगठन है। जीवित और मृत शरीरों में केवल उतना ही भेद है जितना कि चल रही और बन्द पड़ी घड़ियों में भेद है। जब जीवित शरीर की मशीन बन्द हो जाती है, तो वह मृत शरीर कहलाता है।[27] शरीर की मृत्यु इसलिए नहीं होती कि आत्म ने शरीर को छोड़ दिया है, परन्तु इसलिए कि यांत्रिकी (Mechanics) के सिद्धान्तों के अनुरूप अब वह और चालित नहीं हो सकता। इसके अलावा ऐसी बहुत सी क्रियाएँ और व्यापार हैं जो आत्म की अन्तर्वर्त्तिता के बिना ही शरीर अपने-आप करता रहता है।

आत्म और शरीर में इतनी बड़ी भिन्नता होने के बावजूद भी इन दोनों में काफ़ी गहरा सम्बन्ध है। इनके सम्बन्ध को डेकार्ट ने 'पदार्थीय संयोग' कहा है। वे आत्म और शरीर के इस सम्बन्ध का कोई विश्लेषण नहीं देते। शहज़ादी एलिज़ाबेथ को लिखे गये जून 28, 1643 के अपने पत्र में उनका सुझाव है कि आत्म और शरीर के इस सम्बन्ध का विश्लेषण नहीं किया जा सकता। फिर भी उन्होंने इस विषय में काफ़ी कुछ कहा है। **दी पैशन्ज़ ऑफ दी सोल** में इस सम्बन्ध का उन्होंने जो विवेचन दिया है उससे पता चलता है कि आत्म और शरीर के पारस्परिक सम्बन्धों

---

25. देखिए दूसरे, तीसरे, और चौथे सैट्स के प्रश्न और उनके प्रत्युत्तर।
26. देखिए वही उपरिनिर्दिष्ट 25वाँ संदर्भ।
27. दी पैशन्ज़ ऑफ़ दी सोल, 1, 5, और 6।

को वे पूरी तरह से कारण-कार्य की धारणा के माध्यम से समझना और समझाना चाहते हैं।

आत्म और शरीर के पारस्परिक संबंधों की कारण-कार्य व्याख्या देने से पहले वे अपनी इस धारणा पर ज़ोर देते हैं कि आत्म का शरीर पर सीधा व्यापार सम्भव है। अर्थात् आत्म सीधे ही शरीर को सक्रिय करने में पूर्णतया समर्थ है। कदाचित् यह बात उनके इस कथन से प्रकट होती है कि 'मेरी आत्म मेरे शरीर में जहाज़ के चालक की तरह स्थित नहीं है।' डेकार्ट का यह भी मत है कि आत्म को दुःख, दर्द, और अनेकानेक दूसरी संवेदनाएं भी महसूस होती हैं। यदि उनसे पूछा जाये कि इन संवेदनाओं को आत्म कहां महसूस करती है तो डेकार्ट का उत्तर है 'शरीर में'। उनकी दृष्टि में, शरीर की ज़रूरतों और दूसरी दशाओं की जानकारी भी आत्म ही को रहती है, यद्यपि यह जानकारी केवल बौद्धिक प्रकार की जानकारी नहीं है। दि पैशन्ज़ ऑफ़ दि सोल में दिए गए अपने विवेचन में आत्म और शरीर के पारस्परिक संबंधों की उनकी इस धारणा में उनका विश्वास कुछ कम ज़रूर हो जाता है। यहां वे कहते हैं कि, एक तरह से, आत्म का शरीर के सभी अंगों के साथ संयोग है। परंतु, आत्म और शरीर के संबंधों की दृष्टि से शरीर का एक अंग विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण है। कारण यह है कि इस अंग में आत्म का व्यापार दूसरे अंगों की अपेक्षा सर्वाधिक है। यह अंग है पीनिअल ग्लैण्ड (Pineal Gland) अर्थात् शीर्ष-ग्रन्थि। शरीर के इसी अंग में आत्म निवास करती है। प्रश्न उठता है कि डेकार्ट ने विशेष रूप से शरीर के इस ही अंग को आत्म के स्थान के लिए क्यों चुना? इसका उत्तर यह है कि उन्हें विश्वास था कि मस्तिष्क में एक ही शीर्ष ग्रंथि पायी जाती है, जबकि शरीर के दूसरे सभी अंग दोहरे हैं। यह बात डेकार्ट को काफ़ी अनोखी लगी। इसके अतिरिक्त उनका यह भी विश्वास था (जो कि ग़लत था) कि दूसरे जीवों में इस प्रकार की शीर्ष ग्रंथि नहीं पाई जाती। उन जीवों में आत्म भी नहीं होती। इस स्थिति में, उनके प्रसंग में, आत्म और शरीर के पारस्परिक संबंधों का प्रश्न भी नहीं उठता। ये ही कारण थे कि डेकार्ट ने शीर्ष ग्रंथि को ही मनुष्य के शरीर में आत्म का निवास स्थान मान लिया। न्यूरोलोजिकल अर्थात् मस्तिष्क-संबंधी विज्ञान में हो रही खोज से पता चलता है कि डेकार्ट का यह मत ग़लत था, यद्यपि उनके युग में इस विज्ञान का इतना विकास नहीं हो पाया था कि उनके इस भ्रांतिपूर्ण मत का खण्डन किया जा सकता।

डेकार्ट के मतानुसार आत्म सर्वप्रथम शीर्षग्रंथि को सक्रिय कर प्राण शक्तियों को जागृत करती है और इस प्रकार सारे शरीर को प्रभावित कर सजीव करती है। यह सारा व्यापार गति संचारण की तरह पूरा मेकेनिकल होता है; और यह अपने साथ शरीर में जो भी परिवर्तन लाता है वे सब मेकेनिकल रूप से ही घटते हैं। गति-अविनाशिता के बारे में अपने मत के अनुरूप ही डेकार्ट ने माना कि आत्म इन प्राण शक्तियों की केवल दिशा को ही बदल सकती है, उनकी त्वरन की गति को नहीं;

क्योंकि त्वरन की गति में जो परिवर्तन होते हैं वे सारे-के-सारे मेकेनिकल होते हैं। प्राण शक्तियों को दिशा देना ही आत्म का व्यापार है। इससे विपरीत दिशा में शरीर में जो परिवर्तन होते हैं—उदाहरणतः इन्द्रियों का बाह्य विषयों से संवेदित होना— इस प्रकार के परिवर्तन प्राण-शक्तियों द्वारा शीर्षग्रंथि तक पहुँचते हैं, और वहां जाकर आत्म में संवेदनाए पैदा करके उसे सक्रिय करते हैं। आत्म और शरीर के पारस्परिक संबंधों के विषय में डेकार्ट का यही मत है। इस संदर्भ में उनकी एक और बात को भी हमें ध्यान में रखना चाहिये। वह यह है कि डेकार्ट की दृष्टि में जब हम किसी बाह्य विषय को चक्षुओं द्वारा ग्रहण करते हैं, तो उस विषय की एक छोटी सी तसवीर हमारे मस्तिष्क में बन जाती है। आत्म को बाह्य विषय का सीधा, अव्यवहित ग्रहण नहीं होता; वह केवल इस छोटी सी तसवीर के माध्यम से ही उस विषय को ग्रहण करती है। डेकार्ट की यह धारणा अत्यधिक स्पष्ट नहीं है। विशेष रूप से हम यह नहीं कह सकते हैं कि बाह्य विषयों के इन्द्रिय ग्रहण की प्रक्रिया में हमारे मस्तिष्क में उन विषयों की छोटी सी तसवीर प्रत्येक इन्द्रिय के संबंध मे घटित होती है, अथवा केवल चक्षु-इन्द्रिय के संबंध में ही घटित होती है। समस्या-समाधान की प्रक्रिया में जो चिन्तन और विचार होता है, उस प्रक्रिया में भी इस प्रकार की तसवीरें घटित होती हैं कि नहीं? इसके अतिरिक्त, चेतनता विषयक डेकार्ट की धारणा को समझने में अन्य कठिनाइयाँ भी हैं।[28]

शीर्षग्रंथि विषयक डेकार्ट का मत ऐतिहासिक दृष्टि से महत्त्व का नहीं है और न ही विज्ञान की दृष्टि से हम इसे स्वीकार कर सकते हैं; क्योंकि यह मत शीर्षग्रंथि के व्यापार के बारे में बिल्कुल मिथ्या और भ्रांतिपूर्ण विश्वासों पर आधारित है। तथापि, डेकार्ट की यह धारणा कि आत्म और शरीर जैसे विभिन्न तत्त्वों का आपस में एक विशेष जगह पर गहरा परतु पूर्णतः मेकेनिकल संबंध है, उनके दर्शन के समूचे ढाँचे में ठीक तरह से नहीं बैठती थी। अतः उनके समकालीन और परवर्ती दार्शनिकों ने आत्म और शरीर के पारस्परिक संबंधों विषयक उनके मत को मानने से इनकार कर दिया। इस प्रकार के इनकार से बुद्धिवादी दर्शन के क्षेत्र में काफी महत्त्वपूर्ण विकास हुआ। इस सिलसिले में दो सिद्धांत उल्लेखनीय हैं। एक तो मालब्रांश (1638–1715) का दैवनैमित्त्यवाद है, जिसके अनुसार आत्म और शरीर में जो एक दूसरे के अनुसार घटनाएं होती हैं वे ईश्वर के निमित्त माध्यम रूप कारण होने से होती हैं। और, दूसरा लाइबनिज़ (1646-1716) का पूर्व-स्थापित सामंजस्यता का सिद्धान्त, जिसके अनुसार आतम और शरीर के घटनाक्रमों में एक तरह की पूर्व-स्थापित सामंजस्यता है, ताकि ईश्वर को प्रत्येक घटना विशेष के संबंध में हरेक

28. देखिए एन० के० स्मिथ, न्यू स्टडीज़ इन दि फिलासफ़ी आफ़ डेकार्ट (लण्डन: मेकमिलन एण्ड कम्पनी, 1952); अध्याय 6.

अवसर पर निमित्त अथवा हेतु नहीं बनना पड़ता। क्योंकि उसने आत्म और शरीर को कुछ इस प्रकार का बनाया है कि इन दोनों में दो समान घड़ियों के सदृश संबंध है जो पूर्णतः इस रूप में नियमित हैं कि उनके घटना-क्रमों में किसी भी प्रकार का असामंजस्य नहीं होता।

हमने ऊपर कहा है कि डेकार्ट के मतानुसार कुछेक ऐसी क्रियाएं भी हैं जो केवल शरीर ही, आत्म की अन्तर्वर्त्तिता के बिना, अपने आप एक मशीन की तरह करता है। इन क्रियाओं में इन्द्रियों का विषय ग्रहण, और तदनुरूप क्रिया अथवा प्रतिक्रिया में जो पारस्परिक संबंध है, वे भी शामिल हैं। उदाहरणार्थ, जब हम अपने को गिरने से बचाने के लिए अनायास ही अपनी बाहों को फैला लेते हैं; अथवा अपने संवेगों की अभिव्यक्ति में अनायास ही जो शारीरिक प्रतिक्रियायें प्रदर्शित करते हैं, ये सब केवल शरीर द्वारा ही एक मशीन की तरह की जाती हैं। डेकार्ट के मतानुसार, इस प्रकार की समस्त क्रियाओं में शरीर एक प्रतिक्रियात्मक मशीन के सदृश व्यापार करता है। अर्थात्, मस्तिष्क और नाड़ी तन्त्र के बल पर ही सभी शारीरिक परिवर्तन संभव हैं।

डेकार्ट का यह भी मत था कि मनुष्य को छोड़ दूसरे सभी जीवों का व्यवहार प्रतिक्रियात्मक है। मनुष्य में चैतन्य का तत्त्व होने के कारण उसके शरीर में होने वाले घटनाक्रम की चेतना उसे अनिवार्य रूप से रहती है। किंतु, दूसरे जीव इस प्रकार की चेतना से बिलकुल वंचित हैं; क्योंकि उनमें आत्म अथवा मनस् नहीं है; अतः चैतन्य का तत्त्व भी नहीं है। संक्षेप में, डेकार्ट का मत यह है कि जीवों और मशीनों में कोई भेद नहीं है। इसमें सन्देह नहीं कि उनके समकालीन दार्शनिकों ने इस मत का घोर विरोध किया।

यद्यपि डेकार्ट अपने इस मत का विवेचन पूर्णतया तर्कसंगत नहीं बना पाये हैं, तथापि इतना तो अवश्य ही कहा जा सकता है कि उन्होंने अपने इस मत को इसके कड़े रूप में अपनाया हुआ था। उदाहरणार्थ, उनके मत से यह भी निगमित होता है कि किसी भी जानवर को दुःख पहुँचाने का अर्थ है उसके शरीर की तोड़-फोड़ कर देना। यदि यह सच है तो उस स्थिति में मनस् अथवा चैतन्य सबंधी डेकार्ट की धारणा पर कुछ नया प्रकाश पड़ता है जिसके कारण वर्तमान शताब्दी के गिलबर्ट राइल जैसे दार्शनिकों ने डेकार्ट के मत का खण्डन किया है। मनुष्यों में चैतन्य है; जानवरों में नहीं है; डेकार्ट ऐसा इस आधार पर कहते हैं कि मनुष्य भाषा का प्रयोग करते हैं, जो न तो मशीन ही कर सकती है और न जानवर ही। भाषा के अतिरिक्त मनुष्य में आत्मबल भी है जो जानवरों और मशीनों में नहीं है। यह उल्लेखनीय है कि इन दोनों विशेषताओं—भाषा और आत्मबल के प्रयोग—का संबंध मनुष्य की बौद्धिक चिन्तन, अथवा सोचने की शक्ति से है। जहां तक मनुष्यों और जानवरों अथवा मशीनों में इन विभिन्नताओं का प्रश्न है, कदाचित् डेकार्ट ने जो कहा वह सच हो; किंतु केवल

इन विभिन्नताओं के ही आधार पर यह नहीं कहा जा सकता कि जानवरों में न तो दुःख अथवा पीड़ा की चेतना है और न ही उनमें किसी प्रकार का अहसास अथवा संवेदनाएं ही हैं। ऐसा लगता है कि वास्तव में डेकार्ट ने चैतन्य को मुख्य रूप से बुद्धि के अन्तर्गत ही लिया है। अर्थात् जहां बौद्धिक व्यापार नहीं है, वहां चैतन्य भी नहीं है। कभी-कभी उन्होंने संवेदना और अहसास को भी बौद्धिक व्यापार के विभिन्न परन्तु अधखिले रूप में माना है। इस प्रकार की प्रवृत्ति उनके इन्द्रियों द्वारा विषय ग्रहण के विवेचन में भी मिलती है। तथापि, उन्होंने चैतन्य के स्वरूप का सुसंगत और तर्कसंगत विवरण न तो अपने इस विषय के विवेचन में ही दिया है और न ही अपने दर्शन के आधारभूत सूत्र "मैं सोचता हूं, अतः मैं हूं" के विवेचन में।

(9) द्रव्य के स्वरूप और विज्ञान-दर्शन विषयक डेकार्ट की धारणा :

डेकार्ट के मतानुसार, अन्ततोगत्वा, दो ही तरह के पदार्थ हैं चेतन और जड़ पदार्थ। ईश्वर और आत्म चेतन पदार्थ हैं; जबकि शरीर और दूसरी कोई भी भौतिक वस्तु जड़ अथवा द्रव्य पदार्थ है। विस्तार या देशधर्मता जड़ पदार्थ का अनिवार्य गुण है। जड़ पदार्थ के सभी आवश्यक गुण इसके ही विभिन्न मात्रिक रूप हैं। इन रूपों में कालिकता भी शामिल है जो किसी भी अस्तित्ववान् भौतिक वस्तु के लक्षण का अनिवार्य अंग है। क्योंकि काल या अवधि के बिना किसी भौतिक वस्तु की सत्ता की धारणा असम्भव है। अवधि से विलग डेकार्ट ने काल अथवा समय की धारणा भी बतायी है। किन्तु, काल की उनकी धारणा बहुत स्पष्ट नहीं हो पाई है। कदाचित् उनकी दृष्टि में, अवधि के परिमाण अथवा मात्रा को ही काल कहते हैं।[29]

द्रव्य अथवा जड़ पदार्थ विषयक डेकार्ट की धारणा पूर्णतया बौद्धिक धारणा है। यह आत्म और ईश्वर की धारणाओं के समान, उनके अनुसार, अन्तर्जात धारणाओं में से एक है। डेकार्ट वैज्ञानिक खोज की दिशा से इस धारणा पर नहीं पहुँचते। अपितु, उनका यह निश्चित मत है कि जड़ पदार्थ की उनकी धारणा बौद्धिक होने के नाते मौलिक रूप से अन्तर्जात है। उनका कहना है कि इन्द्रियग्रहण से सीधे ही हमें भौतिक जगत की सत्ता का ज्ञान नहीं होता। इस प्रकार के ज्ञान की परोक्षरूप से प्राप्ति की सम्भावना से डेकार्ट इनकार नहीं करते। इसी प्रकार जड़ पदार्थ, यानि द्रव्य, की धारणा भी इन्द्रियों द्वारा ग्राह्य नहीं है। अर्थात्, इन्द्रियग्रहण के आधार पर हम यह नहीं कह सकते कि विस्तार या वितति ही द्रव्य का स्वरूप है। न ही द्रव्य की यह बौद्धिक धारणा मानसिक प्रतिबिम्बों के माध्यम से ही पूर्णतया निरूपित की जा सकती है। उनका मनपसन्द तर्क यह है कि हमें वितति में होने वाले अनेकानेक परिवर्तनों का केवल बौद्धिक ज्ञान ही होता है, और इस प्रकार का ज्ञान मानसिक

---

29. प्रिंसिपिल्ज, भाग–1, संख्या 55 और 57.

प्रतिबिम्बों द्वारा समीचीन रूप से अभिव्यक्त नहीं किया जा सकता। पुनश्च, न केवल डेकार्ट की द्रव्य विषयक धारणा ही बौद्धिक है, अपितु उनके मतानुसार इन्द्रिय विषयात्मक हमारे सभी (ज्ञान मूलक) निर्णयों में बुद्धि द्वारा अनुमिति का कुछ-न-कुछ अंश अनिवार्य रूप से आ ही जाता है। इस प्रकार की अनुमिति का आधार अन्ततोगत्वा इन बातों पर निर्भर करता है कि ज्ञान (अथवा नीति के मामलों में) ईश्वर हमें धोखा नहीं देता; हमें संवेदनाएं होती हैं अतः इन संवेदनाओं के कारण रूप में किसी भौतिक द्रव्य की सत्ता है। इन्द्रियग्रहण पर आधारित ज्ञान के संबंध में डेकार्ट को विषय-निरूपकवाद* और कारण-कार्य का सिद्धान्त पूर्ण-रूपेण मान्य है। वे इन धारणाओं की सत्यता में किञ्चितमात्र भी शंका नहीं करते। वरन् हम देखते हैं कि 'मैं सोचता हूँ, अतः मैं हूँ' के उनके विवेचन में तथा आत्म से स्वतंत्र बाह्य जगत् की सत्ता के लिए उनके तर्क में इन धारणाओं का प्रभाव, छद्म रूप से, अन्तर्निहित है।

द्रव्य विषयक डेकार्ट की इस धारणा से अनेक महत्त्वपूर्ण बातें फलित होती हैं। एक तो यह कि हमारी संवेदनाओं के भौतिक कारण वास्तव में वे नहीं हैं जो किसी साधारण व्यक्ति को 'संवेदना' शब्द से सूचित होते हैं। संवेदनाओं के आधार पर वह विशेष रूप से इस प्रकार की भ्रांत धारणा बना सकता है कि भौतिक जगत् वास्तव में रंगीन है। अर्थात् भौतिक वस्तुओं के हम ये जो नीले, पीले, हरे, इत्यादि रंग देखते हैं वे रंग हमारी संवेदनाओं के कारण नहीं अपितु उन वस्तुओं के ही अभिन्नांग हैं। डेकार्ट की दृष्टि से इस प्रकार का विश्वास बुद्धिगम्य नहीं है। इस संबंध में जो कुछ भी बुद्धिगम्य है और ईश्वर के साक्षित्व के आधार पर प्रमाणजन्य है वह केवल यह है कि वितति या विस्तार में रूप-परिवर्तन और इन्द्रिय-ग्रहीत रंगों में परिवर्तन एक-दूसरे के सदृश नहीं हैं, बल्कि केवल एक-दूसरे के साथ-साथ समान्तर भाव से ये परिवर्तन होते हैं। कहने का आशय यह है कि डेकार्ट भी, सत्रहवीं शताब्दी में सुप्रचलित, प्रधान और गौण धर्मों में व्यतिरेक की धारणा को मानते हैं।

भौतिक जगत्-विषयक डेकार्ट की धारणा पूर्ण रूप से शुद्ध गति-विज्ञानात्मक धारणा है और उसमें ऐसी कोई भी चीज़ नहीं है जिसकी शुद्ध ज्यामिति एवं काल की धारणाओं के आधार पर व्याख्या न की जा सके। सच पूछिए तो, डेकार्ट की भौतिकी में गणितीय धारणाओं से विलग भौतिकीय धारणाओं का नितान्त अभाव है। उनके विज्ञान में इस बात का एक ही अपवाद है। वह है उनका नियम (जो अपने आप में पर्याप्त अमूर्त है) कि द्रव्य अपनी जगह से दूसरे पदार्थों को बाहर कर देता है, यानि जहाँ एक भौतिक द्रव्य है वहाँ दूसरा नहीं हो सकता।

द्रव्य विषयक डेकार्ट की इस ज्यामितिक धारणा का प्रभाव उनकी तत्व मीमांसा पर भी पड़ता है। उनकी दार्शनिक व्यवस्था में गति ही एक ऐसी मात्रा है

---

* Representationism.

जो अनश्वर रहती है। गति को वे किसी भी पिंड की चाल और उसके आकार के गुणनफल से परिभाषित करते हैं। अर्थात् 'गति' = 'चाल × आकार' (Motion = Speed × Size)*। आकार से उनका आशय है किसी भी पिंड का सतत् आयतन जिसके अन्तराल में भरे हुए द्रव्य को आकार का अंग नहीं माना जायेगा। अपने इस प्रकार के सिद्धांत के आधार पर डेकार्ट जिन निष्कर्षों पर पहुँचते हैं वे गलत साबित हुए हैं। विशेष रूप से, संघट्टन विषयक उनका नियम तो बिल्कुल ही ग़लत है। इसके अलावा, उनकी तत्त्व मीमांसा में अन्य कठिनाइयां भी आ जाती हैं। वे अपनी व्यवस्था में किसी पिंड और उसके वातावरण में, अथवा किसी पिंड और उसके अन्तराल में स्थित वस्तु में, सफलतापूर्वक व्यतिरेक नहीं कर सकते। द्रव्य और दिक् में भेद न करने और उनको लगभग एक-सा समझ लेने के कारण, डेकार्ट शून्य में भी विश्वास नहीं रखते। शून्य की असम्भाव्यता को सिद्ध करने के लिए उनका मूलभूत तर्क यह है कि यदि दो पिंडों के बीच में कुछ नहीं (अर्थात् शून्य) होता है, तो उस स्थिति में उन्हें अनिवार्य रूप से सतत् होना चाहिए। किन्तु ऐसा है नहीं। यह मानना पड़ेगा कि उनके बीच में कुछ है, अर्थात् शून्य नहीं है।

स्पष्ट है कि डेकार्ट के मतानुसार भौतिक जगत् एक प्लीनम यानि ऐसा संपर्ण है जिसमें कहीं भी शून्य नहीं है। यह द्रव्य से ठसाठस भरा हुआ और सतत है। अतः इसमें आदि परमाणु भी नहीं है।

इस प्रकार डेकार्ट के मतानुसार, भौतिक जगत् एक अनन्त, त्रिविमितीय (तीन आयाम वाला, थ्री डाइमेन्शनल), सतत, समांग, और विस्तरित पुंज है। इसी बात को पदार्थ की भाषा में इस प्रकार कहा जायेगा कि इस जगत् में चेतन पदार्थ अनेक हैं—उदाहरणतः ईश्वर और अनेक आत्म; परन्तु जहां तक भौतिक पदार्थ का संबंध है वह केवल एक ही है और उसी से ही सारे जगत् की सृष्टि हुई है। अब यदि इस बात को मान लिया जाये तो उस स्थिति में किसी एक पुंज को उसके वातावरण से विलग करने की धारणा और भी अधिक अस्पष्ट हो जाती है। वास्तव में, डेकार्ट की भौतिकी में घनत्व नामक धारणा के लिए कोई स्थान नहीं है। इसका

---

* "So that, in truth, we may hold, when a part of matter is moved with double the **quickness** of another, and that other is twice the **size** of the former, that there is just precisely as much **motion**, but no more, in the less body as in the greater ; and that in proportion as the motion of any one part is reduced, so is that of some other and equal portion accelerated". (Italics mine).
A Discourse on Method, 1949, pp. 253–54—Notes on 'Motion'.

कारण यह है कि प्रत्येक आयतन पहले से ही पूरी तरह भरा हुआ है, और साथ ही द्रव्य का तो स्वभाव ही यह है कि वह अपनी जगह से दूसरे द्रव्यों को अनिवार्य रूप से बाहर कर देता है। अतः उस आयतन में अतिरिक्त द्रव्य बिलकुल ही नहीं भरा जा सकता। स्पष्ट है कि घनत्व की मात्रिक धारणा डेकार्ट को स्वीकार नहीं है। उनकी भौतिकी की दूसरी धारणाएं भी इस प्रकार की अनेकानेक कठिनाइयो से भरी पड़ी हैं।

भौतिक जगत् की रचना विषयक डेकार्ट के विचारों के आधार पर यह स्पष्ट होता है कि उनके मतानुसार वैज्ञानिक व्याख्याओं में उद्देश्यात्मक कारणों की कोई जगह नहीं है, क्योंकि किसी भी विषय अथवा घटना की पूर्ण व्याख्या केवल मेकेनिकल कारणों के आधार पर ही दी जा सकती है। वे गणितीय भौतिकी को ही सारे विज्ञानों का मॉडल और मूलभूत विज्ञान मानते हैं। फिर भी, भौतिकी और तत्त्वज्ञान के पारस्परिक सबंध विषयक उनकी धारणा मे काफ़ी अस्पष्टता आ गयी है। ज्ञान-वृक्ष के उनके मॉडल से यह धारणा बनती है कि वे भौतिकी और तत्त्वज्ञान में सतत संबंध देखते थे। अपने प्रिंसिपिल्ज़ के दूसरे भाग में उन्होंने भौतिकी के चन्देक आधारभूत नियमों को ईश्वर के गुण-धर्मों से निगमित करने का दावा भी किया है परन्तु, अन्यत्र वे तत्त्वज्ञान को विज्ञान के मात्र प्राक्कथन के रूप में देखते हैं; और यह सुझाव देते हैं कि तत्त्वज्ञान को भौतिकी का आधार केवल इस अर्थ में माना जा सकता है कि इसमें विज्ञान से संबंधित ज्ञान की मीमांसा होती है। तत्त्वज्ञान को भौतिकी का आधार इस अर्थ में नहीं माना जा सकता कि भौतिकी के नियम इससे तर्कतः निगमित होते हैं। दूसरे शब्दों में, तत्त्वज्ञान और भौतिकी में सतत संबंध बिलकुल नहीं है।

क्या भौतिकी की विधि-प्रणाली निगमनात्मक है? क्या उसमें भी स्वयंसिद्ध नियमों के आधार पर दूसरे तथ्य निगमित किए जाते हैं? इन प्रश्नों के विषय में भी डेकार्ट का मत काफ़ी अस्पष्ट है और उसे सुसंगत अथवा तर्कसंगत बनाना कठिन है।[30]

इन प्रश्नों से सम्बद्ध है विज्ञान संबंधी डेकार्ट की धारणा में प्रेक्षण और वैज्ञानिक प्रयोगों के महत्त्व का प्रश्न। यह सच है कि डेकार्ट ने वैज्ञानिक विधि-प्रणाली में प्रयोगों के महत्त्व को स्वीकार किया है। किन्तु, वे इस बात पर काफ़ी अस्पष्ट हैं कि विज्ञान में प्रयोगों का महत्त्व क्या है। उनका मत है कि किसी विषय को प्रस्तुत नियमों से 'निगमित' करने के अनेक रास्ते होते हैं, और इन रास्तों में से कौन-सा रास्ता फलदायक होगा, इस प्रश्न के संबंध में निर्णय पर पहुँचने के लिए

---

30. देखिये 'प्रिंसिपिल्ज़', भाग-2, सं० 64, और डेकार्ट का मरसेने (Mersenne) को लिखा गया मई 27, 1638 का पत्र।

विज्ञान में प्रयोगों की आवश्यकता रहती है। ज़ाहिर है, कि उनकी यह धारणा बिल्कुल गलत है, क्योंकि इस प्रकार के निगमन के लिए कोई भी रास्ता क्यों न अपनाया जाये, यदि हमारे नियम तर्कसंगत हैं और निर्दिष्ट 'निगमन' वैध है तो निगमन के सभी रास्ते हमें एक समान ही स्वीकार्य होने चाहिए ; उन रास्तों में निर्णय करने की तो बात ही नहीं रहती। कदाचित्, 'निगमन' शब्द से डेकार्ट तार्किक अथवा गणितीय निगमन का अर्थ नहीं लेते, बल्कि इस शब्द से वे केवल किसी विषय अथवा घटना को समझने अर्थात् उसकी व्याख्या करने की दिशा में अपनाये गये सुझावों पर विचार करने की विधि का ही अर्थ लेते हैं। उनकी भाषा को यदि इस ढंग से पढ़ा जाये तो निश्चय ही विभिन्न सुझावों की फलदायिकता परखने और किसी एक निर्णय पर पहुँचने के लिए वैज्ञानिक प्रयोगों की आवश्यकता पड़ती है।

इस संबंध में यह कहना अनुचित न होगा कि वैज्ञानिक विधि के विवेचन और वैज्ञानिक खोज के क्षेत्र में डेकार्ट को वह सफलता नहीं मिली जो उनके समकालीन गेलीलियो को प्राप्त हुई। उनकी इस असफलता का कारण यह प्रतीत होता है कि एक ओर तो उनके विज्ञान पर उनकी तत्त्व मीमांसकीय धारणाओं का प्रभाव था, और दूसरी ओर उन्होंने भौतिकी को मौलिक रूप में ज्यामिति से मिला दिया। इस प्रकार के दृष्टिकोण का फल यह निकला कि भौतिकी में उनका वैज्ञानिक विश्लेषण उस स्तर पर पहुँच नहीं पाया जिस स्तर पर गेलीलियो का विश्लेषण पहुँचा। कदाचित् इसी दृष्टिकोण के फलस्वरूप ही उन्होंने वैज्ञानिक विश्लेषण में प्रयोगों के महत्त्व को ठीक ढंग से नहीं समझा और उनके इस्तेमाल से अपने को वंचित रखा। कुछ भी हो, यह ऐतिहासिक तथ्य तो उल्लेखनीय है ही कि डेकार्ट की अनेकानेक वैज्ञानिक धारणाओं को परवर्ती वैज्ञानिकों ने अपनाया। महान् वैज्ञानिक न्यूटन ने भी विश्व और विज्ञान संबंधी उनकी अनेक धारणाओं का खण्डन कर डेकार्ट की वैज्ञानिक बुद्धि को सम्मान दिया।

(10) डेकार्ट का प्रभाव :

दर्शन के क्षेत्र में डेकार्ट का प्रभाव अपरिमित रहा है। स्काटिश दार्शनिक थॉमस रीड ने लिखा है कि मालब्रांश, लॉक, बर्कले, और ह्यूम—ये सब दार्शनिक जिस प्रकार की ज्ञान मीमांसा में भागीदार हैं वह मूलतः डेकार्टीय मीमांसा ही है। रीड की यह धारणा वास्तव में आज तक के दार्शनिक चिन्तन पर लागू होती है। डेकार्ट के दार्शनिक दृष्टिकोण का प्रभाव न केवल बुद्धिवादी दार्शनिकों पर ही पड़ा, अपितु अनुभववादी दार्शनिकों पर भी। अनुभववादी दार्शनिक विचारधारा के निरीक्षण से ऐसा जान पड़ता है कि इस विचारधारा पर डेकार्ट का प्रभाव काफी ज्यादा व्यापक रहा है। इस विचारधारा में अनाशंक्य और निश्चयात्मक ज्ञानाधार के लिए डेकार्ट की तरह आत्म-चेतना के विश्लेषण पर ज़ोर दिया गया है। इसके अतिरिक्त, जिस

प्रकार डेकार्ट का दार्शनिक चिन्तन ज्ञान-मीमांसा से प्रारंभ होता है, ठीक उसी प्रकार अनुभववादी विचारधारा में भी दार्शनिक चिन्तन का प्रारंभ ज्ञान-मीमांसा से ही होता है। अनुभववादियों के परवर्ती बीसवीं शताब्दी के दार्शनिकों—उदाहरणतः एडमण्ड हुस्सरल में—भी डेकार्टीय स्वभाव की दार्शनिक अभिरुचि बनी हुई है। डेकार्ट के आत्म-देह के द्वैत के सिद्धांत संबंधी समस्याएं आज भी वर्तमान दार्शनिक विश्लेषण का विषय बनी हुई हैं। गिलबर्ट राइल और विटगेन्स्टाईन का दर्शन, जो मूलतः डेकार्ट की अनेकानेक धारणाओं की आलोचना के प्रसंग में विकसित हुआ है, आधुनिक दार्शनिक चिन्तन पर डेकार्ट के सार्वभौम और व्यापक प्रभाव का ज्वलन्त उदाहरण है।

—वी० के० भारद्वाज
दिल्ली विश्वविद्यालय

सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची

(1) Sebba, Gregor, **Biblio-Graphia Cartesiana : A Critical Guide to the Study of Descartes' Literature 1800–1960.** The Hague : Martinus Nijhoff, 1964.

जीवनी :—

(2) Haldane, Elizabeth S., **Descartes : His Life and Times,** New York : E.P. Dutton & Co., 1905.

डेकार्ट की अपनी कृतियों के संग्रह :—

(3) **Oeuvres de Descartes,** Vols. I–XII and **Supplement,** edited by Charles Adam and Pául Tannery, Paris : Leopold Cerf, 1897–1917.

(4) **Descartes : Correspondence,** Vols. I–VIII, edited by Charles Adam and Gerard Milhand. Paris : Felix Alcan, Presses Universitaires de France, 1936–1963.

कुछ अंग्रेजी अनुवाद :—

(5) **A Discourse on Method, etc.,** by Rene Descartes. Translated by John Veitch. Introduction by A.D. Lindsay. Everyman's Library. London : J.M. Dent & Sons Ltd; 1912; reprinted 1949.

(6) **The Philosophical Works of Descartes,** Vols. I and II, translated by Alizabeth S. Haldane and G.R.T. Ross. Cambridge University Press, 1911–1912 and 1931. New York : Dover Publications, Inc., 1955.

(7) **Descartes' Philosophical Writings,** translated by Norman Kemp Smith. London : Macmillan & Co; 1952, New York : The Modern Library.

(8) **Descartes : Philosophical Writings,** Translated by Alizabeth Anscombe and Peter Thomas Geach. Edinburgh : Thomas Nelson & Sons, Ltd; 1954.

(9) **Discourse on Method; Meditations; Rules for the Direction of the Mind,** translated by Laurence J. Lafleur. New York and Indianapolis : the Liberal Arts Press and The Bobbs–Merrill Co., Inc., 1950–1961.

(10) **Descartes : Discourse on Method, Optics, Geometry, and Meteorology,** translated by Paul J. Olscamp. Indianapolis : The Bobbs–Merrill Co., Inc., 1965.

(11) **The Method, Meditations and Selections from the Principles of Descartes,** translated by J. Veitch. 14th Edition; Edinburgh and London, 1907.

(12) **The Living Thoughts of Descartes,** with introduction by P. Valery, London, 1948.

डेकार्ट पर कुछ अंग्रेजी पुस्तकें :—

(13) Balz, Albert G.A., **Cartesian Studies.** New York : Columbia University Press, 1951.

(14) Balz, Albert G.A., **Descartes and the Modern Mind.** New Haven : Yale University Press, 1952.

(15) Beck, L.J., **The Metaphysics of Descartes : A Study of the Meditations,** Oxford : Clarendon Press, 1965.

(16) Beck, L.J., **The Method of Descartes : A Study of the Regulae.** Oxford : Clarendon Press, 1952.

(17) Gibson, A. Boyce, **The Philosophy of Descartes.** London : Methuen & Co., Ltd; 1932.

(18) Keeling, S.V., **Descartes.** London : Ernest Benn, Ltd; 1934.

(19) Merrylees, W.A., **Descartes : An Examination of Some Features of His Metaphysics and Method.** Melbourne, Melbourne University Press, 1934.

(20) Roth, Leon, **Descartes' Discourse on Method,** Oxford : Clarendon Press, 1924.

(21) Scott, J. F., **The Scientific Work of Rene'** Descartes (1596–1650) London : **Taylor & Francis, Ltd, 1952.**

(22) Kemp Smith, Norman, **New Studies in the Philosophy of Descartes : Descartes as Pioneer.** London : Macmillan & Co , Ltd; 1952.

(23) Kemp Smith, Norman, **Studies in the Cartesian Philosophy.** London : Macmillan & Co., Ltd ; 1902.

(24) Versfeld, Marthinus, **An Essay on the Metaphysics of Descartes.** London : Methuen & Co., 1940.

(25) **Descartes (A Collection of Critical Essays)** Edited by Willis Doney. London : Macmillan & Co., Ltd; 1968.

डेकार्ट पर कुछ अंग्रेजी लेख :—

(26) Ayer, A.J., "I Think, Therefore I Am," in his book **The Problem of Knowledge** (New York : St. Martin's Press, 1956). Chapter 2; Section iii; pp. 45–54.

(27) Williams, Bernard, "The Certainty of The Cogito, "in **Descartes (A Collection of Critical Essays)**, edited by Wills Doney (London : Macmillan & Co; Ltd; 1968); pp. 88–107.

(28) Williams, Bernard, "Rene Descartes" in **The Encyclopaedea of Philosophy**, edited by Paul Edwards (New York : The Macmillan Company and The Free Press, 1967).

(29) Hintikka, Jaakko, "Cogito, Ergo Sum : Inference or Performance" **The Philosophical Review**, Vol. LXXI, No. 1, January 1962; pp. 3–32.

(30) Malcolm, Norman, "Descartes' Proof That His Essence Is Thinking", **The Philosophical Review**, Vol. LXXIV, No. 3, July 1955; pp. 315–338.

परिशिष्ट (क)

"विश्लेषण एवं संश्लेषण के मध्य डेकार्ट के विभेद के संदर्भ में एक टिप्पणी"

डेकार्ट के "मेडिटेशन्ज़" की पाण्डुलिपि उनके मित्र फादर मरसेने द्वारा अनेक दार्शनिकों को भेजी गई थी। इन विचारकों के आलोचनों एवं टिप्पणियों को संगृहीत करके मरसेने ने उन्हें डेकार्ट को प्रेषित कर दिया, और डेकार्ट ने इन सभी शंकाओं एवं उनके प्रति अपने समाधानों को "मेडीटेशन्ज़" के प्रकाशित संस्करण में समाविष्ट कर दिया था।

शंकाओं के द्वितीय वर्ग के संदर्भ में मरसेने ने डेकार्ट से अनुरोध किया था कि वे इनके समाधान रेखागणितीय पद्धति के अनुप्रयोग द्वारा प्रस्तुत करें। और रेखागणितीय पद्धति के विषय में डेकार्ट के विचार उनके द्वितीय वर्ग की शंकाओं के समाधानों में संस्थित हैं। वस्तुतः मरसेने ने डेकार्ट से परिभाषाओं, पूर्वमान्य वाक्यों (Postulates) एवं स्वयंसिद्ध वाक्यों (axioms) को प्रस्तुत करके इन्हीं से सम्पूर्ण प्रतिपत्ति का रेखागणितीय पद्धति द्वारा निष्कर्षों को निगमित करने का प्रस्ताव किया था।

शंकाओं का समाधान करते हुए डेकार्ट ने कहा था कि "लेखन की रेखा-गणितीय पद्धति" में दो बातें अभिप्रेत हैं :

(i) "क्रम" एवं

(ii) "प्रमाण की विधि"।

"क्रम" का उद्देश्य उन बातों को पहले बताना है जिनका ज्ञान प्राप्त करने हेतु अनुवर्ती बातों की अपेक्षा नहीं होती तथा यह अन्य सभी को इस ढंग से व्यवस्थित करके संभव होता है कि बाद में आने वाली प्रतिपत्तियां (Proofs) अपनी पूर्वगामी युक्तियों पर निर्भर करें। डेकार्ट ने स्पष्टतः कहा है कि "मेडीटेशन्ज़" में उन्होंने इसी क्रम का अनुसरण किया है। इसके अतिरिक्त इस पद्धति के दो पक्ष और भी हैं—"विश्लेषणात्मक" एवं "संश्लेषणात्मक"।

विश्लेषण पद्धति, जिसका डेकार्ट ने "शिक्षण की सर्वश्रेष्ठ एवं प्रामाणिकतम पद्धति" कहकर समर्थन किया है, उस मार्ग का निर्देश करती है, जिसके द्वारा किसी वस्तु को विधिवत्—मानो कारण से कार्य की भाँति—अन्वेषित एवं निगमित किया गया है।

संश्लेषण इससे विपरीत पद्धति का अनुगमन करता है—एक ऐसी पद्धति का जिसमें अनुसंधान की प्रक्रिया मानो कार्य से कारण की ओर अग्रसर होती है। इस पद्धति में परिभाषाओं, पूर्वमान्य वाक्यों (Postulates), स्वतःसिद्ध वाक्य (axioms), प्रमेयों (theorems) एवं समस्याओं की एक विस्तृत शृंखला का उपयोग होता है ताकि प्राप्त निष्कर्षों में से यदि किसी एक का निषेध कर भी दिया जाय, तो उसे तुरन्त अपने पूर्वगामी आधारवाक्यों में सिन्नहित प्रदर्शित किया जा सके। किन्तु यह पद्धति उस मार्ग का निर्देश नहीं करती जिसके द्वारा निरूपित विषय का अन्वेषण हुआ था।

डेकार्ट ने यह भी कहा है कि प्राचीन रेखागणितज्ञ केवल मात्र संश्लेषण पद्धति को ही प्रयुक्त करते थे। डेकार्ट ने, इसके विपरीत, "मेडीटेशन्ज" में विश्लेषण-पद्धति का अनुसरण किया है। डेकार्ट का विचार है कि संश्लेषण की पद्धति, जो रेखागणित के क्षेत्र में फलप्रद है, उनके द्वारा विवेचित किए जा रहे तत्त्वमीमांसीय प्रश्नों की व्याख्या हेतु सफलतापूर्वक अनुप्रयुक्त नहीं की जा सकती। रेखागणितीय प्रतिपत्तियों (Proofs) की पूर्वापेक्षाओं (presuppositions) के रूप में प्रयुक्त मूलभूत मान्यताओं का हमारी ज्ञानेन्द्रियों के उपयोग के साथ साम्य रहता है। आधारभूत मान्यताओं को एक बार ग्रहण कर लेने के पश्चात् कोई भी व्यक्ति सफलतापूर्वक निगमन कर सकता है। तत्त्वमीमांसा के क्षेत्र में आधारभूत मान्यताएँ इतनी सरलता एवं सुस्पष्टता से ग्राह्य नहीं होतीं, तथापि शंकाओं की द्वितीय शृंखला के प्रति अपने समाधान के अन्त में डेकार्ट ने रेखागणितीय पद्धति के द्वारा ही ईश्वर की सत्ता तथा आत्मा एवं शरीर के बीच भेद को सिद्ध करने हेतु तर्क प्रस्तुत किए हैं।

परिशिष्ट (ख)

सत्ता सम्बन्धी प्रमाण

1. परिचय
2. सत्ता सम्बन्धी प्रमाण अपने प्रथम रूप में
3. सत्ता सम्बन्धी प्रमाण अपने द्वितीय रूप में
4. आधुनिक सत्ता सम्बन्धी प्रमाण
5. क्या अस्तित्व एक विशेषण है ?
6. गणित तथा धर्मशास्त्र में द्विधार्थकता
7. आधुनिक गुणों की द्विधार्थकता
8. प्रमाण की वैधता
9. निष्कर्ष

परिचय :

शताब्दियों से विभिन्न दार्शनिकों तथा विभिन्न धर्मशास्त्रियों ने ईश्वर को प्रमाणित करने के लिए विभिन्न प्रमाणों की खोज की तथा उन्हें विस्तृत रूप प्रदान करने का प्रयत्न किया। इन मुख्य प्रमाणों को निम्न भागों में बांटा जा सकता है—सत्ता सम्बन्धी प्रमाण, विश्व सम्बन्धी प्रमाण, प्रयोजन सम्बन्धी प्रमाण। सत्ता सम्बन्धी प्रमाण यह दिखलाने का प्रयत्न करता है कि ईश्वर के प्रत्यय से ही यह सूचित अथवा उपलक्षित होता है कि ईश्वर का अस्तित्व है। विश्व सम्बन्धी प्रमाण यह प्रमाणित करता है कि संसार है, इसका लेखा-जोखा रखने वाला अथवा व्यवस्थापक होना चाहिए और वह व्यवस्थापक ईश्वर है। प्रयोजन सम्बन्धी प्रमाण यह प्रमाणित करता है कि संसार में तारतम्य अथवा विधान दिखलाई देता है, इस विधान का कोई प्रयोजन अवश्य होना चाहिए और उस प्रयोजन में एकता होनी चाहिए क्योंकि विभिन्नता का कारण एकता में खोजा जाता है और वह एकता ईश्वर में देखी जा सकती है। अतः ऐसी सत्ता का अस्तित्व अवश्य होना चाहिए। दार्शनिक दृष्टि से समस्त परम्परागत प्रमाणों में से सत्ता सम्बन्धी प्रमाण सबसे महत्त्वपूर्ण एवं रोचक है। क्योंकि इसमें कुछ मूलभूत प्रत्ययों का प्रयोग किया जाता है जैसे पूर्णता, देवत्व, अस्तित्व, तार्किक अनिवार्यता तथा अनिवार्यतः अस्तित्व आदि। अतः यह प्रमाण अन्य समस्त प्रमाणों से भिन्न है। यह प्रमाण के द्वारा अनन्त पूर्णता से युक्त

ईश्वर के प्रत्यय से उसके अस्तित्व की सत्यता को प्रमाणित करने का प्रयत्न किया जाता है। साथ ही यह एक पूर्ण, अद्वितीय सत्ता के अस्तित्व को प्रमाणित अथवा सिद्ध करने का प्रयत्न करता है।

सत्ता सम्बन्धी प्रमाण सर्वप्रथम अन्सेलम (1033-1109) ने दिया। कुछ दार्शनिकों ने अन्सेलम की तर्कप्रक्रिया को ऑगस्तीन की रचना 'डि लिब्रो अरबिट्रो' में देखने का प्रयास किया तथा ऑगस्तीन को सत्ता सम्बन्धी प्रमाण का वास्तविक खोजकर्ता माना। अन्सेलम के मस्तिष्क में एक विशेष वाक्य खण्ड अपरोक्ष रूप से आया तथा उसी को उसने प्रमाण के रूप में रखा तथा ईश्वर की परिभाषा 'वह जिससे अधिक उच्च कोई चीज नहीं है' दी। परन्तु वास्तव में देखा जाये तो ऑगस्तीन द्वारा दिया गया प्रमाण अन्सेलम के प्रमाण से भिन्न है। अन्सेलम का प्रमाण पूर्ण रूप से नया है।

सत्ता सम्बन्धी प्रमाण अपने प्रथम रूप में :

अन्सेलम ने ईश्वर के प्रत्यय को अपनी प्रसिद्ध परिभाषा 'वह जिससे अधिक उच्च विचारणीय नहीं' में परिभाषित किया। एक अनास्तिक व्यक्ति के मस्तिष्क में भी इस प्रकार का विचार हो सकता है अर्थात् इस अर्थ में कि वह ईश्वर के अस्तित्व में विश्वास नहीं करता किन्तु अच्छाइयों की श्रेणी में विश्वास करता है। अतः इन सब अच्छाइयों से युक्त एक पूर्ण इकाई हो सकती है। वह इकाई मात्र प्रत्यय हो सकता है, उसको ईश्वर का नाम दें अथवा न दें। अब प्रश्न उठता है कि इस प्रत्यय का अस्तित्व मानसिक है अथवा उससे स्वतन्त्र भी है। अन्सेलम का प्रमाण निम्न है—"मस्तिष्क के साथ-साथ बाह्य जगत में भी उसका (पूर्ण इकाई) अस्तित्व होना चाहिये क्योंकि यदि कोई चीज़ मात्र मस्तिष्क में अस्तित्व रखती है तो वह, वह नहीं हो सकती जिससे उच्च सत्ता विचारणीय नहीं है क्योंकि मात्र मानसिक अस्तित्व से बाह्य जगत् में भी अस्तित्ववान् होना अधिक उच्च है।* यहां यह स्पष्ट है कि अन्सेलम का 'उच्च' से तात्पर्य 'अधिक पूर्ण' से है। अन्सेलम के लिए अधिक पूर्ण का अर्थ वही है जो ऑगस्तीन के लिए था किन्तु ऑगस्तीन 'अधिक सत्तावान' या 'अधिक सत्' शब्दों का प्रयोग करता है। अन्सेलम का वाक्यांश सबसे अधिक पूर्ण सत्ता 'जो है' को वाचित नहीं करता बल्कि अधिक पूर्ण सम्भाव्य सत्ता को वाचित करता है। अन्सेलम के शब्दों में, "यह निरूपाधिक सत्य है कि सबसे अधिक पूर्ण सत्ता है जिसका कि अस्तित्व है।"** संक्षेप में अन्सेलम की प्रमाण-प्रक्रिया इस प्रकार प्रतीत होती

---

* Anselm's Prosologium. A scholasitic Micellany. 'Anselm to Ockham ed. and translated by E.R. Faireweather, The Library of Christian classics V. X, Philadelphia, The Westminister Press and London pp 73–75.

** Ibid "Reply to Gaunilo" pp 94–96.

है—अनिवार्य वाक्य, अर्थात् वे वाक्य जिनका निषेध आत्म-व्याघाती है, सत्य हैं। सत्य वाक्यों का निर्देश होना चाहिये जिसके आधार पर वे सत्य वाक्यों के रूप में समझे जाते हैं। इस दृष्टि से अनिवार्य सत्य वाक्य कि "जिससे अधिक उच्च विचारणीय नहीं है" का अस्तित्व मात्र वैचारिक नहीं हो सकता। एक ऐसा विषय स्वतंत्र रूप मे अवश्य होना चाहिए जिसका अस्तित्व है तथा जिसको यह वाचित करता है। फ्रेड्रिक सोन्टाग (Fredrick Sontag) ने अपने निबन्ध* में बताया है कि जब अन्सेलम सत्ता सम्बन्धी प्रमाण देता है तो वह मानता है कि प्रमाण में हमेशा एक पूर्वस्थित ज्ञान होता है। प्रमाण में बुद्धि का कार्य आधार वाक्यों तथा निष्कर्षों के बीच सम्बन्ध को स्पष्ट करना होता है अतः यदि इस संदर्भ में अन्सेलम के प्रमाण को देखा जाये तो उसमें कोई भी दोष नहीं है। अन्सेलम का ईश्वर की सत्ता का प्रमाण देने का उद्देश्य मस्तिष्क में स्थित अपरोक्ष ज्ञान को स्पष्ट करना था। सत्ता सम्बन्धी प्रमाण एक विशेष प्रकार के 'अस्तित्व' (Mode of existence) पर आधारित है, यदि किसी इकाई का 'अस्तित्व' इससे भिन्न है तो उस पर यह तर्क लागू नहीं किया जा सकता। प्रमाण में किसी भी विश्वास को मान्यता नहीं दी गयी है। अन्सेलम ईश्वर का अस्तित्व, मात्र बुद्धि की शक्ति द्वारा ही प्रमाणित करता है। "वह जिससे उच्च विचारणीय नहीं", यह वाक्यांश ही इसमें निहित अस्तित्व को बताता है। यह कोई सामान्य वाक्यांश नहीं है। वस्तुतः सत्ता सम्बन्धी प्रमाण अपरोक्ष रूप से ईश्वर के स्वरूप से उनके अस्तित्व को स्थापित करता है। ईश्वर की सत्ता तथा उसके स्वरूप में अभेद है, अतः उन्हें अलग-अलग नहीं किया जा सकता।

ओ'कोनर (M.J.A. O'Connor) के अनुसार मस्तिष्क में उस सत्ता का अस्तित्व जिससे उच्च कोई अन्य सत्ता सम्भव नहीं और मस्तिष्क में उस सत्ता के प्रत्यय का अस्तित्व जिससे उच्च कोई अन्य सत्ता सम्भव नहीं, इन दोनों में भेद है।** सत्ता सम्बन्धी वाक्य से हम सत्ता सम्बन्धी निष्कर्ष प्राप्त कर सकते हैं कि ईश्वर का अस्तित्व मनस् के साथ-साथ बाह्य जगत् में भी है। इसी प्रकार मनोविज्ञान सम्बन्धी वाक्य से हम मात्र यह प्रत्ययात्मक निष्कर्ष प्राप्त कर सकते हैं कि ईश्वर का प्रत्यय ही अस्तित्ववान् का प्रत्यय है किन्तु हम इसे सही नहीं मान सकते। अन्सेलम की परिभाषा को विभाजित नहीं किया जा सकता क्योंकि इस वाक्यांश ("वह जिससे उच्च कोई भी सत्ता विचारणीय नहीं अथवा विचारी ही नहीं जा सकती") में 'सकने' शब्द में द्विधार्थकता है। प्रश्न है कि यह 'सकना' तथ्यात्मक है अथवा तार्किक ? अर्थात् यदि सोचा जाये तो उसमें व्याघात होगा अथवा यदि सोचें तो वह

---

* Sontag F. "The Meaning of 'Argument' in Anselm's ontological proof" Journal of Philosophy, 64, 1967.

* O'Connor, M.J.A., New Aspects of Omnipotence and Necessity in Anselm. Religious studies 1968 p. 136.

हमारे सामान्य व्यावहारिक ज्ञान के विरुद्ध होगा, किन्तु तार्किक रूप से व्याघाती नहीं ? क्या हम ऐसी सत्ता की बात कर रहे हैं जिससे तथ्यात्मक रूप से उच्च कोई भी सत्ता विचारणीय नहीं ? इसका कारण परिस्थितियां हो सकती हैं या ऐसा हो सकता है कि उच्चता की एक विशेष सीमा से आगे किसी भी वस्तु के अस्तित्व के लिए स्थान नहीं है या हम इस प्रकार की सत्ता की बात कर रहे हैं जिससे उच्च सत्ता विचारणीय नहीं है क्योंकि तार्किक रूप से यह सम्भव नहीं ? जॉन हिक के अनुसार यह स्पष्ट है कि अन्सेलम का अर्थ उत्तरोक्त से है।

गौनिलो (Gaunilo) ने अन्सेलम के सत्ता संबंधी प्रमाण की आलोचना की। गौनिलो की सबसे महत्त्वपूर्ण आलोचना व्याघातनिष्ठ प्रमाण (Reductio ad absurdum) है।* इसको वह सबसे पूर्ण द्वीप पर लागू करता है (पूर्ण द्वीप की चर्चा पूर्णता के प्रत्यय के संदर्भ में की गयी है). किन्तु ध्यान देने की बात यह है कि अन्सेलम की परिभाषा के स्थान पर गौनिलो की द्वीप की परिभाषा का प्रतिस्थापन करना उचित नहीं है। गौनिलो 'वह जिससे अधिक उच्च विचारणीय नहीं' के स्थान पर 'समस्त द्वीपों से अधिक श्रेष्ठ' की बात करना है, जो उचित नहीं है। अन्सेलम भी गौनिलो के आक्षेप के उत्तर में कहता है कि 'द्वीप अपनी परिभाषा के अनुसार भौतिक जगत का अंग है और इसलिए वह अपनी विशेषताओं एवं व्यवस्थापन के लिए जगत् के विभिन्न रूप अथवा आकृति पर निर्भर करता है, साथ ही संसार की सम्भाव्य प्रकृति में सक्रिय भाग लेता है।'** अतः अन्सेलम की तर्क प्रक्रिया मात्र जिस पर लागू होती है वह है 'वह सत्ता जिससे अधिक पूर्ण विचारणीय नहीं।' अन्सेलम आगे कहता है कि कोई भी प्रमाण ठीक नहीं जिसमें इस प्रकार का (सबसे पूर्ण अर्थात् ईश्वर के स्थान पर सबसे पूर्ण द्वीप) प्रतिस्थापन किया गया हो, साथ ही मैं यह आत्म-विश्वास से साथ कह सकता हूं कि यदि कोई मेरे प्रमाण में प्रयुक्त तथ्यात्मक सत्ता अथवा वैचारिक सत्ता जिससे अधिक उच्च विचारणीय नहीं, पर तार्किक प्रत्याख्यान में (गलत सिद्ध करने में) सफल हो जाये तो उसके लिए मैं "खोये हुए द्वीप को खोजूंगा और उसे ऐसी चीज़ दूंगा जो वह वापिस कभी भी न खो सके।"***

सी. डी. ब्रॉड**** ने अन्सेलम के विचार का विरोध इस आधार पर किया है कि 'अस्तित्व', 'बौद्धिकता', 'शक्ति' आदि विशेषणों से भिन्न है जो एक प्रत्यय में हो भी सकते हैं और नहीं भी। दूसरा विरोध इस आधार पर करते हैं कि अन्सेलम का

---

* Gaunilo, Pro insipiente, Sec. 6, Trans. by S.N. Deane in **St. Anselm**, La Salle, Illinios, 1903, pp 150–51.

** Anselm's "Reply to Gaunilo" pp 94–96.

*** Ibid, pp 94–96.

**** Broad, C.D. Religion, Philosophy and Psychical Research. London Routledge & Kegan Paul, 1953 pp. 177–80.

प्रत्यय 'जिससे अधिक उच्च विचारणीय नहीं' एक असम्बद्ध प्रत्यय है अर्थात् हम मात्र उसकी कल्पना कर सकते हैं किन्तु वास्तव में वह कैसा है यह हम नहीं बता सकते। अन्य दार्शनिकों का आक्षेप है कि यदि प्रमाण की प्रक्रिया सही है तो हम उन वस्तुओं का अस्तित्व भी प्रमाणित कर सकते हैं जिनका हमको ज्ञान है किन्तु उनका अस्तित्व नहीं है जैसे वह द्वीप जिससे उच्च सम्भव नहीं। यदि यह अन्तिम आक्षेप सही है तो यह बतलाता है कि अन्सेलम की प्रमाण प्रक्रिया में कहीं-न-कहीं दोष है, किन्तु वह दोष क्या है, यह नहीं बतलाता। अतः जब तक दोष का पता न लगे तब तक यह कहना कि दोष है, निराधार है।

अन्य असंगतियां :

1. यह वाक्यांश 'वह जिससे अधिक पूर्ण विचारणीय नहीं' कोई पूर्ण निश्चितता प्रदान नहीं करता और उसका द्वार खुला ही रहता है क्योंकि यदि ईश्वर को इस वाक्यांश में परिभाषित करते हैं तो वह ईश्वर का विचार ही हो सकता है। उसका वास्तव में अस्तित्व है इसको हम मात्र इस वाक्यांश से निगमित नहीं कर सकते, उसके लिए कुछ अन्य आधार वाक्यों की भी आवश्यकता होगी। हम मात्र यह कह सकते हैं कि ईश्वर वह विचार अथवा इकाई है जिससे अधिक पूर्ण विचारणीय नहीं। दूसरे शब्दों में कहें तो यह वाक्यांश यह नहीं बताता कि वह ईश्वर क्या है जिससे उच्च अथवा पूर्ण विचारणीय नहीं।

2. यह वाक्यांश अपने आप में आकारिक है क्योंकि यह नहीं बतलाता कि इस प्रकार की सत्ता में कौन से विशिष्ट गुण हैं।

3. क्या हम जानते हैं कि बाह्य जगत् में अस्तित्व न रखने वाली सत्ता से अस्तित्व रखने वाली सत्ता अधिक पूर्ण अथवा उच्च है? क्या यह अन्सेलम की अपुष्टित पूर्वमान्यता नहीं है ? इस वाक्य का गहराई में अर्थ लिया जाये तो इसका अर्थ मात्र ईश्वर के प्रत्यय से नहीं बल्कि उसके स्वतंत्र अस्तित्व से भी है, साथ ही ईश्वर का अस्तित्व उस अर्थ में नहीं माना जा सकता जिस अर्थ में ससीम वस्तुओं का अस्तित्व है।

टॉमस एक्वाइनस सत्ता-सम्बन्धी प्रमाण का विरोध करते हैं। उनकी मान्यता है कि हमारा समस्त वर्तमान ज्ञान मात्र इन्द्रियों द्वारा प्राप्त है अतः मनुष्य के मनस् में कोई भी ऐसा ज्ञान नहीं है जो अपरोक्ष हो और इन्द्रियों द्वारा प्राप्त न हो। जो भी शब्द हम ईश्वर पर आरोपित करेंगे वे विशेष होंगे, श्रेणियों में सर्वोच्च तथा ईश्वर के समतुल्य होंगे। कारणात्मक प्रमाण (भौतिक जगत् का कारण अवश्य होना चाहिये और वह कारण ईश्वर है) के द्वारा भी ईश्वर के अस्तित्व को प्रतिस्थापित किया जा सकता है। संसार का अस्तित्व ईश्वर के अस्तित्व पर निर्भर करता है। इसके विरुद्ध अन्सेलम कहता है कि ईश्वर वर्णनातीत है, जितने भी वर्णन हम उसके करते हैं वे सब अधूरे ही रहते हैं, तब भी वह शुभ है बिना किसी गुण के, सब जगह विद्यमान है बिना स्थान घेरे हुए आदि। अतः हम कह सकते हैं कि ईश्वर वह है जिससे उच्च विचारणीय नहीं।

सत्ता सम्बन्धी प्रमाण के इतिहास में द्वितीय मुख्य युग आधुनिक दर्शन के जन्मदाता रेने देकार्त से आरम्भ होता है। देकार्त ने अपने सत्ता सम्बन्धी प्रमाण की व्याख्या कई स्थानों पर की है किन्तु मुख्य स्रोत पांचवां मेडीटेशन (Fifth Meditation) है। देकार्त की ईश्वर की परिभाषा अन्सेल्म की परिभाषा से भिन्न है। देकार्त के अनुसार अस्तित्वहीन ईश्वर की मनुष्य कल्पना भी नहीं कर सकता क्योंकि पूर्ण ईश्वर का अस्तित्व अनिवार्य है, क्योंकि ऐसा न होने पर वह पूर्ण ही नहीं रह जायेगा। पूर्ण ईश्वर का अस्तित्व न हो यह आत्मविरोधी बात है; अतः ईश्वर के प्रत्यय से ही उसकी सत्ता सिद्ध होती है। ईश्वर सर्वगुण सम्पन्न सर्वोच्च है। उसकी मानवीय धारणा तथा यथार्थता में भेद है। उसका अस्तित्व हमारी धारणा पर निर्भर नहीं है बल्कि ईश्वर की हमारी धारणा ही उसकी पूर्णता और वास्तविकता का एक अंग है। देकार्त 'जिससे उच्च विचारणीय नहीं' के स्थान पर 'परम श्रेष्ठ पूर्ण सत्ता' की बात करता है। देकार्त स्पष्ट रूप से कहता है कि अस्तित्व एक पूर्णता है क्योंकि यदि यह मान लिया जाये कि ईश्वर पूर्ण है तो यह भी मानना होगा कि ईश्वर का अस्तित्व है क्योंकि अस्तित्व भी पूर्णता का एक अंग है। अस्तित्व को उससे अलग नहीं किया जा सकता, अतः वह वास्तव में अस्तित्व रखता है अथवा उसका वास्तव में अस्तित्व है। इस पूर्वमान्यता का देकार्त के विरोधी पियरे गैसेन्डी (Pierre Gessendi) ने निषेध किया है। उसके अनुसार अस्तित्व न तो ईश्वर की पूर्णता है और न किसी अन्य वस्तु की, बल्कि यह वह है जिसमें किसी भी पूर्णता का अभाव है अर्थात् अस्तित्व रखना अपूर्णता का द्योतक है अथवा जिसका भी अस्तित्व है वह अपूर्ण है। देकार्त इसका किसी भी प्रकार से सही उत्तर नहीं दे सका, मात्र उसने अपने आधार वाक्य में कुछ परिवर्तन कर लिया। बाद में इसी आक्षेप को कांट ने अपनी पुस्तक 'शुद्ध बुद्धि मीमांसा' में प्रबल रूप में रखा। देकार्त के प्रमाण का आकार मूलरूप से निम्न है :—

1. 'ईश्वर पूर्णता से युक्त है' यह एक अनिवार्य सत्य है।
2. अस्तित्व पूर्णता का अंग है।
3. अतः ईश्वर का अस्तित्व है।

देकार्त के अनुसार प्रथम प्रत्ययात्मक रूप से सत्य है : देकार्त पूर्णता के प्रत्यय से 'सबसे अधिक पूर्ण जो विचारणीय है' की ओर बढ़ता है। देकार्त का तर्क प्रकारता का तर्क (Modal Argument) उस अर्थ में नहीं है जिस अर्थ में मॉलकोम का है। अतः जब देकार्त कहता है कि उसका प्रमाण अनिवार्य अस्तित्व पर लागू होता है तब उसका तात्पर्य है कि 'ऐसी इकाई का अस्तित्व है जो कि ईश्वर की परिभाषा एवं गुणों से युक्त है' अनिवार्य सत्य है। केटेरस (Caterus) ने देकार्त की आलोचना की है और उस संदर्भ में देकार्त का दिया गया उत्तर संतोषजनक नहीं है। मात्र यह पता चलता है कि वह ऐसे शेर की कल्पना कर सकता है जिसका अस्तित्व नहीं है

जबकि ऐसे ईश्वर जिसका अस्तित्व न हो की कल्पना नहीं की जा सकती, क्योंकि शेर पूर्ण नहीं है अर्थात् शेर के प्रत्यय में अस्तित्व की अनिवार्यता नहीं है जब कि ईश्वर के प्रत्यय में है। किन्तु वह अपने इस प्रकार के उत्तर से केटेरस द्वारा की गयी आलोचना के बिन्दु से बच निकलता है।

सत्ता सम्बन्धी प्रमाण के विषय में लाइबनित्स* (Leibniz) का कहना है कि दर्शन के इतिहास में सत्ता सम्बन्धी युक्तियों मे दार्शनिकों ने जो कुछ दिखाया है वह यह कि यदि ईश्वर का प्रत्यय सम्भव है तो उसका अस्तित्व है, किन्तु उन्होंने यह नहीं दिखाया कि ईश्वर का प्रत्यय सम्भव है। अतः इन समस्त युक्तियों को स्वीकारते हुये भी वह यह बताने का प्रयास करता है कि ईश्वर का प्रत्यय कैसे सम्भव है। उसके लिये वह अपने निबन्ध 'दैट दि मोस्ट फरफैक्ट बींग एक्जिस्ट्स' (That the Most Perfect Being exists) में तर्क देता है कि क्योंकि अनिवार्य सत् स्वयं है और यदि वह सम्भव नहीं है तो कोई भी सत् सम्भव नहीं होगा अतः मानना होगा कि अनिवार्य सत् सम्भव है (व्याघातनिष्ठ प्रमाण)। वस्तुतः ईश्वर की सम्भाव्यता, प्रागनुभविक रूप से उसकी असीमता, उसके निषेध की असम्भाव्यता तथा व्याघात न होने से ही निगमित होती है।

अब यह दिखाने के बाद कि ईश्वर का प्रत्यय सम्भव है, 'ईश्वर वास्तविक है' को प्रमाणित करने के लिए सत्ता सम्बन्धी प्रमाण का प्रयोग किया गया है। लाइबनित्स पहले पूर्णता की परिभाषा देता है। प्रत्येक गुण यदि वह सरल है, निरपेक्ष (absolute) है, स्पष्ट है, अपरिभाषित है तथा अपने विषय को बिना किसी सीमा के अभिव्यक्त करता है तो वह पूर्ण है। ऐसे सभी गुण एक ही विषयी के विश्लेषण हो सकते हैं। इसके लिए लाइबनित्स का कहना है कि इनकी असंगतता को प्रमाणित नहीं किया जा सकता क्योंकि इनकी असंगतता प्रमाणित करने के लिए एक को दूसरे से सम्बन्धित करना होगा और यह उनके विश्लेषण के द्वारा ही सम्भव है। और क्योंकि सरल पूर्ण प्रत्ययों की कोई सीमा नहीं है, वे एक दूसरे को सीमित भी नहीं कर सकते। अतः दोनों ही एक दूसरे से असंगत सिद्ध नहीं किये जा सकते। अतः क तथा ख संगत हैं तथा इस प्रकार का विषयी सम्भव है जिसमें सब प्रकार की पूर्णतायें हों। अब क्योंकि अस्तित्व स्वयं में एक पूर्णता है अतः ऐसे विषयी का अस्तित्व है जिसमें अन्य पूर्णताओं के अलावा अस्तित्व रूपी पूर्णता भी है। अतः ईश्वर का अस्तित्व है। लाइबनित्स अस्तित्व को एक विशेषण मानता है किन्तु अन्य विशेषणों से यह भिन्न विशेषण है।

---

* Russell, Bertrand, A Critical Exposition of the Philosophy of Leibnitz, George Allen and Unwin Ltd. Second Edit 1951.

सत्ता सम्बन्धी प्रमाण का कांट ने बहुत विरोध किया है। कांट के वाद-विवाद को हम दो रूप में समझ सकते हैं। पहले रूप में पूर्णता के परिमाण (Quantity) का विचार (कुछ पूर्ण, अधिक पूर्ण, सबसे अधिक पूर्ण) अपने आप में अस्तित्व का विचार समाहित करता है, इसे कांट नहीं मानता। उसका कहना है कि पूर्णता के परिमाण के विचार से किसी भी हालत में यह निगमित नहीं होता कि ऐसी सम्पूर्ण पूर्णता युक्त (कोई सत्ता है और फिर सम्पूर्ण पूर्णता युक्त) सत्ता का प्रत्यय हो, तो भी यह प्रश्न पूर्णतः खुला रहता है कि क्या यह प्रत्यय वास्तविक जगत की व्याख्या करता है। अपने वाद-विवाद के दूसरे रूप में कांट सत्ता सम्बन्धी प्रमाण के इस प्रच्छन्न आधार वाक्य का निषेध करता है कि 'अस्तित्व एक विशेषण है' जो कि अन्य विशेषणों के समान है तथा 'अस्तित्व' को किसी प्रकार की इकाई की परिभाषा में सम्मिलित किया जा सकता है।

कांट का कहना है कि सत्तायुक्त होना एक वास्तविक विशेषण नहीं है तथा समस्त सत्तावान् वाक्य संश्लेषणात्मक है अतः 'ईश्वर सर्व शक्तिमान है' वाक्य में दो प्रत्यय हैं जिनके अलग-अलग विषय हैं—1. ईश्वर, 2. सर्वशक्तिवान्। संक्षिप्त शब्द 'है' कोई नया विशेषण नहीं जोड़ता बल्कि मात्र विशेषण का विशेष्य से सम्बन्ध बतलाता है। और इस रूप में सम्पूर्ण वाक्य 'ईश्वर का अस्तित्व है' में क्योंकि 'अस्तित्व' वास्तविक विशेषण नहीं है अतः यह वाक्य संश्लेषणात्मक नहीं हो सकता। यहां पर जेरोन शफर* (Jerone Shaffer) का आक्षेप है कि एक ओर तो कांट मानता है कि 'अस्तित्व' एक विशेषण नहीं है और दूसरी ओर वह स्वयं कहता है कि अस्तित्ववाची वाक्य साधारणतः संश्लेषणात्मक होते हैं, ये दोनों मत संगत नहीं हैं।

कांट के अनुसार पूर्ण के प्रत्यय को मानना तथा उसके अस्तित्व को न मानने में व्याघात है किन्तु यदि पूर्ण को ही न मानें तो उसमें कोई व्याघात नहीं होगा। जैसे किसी त्रिकोण को मानें तथा उसकी तीन भुजाओं को न मानें तो उसमें व्याघात होगा किन्तु यदि त्रिकोण अथवा दोनों को ही न मानें तो उसमें कोई व्याघात नहीं होगा। प्लेन्टिगा** के अनुसार यह कहना मात्र यह मानना है कि कोई भी अस्तित्व-वाची वाक्य अनिवार्य नहीं है। प्लेन्टिगा के इस मत से पिनकरटन*** (Pinkerton) सहमत नहीं हैं। उनका कहना है कि कांट वस्तुतः यह कहता है कि अभी तक जो कुछ भी बताया गया है वह पूर्ण अनिवार्य निर्णयों के संदर्भ में है न कि पूर्ण अनिवार्य सत्ता के सम्बन्ध में। निर्णयों की अनिवार्यता तथा वस्तुओं की पूर्ण अनिवार्यता में भेद है।

---

* Shaffer, J. 'Existence, Predication and Ontological Argument, Mind 1962.

** Plantiga, Alvin. God and other minds, Cornell U.P. 1967

*** Pinkerton, R.J. Kant's Refutation of Ontological Argument, Indian Philosophical Quarterly, V, Oct. 1977.

एक निर्णय का विशेषण यदि विषय के साथ ही अस्वीकृत कर दिया जाता है तो उससे कोई आंतरिक व्याघात नहीं होता। साथ ही कांट का कहना है कि यदि ईश्वर के अस्तित्व को नकारना आत्मव्याघाती है तो यह वाक्य विश्लेषणात्मक होना चाहिये कि 'ईश्वर का अस्तित्व है'। और यदि यह विश्लेषणात्मक है तो यह उस सत्ता के विचार में कुछ भी नया नहीं जोड़ता और फिर उस स्थिति में जो विचार हम में है वह, वह विचार मात्र ही रह जाता है।

सत्ता सम्बन्धी प्रमाण अपने दूसरे रूप में :

आधुनिक दार्शनिकों ने अन्सेलम के प्रमाण को दो भागों में बांटा है, पहला भाग वह जिसमें अन्सेलम ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध करना चाहता है, ठीक उसी अर्थ में जिस अर्थ में अन्य वस्तुओं का अस्तित्व है। सामान्य जगत् की विभिन्न इकाइयों में से ईश्वर भी एक है जो कि पूर्ण रूप से कल्पित इकाई है। अन्सेलम प्रोसोलोगियम II (Prosologium II) में मात्र ईश्वर के अस्तित्व को ही सिद्ध नहीं करना चाहता था बल्कि एक ही प्रमाण द्वारा वह उसके स्वरूप की एकता भी सिद्ध करना चाहता था। दूसरे भाग में वह यह दिखाने का प्रयास करता है कि प्रमाण की तर्क प्रक्रिया, जो ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध करती है, को यदि ध्यान से देखा जाये तो वह उसके (ईश्वर के) स्वरूप की एकता के साथ-साथ ईश्वर के अनिवार्य अस्तित्व को भी सिद्ध करती है। ईश्वर का अपने आप में अस्तित्व है जो कि आकस्मिक नहीं है बल्कि अनिवार्य है।

मालकोम (Malcolm) का सत्ता सम्बन्धी प्रमाण में बहुत योगदान है यद्यपि मालकोम ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध करने में अन्सेलम तथा देकार्त से अधिक सफल नहीं हुआ। किन्तु फिर भी उसने कुछ नये तथा रुचिपूर्ण तथ्यों को सामने रखा। सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण बात जो उसके निबन्ध में मिलती है वह यह कि उसने अन्सेलम के प्रमाण में एक सत्ता सम्बन्धी प्रमाण के स्थान पर दो सत्ता सम्बन्धी प्रमाण दिखाये और उन दोनों प्रमाणों के बीच मित्रता स्थापित की, किन्तु अन्त में मालकोम को कांट का मत कि 'अस्तित्वता' एक विशेषण नहीं है, मानना पड़ा। दोनों प्रमाणों में जो भिन्नता है वह निम्न है :

"उसका प्रथम सत्ता सम्बन्धी प्रमाण जिस सिद्धान्त का प्रयोग करता है वह यह कि जिसका अस्तित्व नहीं है, उससे वह वस्तु अधिक उच्च है जिसका अस्तित्व है। उसका दूसरा प्रमाण दूसरे सिद्धान्त का प्रयोग करता है कि उस वस्तु से जिसका अनिवार्य अस्तित्व नहीं है वह वस्तु उच्च है जिसका अनिवार्य अस्तित्व है।...... किन्तु यदि किसी ने अन्सेलम का अनिवार्य अस्तित्व युक्त सत्ता जिससे उच्च विचारणीय नहीं, का विचार समझ लिया तो उसके अस्तित्व रखने अथवा न रखने का प्रश्न ही नहीं उठता; ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार यूकलिड (Euclid) के प्रमाणों

(demonstrations) में स्थित पूर्ण संख्या की अनन्तता के अस्तित्व के विषय में प्रश्न नहीं पूछा जा सकता ।"*

अन्सेलम के द्वितीय प्रमाण को निगमनात्मक रूप में निम्न प्रकार से रखा जा सकता है :**

(∃x)Px : ऐसी एक सत्ता है जो पूर्ण है या पूर्ण का अस्तित्व है ।

□ : यह अनिवार्य है कि (तार्किक सत्य)

∼ : यह सत्य नहीं है कि

V : या

□ P→q : P अनिवार्य रूप से आपादित करता है कि q या □ (P∼q)

उपरोक्त प्रतीकों का प्रयोग करके यह प्रमाणित कर सकते हैं कि पूर्ण का अस्तित्व है । 1. (∃x)Px→ □(∃x)Px

अन्सेलम का सिद्धान्त कि पूर्ण का अस्तित्व अनिवार्य है ।

2. □(∃x)PxV∼□(∃x) Px : सर्वत्र सत्य (PV∼P)

3. ∼□(∃x)Px→ □∼□(∃x)Px : (Becker's Postulate that modal status is always necessary)

4. □(∃x)PxV□∼□(∃x)Px : 2, 3 सर्वत्र सत्य वाक्य तर्क

5. □∼□ (∃x) Px→ □∼(∃x) Px : 1 शेषवत् तथा अनिवार्यता आगम न्याय (M. T. & necessity introduction)

'तो' भाग की अनिवार्यतः सत्यता 'यदि' भाग की अनिवार्यतः असत्यता को निगमित करती है ।

6. □(∃x) PxV□∼(∃x) Px : 4, 5 सर्वत्र सत्य वाक्य तर्क

7. ∼□∼(∃x) Px : (Intuitive Postulate) पूर्ण असम्भव नहीं हो सकता ।

8. □ (∃x) Px : 6, 7 विकल्प लोप अनुमान (Disjunction Elimination)

9. □ (∃x) Px→(∃x) Px : आधारभूत सिद्धान्त प्रकारता तर्क

10. (∃x) Px : 8, 9, पूर्ववत् अनुमान (M.P.)

अब जो व्यक्ति इस तर्क को गलत बताना चाहता है उसे बताना होगा कि इन दस चरणों में से कौन सा गलत है । यहां जिन चरणों पर विवाद हो सकता है,

---

* Abelson, Rezial, Not Necessarily, Philosophical Review, 69, 1960.

** Hartshorne, Charles, The Logic of the Ontological Argument from Logic of Perfection, The Open Court Publishing Co. La Salle, Illinois, 1962.

वे हैं, (1), (3), (7), किन्तु इन्हें स्वीकार न करना एक बात है तथा इन्हें गलत सिद्ध करना दूसरी बात। अतः यदि इनमें से कोई गलत है, तो प्रमाणित करना होगा किस प्रकार गलत है। पहले चरण को यदि गलत मानते हैं तो मानना होगा कि एक पूर्ण का प्रत्यय है जिसका अस्तित्व अनिवार्य नहीं है जो कि आत्मव्याघाती है क्योंकि यह 'पूर्णता' के प्रत्यय में ही निहित है कि उसका अस्तित्व है तथा अनिवार्यतः है।

$$[(\exists x)\ Px\ \&\sim\square(\exists x)\ Px]\rightarrow\ \sim Px$$

अर्थात् पूर्ण को मानना तथा उसके अनिवार्य को न मानना वस्तुतः उसकी पूर्णता का निषेध करना है। अन्सेलम का यह कहना नहीं है कि प्रदर्शित न होने पर वह पूर्ण नहीं रह जायेगा, बल्कि यह है कि कोई भी सत्ता जो अनिवार्य रूप से प्रदर्शित नहीं होती है वह पूर्ण नहीं है। यहां पर जब हम 'अनिवार्यता' सम्प्रत्यय का प्रयोग करते हैं तो उसका अर्थ विभिन्न स्थितियों में अनिवार्य होने से है।

मालकोम ने अपने प्रमाण को इस रूप में रखा—"एक नित्य सत्ता या तो अनिवार्यतः अस्तित्व रखती है अथवा अनिवार्यतः अस्तित्व नहीं रखती। दूसरे शब्दों में, ईश्वर का अस्तित्व या तो अनिवार्य है अथवा असम्भव है। असम्भव नहीं हो सकता क्योंकि यदि इसे मानें तो इस प्रकार की सत्ता का प्रत्यय स्वयं आत्मव्याघाती होगा या किसी न किसी प्रकार तार्किक रूप से असंगत होगा। अब जब यह मान लिया जाये कि उसका अस्तित्व असम्भव नहीं है तो यह उसमें ही निहित है कि ईश्वर का अस्तित्व अनिवार्य है।"* मालकोम के अनुसार कांट, केटेरस तथा अनेक अन्य दार्शनिक गलती करते हैं जब वे मानते हैं कि 'ईश्वर की अनिवार्य सत्ता है' इसका अर्थ है कि 'यदि ईश्वर है तो उसका होना अनिवार्य है।' क्योंकि 'यदि ईश्वर का अस्तित्व है' का अर्थ है, सम्भव है कि उसका अस्तित्व न हो। अब यदि इस अर्थ को स्पष्ट करके पूर्ण वाक्य को रखा जाये तो कहना होगा कि 'यदि ईश्वर का अस्तित्व है (तथा यह सम्भव है कि उसका अस्तित्व न हो) तो उसका अस्तित्व अनिवार्य है।' यहां पर 'ईश्वर अनिवार्यतः है' तथा 'यह सम्भव है कि उसका अस्तित्व न हो' परस्पर व्याघाती हैं। संक्षेप में, मालकोम का कहना है कि सत्ता सम्बन्धी प्रमाण की यह पूर्व परिचित आलोचना जो कांट आदि द्वारा प्रस्तुत की गयी है, आत्मव्याघाती है क्योंकि यह दो परस्पर व्याघाती वाक्यों को स्वीकार करती है।

मालकोम का तर्क है कि पूर्ण सत्ता का अस्तित्व या अनस्तित्व आकस्मिक नहीं है; यदि ऐसा हो तो वह सत्ता मात्र अस्थायी होगी न कि शाश्वत् (eternal) तथा इन प्रश्नों का कोई अर्थ नहीं कि उस सत्ता का कब से अस्तित्व है ? क्या अगले

---

* Malcolm, N. Anselm's Ontological Arguments, The Philosophical Review, 69 Jan. 1960 pp. 41–78.

सप्ताह भी उसका अस्तित्व रहेगा ? कल उसका अस्तित्व था किन्तु आज उसका अस्तित्व है या नहीं, इत्यादि । मालकोम कहता है कि ईश्वर को इस प्रकार के प्रश्नों का विषय बनाना असंगत है । सत्ता सम्बन्धी प्रमाण को परम्परागत रूप से एक प्रागनुभविक प्रमाण माना गया है अर्थात् यह मात्र उन्हीं आधार वाक्यों पर निर्भर करता है जो कि प्रागनुभविक सत्य हैं तथा जो प्रागनुभविक सत्य हैं वे अनिवार्य भी हैं । यदि एक वैध प्रमाण के आधार वाक्य अनिवार्य हैं तो निष्कर्ष भी अनिवार्य होगा तथा यदि सत्ता सम्बन्धी प्रमाण प्रागनुभविक है तो इसका निष्कर्ष कि ईश्वर का अस्तित्व है, अनिवार्य है और एक प्रागनुभविक सत्य की अनिवार्यता साधारण तार्किक अनिवार्यता है न कि तथ्यात्मक अनिवार्यता । तर्कशास्त्री चाहे प्रकारता (Modal) तर्कशास्त्री हो या साधारण तर्कशास्त्री, अनिवार्यता के जाल से बचकर नहीं निकल सकता । देकार्त का प्रमाण स्पष्ट रूप से प्रागनुभविक है और जब कोई उसके प्रमाण की आलोचना करता है तो उसके उत्तर में वह ईश्वर के स्पष्ट तथा निश्चित प्रत्यय की चर्चा करता है ।

यदि यह अनिवार्य है कि ईश्वर है तो ईश्वर का अस्तित्व है, यह अनिवार्य सत्य है । 'अनिवार्य अस्तित्व' तथा 'अनिवार्य सत्य' में भेद है । इसी प्रकार 'आकस्मिक अस्तित्व' तथा 'आकस्मिक सत्य' में भेद है । 'ईश्वर अनिवार्यतः है' इसे जब सत्ता सम्बन्धी प्रमाण में आधारवाक्य के रूप में प्रयोग करते हैं तब प्रकारता पर बल देते हैं । यह वाक्य ईश्वर पर अनिवार्य अस्तित्व आरोपित करता है किन्तु इससे उसके अनिवार्य अस्तित्व को बताने वाले वाक्य की सत्यता स्थापित नहीं होती । मालकोम सत्ता सम्बन्धी प्रमाण की वैधता में विश्वास करता है किन्तु वह प्रकारता विशेषणों जैसे 'अनिवार्य अस्तित्व' के वास्तविक अर्थ को स्पष्ट नहीं करता । ईश्वर आकस्मिक रूप से है, यह तर्कगत कारणों से गलत है । किन्तु यह कहा जा सकता है कि यह स्पष्ट है कि 'ईश्वर आकस्मिक रूप से है' तथा 'यह आकस्मिक है कि ईश्वर है' ये दोनों समतुल्य हैं । ईश्वर में अस्तित्व रखने अथवा न रखने की शक्ति है यदि एवं केवल यदि 'ईश्वर है' यह सम्भाव्य रूप से सत्य या असत्य है । यदि यह सत्य है तो 'यह आकस्मिक है कि ईश्वर है' तार्किक रूप से गलत है । यदि ईश्वर है तो या तो अनिवार्य है या असम्भव किन्तु हम जानते हैं कि ईश्वर असम्भव नहीं है, अतः उसका अस्तित्व अनिवार्य ही होगा । परन्तु यह तर्क स्पष्टतया अवैध है क्योंकि यहां ईश्वर को पूर्वमान्य किया है । साथ ही यह भी दिखाने का प्रयास किया है कि ईश्वर का अनिवार्यतः अस्तित्व होना चाहिये 'से यह निगमित होता है कि 'ईश्वर का अस्तित्व है' जो कि ठीक नहीं ।

चार्ल्स हार्टशोर्न (Charles Hartshorne) लगभग पच्चीस वर्ष तक सत्ता सम्बन्धी प्रमाण के दूसरे रूप की वैधता स्थापित करने में लगे रहे । वह स्वयं कहते हैं कि उनके प्रमाण को केवल तार्किक अनिवार्यता के संदर्भ में समझा जा सकता

है ।* एक अनिवार्य सत्ता अंतिम रूप से सत्य है इसका आधुनिक दार्शनिक बहिष्कार करता है । अन्सेल्म का सिद्धान्त यह नहीं है कि 'ईश्वर का अस्तित्व है' क्योंकि यह विश्लेषणात्मक सत्य है बलिक यह है कि दैवी अस्तित्व अनादि तथा अनन्त है तथा उसका अस्तित्व स्वतत्र है । जॉन हिक (John Hick) का कहना है कि "मूल ग्रन्थ से यह स्पष्ट है कि आधुनिक तार्किक अनिवायता का प्रत्यय अन्सेलम के मस्तिष्क में नहीं था, अतः यह आश्चर्यजनक बात है कि हार्टशोर्न जैसा पंडित बिना अन्सेलम के विचारों को पढ़े तेजी से कीचड़ उछालता गया और उसके मुख्य सिद्धान्तों को छोड़ दिया ।"** मुख्य विचार जो हार्टशोर्न के प्रमाण में है वह यह है कि 'अनिवार्य अस्तित्व' आकस्मिकता का पूर्णतः विरोधी है । वह सत्ता जिसका आकस्मिक अस्तित्व है उसके बारे में हम कह सकते हैं कि तार्किक रूप से उसका अस्तित्व अनिवार्य नहीं । वह अनिवार्य सत्ता जिसका अनिवार्य अस्तित्व है उसके लिए तार्किक रूप से हम नहीं कह सकते कि "यदि उसका अस्तित्व नहीं होता," और यदि हम ऐसा कहते हैं तो यह व्याघाती होगा ।

आनुभविक सत्ता सम्बन्धी प्रमाण :

पाश्चात्य दर्शन में यह प्रमाण सिमोन वेल (Simone Well) ने दिया । उनके अनुसार मनुष्य की स्थिति में एक अनिवार्य विरोध बना रहता है; वह एक तरफ कुछ अनिवार्यताओं से बधा हुआ है तथा दूसरी ओर वह शुभ की आकांक्षा करता है । मनुष्य का अस्तित्व ही उसे शुभ की ओर आकर्षित करता है, यह आंतरिक रूप से सत्य है । अतः एक ऐसी सत्ता होनी चाहिये जिसमें शुभ तथा अनिवार्यता दोनों का सामंजस्य हो । प्रश्न उठता है कि ऐसी सत्ता का हमें ज्ञान कैसे होता है ? इसके विषय में सिमोन वैल का कहना है कि इसका ज्ञान हमें प्रेरणा (Aspiration) के द्वारा होता है । पूर्णता का प्रत्यय अथवा शुभ का प्रत्यय अनिवार्यतः मनुष्य में होता है । इस संसार, देश, काल एवं मनुष्य के मानसिक जगत् से परे एक सत् है तथा उस सत् तक जाने की प्रेरणा सदा मनुष्य में बनी रहती है जो कि अनिवार्य है । अथवा दूसरे शब्दों में कहें तो मुझसे बाहर एक शुभ है जो कि मुझसे अच्छा है तथा वह मुझे शुभ के लिए हमेशा प्रेरित करता है अथवा वह मुझे ऊपर उठाता है । साथ ही जो मुझे ऊपर उठाता है वह सत् होना चाहिये । कोई भी काल्पनिक पूर्णता मुझे ऊपर नहीं उठा सकती । यही बाहरी शुभ, जो असीम है, ईश्वर है । यहां पर विश्वास का प्रश्न नहीं, बल्कि निश्चयात्मकता है । शुभ के विचार में अनिवार्यतः ये

---

* Hartshorne, Charles, The Logic of Perfection and other essays in new classical metaphysics, La Salle, Illinios, 1962.

** Hick, John, Arguments for existence of God. Macmillan & Co. Ltd. London, 1970, p. 96.

सभी विचार निहित हैं तथा इस शुभ का विचार न करना असम्भव है। भारतीय दर्शन में कुछ-कुछ इसी प्रकार का प्रमाण श्री अरविन्द ने दिया है।

अस्तित्वता एक विशेषण :

मुख्य प्रश्न है कि सत्ता सम्बन्धी प्रमाण में 'अस्तित्व' एक विशेषण का कार्य करता है या नहीं ? व्याकरण की दृष्टि से स्पष्टतः यह विशेषण है तथा जिसका अस्तित्व है वह उससे उच्च है जिसका अस्तित्व नहीं है। दूसरे शब्दों में जिसमें यह विशेष नहीं है, उससे जिसमें यह विशेषण है, उच्च है। अतः एक विशेष्य अवश्य होना चाहिये जिसका यह विशेषण है और उसके अस्तित्व को प्रमाणित करना चाहिये। किन्तु 'अस्तित्व' इस अर्थ में विशेषण नहीं है कि 'क' का अस्तित्व है अथवा 'ख' का अस्तित्व है। यह वास्तविक व्यक्तिचर नहीं है बल्कि किसी ऐसी सत्ता को वाचित करता है जिसे हम जानते हैं और जो इस प्रकार की सत्ता को पूर्वमान्य करता है, अवश्य अवैध है। क्योंकि यह पूर्वमान्य है कि 'क' के स्थान पर 'ईश्वर' ही प्रस्थापित किया जा सकता है तभी यह वाक्य सत्य होगा अन्यथा नहीं। हम एक वाक्याकार को अस्तित्ववाची कहेंगे यदि एवं केवल यदि वह इनमें से किसी भी प्रकार में व्यक्त किया जा सके : एक वाक्य के द्वारा इस रूप में कि 'क' है। अथवा 2. 'क का अस्तित्व है।' यहां पर अस्तित्व द्विधार्थक शब्द है। इसका एक अर्थ गणितीय संदर्भ में है और उस अर्थ में अनिवार्य तथा अस्तित्ववाची वाक्य हैं तथा दूसरा अर्थ गणित के क्षेत्र से बाहर है, उस अर्थ में कोई अनिवार्य अस्तित्ववाची वाक्य नहीं हैं। फ्लू (Flew) के अनुसार कोई भी अ-गणितीय अस्तित्ववाची वाक्य अनिवार्य सत्य नहीं है। यह वाक्य कि 'ईश्वर का अस्तित्व है' अ-गणितिक है। बहुत से दार्शनिक जैसे एयर, ब्रॉड, प्लेन्टिगा आदि का मत है कि सत्ता सम्बन्धी प्रमाण की शक्ति का ह्रास इसीलिए हो जाता है क्योंकि 'अस्तित्व' विशेषण नहीं है। इस मत को सबसे अधिक पुष्ट करने का श्रेय कांट को है और इसके बीज डेकार्ट की गैसेन्डी द्वारा दी गयी आलोचना में पाये जा सकते हैं।

कांट स्पष्ट रूप से यह नहीं कहता कि 'अस्तित्व' विशेषण नहीं है बल्कि वह इसका निषेध करता है कि यह एक वास्तविक विशेषण है और वह वास्तविक शब्द की सांकेतिक परिभाषा देता है। उसके अनुसार केवल वे ही विशेषण वास्तविक हैं जो किन्हीं विशिष्ट वस्तुओं के विशेषण बन सकते हैं अथवा जो विषय के सम्बन्ध में कुछ नयी बात कहते हैं और इस अर्थ में 'अस्तित्व' विशेषण नहीं है क्योंकि इसे किसी विशिष्ट वस्तु का विशेषण मानना मात्र यह मानना होगा कि वस्तु, वस्तु है। अर्थात् यदि कहें कि 'ईश्वर का अस्तित्व है' तो अस्तित्व ईश्वर के बारे में कुछ भी नहीं बताता मात्र इसके कि 'इश्वर ईश्वर है'। यदि हम मान लें कि 'अस्तित्व' वास्तविक विशेषण है तो उसकी स्वीकृति (इस संदर्भ में) एक निरपेक्ष सत्य होगी (x is x only because of its qualities) तथा उनका निषेध आत्मव्याघाती होगा। दूसरे

शब्दों में यदि अस्तित्व एक वास्तविक विशेषण होता तो प्रत्येक स्वीकारात्मक अस्तित्ववाची वाक्य तार्किक रूप से सत्य होता तथा प्रत्येक निषेधात्मक अस्तित्व-वाची वाक्य निस्सन्देह व्याघाती होता। कांट का मानना है कि सत्ता सम्बन्धी प्रमाण अवैध है क्योंकि कोई भी अस्तित्ववाची वाक्य मात्र शब्दार्थ के रूप में सत्य नहीं है, कोई भी अस्तित्ववाची वाक्य विश्लेषणात्मक नहीं हो सकता, अतः अनिवार्य नहीं हो सकता क्योंकि मात्र विश्लेषणात्मक वाक्य ही अनिवार्य सत्य हैं।

मालकोम यह दावा करता है कि ऐसे कोई भी अस्तित्ववाची वाक्य नहीं हैं जो अनिवार्य हों। वह अपने मत को उदाहरण द्वारा पुष्ट करता है कि गणित के अस्तित्ववाची वाक्यों का क्षेत्र दूसरा है, यद्यपि अनिवार्य अस्तित्व का प्रयोग धार्मिक क्षेत्र में भी होता है, परन्तु वह पूर्णतः भिन्न है।

सत्ता सम्बन्धी प्रमाण के प्रति भाषायिक दृष्टिकोण भी अपनाया जा सकता है। नाम तब तक नाम नहीं है जब तक वह किसी को नामित न करे अथवा 'किसी का' नाम न हो। अतः एक नाम का प्रयोग करने का अर्थ है जिसका वह नाम है, वह विषय अस्तित्व रखता है। 'ईश्वर' एक व्यक्तिवाचक नाम है, अतः ईश्वर का अस्तित्व है। किंतु यह व्यर्थ है यदि 'अस्तित्व' प्रथम स्तर का विशेषण है (ईश्वर का दयावान् होना, सर्वशक्तिशाली होना, ईश्वर के अस्तित्व पर निर्भर करता है अतः दयावान् होना सर्वशक्तिशाली होना द्वितीय स्तर के विशेषण हैं तथा अस्तित्ववान् होना प्रथम स्तर का विशेषण है)। अधिकतर दार्शनिक यह मानते हैं कि 'ईश्वर का अस्तित्व है' यह पूर्ण अर्थ प्रदान करता है तथा 'ईश्वर अनिवार्यतः अस्तित्व रखता है' यह एक विश्लेषणात्मक वाक्य है, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार 'त्रिभुज की तीन रेखायें हैं' है और इसका विश्लेषण भी ठीक उसी प्रकार किया जा सकता है जिस प्रकार द्वितीय वाक्य का कि 'यदि ईश्वर का अस्तित्व है तो उसका अस्तित्व होना अनिवार्य है।' किन्तु इस संदर्भ में सत्ता सम्बन्धी प्रमाण का आधारवाक्य अनिवार्यतः विश्लेषणात्मक वाक्य नहीं है। यह विश्लेषणात्मक वाक्य तभी बन सकता है जब हम स्वीकार करें कि ईश्वर का अस्तित्व है। हम ईश्वर को व्यक्तिवाचक नाम से नामित तभी कर सकते हैं जबकि उसका अस्तित्व हो तथा विशेषण तभी लगा सकते हैं जब वह विषय के गुण, दोष को बतलाये।

मालकोम यह निगमित करने का प्रयास करता है कि ईश्वर के अर्थ से ही उसका अस्तित्व सिद्ध होता है अथवा दूसरे शब्दों में ईश्वर की अर्थवत्ता का निषेध नहीं किया जा सकता और यदि ऐसा किया जाये, अर्थात् 'ईश्वर' शब्द का प्रयोग करें तथा उसके निर्धारित अर्थ को स्वीकार न करें, तो भाषा की दृष्टि से द्विधार्थकता अथवा अस्पष्टता उत्पन्न हो जायेगी। इससे निष्कर्ष 'ईश्वर का अस्तित्व है' निकालने में एक खाई है। इस खाई को मात्र विश्वास के द्वारा भरा जा सकता है। परन्तु

जैसा कि ऐलन ने कहा है, "न तो धार्मिक भाषा का व्यापार (game) और न अन्य कोई व्यापार जो अस्तित्व वाची मान्यता पर आधारित है, अपनी वैधता पर निर्णय कर सकता है तथा सत्ता सम्बन्धी प्रमाण मात्र वयोवृद्ध दोष बनकर रह जाता है।"* विशेषण है। अन्सेल्म का प्रमाण यह स्वीकार करता है कि 'अस्तित्व' एक अस्तित्व एक विशेषण है। अस्तित्व विशेषण नहीं है, इस संदर्भ में मालकोम कहता है कि यद्यपि 'संदिग्ध अस्तित्व' विशेषण नहीं है किन्तु 'अनिवार्य अस्तित्व' विशेषण हो सकता है। 'समस्त अस्तित्ववाची वाक्य सदिग्ध है' के विरोध में मालकोम कहता है कि इस प्रकार का दावा मात्र सैद्धान्तिक है जो कि धार्मिक, भाषायिक खोज में प्रयुक्त शब्दों की सही उपयोगिता को अस्वीकार करता है। मालकोम यह स्वीकार करता है कि अस्तित्व विशेषण किसी भी अर्थ में नहीं है। यदि ईश्वर के अस्तित्व को मान लिया जाये तो इस प्रमाण द्वारा इस सिद्धान्त को कि "अस्तित्व' विशेषण है, आधार मिलता हैकिन्तु मूल प्रश्न ईश्वर के अस्तित्व का ही है।

फिन्डले (Findlay) तथा मालकोम दोनों ही ईश्वर की सर्वशक्तिवानता के प्रत्यय से तार्किक रूप से ईश्वर के अस्तित्व को निगमित करने की गल्ती करते हैं। ईश्वर के सर्वशक्तिशाली होने से यह भी निगमित नहीं होता कि ईश्वर का अस्तित्व या तो अनिवार्यतः होगा या वह अस्तित्ववान् हो ही नहीं सकता (He must exist or that he cannot)। कुछ भी हो, जो दार्शनिक कहते हैं कि 'ईश्वर का अस्तित्व अनिवार्यतः है' वे यह भी कह रहे हैं कि हो सकता है कि ईश्वर का अस्तित्व न हो तथा इससे यह स्पष्ट है कि हम ईश्वर के अस्तित्व की तार्किक अनिवार्यता का निषेध करना चाहते हैं।

गणित व धर्मशास्त्र में द्विधार्थकता :

गणितज्ञ तथा तर्कशास्त्री दोनों साधारणतः कांट के साथ सहमत हैं कि 'अस्तित्व' का प्रयोग साधारण भाषा में भिन्न प्रकार से किया जाता है। इसका प्रयोग अन्य विशेषणों से भिन्न है। परिमाणात्मक तर्कशास्त्र (Quantificational Logic) में 'अस्तित्व' एक ओप्रेटर (Operator) का कार्य करता है जो कि विशेषण नहीं है। तर्कशास्त्र में प्रतीक '(∃)' का प्रयोग वाक्यफलन (Sentential Function) के संदर्भ में किया जाता है। परिमाणात्मक तर्कशास्त्र में हम यह नहीं कहते कि किसी विशिष्ट इकाई की सत्ता है बल्कि यह कहते हैं कि एक अथवा अनेक ऐसी इकाइयां हैं जो किसी विशिष्ट, विशेषण अथवा विशेषणों से युक्त हैं। '∃' को विशेषण के रूप में प्रयोग नहीं किया जाता। '∃x' का भी कोई अर्थ नहीं। '(∃x)Fx का अर्थ है जहां पर 'F' एक विशेषण का कार्य कर रहा है। एक अस्तित्ववाचक

---

* Allen, R.E. The Onotogical Argument Philosophical Review, 1961.

(Existential) स्वीकृति एक सर्ववाची स्वीकृति के निषेध के समतुल्य है जिसमें किसी भी इकाई के अस्तित्व से सम्बन्ध नहीं है, अर्थात् '(∃x) Fx', '¬(x)¬Fx' के समतुल्य है। उदाहरणस्वरूप 'कुछ संख्या प्रागनुभविक है', 'ऐसा नही है कि कोई भी संख्या प्रागनुभविक नहीं है' के समतुल्य है।

वास्तव में मालकोम यह कहता है कि 'अस्तित्व' का विभिन्न संदर्भों में विभिन्न अर्थ होता है अर्थात् उसके अर्थ का पता लगाने के लिए उसके संदर्भ को देखना होगा। यदि कोई व्यक्ति ईश्वर को इस रूप में परिभाषित करता है कि 'ईश्वर वह है जिसका अस्तित्व है' यहां 'अस्तित्व' का अर्थ वही नहीं है जो कि गणित में होता है। कांट द्वारा की गयी देकार्त की आलोचना में यह बात उसके ध्यान में थी और इसीलिये वे इस ओर ध्यान आकर्षित करते हैं कि गणितिक अनिवार्यता सान्दर्भिक अनिवार्यता है। जबकि ईश्वर के अस्तित्व की अनिवार्यता उसके पूर्ण होने की निर्दिष्टता है, अतः यदि हम मालकोम द्वारा उल्लिखित द्विधार्थकता को समझते हैं जो गणित व धर्मशास्त्र में है तो हमें यह कहना होगा कि ईश्वर का अस्तित्व अनिवार्य वहीं तक है जहां तक ईश्वर एक संरचित (Constructed) इकाई है और वह अपने अस्तित्व के लिए धर्मशास्त्रियों पर निर्भर करता है जो कि उसे प्रतिस्थापित करते हैं और फिर यह आवश्यक नहीं कि हम मानें कि अनिवार्य अस्तित्व ईश्वर का गुण है बल्कि केवल यही कि यह धर्मशास्त्र का गुण है।

आनुभविक गुणों की द्विधार्थकता :

मालकोम यह स्पष्ट करता है कि अनिवार्य सत्ता वही हो सकती है जो किसी पर भी आश्रित नहीं है अथवा आत्माश्रित है तथा जो असीमित है। इसे वह नष्ट न होने वाली प्लेटों तथा बिना इंधन के चलने वाले इंजन के उदाहरण से स्पष्ट करता है। उसके अनुसार जिस प्रकार नष्ट होने वाली प्लेटों से नष्ट न होने वाली प्लेटें पूर्ण हैं उसी प्रकार आश्रित सत्ता से आश्रित न रहने वाली सत्ता पूर्ण है। इसी प्रकार निरन्तर चलने वाले इंजन, ईंधन पर निर्भर करने वाले इंजनों से अधिक पूर्ण हैं। अतः एक असीमित सत्ता एक सीमित सत्ता से अधिक पूर्ण है। अब, यदि एक अनिवार्य सत्ता आत्माश्रित तथा असीमित सत्ता है तो अनिवार्य अस्तित्व वास्तव में एक पूर्णता है। इस विशेषण के विरोध में जो मुख्य तर्क दिया जा सकता है वह यह कि मालकोम ईश्वर की पूर्णता व असीमता (unlimitedness) के लिए 'नष्ट न होने वाली प्लेटों' तथा 'निरन्तर चलने वाले इंजन' का उदाहरण देता है जो कि ठीक नहीं क्योंकि 'नष्ट न होना' व 'निरन्तर चलते रहना' आनुभाविक गुण हैं जबकि ईश्वर के समस्त गुणों को अनिवार्य इसीलिए माना जाता है क्योंकि वे शाश्वत् (eternal) गुण हैं, किन्तु शाश्वत अथवा अनिवार्य गुणों से तुलना नहीं की जा सकती।

संदर्भ को ध्यान में न रखते हुए यदि पूछा जाये कि क्या ईश्वर का अस्तित्व है ? तो इसका कोई विशिष्ट तथा स्पष्ट अर्थ नहीं होगा। इस प्रश्न को अर्थपूर्ण बनाने के लिए सर्वप्रथम हमें अपने 'ईश्वरत्व' के विचार को बताना होगा और

फिर यह भी पूछा जा सकता है कि क्या किसी ऐसी सत्ता का अस्तित्व है जो कि इन सब विशेषताओं को धारण करती है ? इस स्तर पर प्रश्न 'क्या ईश्वर का अस्तित्व है ?' तात्विक दृष्टि से उचित है और इसका स्पष्ट उत्तर है 'नहीं' और यदि इसे अधिक चतुराई से रखा जाये तो होगा कि 'यह अनिवार्य नहीं ।'

प्रमाण की वैधता :

अनेक दार्शनिकों का मत है कि उपरोक्त प्रमाणों में से कोई भी प्रमाण वास्तव में अपना कार्य करने में सफल नहीं हुआ है । वे प्रमाण जो विचार की अनिवार्यता पर निर्भर हैं, सामान्य रूप से दोषयुक्त माने जाते हैं क्योंकि यह सम्भव नहीं कि एक मात्र-आदर्श तथा साकार-अस्तित्व के बीच की गहरी खाई को पाटा जा सके । कुछ आधुनिक दार्शनिकों के अनुसार तथ्यात्मक वाक्यों पर आधारित तर्क वैध होते हैं । वे न केवल यह प्रतिपादित करते हैं कि ईश्वर नहीं है बल्कि यह भी कहते हैं कि देवत्व का अस्तित्व या तो अर्थहीन है या असम्भव है । साथ ही वे इस सिद्धान्त की स्वतः सिद्धता केवल को नहीं मानते क्योंकि यह सम्भाव्य सत्ताओं के अस्तित्व को अनिवार्य अस्तित्व की ओर अग्रसर करता है । वे दार्शनिक जो अनिवार्य सत्यों 'जैसे, 'ईश्वर का अस्तित्व है' में विश्वास करते हैं, सोचते हैं कि ऐसे सत्य, जैसे 'ईश्वर' विभिन्न विशेषताओं से युक्त सम्भाव्य सत्ता नहीं है । कुछ अन्य आधुनिक विचारकों के अनुसार वाक्यों की अनिवार्यता मात्र हमारे शब्दों के प्रयोगों को प्रतिबिम्बित करती है जो हम अपनी भाषा में चुनते हैं । इस मत के अनुसार 'देवत्व' का अस्तित्व मात्र तभी अनिवार्य हो सकता है जब हम अपने मानस् को आस्तिक बना लें । विशेषताओं से युक्त किसी सता का जिसे हम ईश्वर कहते हैं, अस्तित्व है, इसे आधुनिक दार्शनिक स्वतः हास्यास्पद कहते हैं ।

निष्कर्ष :

'अस्तित्व' एक विशेषण नहीं हो सकता क्योंकि यदि इसे किसी का विशेषण मानें तो यह विशेषण उसके स्वरूप का एक अंग होगा जैसे कि यदि हम कहें कि 'क लाल है' तो यहां लाल विशेषण है जो कि 'क' नामक वस्तु की विशेषता को बतलाता है । लालपन 'क' का स्वरूप है अतः 'अस्तित्व' ईश्वर का विशेषण तभी हो सकता है जब ईश्वर नामक कोई इकाई (entity) है जिसका स्वरूप अस्तित्व है अर्थात् अस्तित्व उसके स्वरूप में ही निहित है । साथ ही यह पूर्वमान्य करना होगा कि ईश्वर है और उसका विशेषण अस्तित्व है अतः यहां पर चक्रक दोष होगा क्योंकि हम पहले से ही मान रहे हैं कि ईश्वर है और फिर उसी के अस्तित्व को प्रमाणित करना चाहते हैं ।

एक अन्य प्रश्न उठता है कि क्या ईश्वर तार्किक रूप से व्यक्तिवाचक नाम है ? इसके उत्तर में कहा जा सकता है कि 'हाँ' एक दृष्टि से यह व्यक्तिवाचक नाम

है और इस दृष्टिकोण के अनुसार हम कह सकते हैं कि मनुष्य बुद्धिशील प्राणी है, वह संसार में पूर्णता के विभिन्न स्तरों को देखकर तार्किक रूप से एक सत्ता का निर्माण करता है जो कि पूर्ण है जिसमें विभिन्न पूर्णतायें हैं और क्योंकि उन पूर्णताओं में अस्तित्व भी एक है इसलिए ईश्वर का अस्तित्व है। दूसरी दृष्टि से हम कह सकते हैं कि 'नहीं' यह व्यक्तिवाचक नाम नहीं हो सकता क्योंकि व्यक्तिवाचक 'नाम' तभी हो सकता है जब वह उस वस्तु को नामित करे जिसका मूर्त (concrete) अस्तित्व है और 'ईश्वर' शब्द ऐसे किसी भी विषय को वाचित नहीं करता जिसका कि मूर्त अस्तित्व है अतः यह व्यक्तिवाचक नाम नहीं हो सकता।

अन्सेल्म 'अधिक पूर्ण' की बात करता है और इसी को लेकर गौनिलो भी अधिक पूर्ण को ईश्वर के संदर्भ में न लेकर द्वीप के संदर्भ में लेता है किन्तु प्रश्न उठता है कि 'पूर्ण' होने का क्या अर्थ है? अथवा जब हम पूर्ण कहते हैं तक हम किस मापदण्ड के आधार पर कहते हैं कि यह पूर्ण है? उत्तर दिया जा सकता है कि 'पूर्ण' का अर्थ संदर्भ पर निर्भर करता है। जैसे जब हम कहते हैं कि 'पूर्ण पहाड़' तो यहां पर एक अर्थ यह होगा कि वह पहाड़ जो सबसे ऊँचा है अथवा जब हम कहते हैं कि 'पूर्ण चाकू' तो यहां पर उसके धर्म पर संकेत है कि वह इच्छा काटता है। इस प्रकार पूर्ण का अर्थ संदर्भ से अलग कोई नहीं है। जब भी हम 'पूर्ण' शब्द का प्रयोग करते हैं तब हमें देखना होगा कि उसका संदर्भ क्या है अथवा किन परिस्थितियों में उसका प्रयोग किया गया है और उस संदर्भ में ही 'पूर्ण' शब्द का अर्थ निहित होगा।

ईश्वर के संदर्भ में एक अन्य दृष्टिकोण भी अपनाया जा सकता है जैसा कि लॉक ने कहा भी था कि हम मात्र गुणों को ही जानते हैं—प्राथमिक अथवा द्वैतिक गुणों को; प्राथमिक गुण वस्तुनिष्ठ होते हैं तथा द्वैतिक गुण आत्मगत होते हैं। गुणों के ज्ञान के आधार पर ही हम वस्तु के अस्तित्व का निर्धारण करते हैं। अब यदि इस दृष्टिकोण को ईश्वर पर लागू करें तो हमें गुणों का ज्ञान तो होता है कि सर्वशक्तिवान्, सब पर दया करने वाली, सबसे पूर्ण आदि गुण हैं अतः इन गुणों को धारण करने वाला अवश्य कोई होना चाहिये और वह ईश्वर है। अब प्रश्न उठता है कि क्या उसका अस्तित्व है? इसके उत्तर में यदि लॉक का दृष्टिकोण ही अपनाया जाये तो यह होगा कि हम मात्र गुणों को ही जानते हैं, गुणों के धारक या आधार को कभी भी नहीं जानते, अतः ईश्वर का अस्तित्व है अथवा नहीं इसे हम कभी भी नहीं जान सकते। अर्थात् ईश्वर को हम अपरोक्ष रूप से कभी भी नहीं जानते बल्कि विचारों के माध्यम से परोक्ष रूप से जानते हैं अतः यह विचार सत्य है अथवा नहीं, यह हम पता नहीं लगा सकते क्योंकि यह विचार जिसे वाचित करता है, उसे हम कभी भी नहीं जान सकते।

ईश्वर का विचार तथा ईश्वर का अस्तित्व, दोनों भिन्न-भिन्न हैं। ईश्वर के विचारों को सिद्ध करना आसान है बजाय उसके स्वयं के अस्तित्व के। उसके स्वयं

के अस्तित्व को सिद्ध करना कठिन ही नहीं बल्कि असम्भव भी है क्योंकि जब हम ईश्वर के बारे में बात करते हैं तब हम मात्र काल्पनिक प्रत्यय की बात करते हैं जो कि हमारे मस्तिष्क की उपज मात्र है। इस कल्पना तथा अस्तित्व विशेष (concrete existence) में बहुत बड़ी खाई है जिसे भरना कठिन ही नहीं बल्कि असम्भव भी है। और फिर हम इस संदर्भ में अस्तित्व का एक तीसरा अर्थ भी ले रहे हैं जो मानसिक अस्तित्व तथा साकार अस्तित्व अथवा भौतिक अस्तित्व दोनों से भिन्न है। संसार में जिन वस्तुओं का अस्तित्व है वे भौतिक हैं, ईश्वर की सत्ता निश्चय ही भौतिक नहीं हो सकती, फिर हमें उसका ज्ञान किस प्रकार होता है ? और फिर यदि उसके ज्ञान को मान भी लिया जाये तो उसका अस्तित्व है यह मात्र उसके ज्ञान से निगमित नहीं होता। ईश्वर के ज्ञान तथा ईश्वर के अस्तित्व में मूलभूत भेद मानना ही पड़ेगा।

2
संयोगवाद या निमित्तवाद
(ऑकेजनैलिज्म)

समग्र मानवीय ज्ञान की पुनर्रचना एवं पुनर्स्थापना की महत्वाकांक्षा को लेकर देकार्त ने जिस महान यज्ञ का सूत्रपात किया वह दर्शन के इतिहास में वस्तुतः ही अरस्तू न केवल एक सफल चुनौती थी अपितु उसके स्थान पर अपनी सम्प्रत्ययात्मक योजना को स्थापित करने की अभीप्सा भी थी। आधुनिक दर्शन के जनक के रूप में उसने दर्शन के लिए जिस विधि का सूत्रपात किया, दर्शन में जिन प्रतिमानों को स्थापित किया और दर्शन की मूलभूत समस्याओं के रूप में दर्शन के जिस स्वरूप को उसने उजागर किया वही कालान्तर में भिन्न-भिन्न रूपों में हमारे सम्मुख विभिन्न दार्शनिकों द्वारा प्रस्तुत होता रहा। दर्शन के जिस भव्य प्रासाद की उसने अकेले रचना की, उसमें उसके अथक् प्रयास के बावजूद ऐसी कमियां रह गईं जिनको दूर करने का प्रयत्न उसके अनुयायियों ने किया। ईश्वर को निरपेक्ष और मनस् एवं भौतिक तत्त्व को सापेक्ष द्रव्य मानकर उसने विचार के इतिहास में जिस द्वैत को जन्म दिया उससे उसके दर्शन में विचारशील मनस् (रैसकोजिटैन्स : चिन्तनशील तत्त्व) और विस्तारयुक्त भौतिक द्रव्य (रैस एक्स-टैन्सा : प्रसारमय तत्त्व) के आपसा सम्बन्ध की एक ऐसी समस्या उत्पन्न हो गई जिसके समाधान के लिए एक ओर तो ग्यूलिन्क्स एवं मैलब्रांश ने अथक प्रयास किए और दूसरी ओर स्पिनोज़ा एवं लाइब्निज़ ने। देकार्त की महानता बहुत कुछ इस तथ्य में निहित थी कि उसने उन विरोधाभासों का समाधान करने के लिए भी उतने ही महान् प्रयास किए जिनका उसने उद्घाटन किया। तथापि दर्शन की शाश्वत समस्याओं की भांति वह समस्या आज भी उतनी ही जीवन्त है और मानवीय ज्ञान विज्ञान के भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में हुई अधुनातन उपलब्धियां उसके नये-नये आयामों को उद्घाटित कर रही हैं और इस समस्या के नये संभव समाधानों की ओर इंगित कर रही हैं।[1]

1. यहां मेरा आशय शरीर-क्रिया-विज्ञान (फ़िज़ियोलोजी), नैदानिक-मनोविज्ञान (क्लिनिकल साइकॉलोजी), भाषा-विज्ञान (लिन्ग्-ग्विस्-टिक्स), जीवों एवं यन्त्रों के संप्रेषण एव नियन्त्रण से सम्बन्धित विज्ञान (साइबरनैटिक्स), आदि के क्षेत्रों में हो रहे नूतन शोध कार्य से है।

विचार के इतिहास में द्वैतवाद की जहां कहीं भी पुनरावृत्ति हुई है वहाँ यह मनस् के किसी विलक्षण गुण की नई सूझ के कारण हुई है। इस प्रकार देकार्त को यह आवश्यक लगा कि उसे अपने इस 'आत्म' को अथवा 'अहम् चिन्तयामि' को, जिसके विषय में उसे अटल निश्चय था, भौतिक जगत् से अलग करना चाहिए। मानसिक द्रव्य वह है जो सोचता है, भौतिक द्रव्य वह है जो प्रसारमय है।

हॉकिंग लिखता है कि—"इस प्रकार इतिहास के महान् द्वैतवादी विचार-तन्त्रों ने विभिन्न स्थानों पर जगत् में द्वैत उपस्थित कर दिया है, परन्तु उन सभी ने किसी मानसिक अथवा आध्यात्मिक सत्ता की यथार्थता एवं स्वतन्त्रता पर बल दिया है। यदि महान् विचारकों का विचार के महान् आन्दोलनकारियों व विचार के महान् स्थापकों में वर्गीकरण करें, तो हम यह कह सकते हैं कि विचार के महान् आन्दोलनकारी बहुधा द्वैतवादी हुए हैं। प्लेटो, देकार्त और कान्ट विचार के महान् आन्दोलनकारी थे। उनकी महानता बहुत हद तक इस तथ्य में निहित थी कि उन्होंने उन विरोधाभासों का समाधान करने के लिए भी उतने ही महान् प्रयास किए जिनका उन्होंने उद्घाटन किया। बर्गसाँ को भी इन आन्दोलनकारियों में ही गिनना चाहिए। उसने पुनः यान्त्रिकता के विपरीत जीवन की विलक्षणता को गहन उत्साह के साथ ग्रहण किया था, उसके द्वैतवाद ने एक संतुष्ट विकासवादी प्रकृतिवाद के परितोषों को चुनौती दी थी।...."

"प्राचीन द्वैतवाद मुख्यतः विश्व की उस दरार से सम्बन्धित था, मनुष्य की दोहरी प्रकृति जिसकी एक प्रकार की प्रतिध्वनि है। आधुनिक द्वैतवाद मुख्यतः मनस् और शरीर की समस्या से सम्बन्धित है, और विश्व की व्याख्या इस आन्तरिक विभाजन के संदर्भ में देता है। हम पहले मनस् तथा शरीर के सम्बन्ध की परीक्षा करेंगे।"

"यदि हम यह मान लें कि हम यह जानते हैं कि मनस् तथा शरीर से हमारा क्या तात्पर्य है और अपने असभ्य पूर्वजों के साथ यदि यह मान लें कि इन शब्दों से भिन्न अर्थ निकलते हैं, जिससे हमारी कल्पना, मनस् अथवा आत्म को शरीर के अस्थायी अतिथि के रूप में ले सकें, तो यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि यह गहरी एकता कैसे संभव है? यह इतनी गहरी एकता है कि जब मैं कुछ करता हूँ—अर्थात् जब मैं घूमता हूँ, (तो) मेरे मन में यह कभी भी नहीं आता कि मैं बिना अपने शरीर के चला जाऊँ, कभी भी मुझे ऐसा नहीं लगता कि सम्पूर्ण 'व्यक्ति' मनस्-शरीर के सहयोग की अपेक्षा कोई अन्य आत्म है जो घूमने जाता है। यदि मनस् तथा शरीर दो भिन्न यथार्थ हैं, तो इस सहयोग के आधार पर हम किन सिद्धान्तों को प्राप्त कर सकते हैं?"

"दो ऐसे सिद्धान्त हैं जिन्हें परिभाषित रूप में समानान्तरवाद और क्रिया-प्रतिक्रियावाद (के सिद्धान्त) कहा गया है। ये दोनों हमें मनस् व शरीर को दो द्रव्य मानने की अपेक्षा दो प्रक्रियाओं के रूप में ग्रहण करने के लिए आमंत्रित करते

हैं; फलस्वरूप प्रश्न उठता है कि इन घटनाओं को जो हमारे मानसिक इतिहास की रचना करती हैं, अन्य उन घटनाओं के साथ क्या करना पड़ता है जो मस्तिष्क (ब्रेन) के इतिहास का निर्माण करती हैं ? समानान्तरवाद की मान्यता है कि (कतिपय) मस्तिष्क घटनाएं तथा मनस्-घटनाएं बिना किसी भी पक्ष के हस्तक्षेप के एक दूसरे के पूर्णतः अनुरूप चलती हैं । क्रिया-प्रतिक्रियावाद का विचार है कि मस्तिष्क घटनाएं मनस्-घटनाओं को प्रभावित करती हैं, तथा मनस् घटनाएं मस्तिष्क घटनाओं को प्रभावित करती हैं । क्योंकि ये दो शृंखलाएं या तो एक दूसरे को प्रभावित करती हैं या प्रभावित नहीं करती हैं। अतः द्वैतवाद के लिए कोई अन्य विकल्प नहीं है ।''[2]

उपर्युक्त उद्धरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि मनस्-देह के आपसी सम्बन्ध की समस्या का समाधान देकार्त ने क्रिया-प्रतिक्रिया[3] के रूप में और स्पिनोज़ा ने समानान्तरवाद के रूप में करने का प्रयास किया किन्तु देकार्त के अनुयायियों में जिन लोगों ने उसका अन्धानुकरण करने की अपेक्षा बुद्धि के नैसर्गिक प्रकाश (नैचुरल लाइट ऑव रीजन) का अनुसरण श्रेयस्कर समझा उन्हें इसके समाधान से सन्तोष प्राप्त नहीं हुआ और इन लोगों ने दर्शन के इतिहास में अपना विशिष्ट योगदान दिया । इस परम्परा में मैलब्रांश का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है । उसने इस समस्या के संयोगवादी समाधान को चरमोत्कर्ष पर पहुँचा दिया । ला फोर्ज (La Forge), गेरार्ड ड कौर्दिमोय (Gerard de Cordemoy, 1620–84), डिग्बी (Digby, 1603–65) एवं क्लाउबर्ग (Clauberg, 1622–65) द्वारा प्रस्तावित एवं अनुमोदित, सिल्विन रेगि (Sylvain Regis, 1632–77) द्वारा संवर्द्धित और ग्यूलिन्क्स (Geulincx, 1625–69) द्वारा सुव्यवस्थित रूप से प्रतिपादित और सुविकसित संयोगवादी सिद्धान्त मैलब्रांश (1646–1716) के चिन्तन द्वारा पूर्ण रूप से पुष्पित-पल्लवित हुआ । यह संयोगवादी कारणों का वह सिद्धान्त है जो मनस्-देह के सम्बन्ध की व्याख्या के लिए देकार्त द्वारा प्रतिपादित क्रिया-प्रतिक्रिया के सिद्धान्त की अनिवार्यता को आवश्यक मानता है । ईश्वर ही एकमात्र सच्चा कर्ता है, वास्तविक निमित्त कारण है और जगत् की प्रेरक-शक्ति एवं प्रभावोत्पादक शक्ति से सम्पन्न तत्त्व है। किन्हीं भी दो प्राकृतिक घटनाओं में कोई वास्तविक कार्य-कारण

---

2. हॉकिंग (मूल लेखक) रमेशचन्द्र (अनुवादक) : दर्शन के प्रकार, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर, 1974, पृ० 126–28.
3. किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि क्रिया-प्रतिक्रिया देकार्त का सहज अथवा मूल सिद्धान्त है। यह तो एक प्रकार का समझौता है जो उसे मनस् और देह के सम्बन्ध को समझाने के लिए करना पडता है। वस्तुतः तो वह उन्हें दो स्वतन्त्र तत्त्वों के रूप में ही स्थापित करना चाहता है फिर चाहे वे निरपेक्ष द्रव्य ईश्वर के संदर्भ में सापेक्ष ही क्यों न हों ।

सम्बन्ध नहीं है और न ही होने की सम्भावना है। ईश्वर ही वह मध्यस्थ द्रव्य है जो दोनों में सम्बन्ध स्थापित करता है। उदाहरण के लिए जब मैं अपने हाथ को हिलाना चाहता हूँ किंवा संकल्प करता हूँ तो यह ईश्वर के लिए एक अवसर मात्र है कि वह हमारे हाथ को हिला देता है, और ठीक इसी तरह जब कोई वस्तु मेरे दृष्टिपथ में होती है तो यह भी ईश्वर के लिए मात्र एक अवसर होता है जिस पर वह उस वस्तु का प्रतिबिम्ब मेरे मनस् में उत्पन्न कर देता है और इस तरह मैं उस वस्तु को देख लेता हूं। अनुभव में आने वाली सभी नियमिततायें भी उसी के विधान के फलस्वरूप होती हैं।

मनस् और देह के सम्बन्ध की समस्या के इस समाधान को संयोगवाद (ऑकेज़नलिज्म) की संज्ञा दी गई है। यद्यपि विशेष रूप से मनुष्य के संदर्भ में यह समस्या मनस् (माइन्ड) और देह (बॉडी) के आपसी सम्बन्ध को लेकर ही उत्थापित हुई थी किन्तु सामान्य रूप में इसे कार्य-कारण-सम्बन्ध के मूलस्वरूप की समस्या के रूप में ही लिया जाना चाहिए। ईश्वर की अपेक्षा से तो, जो कि निरपेक्ष द्रव्य है, दोनों द्रव्य यथा मनस् एवं देह—सापेक्ष हैं, किन्तु वे एक दूसरे से पूर्णतः भिन्न और यहां तक कि विरुद्ध धर्मा भी हैं।[4] जहां मनस् एक अविभाज्य इकाई है वहीं भूत द्रव्य द्रव्य का छोटे से छोटा घटक भी सैद्धान्तिक रूप से विभाज्य है। चिन्तन और विस्तार दो ऐसे विरोधी धर्म हैं जिनमें कार्य-कारण-सम्बन्ध की स्थापना असंभव प्रतीत होती है। किन्तु मनुष्य के नित्य प्रति के जीवन में तो हम दोनों में हर क्षण सम्बन्ध घटित होता हुआ देखते हैं। फिर इस सम्बन्ध की व्याख्या कैसे की जाय? तथ्यों को हम केवल इसलिए नहीं नकार सकते कि वे हमारे प्रागानुभविक पूर्वस्थापित सिद्धान्त से मेल नहीं खाते। यदि भौतिक वस्तुएं निरन्तर अपने अस्तित्व का हमको परिचय देती रहती हैं और साथ ही यदि हमारे संकल्प या इच्छा से देह में एवं बाह्य जगत् में परिवर्तन होते रहते हैं तो इस बात को कैसे मान लिया जाये कि दोनों द्रव्यों में कोई सम्बन्ध नहीं हो सकता—कि एक का दूसरे पर और दूसरे का प्रथम पर कोई प्रभाव नहीं होता? देकार्त के दर्शन के मूल अभ्युपगमों के अनुसार तो दोनों में सम्बन्ध होना नहीं चाहिए, हो नहीं सकता, किन्तु वास्तव में हमें दोनों में सम्बन्ध दिखाई देता है।[5]

---

4. द्रष्टव्य : देकार्त—छठा मेडीटेशन, डी. पी. डब्ल्यू., पृ. 248–65.
5. मई, 1643 में कुमारी एलिजाबेथ को लिखे अपने पत्रों में देकार्त ने तीन मूल अवधारणाओं का जिक्र किया है, जिनमें प्रथम मनस् की अवधारणा, द्वितीय देह की अवधारणा और तृतीय दोनों के संयोग की अवधारणा, है। संयोग को मूल अवधारणा मानकर वह इसे तर्क से परे स्थापित कर देता है। डी. पी. डब्ल्यू., पृ. 270–77,280 मुख्य रूप से पृ. 274–75 न्यू स्टडीज़, पृ. 256–58, 309–10.

अतः यही दर्शन की समस्या बन जाती है जिसके समाधान के लिए ग्यूलिक्स व मैलब्रांश, संयोगवाद की स्थापना करते हैं। किन्तु इसके पूर्व कि हम संयोगवादी समाधान की चर्चा करें, हमारे लिए यह अधिक उपयुक्त होगा कि हम स्पष्ट रूप से यह जान लें कि देकार्त का कार्य-कारण सम्बन्ध (काजैलिटि) के विषय में क्या मत है।

कार्य-कारण के सम्बन्ध में देकार्त परम्परावादी ही था। उसकी यह स्पष्ट मान्यता थी कि कार्य में ऐसा कुछ भी नहीं हो सकता जो कारण में पहले से ही विद्यमान न हो।[6] इसी बात को यदि गणितीय भाषा में कहें तो यह एक प्रकार का निगमन ही है, अर्थात् जो कुछ पहले से ही विद्यमान है, कार्य उसी का प्रकटीकरण है।[7] इस रूप में कार्य पूरी तरह से कारण पर निर्भर होता है और उसका स्वरूप उसी से निर्धारित होता है, वह उसका आधार (ग्राउन्ड) होता है किन्तु समय के संदर्भ में पूर्ववर्ती होना अनिवार्य नहीं है।[8] अब यदि देकार्त कार्य-कारण में अनुवर्त्ती-

---

6. तृतीय मेडीटेशन, डी. पी. डब्ल्यू., पृ. 213–31, प्रिन्सिपल्ज, i/49.
7. देकार्त के मत में यह निहित है, परन्तु स्पष्ट रूप से इस प्रकार स्पिनोज़ा ने ही इस सम्बन्ध को वास्तव में इसी रूप में समझा था। उसने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक की रचना भी इसी ज्यामितीय विधि के आधार पर की है। यह कारण के प्रत्यय की बुद्धिवादी व्याख्या है। यदि कान्ट की भाषा में कहें तो हमें कहना होगा कि कारणता का सम्बन्ध विश्लेषणात्मक (एनेलिटिक) है। किन्तु उक्त मत के ठीक विपरीत मान्यता ह्यूम की है। उन्होंने कारणता की अवधारणा को संश्लेषणात्मक माना है। उसके अनुसार कार्य अभिव्यक्त होने से पूर्व कारण में पूरी तरह से विद्यमान नहीं रहता। कार्य कारण से मात्र निगमन नहीं है अपितु उसमें एक नूतन अभिव्यक्ति है जो कारण में नहीं है।
8. न्यू स्टडीज़, पृ० 61 पा. टि. 2, 120–21, 206 ff। इसका अर्थ है कि देकार्त कार्य-कारण में तार्किक सम्बन्ध मानता है, कालिक नहीं। कारण का स्वरूप उसी समय अभिव्यक्त होता है जब वह कार्य को उत्पन्न करता है। (द्रष्टव्य एच. आर. ii, पृ. 14, 110। कार्य-कारण संबंधी देकार्त की यह व्याख्या नारमैन कैम्प स्मिथ की है किन्तु ऐसा मान लेने पर वह मत स्पिनोज़ा से मिलता-जुलता हो जाता है। इस सम्बन्ध को देकार्त ने अपरिहार्य एवं आवश्यक माना किन्तु आगे चलकर हम देखते हैं कि ह्यूम ने इसे प्रत्ययों के साहचर्य तक ही सीमित कर दिया। उसके अनुसार अग्नि एवं ताप में कोई अविनाभाव अनिवार्य सम्बन्ध नहीं है अपितु हमारे अनुभव में उनके साथ-साथ देखे जाने के कारण एक साहचर्य का भाव उत्पन्न हो जाता है। इसमें कालिक पूर्ववर्ती-अनुवर्ती का भाव अवश्य है जो कि देकार्त के लिए आवश्यक नहीं है।

पूर्ववर्त्ती का सम्बन्ध नहीं मानता और साथ ही यदि वह यह मानता है कि सभी परिवर्तन (कार्य-कारण के रूप में) तात्कालिक होते हैं तो उसे काल के विषय में एक ऐसे सिद्धान्त को मानना होगा जिसमें काल का प्रत्येक खण्ड एक दूसरे से पूर्णतः भिन्न और निरवधिक होगा और तब उसे हठात् भौतिक घटनाओं की व्याख्या के लिए सयोगवादी विचारधारा का सहारा लेना होगा।[9] कार्य-कारण का सम्बन्ध देकार्त के लिए स्वयंसिद्ध स्वतः प्रमाणित मूलभूत सिद्धान्त है क्योंकि इसका कोई अपवाद नहीं है। ऐसी किसी वस्तु अथवा प्रत्यय अथवा अवधारणा का अस्तित्व नहीं है और न ही उनकी कल्पना की जा सकती है जिनके विषय में यह न पूछा जा सके कि इनके अस्तित्व का क्या कारण है, क्योंकि यह प्रश्न स्वयं ईश्वर के विषय में भी पूछा जा सकता है।[10] ईश्वर को स्वयं अपना कारण माना जाता है क्योंकि उससे अधिक सत् अन्य किसी में विद्यमान नहीं है जो उसका कारण हो सके। इस मत का आरनॉल्ड आदि ने पुरजोर खण्डन किया किन्तु देकार्त ने उसे करारा उत्तर भी दिया।[11]

अब यदि देकार्त के उक्त वर्णित कार्य-कारण सिद्धान्त के संदर्भ में उसके मानसिक एवं भौतिक द्रव्यों के क्रिया-प्रतिक्रियावाद को परखा जाय तो हम कह सकते हैं कि मानसिक घटनायें और भौतिक घटनायें एक दूसरी से इतनी भिन्न हैं कि उनमें कभी भी कार्य-कारण सम्बन्ध नहीं हो सकता। जबकि मूल रूप से वे एक दूसरे के विपरीत हैं तो वे कैसे एक दूसरे को उत्पन्न कर सकती हैं। क्योंकि जैसा पीछे कहा गया है, कार्य कारण में अभिव्यक्त होने से पूर्व भी अनभिव्यक्त रूप में विद्यमान रहता है, कार्य कारण से निगमित किया जा सकता है। किन्तु यहां न तो मानसिक द्रव्य अथवा घटनाएँ भौतिक द्रव्य अथवा घटनाओं में पहले से ही अथवा कभी भी रह सकती हैं और न ही इसके विपरीत की सभावना हो सकती है। देकार्त के मूल अभ्युपगमों के निहितार्थ से जब ऐसे निष्कर्ष निकाले गए तो देकार्त ने मनस्-देह-सम्बन्ध को भी ऐसी मूल अवधारणा मान लिया जो तर्क से परे हैं, जो सहज रूप से असंदिग्ध एवं स्पष्ट रूप में हमें प्राप्त हैं। यहां न तो कोरी समझ (अन्डर-स्टैन्डिग) से और न ही कल्पनायुक्त विवेक (समझ) से काम चलता है, यहां संवेदन को ही पर्याप्त मान लिया गया।[12] इस सम्बन्ध के ज्ञान के लिए न तो तत्त्वमीमांसीय अनुचिन्तन अपेक्षित है और न ही किसी विशेष प्रकार की कल्पना की आवश्यकता है। इसके विषय में तो साधारण जीवन के क्रिया-कलापों के माध्यम से अच्छी तरह

9. न्यू स्टडीज़, पृ० 111, पा. टि. 1.
10. आपत्तियों का उत्तर, द्वितीय, डी. पी. डब्ल्यू.
11. द्रष्टव्य आपत्तियों का उत्तर, द्वितीय एवं चतुर्थ, डी. पी. डब्ल्यू.।
12. ऊपर पा. टि. 4।

से जाना जा सकता है। अतः संयोगवादी समाधान की चर्चा के पूर्व देकार्त के द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त पर हम थोड़े विस्तार से दृष्टि डाल लें तो उसके खण्डन अथवा उसके विकल्प के रूप में जो सिद्धान्त हमारे सम्मुख प्रस्तुत होंगे उन्हें हम अधिक अच्छी तरह से समझ सकेंगे।

मानवीय संदर्भ में देकार्त ने ऐन्द्रिय प्रत्यक्ष (सैन्स-परसैप्शन) एवं सूक्ष्म भावनाओं का विस्तृत एवं गहन अध्ययन किया और इससे वह इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि मनुष्य में मानसिक और भौतिक तत्त्व ऐसे एकाकार हो गए हैं कि एक के क्षेत्र में घटित घटनाएँ दूसरे में घटनाओं को उत्पन्न करती हैं और इसी तरह द्वितीय में घटित घटनाएँ प्रथम में घटनाक्रम को जन्म दे सकती हैं। ऐसे विचार और भावनाएँ नित्यप्रति के जीवन में उपलब्ध होते हैं जिनके फलस्वरूप हमारा हृदय धड़कने लगता है अथवा शरीर कांपने लगता है अथवा हमें प्राण बचाने के लिए भागना पड़ता है। इसी प्रकार, शारीरिक परिवर्तन (यथा मेरे पैर को मस्तिष्क से जोड़ने वाले स्नायु में परिवर्तन) होने पर मेरा मनस् पीड़ा का, दबाव का अनुभव करता है। मनस् और देह में यह लेन-देन न केवल ऐन्द्रिय-प्रत्यक्ष में अपितु भावों के क्षेत्र में भी अनिवार्य रूप से होता है। भावनाओं का कारण केवल मनस् में ही नहीं खोजा जाना चाहिए अपितु उनके उद्गम का कारण यकृत, प्लीहा, हृदय एवं शरीर के अन्य भागों में भी होता है और इसी तरह मनोभावों की वजह से शारीरिक परिवर्तन भी होते हैं (जैसे हृदय की गति का तेज हो जाना, चेहरे का लाल हो जाना, नाड़ी की गति बढ़ जाना, आदि) जो काम, क्रोध, लोभ, मोह, आशा-निराशा, हर्ष-विषाद, राग-ईर्ष्यादि की अभिव्यक्ति के बाह्य चिह्न हो सकते हैं। निराशा, जो कि मेरी निजी (मानसिक) भावना है, अपनी अभिव्यक्ति मेरे चेहरे के पीलेपन, अनमनेपन; आदि द्वारा कर देती है जो अन्य व्यक्तियों के द्वारा पहचान ली जाती है। यहां देकार्त भविष्य में शरीर-क्रिया-विज्ञान से संबंधित मनोविज्ञान की आधारशिला रखता प्रतीक होता है। यद्यपि, जैसाकि हम पीछे भी भलीभांति देख चुके हैं, देकार्त की पूर्वमान्यताओं के आधार पर तो यह सम्बन्ध हो नहीं सकता, होना नहीं चाहिए किन्तु सिद्धान्त एक ओर हैं और तथ्य दूसरी ओर। देकार्त स्पष्ट तथ्यों को यों नकार भी नहीं सकता था। अन्ततः उसने पीनियल ग्रन्थि में मनस् देह के रहस्यमय सयोग को स्वीकार तो किया किन्तु यहां वह स्वयं अपनी सत्य की कसौटी को भूल गया। उसकी कसौटी के अनुसार हम उसे ही सत्य मान सकते हैं जिसकी सत्यता निश्चित, असंदिग्ध एवं स्पष्ट रूप से विदित हो जाए। इस बात का देकार्त के पास क्या प्रमाण है कि दोनों के मिलन का अधिकरण पीनियल ग्रन्थि है? विस्तारहीन मनस् का अधिकरण कोई भी विस्तारयुक्त इन्द्रिय कैसे हो सकती है? देह, जो बिना स्पर्श के कुछ नहीं कर सकती, (मनस्) को कैसे प्रभावित कर सकती है जिसे स्पर्श कर पाना असंभव है? इसी तरह मनस्, जो परिभाषया अभौतिक है, किस तरह भौतिक देह से सम्पर्क स्थापित

कर सकता है ? देकार्त की सम्प्रत्ययात्मक योजना में इनका कोई समाधान संभव नहीं है और इस तरह मनस् और देह के समझौते पर फिर से एक प्रश्न-चिह्न लग जाता है। अभी तक तो मनस्, अभौतिक होने के कारण पूर्ण रूप से स्वतन्त्र, एवं सहज था, गति के नियमों से अछूता, चिरन्तन सत्यों का द्रष्टा, सनातन मूल्यों का सर्जक एवं पोषक और शाश्वत सौन्दर्य का साक्षी।[13] किन्तु देह भौतिक होने के कारण यन्त्र की भांति गति के नियमों के द्वारा शासित थी और उसका क्रिया-कलाप पूरी तरह से निर्धारित था। इस तरह देकार्त ने तो पूरी तरह से दोनों को अलग करके भौतिकी एवं ईश्वर-विज्ञान की उन्नति के लिए पृथक्-पृथक् मार्ग प्रशस्त करने का प्रयास किया था, किन्तु मनुष्य में दोनों में नित्यप्रति हर क्षण घटित होने वाले लेन-देन (संयोग) ने इस प्रयास को विफल कर दिया।

जोन्स कहता है कि—"लेकिन चाहे मनुष्य में ही सही, देकार्त के दर्शन के लिए पूर्णतः स्वतन्त्र मनस् द्वारा देह में घटित यह परिवर्तन घातक सिद्ध हुआ। मैं अपने हाथ को हिलाने का संकल्प करता हूँ और मेरा हाथ हिल जाता है। और स्वतंत्र संकल्प द्वारा इसका हिलना भौतिक जगत् के यान्त्रिक अनुक्रम का विघटन कर देता देता है। और यदि मेरा स्वतन्त्र संकल्प इसको नहीं हिला पाता तो संकल्प की कारणता (कम से कम बाह्य जगत् के संदर्भ में तो) भ्रम मात्र रह जाती है और इस तरह मनुष्य एक जटिल यन्त्र मात्र बनकर रह जाता है।"

"यदि आत्मा अभौतिक स्वतः स्फूर्त कारण है, तो जहां तक यह अपनी देह में और इसके माध्यम से अन्य पिण्डों में परिवर्तन ला देती है वहां तक भौतिक जगत् का स्वरूप कालक्रम में पूर्ववर्ती घटनाओं से निर्धारित नहीं है। दूसरी ओर, नए विज्ञान की अपेक्षा के अनुसार यदि भौतिक जगत् पूरी तरह से पूर्व निर्धारित योजना है, तो (जैसाकि हाब्स का मत था) मनुष्य भी गतियुक्त भूत द्रव्य से अधिक कुछ नहीं रहता और उसका स्वतन्त्र संकल्प भ्रम मात्र सिद्ध हो जाता है।"

"....यदि हम चिन्तन को मनस् में कैद कर दें तो यह सत् को कैसे जानेगा ? और यदि इसको संसार में खुला विचरण करने दें तो यह अपनी पवित्रता की रक्षा कैसे करेगा ? यदि संसार वैसा ही हो जैसा देकार्त ने अपने चिन्तन द्वारा हमारे

---

13. यहां कहने का तात्पर्य केवल इतना ही है कि मनस् ही सत्यं, शिवं, सुन्दरम् से सम्बन्धित है। वही धर्म, दर्शन, कला, विज्ञान, गणित, भाषा आदि विभिन्न आयामों का सर्जक है। वही उदात्त मूल्यों का उत्स (स्रोत) है। द्रष्टव्य बियर्ड्स्ले, मोनरो सी., एस्थेटिक्स फ्राम क्लासिकल ग्रीस टू द प्रेजेन्ट, ए शॉर्ट हिस्ट्री (मैकमिलन कम्पनी, न्यूयार्क, 1966) पृ० 140–142।

सम्मुख प्रस्तुत किया था, तो वह विचार जिसके द्वारा यह जाना गया था कभी भी उस प्रकार का नहीं हो सकता जिस रूप में देकार्त ने इसे चित्रित किया था।"[14]

इस तरह हम देखते हैं कि भौतिकी के स्वरूप की रक्षा के लिए हमें स्वतन्त्र-संकल्प की अवधारणा का परित्याग करना होगा और तब आत्मा की अमरता, मनुष्य की स्वतन्त्रता और तद्जनित उत्तरदायित्व से मनुष्य मुक्त हो जायगा—वह एक यन्त्र मात्र बनकर रह जायगा। अथवा यदि हम स्वतन्त्र-संकल्प से युक्त हैं तो भौतिकी के नियमों की सार्वभौमता एवं अनिवार्यता समाप्त हो जायगी, हम भविष्यवाणी नहीं कर पायेंगे और इस तरह विज्ञानों का स्वरूप पूर्णतः विकृत हो जायगा। ऐसी स्थिति से परित्राण करने का प्रयास मैलब्राश ने अपने संयोगवाद द्वारा, स्पिनोज़ा ने समानान्तरवाद द्वारा और लाइब्नीज ने पूर्व-सामंजस्य के सिद्धान्त द्वारा किया। लेकिन हर समाधान ने नयी समस्याओं को जन्म दिया और इस प्रकार यह आज भी दर्शन की एक मूल समस्या बनी हुई है।

देकार्त ने जो चाहा वह नहीं हुआ, और ऐसा होता भी कहां है? आदमी सोचता कुछ है परन्तु ईश्वर कुछ और ही उपस्थित कर देता है। मानवीय कार्य एवं चिन्तन के इतिहास की यही कहानी है। देकार्त ने यह अभिलाषा अभिव्यक्त की थी कि उसके अनुयायी उसकी गणितीय विधि[15] को सफलतापूर्वक अन्य विज्ञानों में

---

14. जोन्स, डब्ल्यू. टी., ए हिस्ट्री ऑव वैस्टर्न फिलॉसोफ़ि—हाब्स टू ह्यूम (न्यूयार्क : हारकोर्ट, ब्रेस एण्ड वर्ल्ड), इनका 1969 द्वितीय संस्करण, पृ. 188–89।

15. गणित की जैसी ही सार्वभौमकता, निश्चितता, असंदिग्धता एवं स्पष्टता दर्शन में भी प्राप्त हो सके इसलिए देकार्त ने गणित की ही विधि को अपने दर्शन में प्रयुक्त कर दिया। वह यह भूल गया कि दोनों का स्वरूप भिन्न है, समस्याएं भिन्न हैं। ला फ्लाके के सर्वोत्कृष्ट विद्यालय में पढ़ते हुए उसने गणित का गहन एवं विस्तृत अध्ययन किया और इसी वजह से उसमें एक दूसरे प्रकार का ज्ञान प्राप्त करने की उत्कण्ठा जाग्रत हो गई—एक ऐसा ज्ञान जिसमें संभावना के स्थान पर निश्चितता हो, अस्पष्टता के स्थान पर स्पष्टता हो, संशय के स्थान पर असंदिग्धता हो। गणित के क्षेत्र में रेखागणित को बीजगणित से मिलाकर उसने एक महान् क्रान्ति का सूत्रपात कर दिया। जब दो भिन्न-भिन्न माने जाने वाली विधाएं एक हो सकती हैं तो थोड़ा और प्रयत्न करने पर सभी विज्ञानों की एकता क्यों न प्राप्त कर ली जाय? और देकार्त ने ऐसा ही किया भी। और जब सभी ज्ञान-विज्ञान एक ही हैं और सभी समस्याओं के समाधान की ही विधि—गणितीय—है तो इससे यह भी अनुगनित होता है कि वह व्यक्ति भी एक ही होना चाहिए जो समस्त

(Contd.)

प्रयुक्त करेंगे क्योंकि उसकी मान्यता थी कि ज्ञान-विज्ञान के वृक्ष की नींव तत्त्वमीमांसात्मक चिन्तन के रूप में उसने पूर्ण अनिवार्यता, असंदिग्धता एवं निश्चितता से डाल दी है। उसे नैसर्गिक बुद्धि के प्रकाश में सब कुछ स्पष्ट और निश्चित रूप से दिखाई देने लग गया था। किन्तु उसके अनुयायियों में से एक दो को छोड़कर सभी ने

(contd.) मानवीय ज्ञान को फिर से सुदृढ़ नींव पर स्थापित कर दे। और देकार्त ने सोचा कि यह व्यक्ति उसके अतिरिक्त अन्य कोई नहीं हो सकता। उसी दिन स्वप्न में उसके इस असाधारण एवं अलौकिक विचार की पुष्टि भी हो गई—मानो उसे एक दैवी कार्य के लिए नियुक्त किया गया हो। देकार्त के सम्मुख मानो एक नया क्षितिज उदित हो गया और अब उसे यह असंदिग्ध रूप से ज्ञान हो गया कि सच्चा ज्ञान केवल गणितीय ज्ञान ही हो सकता है। अब सभी ज्ञान को उसी सांचे से ढलना होगा अन्यथा उसे अपने स्वरूप से हाथ धोना पड़ेगा। देकार्त के गणित के प्रति इस गहरे लगाव ने उसे अन्य विज्ञानों एवं विधियों से पराङ्मुख कर दिया और अब वह गणित की पद्धति से इतना पराभूत हो गया कि उसे उसके अतिरिक्त सब कुछ दीखना बन्द हो गया। विचारों का इतिहास इस प्रकार के स्वप्न-दृष्टाओं किंवा दिव्य-दृष्टाओं से भरा पड़ा है। 'डिस्कोर्स' के प्रथम भाग में तो फिर भी वह स्वयं को जगत् एवं उसके अनुभवों से संम्पृक्त रखता प्रतीत होता है किन्तु आगे चलकर वह जिस प्रकार तत्त्वमीमांसा, नीतिशास्त्र, भूत-विज्ञान, औषध-विज्ञान आदि सभी को गणितीय योजना में 'फिट' करने का निष्फल प्रयास करता है वह उसके दर्शन के अध्येताओं से छुपा हुआ नहीं है। मर्सेनी को लिखे अपने पत्र में और डिस्कोर्स के कतिपय भागों में देकार्त ने यह दावा किया है कि यह विधि तत्वमीमांसा, भौतिक विज्ञान, औषध विज्ञान नीतिशास्त्र आदि पर समान रूप से प्रयुक्त होती है। जिलसाँ ने अपनी पुस्तक दॅ यूनिटी ऑव फिलासोफिकल एक्सपीरियेन्स (दार्शनिक अनुभव की एकता) में बहुत ही सुन्दर रूप से यह दिखाया है कि देकार्तवादी (काटेजियन) प्रयोग किस तरह असफल हो जाता है, उसका भव्य प्रासाद टूट-फूट जाता है। लॉक उसकी तत्वमीमांसा को, लाइब्निज़ उसके गति के नियमों एवं उसके भूत-विज्ञान को, हार्वे उसके औषध-विज्ञान को और इसी प्रकार अन्य लोग उसके अन्य विचारों को गलत सिद्ध कर देते हैं। तथापि इससे यह नहीं समझना चाहिए कि देकार्त के प्रयास को हम पूरी तरह से निष्फल मान रहे हैं। देकार्त ने दर्शन के क्षेत्र में जो कार्य किया—अर्थात् अरस्तू के एकछत्र साम्राज्य को सफल चुनौती और अनेक क्षेत्रों में भिन्न प्रकार की स्थापनाओं का प्रचलन—वह उसे आधुनिक दर्शन के अग्रणी चिन्तकों की श्रेणी में रखने के लिए पर्याप्त है।

देकार्तवाद (कार्टेज़ियनिज्म) के तत्त्वमीमांसीय एवं ज्ञानमीमांसीय पहलुओं पर ही अपना ध्यान केन्द्रित किया और इनमें से एक मुख्य समस्या—आत्मा (मनस्) और देह (शरीर) के आपसी सम्बन्ध की—पर ही अपना विशिष्ट चिन्तन प्रस्तुत किया। आत्म एवं देह के पारस्परिक प्रभाव को देकार्त ने अस्वीकार नहीं किया, किन्तु इसको तथ्य मानकर भी उसने इस बात को स्पष्ट करने का बहुत कम प्रयास किया कि यह कैसे होता है। केवल यह बता देने से कि दोनों का संयोग 'पीनियल ग्रन्थि' में होता है, समस्या का समाधान नहीं होता क्योंकि दार्शनिक समस्या यह थी ही नहीं। यदि मनुष्य को किसी भी आशय अथवा उद्देश्य के कारण दो पूर्णतः स्वतन्त्र एवं स्वरूपतः भिन्न तत्त्वों में बांट दिया जाता है तो हमारे सम्मुख यह ज्वलन्त समस्या उपस्थित हो जाती है कि दोनों में परस्पर क्रिया-प्रतिक्रिया कैसे होती है? देकार्त के जिन अनुयायियों ने इस समस्या का समाधान खोजने का प्रयत्न किया उन्होंने देकार्त द्वारा प्रकल्पित द्वैत को तो ज्यों का त्यों मान लिया किन्तु इन दोनों के बीच अन्योन्यक्रिया के तथ्य को पूर्णतः अस्वीकार कर दिया। इस समस्या से इस रूप में निपटने के लिए यद्यपि आरंभ में लॉ फौर्ज एवं कौर्दिमोय ने विस्तृत रूप रेखा बनाई थी किन्तु अब अधिकाश में ग्यूलिक्स एवं मैलब्रांश के नाम ही इसके साथ बचे रह गए हैं और 17वीं शताब्दी के पश्चात् तो यह मात्र इतिहास की सामग्री बनकर रह गया है।

देकार्त की उक्त असफलता ने फोर्ज, कौर्दिमोय, ग्यूलिन्क्स, मैलब्रांश आदि को तत्त्वमीमांसा की इस गुत्थी को सुलझाने के लिए चिन्तन की ओर प्रेरित किया। फोर्ज एवं कौर्दिमोय को संयोगवाद का प्रवर्तक माना जाता है। फोर्ज ने न केवल भौतिकवादी विचारधारा का विरोध किया जो आत्मा (मनस्) को भौतिक मानती है अपितु उसने उन देकार्तवादियों (कार्टेज़ियन्ज़) का भी विरोध किया जो ईश्वर द्वारा विश्व को प्रदत्त गति की निश्चित मात्रा को भौतिक द्रव्य का स्वतंत्र गुण मान लेते हैं। उसने इस बात को स्पष्ट रूप से समझ लिया था कि भौतिक द्रव्य अथवा विस्तार में गति का किंचितमात्र भी समावेश नहीं है। तब फिर गति कहां से आती है? गति के एकमात्र प्रदाता के रूप में उसने ईश्वर को स्वीकार किया। ईश्वर ने ही आरंभ में मनस् एवं देह का संयोग कर दिया था। यह पूर्वमान्यता ही इस समस्या का एकमात्र समाधान है। क्लाउबर्ग के अनुसार देह मनस् को प्रभावित नहीं करती, मनस् देह को प्रभावित करता है। भौतिक घटनायें मानसिक घटनाओं की कारण नहीं हैं अपितु केवल अवसर मात्र हैं। कौर्दिमोय ने संयोगवाद के सिद्धान्त को फोर्ज की अपेक्षा अधिक स्पष्ट रूप में हमारे सम्मुख रखा। उसके दर्शन में दैवी अथवा ईश्वरीय हस्तक्षेप के बिना न तो आत्मा को नूतन प्रत्ययों की प्राप्ति हो सकती है और न देह को नूतन गति की। शारीरिक परिवर्तन के अवसर पर ईश्वर उसी के अनुरूप आत्मा में भी एक 'प्रत्यय' उत्पन्न कर देता है, और जब हम स्वतन्त्र रूप से संकल्प करते हैं तो ईश्वर उस अवसर पर हमारे हाथ-पैरों को परिचालित कर देता

है। रेगि (Sylvain Re'gis) के अनुसार ईश्वर ही एकमात्र सच्चा निमित्त कारण है। कोर्दिमोय के दर्शन में विश्व का ऐसा असम्बद्ध रूप उभर कर आता है जो आगे जाकर ह्यूम के दर्शन में पुष्पित-पल्लवित हुआ और जिसकी वजह से लाइब्निज़ ने संयोगवाद की कटु आलोचना की। साथ ही मैलब्रांश की भाँति उसने (ह्यूम ने) भी भौतिक वस्तुओं के अस्तित्व के लिए विश्वास को ही आधार माना।

ग्यूलिन्क्स एवं मैलब्रांश ने स्पष्टतः स्वीकार किया कि समस्त गति का प्रदाता एकमात्र ईश्वर है।[16] उसी के कारण समस्त भौतिक वस्तुओं में गति उत्पन्न होती है। वही गति का नियन्ता है, उसी में प्रेरक शक्ति होती है जो स्थिति में परिवर्तन कर देती है। वही मानसिक एवं भौतिक के बीच मध्यस्थता करता है अर्थात् उसी के कारण मन और देह में सम्बन्ध स्थापित होता है। मन का मन से और देह का देह से सम्बन्ध भी उसी के कारण है। उनके अनुसार जब बिलियार्ड की एक गति-युक्त गेंद दूसरी स्थिर गेंद से टकराती है तो प्रथम गेंद में ऐसी कोई शक्ति नहीं होती जो दूसरी गेंद में गति उत्पन्न कर सके। दूसरी गेंद में गति उत्पन्न हो सके इसके लिए ईश्वर की आवश्यकता है जो संघात के अवसर पर दूसरी गेंद को अपने द्वारा स्थापित नियमों के अनुसार गति प्रदान कर देता है। ईश्वर के कृत्यों की एकरूपता के कारण प्रथम गेंद को दूसरी गेंद की गति का कारण—एक विशिष्ट संयोगवादी कारण—कहा जा सकता है। संयोगवादी विचारकों की मान्यता के अनुसार ऐन्द्रिय-प्रत्यक्ष और संकल्प दोनों ही परिस्थितियों में देह और मनस् एक दूसरे में परिवर्तन लाने के लिए अक्षम हैं, दोनों का मूल कारण ईश्वर है जिसने मनस् और देह के सम्बन्ध के लिए नियम बनाए हैं और वह उन्हीं के अनुसार विशिष्ट परिस्थितियों में कार्य करता रहता है।

ग्यूलिन्क्स के अनुसार यह एक प्रामाणिक एवं स्पष्ट सिद्धान्त है कि प्रत्येक क्रिया-कलाप में अभिकर्ता को स्पष्ट एवं असंदिग्ध रूप से यह ज्ञान होना चाहिए कि

---

16. देकार्त भी अन्ततः इस निष्कर्ष पर पहुँच गया था कि यद्यपि गति पिंडों का मुख्य लक्षण है तथापि पिण्डों की प्रेरक शक्ति स्वयं पिण्डों में न होकर ईश्वर में रहती है। हेनरी मोर को लिखे एक पत्र में उसने यह स्पष्ट किया कि पिण्डों की प्रेरक शक्ति के प्रश्न के विषय में अपने विचारों को प्रकाशित करने के लिए वह इसलिए अनिच्छुक था कि उसे इस बात का डर था कि कहीं उसके विचारों को प्लेटो के उन विचारों जैसा न मान लिया जाय जहां वह ईश्वर को विश्वात्मा के रूप में प्रस्थापित करता है। वह तो स्पष्ट रूप से यह मानना चाहता था कि यद्यपि पिण्डों की प्रेरक शक्ति ईश्वर से ही निगमित होती है और एक अर्थ में ईश्वर में ही निहित रहती है, तथापि यह पिण्डों का भी एक मुख्य लक्षण अथवा पर्याय होती है।

वह कर्म कर रहा है और कैसे कर्म कर रहा है। और इस सिद्धान्त से यह स्पष्टतः निगमित हो जाता है कि न तो देह और न ही मनस् वास्तव में कार्य-कारण के रूप में अभिकर्ता (एजेन्ट) हो सकते। एकमात्र ईश्वर को ही अभिकर्ता सिद्ध करने के लिए ही शायद ग्यूलिन्क्स ने उक्त सिद्धान्त की स्थापना की थी। देह (अथवा भौतिक तत्त्व) अभिकर्ता के रूप में न तो किसी अन्य भौतिक तत्त्व पर प्रभाव डाल सकता है और न ही किसी मानसिक अथवा आध्यात्मिक तत्त्व पर। इसकी वजह यह है कि किसी भी भौतिक वस्तु में चेतना तो होती नहीं जो यह जान सके कि यह क्रिया करती है और यह क्रिया कैसे होती है। परन्तु इससे यह नहीं सोच लेना चाहिए कि चेतन द्रव्य के रूप में मनस् अथवा 'मैं' स्वयं वास्तव में किसी क्रिया का अभिकर्ता हो सकता हूँ। क्योंकि न तो मैं अपने स्वयं की देह में और न ही अन्यो की देहों में ऐसे कोई प्रभाव उत्पन्न करता हूँ जिन्हें स्वभाववश मैं अपने द्वारा उत्पन्न हुआ मान लेता हूँ। चेतन होते हुए भी मैं इनका अभिकर्ता इसलिए नहीं हो सकता कि मुझे इस बात का ज्ञान नहीं होता कि ये प्रभाव कैसे उत्पन्न होते हैं। मेरी देह में घटित परिवर्तनों एवं उसकी विभिन्न गतियों का मैं दृष्टा मात्र होता हूँ, मेरी देह मेरे नियन्त्रण से परे है, इसका नियन्त्रण एवं परिचालन ईश्वर द्वारा ही होता है। अपने सकल्प के विषय में अनभिज्ञ नहीं होते हुए भी मैं उनका वास्तविक अभिकर्ता नहीं होता। क्योंकि मुझे उस सम्बन्ध का ज्ञान नहीं है जो मेरे संकल्प और तज्जनित शारीरिक हलचल में होता है। इसी प्रकार मेरी चेतना के क्षेत्र में उत्पन्न संवेदनाओं एवं प्रत्ययों के विषय में मैं अवगत तो रहता हूँ किन्तु इनकी उत्पत्ति का कारण वास्तव में न तो मेरी देह होती है और न ही बाह्य भौतिक वस्तुएँ।

अब यदि हम मनस् एवं देह में कारणात्मक रूप से अन्योन्यक्रिया अथवा पारस्परिक प्रभाव (कॉज़ल इन्टर-ऐक्शन) को अस्वीकार कर देते हैं तो हमें नित्यप्रति उपस्थित होने वाले तथ्यों की कोई न कोई व्याख्या खोजनी होगी। क्योंकि संकल्प से शारीरिक गतिविधियां होती देखी जाती हैं और शारीरिक परिवर्तनों से चेतना में संवेदनाओं एवं प्रत्ययों का जन्म होता देखा जाता है। किन्तु जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, ग्यूलिन्क्स मानसिक एवं भौतिक द्रव्यों एवं भौतिक वस्तुओं में तो ऐसी किसी क्षमता को मानता नहीं है जो किसी प्रकार के प्रभाव को उत्पन्न कर सके। उसके मत में एक मात्र ईश्वर में ही प्रभावोत्पादकता की क्षमता विद्यमान है। इसी सम्बन्ध की युक्तियुक्त एवं सांगोपांग व्याख्या के लिए ग्यूलिन्क्स एवं मैलब्रांश ने संयोगवादी कार्य-कारण सिद्धान्त (आकेश्ज़नल कॉज़ैलिटि) की उद्भावना की थी। जब मेरे मनस् में हाथ को उठाने का संकल्प होता है तो ईश्वर के लिए यह एक अवसर (संयोग) होता है जब वह मेरे शरीर में उसी प्रकार की गति उत्पन्न कर देता है। इसी प्रकार मेरे शरीर में जब कोई परिवर्तन घटित होता है तो वह ईश्वर के लिए एक अवसर होता है और वह तभी मेरे मानसिक क्षेत्र में उसी के अनुरूप क्रिया

उत्पन्न कर देता है। यहाँ ईश्वर दोनों में मध्यस्थता नहीं करता अपितु केवल वही वास्तविक रूप में एकमात्र कारण (कॉज़) हो सकता है। ग्यूलिन्क्स ने इसे दो घड़ियों की उपमा द्वारा समझाने का प्रयास किया है। उसके अनुसार मनस् एवं देह उन दो घड़ियों के समान हैं जो एक दूसरे पर कोई क्रिया-प्रतिक्रिया नहीं करतीं किन्तु उन दोनों में हमेशा एक ही समय रहता है क्योंकि ईश्वर बराबर दोनों की गति को मिलाता (सिन्क्रोनाइज़) रहता है। तथापि ग्यूलिन्क्स के लेखों में कहीं-कहीं उस सादृश्य (अनैलॅजि) के भी दर्शन हो जाते हैं जिसके आधार पर आगे जाकर लाइबनिज ने मनस् एवं देह के सम्बन्ध को ऐसी दो घड़ियों की उपमा दी थी जिन्हें आरंभ में ही इस तरह बनाया गया है कि उन दोनों में पूर्ण सहमति रहे।

ग्यूलिन्क्स के उक्त सिद्धान्त को यदि मनस्[17] देह के सम्बन्ध तक ही सीमित नहीं रखा जाये और यदि इसकी अन्य विवक्षाओं (इम्पलिकेशन्ज़) का विस्तार किया जाय तो स्पिनोज़ा के द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त—कि मनस् एव देह चरम सत् के पर्याय ही हैं—उससे अधिक भिन्न नहीं रहता। यद्यपि ग्यूलिक्स ने इस विवक्षा को स्पष्ट रूप में इस तरह से हमारे सम्मुख नहीं रक्खा तथापि दोनों ने मनुष्य को दृष्टा मात्र बनाकर करीब-करीब एक जैसे ही नैतिक सिद्धान्तों का सूत्रपात किया। किन्तु इस सिद्धान्त के निहितार्थ का स्पिनोज़ा से भिन्न दशा में भी विकास किया जा सकता है और ऐसी ही उद्‌भावना मैलब्रांश ने अपने ईश केन्द्रित तत्त्वमीमांसीय दर्शन में की भी। अब हम मैलब्रांश के चिन्तन की ओर अग्रसर होते हैं।

संयोगवादी विचारधारा का चरमोत्कर्ष करने का श्रेय जिस दार्शनिक को प्राप्त हुआ वह मैलब्रांश ही है। उसने अरस्तू के (अथवा ठीक तरह से कहें तो अरस्तू के अनुयायियों के) प्रभुत्व से अपने समय के चिन्तन को मुक्त किया। यह कार्य इसलिए अत्यन्त कठिन था कि उस काल के व्यक्ति अरस्तू की गरिमा से इतने अभिभूत हो चुके थे कि वे उसे सर्वेसर्वा मान बैठे थे और उसके विचारों को आंख मूंदकर स्वीकार कर लेते थे। उसका मत 'ब्रह्म वाक्य' था, तर्क से परे सर्वथा निश्चित, सार्वभौम एवं असंदिग्ध। और पोप एवं ईसाई धर्म पर उसके एकछत्र साम्राज्य ने उसके वैचारिक शिकंजे को और भी गहरा बना दिया। जिस व्यक्ति का ज्ञान-विज्ञान और धर्म के क्षेत्र पर एक-डेढ़ हजार वर्षों तक एकछत्र राज्य रहा हो

17. आत्मा ('दॅ सोल' l'ame) का प्रयोग यद्यपि मैलब्रांश ने किया है किन्तु यह अरस्तू एवं उसके अनुयायियों के अर्थ में आत्मा नहीं है अपितु इसका अर्थ मनस् (l' espirit द माइन्ड) के रूप में लिया जाना चाहिए। जैसाकि हम जानते हैं, देकार्त की भांति मैलब्रांश ने भी अरस्तू और उसके अनुयायियों की अपेक्षा ऑगस्तीन एवं प्लेटो की विचारधारा को अधिक महत्त्व दिया और उन्हीं को अपने दर्शन की आधारशिला बनाया।

उस के जुए को उतार फेंकना कोई आसान काम नहीं था। किन्तु 1367 में पैट्रार्क ने अपनी पुस्तक में उसके अधिकार (आथॅरिटी) को बुरी तरह से झकझोर दिया था।[18] और देकार्त उसके स्थान पर अपनी योजना को लागू करने का पूर्ण प्रयास कर ही रहा था। मैलब्रांश ने अपने दर्शन में ऑगस्तीन एवं देकार्त की विचारधारा का एक ऐसा संश्लेषण प्रस्तुत किया जिससे उसकी ख्याति मौलिक दार्शनिक के रूप में स्थापित हो गई। शरीर-क्रिया-विज्ञान की पुस्तक ने जो आरंभिक रुचि उसमें उत्पन्न की उसको पुष्पित एवं पल्लवित करने के लिए और अपने को कार्टेजियन धारा में पूर्ण रूप से निमज्जित करने के लिए उसने गणित एवं विज्ञान का भी गहन अध्ययन किया। दर्शन की विधि के रूप में उसने देकार्त की विधि को अपनाया जिसमें वह सरल से जटिल की ओर व्यवस्थित रूप से अग्रसर होता है और स्पष्ट रूप से प्रामाणिक एवं संभाव्य में भेद करता है और किसी भी सिद्धान्त को तब तक नहीं मानता जब तक वह सभी प्रकार के संशय से रहित न हो जाय और जब तक वह स्पष्ट एवं निश्चित अवधारणाओं पर आधारित न हो। इस संदर्भ में वह भी देकार्त की भांति गणित को ही प्रतिमान (पैराडाइम) के रूप में मानता है। सत्य के अन्वेषण में हमें जिन नियमों का पालन करना चाहिए उनमें प्रमुख यही है कि हमें केवल उन्हीं विषयों पर विचार करना चाहिए जिनके बारे में हमारे पास स्पष्ट प्रत्यय हों और इस खोज को हमें सर्वदा सरलतम एवं सहज रूप से ही आरंभ करना चाहिए। उदाहरणस्वरूप "विस्तार के गुणों पर विचार करने के लिए हमें देकार्त की भांति सरलतम संबंधों से ही आरम्भ करना चाहिए, केवल इसलिए नहीं कि यह विधि स्वाभाविक है और मनस् को अपने क्रिया-कलाप में सहायक होती है अपितु इसलिए भी कि ईश्वर सर्वदा व्यवस्थित एवं सहज रूप से कार्य करता है, अतः हमारे विचारों एवं उनके संबंधों की परीक्षा की इस प्रकार की विधि हमें ईश्वर के कार्यों के विषय में अधिक अच्छी जानकारी देगी।"[19] किन्तु देकार्त की दार्शनिक विधि को अपनाने का अर्थ उसके लिए उसका अन्धानुकरण नहीं था और न ही वह अरस्तू के स्थान पर देकार्त का प्रभुत्व स्थापित करना चाहता था। हमें देकार्त को अरस्तू पर इसलिए तरजीह नहीं देनी चाहिए कि वह देकार्त है अपितु उसके द्वारा प्रस्थापित सत्य कथनों के स्पष्ट स्वरूप की वजह से देनी चाहिए। "निष्ठावान ईसाई होने के नाते हम बिना सोचे-समझे विश्वास कर सकते हैं, किन्तु दार्शनिक होने पर हमें विवेकपूर्वक ही सोचना होगा।"[20] उसका कहना था कि आत्मा की अमरता के विषय में अथवा किसी भी अन्य दार्शनिक समस्या के विषय में अरस्तू अथवा अन्य लोगों ने

18. द्रष्टव्य—जिल्सॉ, पृ. 104-105.
19. मैलब्रांश, आर. वी. 6/2/4.
20. वही, 1/3.

क्या कहा है, इस पर झगड़ा करने के स्थान पर दार्शनिकों के लिए यह अधिक श्रेयस्कर होगा कि वे स्वयं स्वतन्त्र रूप से उस अवधारणा पर विचार करें। किसी व्यक्ति के प्रति इतनी वैचारिक दासता स्वस्थ चिन्तन के लिए कभी भी वरण करने योग्य नहीं हो सकती। अनुभव एवं सत् की व्याख्या के लिए वह अरस्तू की अपेक्षा देकार्त के दर्शन को अधिक उपयुक्त मानता था। और साथ ही उसकी यह भी मान्यता थी कि मनुष्य सत् अथवा सत्य को प्राप्त कर सकता है, भ्रान्ति उसके लिए अनिवार्य नहीं है।[21] पास्कल के विरुद्ध उसका मानव की बौद्धिक गरिमा में अटूट विश्वास था। अपरिहार्य एवं संभाव्य सत्यों के बीच हमें स्पष्ट भेद करना चाहिए। अपरिहार्य सत्य तो गणित और तत्त्वमीमांसा में एवं भौतिकी और नैतिकी के काफी बड़े भाग में पाए जाते हैं, सभी प्रायोगिक विज्ञानों में तो संभाव्य सत्य ही उपलब्ध हो सकते हैं। यह परिभाषया निगमित होता है, उन विज्ञानों का स्वरूप ही वैसा होता है। किन्तु भ्रान्ति तब होती है जब संभाव्य सत्य को हम अपरिहार्य मान लेते हैं। और इस मान्यता में हम स्वतन्त्र हैं, बद्ध नहीं जैसाकि हम आगे चलकर देखेंगे।

अब जैसाकि हमने पीछे देखा, यद्यपि गलती करना मानव के लिए अपरिहार्य नहीं है तथापि यह एक तथ्य है कि हम सभी से गलती होनी है। मैलब्रांश ने इस तथ्य की व्याख्या एवं समीक्षा विस्तार से की है। किन्तु यहां हम उस विस्तार में नहीं जाकर केवल इतना ही कहना चाहेंगे कि इसके लिए उसने तीन प्रकार के प्रत्ययों की चर्चा की है—संवेदन, कल्पना एवं शुद्ध बुद्धि। मैलब्रांश का मत है कि "संवेदन एवं कल्पना की भ्रान्तियों का मूल देह की प्रकृति एवं रचना है, और आत्मा की देह पर निर्भरता पर ध्यान देने से उनकी खोज हो जाती है। किन्तु शुद्ध-बुद्धि की भ्रान्तियों का पता स्वयं मनस् की प्रकृति पर और उन अवधारणाओं पर जो वस्तुओं के ज्ञान के लिए अनिवार्य हैं, अनुचिन्तन करने से ही लग जाता है।....शुद्ध बुद्धि का अर्थ मनस् की उस शक्ति से है जिसके द्वारा वह बाह्य वस्तुओं का ज्ञान मस्तिष्क (ब्रेन) में मूर्त बिम्बों के बिना बनाए ही कर लेती है।"[22]

भौतिक वस्तु का ज्ञान इन्द्रियों के माध्यम से हम तक कैसे पहुँचता है इसकी मैलब्रांश ने विस्तार से शरीर-क्रिया-विज्ञान के संदर्भ में चर्चा की है। किन्तु यहां उसने यह स्पष्ट कर दिया है कि यह ज्ञान हमें यह नहीं बता सकता कि वस्तुएं अपने आप में क्या हैं, ऐन्द्रिय ज्ञान तो केवल यह बताता है कि वस्तुओं का हमारी देह से क्या सम्बन्ध है।[23] "जब हमें ताप का अनुभव होता है तो मेरे इस विश्वास में कोई

21. यह मत 'टू एर इज़ ह्यूमन' के विरुद्ध जाता है जिसे मानवीय स्वभाव के लिए करीब-करीब सार्वभौम रूप से माना जाता है।
22. आर. वी. 3/1/1.
23. वही, 1/5, 1/20.

भ्रान्ति नहीं है कि मुझे ताप की अनुभूति हो रही है....किन्तु गलती तब होती है जब हम यह निर्णय कर लें कि जिस ताप का मुझे अनुभव हो रहा है वह अनुभूति करने वाले मनस् (आत्मा) से बाहर है।"[24] और साथ ही प्राथमिक गुण भी वस्तु का वास्तविक ज्ञान देने में सक्षम नहीं हैं क्योंकि यद्यपि चन्द्रमा सभी तारों से बड़ा दीखता है किन्तु हम स्वतन्त्र एवं असंदिग्ध रूप से जानते हैं कि वस्तुतः वह उनसे बहुत छोटा है। अब हम पूछ सकते हैं कि यदि हमारी इन्द्रियां हमें वस्तु का वास्तविक ज्ञान नहीं देतीं तो फिर ईश्वर ने हमें उन्हें क्यों प्रदान किया है? मैलब्रांश का उत्तर है कि ईश्वर ने उन्हें हमारी देह के संरक्षण के लिए बनाया है। इस प्रकार मैलब्रांश ने इस बात का भी उल्लेख किया है कि आत्मा के संकल्प के द्वारा किस प्रकार देह में गति उत्पन्न हो जाती है। किन्तु देकार्त द्वारा अंगीकृत भौतिक एवं मानसिक तत्त्वों के द्वैत को मानते हुए भी उसने यह निष्कर्ष निकाला कि दोनों में से कोई भी प्रत्यक्ष रूप से एक दूसरे पर क्रिया-प्रतिक्रिया नहीं कर सकता यद्यपि मनस् किसी अर्थ में देह पर निर्भर है और दोनों में गहन सम्बन्ध भी है किन्तु उसके अनुसार वे ऐसे दो तत्त्व हैं जिनमें अन्योन्यक्रिया (इन्टरऐक्शन) नहीं है, एक दूसरे से अनुकूलता है, संगतता (कौरसपॉन्डैन्स) है। मनस् सोचता है, संकल्प करता है, किन्तु यह शरीर में गति उत्पन्न नहीं करता। और देह तो एक यंत्र है जो ईश्वर के द्वारा मनस् के अनुकूल बनाया गया है (अरस्तू के अर्थ में आत्मा देह को अनुप्राणित नहीं करती)। इस तरह मैलब्रांश भौतिक तथा मानसिक घटनाओं में सादृश्य की चर्चा करता है किन्तु यहां उसका तात्पर्य अन्योन्यक्रिया से नहीं अपितु मानसिक-भौतिक समानान्तरवाद से है। उसी के शब्दों में "मुझे यह असंदिग्ध रूप से प्रतीत होता है कि जगत् में जो सूक्ष्म से सूक्ष्म देह है उसे भी आध्यात्मिक प्राणियों का संकल्प गति प्रदान करने में सक्षम नहीं है। उदाहरण के लिए यह स्पष्ट है कि हमारे हाथ को हिलाने के हमारे संकल्प में और हमारे हाथ के हिलने में कोई अपरिहार्य सम्बन्ध नहीं है। यह भी सत्य है कि हमारे संकल्प करने पर इसमें गति होती है और इस प्रकार हमारी हाथ की गति के हम स्वभाविक रूप से कारण हैं। किन्तु प्रकृत (नैचुरल) कारण बिल्कुल सच्चे कारण नहीं होते, वे तो केवल संयोग (ऑकेज़न) मात्र होते हैं, जो ईश्वर के संकल्प की शक्ति एवं प्रभावोत्पादकता के बल से क्रिया करते हैं।[25] अब यदि यहां ग्यूलिन्क्स के उस सिद्धान्त को प्रयुक्त कर दें, जो उसने अभिकर्ता (एजेन्ट) के विषय में प्रयुक्त किया था और जिसकी हम पीछे चर्चा कर चुके हैं, तो इससे यह निगमित होता है कि यद्यपि मनुष्य स्वाभाविक रूप में तो कारण प्रतीत होता है किन्तु वस्तुतः वह ईश्वर के लिए संयोग मात्र है जो एकमात्र अभिकर्ता हो सकता है क्योंकि वही सृजन कर सकता है

---

24. आर. बी. 1/5.
25. आर. बी. 6/2/3.

ग्रौर जो सृजन कर सकता है वही सच्चा कारण हो सकता है। मनुष्य सृजन करने में असमर्थ होने के कारण सच्चा कर्ता भी नहीं हो सकता। "ऐसा कोई मनुष्य नहीं है जिसे यह पता हो कि उसे स्नायविक शक्ति के द्वारा अपनी किसी ऊँगली को हिलाने के लिए क्या करना चाहिए। फिर मनुष्य अपने हाथ कैसे हिला सकते हैं।[26] ये चीजें मुझे स्पष्ट लगती हैं; और मुझे ऐसा लगता है कि ऐसा ही उन लोगों को भी प्रतीत होगा जो चिन्तन करने के लिए तैयार है, हां, उन व्यक्तियों के लिए यह शायद बोधगम्य न हो जो केवल संवेदन के स्तर तक ही अपने को सीमित रखना चाहते हों।"[27] बर्कले द्वारा उद्धृत यह उक्ति हमें सर्वदा याद रखनी चाहिए कि "हमें साधारण-जन के जैसे तो कार्यक्षेत्र में कार्य करना चाहिए और चिन्तनशील व्यक्ति के समान विचार करना चाहिए।"[28] "सच्चा कारण वही हो सकता है जिसके कार्य के साथ मनस् उसके अनिवार्य सम्बन्ध को देख सके।"[29] इस अर्थ में केवल ईश्वर ही एक सच्चा कारण हो सकता है। "शाश्वत काल के लिए ईश्वर ने संकल्प कर लिया है और वह सनातन काल तक निरन्तर संकल्प करता भी रहेगा—अथवा, यदि और भी ठीक तरह से कहें तो कहना होगा कि ईश्वर उस सबके विषय में बिना रुके, बिना परिवर्तन, अनुक्रम अथवा अनिवार्यता के निरन्तर संकल्प करता रहता है जो समय के साथ-साथ घटित होता जायगा।"[30] इस सिद्धान्त के अनुसार, "इस कथन में विरोधाभास है कि एक वस्तु किसी दूसरी वस्तु में गति उत्पन्न कर सकती है। मेरे अनुसार तो इस कथन में भी विरोधाभास है कि आप अपनी आराम कुर्सी को हिला सकते हैं....जहां ले जाकर ईश्वर ने इसे नहीं रखा वहां अन्य कोई भी इसे नहीं ले जा सकता....।"[31] हां यह हो सकता है कि ईश्वर की इच्छा से सर्वदा 'अ' के पश्चात् 'ब' होता हो और ऐसा हमेशा दिखाई देने पर हम लोगों का ऐसा सोचना स्वाभाविक है कि 'अ' 'ब' का कारण है किन्तु वस्तुतः 'अ' 'ब' का कारण नहीं है क्योंकि कारण तो एकमात्र ईश्वर ही हो सकता है। यह तो ईश्वर का विधान ही है कि हमेशा 'अ' के पश्चात् 'ब' घटित होता है। 'अ' का घटित होना ईश्वर के लिए 'अवसर' है कि

---

26. यहां यदि कोई व्यक्ति वस्तुतः हाथ हिलाकर यह दिखाना चाहे कि उसने मैलब्रांश के सिद्धान्त का खण्डन कर दिया है तो वह उतना ही विसंगत होगा जैसा मूर द्वारा प्रत्ययवाद अथवा बर्कले का वह खण्डन है जो उन्होंने श्रोताओं को अपने दोनों हाथ दिखाकर करने का उपक्रम किया था।
27. आर. वी. 6/2/3.
28. दॅ प्रिन्सिपल्ज़ ऑव ह्यूमन नॉलेज, अनुच्छेद, 51.
29. आर. वी. 6/2/3.
30. ई. एम. 7/9.
31. वही, 7/10.

वह 'ब' को उत्पन्न करे। और फिर ऐसा एक व्यवस्था के अनुसार होता है। अब यहां यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि ईश्वर के लिए अपने विधान का पालन करना सर्वथा और सर्वदा आवश्यक है या नहीं ? यदि वह विधान से बंधा हुआ है तब तो वह भी बद्ध हो जायगा और इस प्रकार किसी भी नयी घटना का होना असंभव हो जायगा। और यदि वह अपने द्वारा निर्मित विधान को भंग भी कर सकता है या कर देता है तो उसे अपने ही द्वारा आरोपित बद्धता से मुक्ति मिल जायगी परन्तु तब वह एक निरंकुश व्यक्ति के समान कार्य करने लग पड़ेगा। फिर यह पता लगाना मुश्किल हो जायगा कि वह कब क्या कर बैठेगा और इस तरह हम निरन्तर चमत्कार का ही सामना करेंगे।[32] यह कहा जा सकता है कि ईश्वर चूंकि विधान स्वयं बनाता है इसलिए उसे बद्ध कहना ठीक नहीं है। इसका तो केवल यही उत्तर दिया जा सकता है कि अनुशासन चाहे अपने द्वारा ही क्यों न आरोपित हो, उस हद तक वह व्यक्ति (फिर चाहे वह ईश्वर ही क्यों न हो) बद्ध तो माना ही जायगा। कार्य-कारण सम्बन्ध एवं ईश्वर की उक्त अवधारणा को मानने पर मैलब्रांश के सम्मुख एक और समस्या प्रस्तुत हो जायगी और वह है मानवीय स्वातन्त्र्य एवं उत्तरदायित्व की। ऐसा प्रतीत हो सकता है कि वह न तो मानवीय स्वातन्त्र्य को मानता होगा और न ही उत्तरदायित्व को क्योंकि उसके लिए ईश्वर ही एकमात्र कारण है। किन्तु मैलब्रांश ने दोनों को स्वीकार करके अपनी सम्प्रत्ययात्मक योजना में उन्हें निभाया है। इसकी हम अभी चर्चा करेंगे।

उक्त विश्लेषण से मैलब्रांश जिस निष्कर्ष पर पहुँचा वह था कि "हमारी आत्मा देह से कथमपि उस रूप में सम्बद्ध नहीं है जिस रूप में सामान्य जन सोचते हैं। वह तो अव्यवहित एवं प्रत्यक्ष रूप से केवल ईश्वर से सम्बद्ध है।"[33] पतन (द फॉल) से पूर्व हमारी आत्मा और देह में जो मेल-मिलाप (यूनियन) था वह पतन के पश्चात् नहीं रहता, तब आत्मा देह पर निर्भर हो जाती है और ऐसी अवस्था में वह ईश्वरोन्मुखी न होकर इन्द्रियगोचर वस्तुओं की ओर आकृष्ट हो जाती है। यही पाप की जड़ है।

मानवीय-स्वातन्त्र्य और उत्तरदायित्व को समझने के लिए हमें मैलब्रांश के उन विचारों को समझना होगा जिनमें वह भौतिक एवं आध्यात्मिक जगत् के बीच और लौकिक एवं पारलौकिक के बीच सादृश्य एवं समानान्तरता की चर्चा करता है। भौतिक जगत् में गति के अनुरूप आध्यात्मिक जगत् में 'प्रवृत्ति' (इनक्लिनेशन) का महत्व है। यदि हमारा पतन नहीं हुआ होता तो आत्माओं की इस मूल-प्रवृत्ति

---

32. लाइब्नित्स ने संयोगवाद की समालोचना करते हुए कहा है कि इस प्रकार के सिद्धान्त को मानने पर हमें निरन्तर एकाकी चमत्कारों को मानना होगा।
33. ई. एम. 7/15.

का हमको अव्यवहित एवं स्पष्ट रूप से ज्ञान हो गया होता। अब हमें इस ज्ञान को प्राप्त करने के लिए विचार (रिफलॅक्शन) एवं तर्क (आरग्यूमैण्ट) की आवश्यकता पड़ती है। ईश्वर के सभी क्रिया-कलापों में अन्तिम लक्ष्य स्वयं ईश्वर के अतिरिक्त और कुछ नहीं होता। ईश्वर अपनी सृष्टि का भला तो चाहता है और उसकी रक्षा भी करता है किन्तु "उसका मुख्य उद्देश्य उसकी अपनी महिमा (ग्लोरी) ही होता है और सृष्टि का संरक्षण भी वह अपनी महिमा के लिए ही करता है।"[34] सृष्टि के समस्त प्राणियों में उसने सभी के शुभ के प्रति अथवा अपने प्रति प्रवृत्त किया है। यही कारण है कि सीमित शुभ से हमें संतोष प्राप्त नहीं होता। मनुष्य एक ओर तो स्वार्थ वशीभूत होकर अपने शुभ तक ही सीमित रहना चाहता है, इसी को वह अपना पुरुषार्थ मानता है। किन्तु साथ ही उसे इससे पूर्ण तृप्ति नहीं मिलती, यह भी एक आनुभविक तथ्य है। स्वार्थ के लिए सब कुछ करके भी, भोग-विलास की समस्त सामग्री प्राप्त करके भी वह शान्ति प्राप्त नहीं कर पाता। वह कुछ परार्थ के लिए भी करना चाहता है, अपने सर्वस्व को त्यागने का जो आनन्द है उसकी महिमा सभी शास्त्रों ने एक स्वर से गाई है। यहां प्रत्येक विचारशील मनुष्य के सम्मुख एक उभयपाश है जिसमें वह सर्वदा अपने को पाता है। यह है स्वार्थ और परार्थ के बीच का उभयपाश। पहले को छोड़े नहीं बनता तो दूसरे को जीवन में अपनाये बिना उसे शान्ति, संतोष, आनन्द नहीं मिलता। सभी के शुभ के प्रति किंवा ईश्वर के प्रति इस रुझान पर हमारा कोई नियन्त्रण (कन्ट्रोल) नहीं है, यह अनिवार्य है, यह जन्मजात है, हम इसके कारण नहीं हैं। "विशिष्ट शुभों के प्रति हमारा झुकाव, जो सभी मनुष्य में समान रूप से विद्यमान रहता है, यद्यपि सभी में वह समान रूप से प्रबल नहीं होता, जैसे आत्म-रक्षा की हमारी प्रवृत्ति और उन लोगों की आत्म-रक्षा की ओर प्रवृत्ति जिनसे हम आध्यात्मिक रूप से सम्बद्ध होते हैं, तथापि वे भी हम पर ईश्वर के संकल्प के प्रभाव ही होते हैं। क्योंकि में तटस्थ भाव से प्रकृति के सर्जक के उन सभी प्रभावों को स्वभाविक प्रवृत्तियां (नैचुरल इनक्लिनेशन्ज़) मानता हूँ जो सभी आत्माओं में समान रूप से उपस्थित रहती हैं।"[35]

अब ऐसी मूल प्रतिज्ञाओं एवं प्रतिज्ञप्तियों किंवा मान्यताओं के संदर्भ में स्वतन्त्र-संकल्प और उत्तरदायित्व के लिए क्या स्थान रह जाता है? मैलब्रांश के ही शब्दों में "संकल्प से यहां मेरा तात्पर्य उन प्रभावों अथवा नैसर्गिक गति से है जो अनिर्धारित शुभ (इनडिटर्मिनेट गुड), सामान्य शुभ की ओर ले जाता है। और स्वतन्त्रता से मेरा तात्पर्य और कुछ नहीं बल्कि उस शक्ति से है जो आत्मा में इस प्रभाव को उस विषय की ओर उन्मुख कर देने में निहित है जो हमें अच्छा लगता है,

34. आर. वी. 4/1.
35. आर. वी. 4/1.

और इस तरह हमारी नैसर्गिक प्रवृत्तियों को किसी विशिष्ट विषय की प्राप्ति की ओर उन्मुख कर देने में है।"[36] ईश्वर की ओर हमारा झुकाव ऐसा है जिसका कोई प्रतिरोध नहीं है, "केवल वही सामान्य शुभ है क्योंकि सभी शुभ उसी में समाविष्ट हैं।"[37] इसका अर्थ यह हुआ कि मैलब्रांश के अनुसार संकल्प एक क्रियाशील-शक्ति है जो आत्मा में सर्वदा अन्तर्निहित रहती है, मेरी स्वतन्त्रता इस वरण में निहित है कि मैं चाहूँ तो विशिष्ट शुभ को धारण करूं और न चाहूं तो न करूं। किन्तु मेरी संकल्प शक्ति के द्वारा मैं कोई बाह्य प्रभाव उत्पन्न नहीं कर सकता। यह कार्य, तो उस अवसर पर जब मैं संकल्प करता हूँ, ईश्वर के द्वारा ही घटित होता है। क्योंकि, जैसा हम देख चुके हैं, प्रभावोत्पादक-शक्ति एवं सृजन की क्षमता केवल उसी में, अर्थात् ईश्वर में ही, विद्यमान है।

---

36. वही, 4/1/1.
37. वही, 4/1/1.

BIBLIOGRAPHY

Abbreviations

R.V.	De la recherche de la verite—Malebranche.
E. M.	Entretiens sur la metaphysique—Malebranche.
Copleston	Copleston, Frederick, A History of Philosophy (Image books, A Division of Doubleday and Company, Garden City, New York) 1963, Vol. 4, Modern Philosophy : Descartes to Leibnitz. (IX Chapter on Malebranche, p. 187–210) (VIII Chapter on Cartesianism, p. 181–86) Geulincx and the problem of interaction)
DPW	Descartes' Philosophical Writings (Selected and translated by Norman Kemp Smith) (London : Macmillan & Co. Ltd. 1952)
New Studies	New Studies in the Philosophy of Descartes, Normen Kemp Smith (London : Macmillan & Co. Ltd., 1952)
Brehier	Brehier Emile. The History of Philosophy (The Seventeenth Century) 1938 (Chicago & London : The University of Chicago Press), 1966 (Translated into English) Ch. III Descartes & Cartesianism pp. 46–125. Ch. VII Malebranche, pp. 197–224.

Bergmann — Bergmann, Gustav, Meaning and Existence (Madison : The University of Wisconsin Press, 1960)

Ch. XII Some Remarks on the Philosophy of Malebranche, pp. 189–204.

HR — The Philosophical Works of Descartes translated by E. S. Haldane and G.R.T. Ross (1911–12), Last corrected edition 1931, Dover Publications, 1955.

3

स्पिनोज़ा

(रमाकान्त त्रिपाठी)

पाश्चात्य दर्शन के ग्राधुनिक विचारकों में स्पिनोज़ा का कई कारणों से बहुत महत्त्व है—एक ग्रद्वैतवादी के रूप में, एक उत्कृष्ट बुद्धिवादी के रूप में तथा एक क्रान्तिकारी सुधारक के रूप में। स्पिनोज़ा का दर्शन ही नहीं, उनका व्यक्तित्व भी उच्च कोटि का रहा है। उनके विचारों में ग्राज भी लोग रुचि दिखाते हैं यद्यपि यह विभिन्न कारणों से होती है। उनका प्रभाव भी विभिन्न प्रकार के विचारकों पर दिखाई पड़ता है।

दर्शन के विषय में स्पिनोज़ा की एक ग्रपनी मान्यता थी ग्रौर उसका प्रभाव उनके व्यक्तित्व ग्रौर दार्शनिक सिद्धान्त दोनों पर था। उनके लिये दर्शन एक प्रकार का बुद्धि विलास मात्र नहीं है। उसका सम्बन्ध जीवन से है। उन्होंने स्पष्ट कहा है कि जब मैंने सांसारिक सुख—स्त्री-सुख, सम्पत्ति सुख ग्रौर सम्मान-सुख—को खोखला पाया तब मैंने स्थायी सुख की खोज करने का निश्चय किया ग्रौर यह निश्चय उस प्रकार का था जैसा ऐसे व्यक्ति का दावा करने का निश्चय जो घातक रोग से पीड़ित हो ग्रौर जिसके सामने मृत्यु नाच रही हो।[1] स्पिनोज़ा दर्शन को जीवन में उतारने वाले बहुत कम व्यक्तियों में से एक थे। एक बात निश्चित है कि दर्शन की सार्थकता तब तक सिद्ध नहीं हो सकती जब तक दर्शन की उत्पत्ति जीवन की ग्रसारता के ग्रनुभव से न मानी जाय। जब सांसारिक सत्य ग्रसत्य मालूम पड़ने लग जाँय तभी परतत्त्व की खोज शुरू हो सकती है। इस खोज के लिये भारतीय दर्शन में श्रुति का सहारा लिया जाता है परंतु स्पिनोज़ा को बुद्धि की क्षमता में विश्वास था। ग्रतः उन्होंने श्रुति का खण्डन तो नहीं किया बल्कि यह कहा कि श्रुति धर्म के लिये है। ग्रतः वे धर्म ग्रौर दर्शन को सर्वथा पृथक् रखना चाहते थे। ऐसा न करने से बहुत से विश्वास जो धर्म के लिये ग्रावश्यक ग्रौर उचित मालुम पड़ते हैं, दर्शन में घुस ग्राते हैं। उदाहरणार्थ, ईश्वर को व्यक्ति समझना, सृष्टि को प्रयोजनात्मक समझना, इच्छा

1. Emendatione, page 3.

स्वातंत्र्य में विश्वास आदि धार्मिक विश्वास हो सकते हैं किन्तु दर्शन में उनको स्थान नहीं मिल सकता। इसी से उन्होंने इन विश्वासों का खण्डन किया है। इस प्रकार स्पष्ट है कि स्पिनोज़ा की दर्शन की अपनी एक विशेष मान्यता थी।

स्पिनोज़ा का व्यक्तित्व उनके दर्शन की कल्पना के अनुरूप ही था। उनके जीवन में परम वैराग्य दिखाई पड़ता है। वे कामिनी-कंचन के मोह से मुक्त थे। वे अविवाहित थे और उनका चरित्र सर्वथा शुद्ध था। वे काँच रगड़कर जीविकोपार्जन करते थे।[2] एक बार उनको एक प्रोफेसरशिप भी दी जा रही थी किन्तु उन्होंने उसे स्वीकार नहीं किया। उन्होंने एक धनी व्यक्ति का उत्तराधिकारी बनना भी स्वीकार नहीं किया। उन्हें पथभ्रष्ट करने के लिये उनकी बिरादरी के लोगों ने उन्हें लालच दिया किन्तु इसका उन पर प्रभाव नहीं हुआ। उनकी बहन ने उनको पैतृक सम्पत्ति से वंचित करना चाहा। वे मुकदमा जीत गये किन्तु उन्होंने सम्पत्ति बहन को लौटा दी। लोकैषणा के विषय में उन्होंने कहा है कि इसके इच्छुक व्यक्ति दूसरों की इच्छा के अनुसार रहते हैं, स्वतंत्र नहीं। इस प्रकार वे तीनों एषणाओं से मुक्त थे। उनका कहना था कि जीवन का सुख अनित्य के प्रेम से अनित्य होता है और नित्य के प्रेम से नित्य होता है। नित्य के प्रेम में झगड़ा, ईर्ष्या, भय, घृणा या सांवेगिक हलचल के लिये स्थान नहीं है जो सांसारिक वस्तुओं के प्रेम में अनिवार्य रूप से होती है। उनमें अपने विश्वासों पर दृढ़ता से टिके रहने की अपूर्व शक्ति थी। उनकी बिरादरी वालों ने उनकी हत्या तक का प्रयत्न किया और उनको बिरादरी से बहिष्कृत कर दिया फिर भी वे अडिग रहे। ऐसा जीवन आत्माराम व्यक्ति के लिये ही संभव है। उनका जीवन नैतिक दृष्टि से ही नहीं बल्कि आध्यात्मिक दृष्टि से भी उच्चकोटि का था।

स्पिनोज़ा के दर्शन पर प्रभाव

स्पिनोज़ा को प्रायः डेकार्टवादी कहा जाता है। यह सही भी है कि डेकार्ट उनके प्रिय दार्शनिक थे और उनका प्रभाव भी इन पर पर्याप्त था। परन्तु यह कहना है कि वे पूर्णरूप से डेकार्ट के अनुयायी थे ठीक नहीं है क्योंकि डेकार्ट की उन्होंने आलोचना की है और न ही यह कहना ठीक है कि स्पिनोज़ा पर केवल डेकार्ट का ही प्रभाव था। स्पिनोज़ा पर यहूदी बुद्धिवादियों और स्टोइक (Stoics) लोगों का भी प्रभाव दीखता है। मेमोनिडज़ (Malmornides) का प्रभाव उन पर स्पष्ट है। कबाला (Cabbala) नामक साहित्य के प्रभाव पर केयर्ड ने और नेओप्लेटोनिस्ट के प्रभाव पर उत्फ़सन तथा पोलक ने ज़ोर दिया है। रसेल ने उनको लगभग पूर्णरूप से डेकार्ट का अनुयायी ही कहा है। ब्रूनो के सिद्धान्त से भी उनकी समानता पाई जाती है। इस सबके अतिरिक्त स्पिनोज़ा स्वतंत्र विचारक थे और दर्शन को उनकी अपनी स्वतत्र देन है।

2. See Pollock for Biographical details.

सर्व प्रथम स्पिनोज़ा ने दर्शन को धार्मिक विश्वासों से मुक्त कर उसे पूर्णरूप से स्वतंत्र रूप में प्रस्तुत किया।[3] डेकार्ट और लाइबनिज़ में यह बात नहीं थी। ये लोग तो धार्मिक विश्वासों की यथार्थता दिखाने में ही व्यस्त थे। स्पिनोज़ा ने डेकार्ट की असंगतियों को दूर किया और रसेल तो यहां तक कहते हैं कि लाइबनिज जब-जब संगत होने की चेष्टा करते हैं तब-तब स्पिनोज़ावाद में आ पड़ते हैं। दूसरी बात जो स्पिनोज़ा में पाई जाती है वह यह है कि उन्होंने दर्शन का जीवन से घनिष्ठ सम्बन्ध जोड़ा। यहाँ तक कि अपनी प्रधान पुस्तक का नाम उन्होंने आचारशास्त्र (Ethics) रखा। पाश्चात्य दर्शन में बहुत कम दार्शनिकों में यह बात पाई जाती है। सैद्धांतिक दृष्टि से स्पिनोज़ा की सबसे बड़ी देन है उनकी ईश्वर की कल्पना। ईश्वर को उन्होंने एक पूर्ण निरपेक्षतत्व (Alsolute) के रूप में समझा। ईश्वर पुरुष विशेष नहीं है। ईश्वरवादी दार्शनिक ईश्वर को प्रायः पुरुष विशेष के रूप में देखते हैं। स्पिनोज़ा के लिये ईश्वर इस कल्पना से परे है। उनकी आत्मा-विषयक कल्पना की विशेषता यह थी कि वे आत्मा को स्वभावतः अमर समझते थे और उन्होंने आत्मा और परमात्मा के ऐक्य का भी संकेत किया है। यहूदी धर्म, इस्लाम और ईसाई मत में यह बात नहीं मिलती है।

दार्शनिक विधि

स्पिनोज़ा की दार्शनिक विधि के विषय में बहुत विवाद है। उन्होंने अपनी पुस्तक **एथिक्स** इस प्रकार से लिखी है जैसे ज्योमेट्री लिखी जाती है। अतः प्रश्न उठता है कि इस विधि का प्रभाव उनके दर्शन पर है अथवा उनके दर्शन के फलस्वरूप यह विधि अपनाई गई है। कुछ लोगों ने तो इस विधि के प्रयोग के विरुद्ध आपत्ति की है और कहा है कि यह दर्शन के उपयुक्त नहीं है। सर्व प्रथम हम यह कहेंगे कि इस विधि के उपयुक्त न होने का प्रश्न ही नहीं उठता क्योंकि स्पिनोज़ा ने इस विधि को केवल अपने सिद्धान्तों को स्पष्ट रूप से प्रस्तुत करने के उद्देश्य से अपनाया था। इस विधि का न तो उनके दार्शनिक सिद्धान्तों पर प्रभाव पड़ा और न उनके दार्शनिक सिद्धान्तों का प्रभाव इस विधि पर पड़ा। स्पिनोज़ा तो यहूदी भाषा का व्याकरण भी इस विधि से लिखना चाहते थे। यह कहना कि ज्योमेट्री विधि उपयुक्त नहीं है क्योंकि दर्शन आध्यात्मिक तत्त्व से सम्बन्धित है न कि देशीय विस्तार से अथवा यह कहना कि आचारशास्त्र में विधि (ought) का विचार होता है न कि अस्तित्व का—ठीक नहीं है क्योंकि विषय कोई भी हो उसे ज्योमेट्री के सिद्धान्तों के रूप में रखने या सिद्ध करने में क्या कठिनाई हो सकती है? यह कहना भी कि ईश्वर में या मनुष्य में स्वतन्त्र इच्छा का निषेध इस विधि का परिणाम है, अनुचित है क्योंकि बिना इस विधि का सहारा लिये बहुत से लोगों ने इच्छा स्वातंत्र्य का निषेध किया है। स्पिनोज़ा

3. Theologico, 250.

की ज्यामिति विधि की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उन्होंने अपनी सारी पूर्व-मान्यताओं को परिभाषाओं के रूप में स्पष्ट कर दिया है, चाहे आप स्वीकार करें या अस्वीकार। दूसरी विशेषता यह है कि उन्होंने ईश्वर को दर्शन का केन्द्र-बिन्दु समझा है अर्थात् उन्होंने यह विचार रखा है कि हमको सर्व प्रथम ईश्वर की कल्पना को पूर्णरूप से संतोषजनक बना कर तब उस दृष्टि से अन्य समस्याओं या वस्तुओं पर विचार करना चाहिये। ऐसा नहीं होना चाहिये कि अन्य समस्याओं और वस्तुओं पर विचार स्थिर करके फिर उस दृष्टि से ईश्वर पर विचार करें। सत्य की खोज में क्रम का महत्त्व है। परम सत्य ईश्वर हमारी दृष्टि का निर्धारक या उसका केन्द्र होना चाहिये।

परम तत्त्व (द्रव्य)

परिभाषा :

स्पिनोज़ा ने द्रव्य की परिभाषा गुणों के आधार के रूप में नहीं की है। उनके लिये द्रव्य वह है जो स्वनिष्ठ हो और जिसका बोध अपने से हो। यह परिभाषा नई नहीं है। डेकार्ट ने भी यही परिभाषा दी थी। स्पिनोज़ा ने उसमें यह जोड़ दिया कि द्रव्य का बोध अपने स्वयं से या कहें तो ज्ञाता से पूर्ण स्वतंत्र होता है। तात्पर्य यह है कि द्रव्य सत्ता की दृष्टि से और ज्ञान की दृष्टि से दोनों दृष्टियों से स्वतंत्र है। न तो उसकी सत्ता किसी पर अवलंबित है और न उसका ज्ञान। द्रव्य के लिए उन्होंने ईश्वर शब्द का भी प्रयोग किया है किन्तु धार्मिक अर्थ में नहीं बल्कि परम तत्त्व के अर्थ में।

प्रश्न उठता है कि क्या यह परिभाषा मनमानी है या सही है ? इसका उत्तर यह है कि यदि इस परिभाषा में ईश्वर विषयक सभी विचार निहित हों तो इसे ठीक ही मानना चाहिये। स्पिनोज़ा ने यह दिखाने का प्रयत्न किया है कि इस परिभाषा से ईश्वर का स्वरूप स्पष्ट किया जा सकता है। दूसरी कठिनाई स्वतंत्र-बोध के विषय में उठती है। क्या किसी भी पदार्थ का बोध स्वयं अपने से हो सकता है ? क्या एक पदार्थ का ज्ञान दूसरे पदार्थों के ज्ञान पर अवलम्बित नहीं है ? हेगल ने कहा कि द्रव्य गुण, सामान्य-विशेष, कार्य-कारण आदि जोड़े-वाले पद परस्परापेक्षी हैं किन्तु यह विचार ठीक नहीं जान पड़ता है। यदि सभी ज्ञान सापेक्ष हों तो किसी भी वस्तु का ज्ञान नहीं हो सकता। अन्त में हमको एक ऐसा ज्ञान स्वीकार करना होगा जो निरपेक्ष हो। इस अर्थ में ईश्वर तत्त्व का बोध स्वीकार करना ठीक ही है। उल्फ़सन ने ठीक ही कहा है कि "स्पिनोज़ा के लिये ईश्वर साक्षात् ज्ञान का विषय है।"[4] स्पिनोज़ा उन लोगों से सहमत नहीं हैं जो ईश्वर का ज्ञान केवल परोक्ष ही मानते हैं।

ईश्वर का हमें स्वतंत्र बोध है, इसका अर्थ है कि ईश्वर सब प्रकार के सम्बन्धों से मुक्त है। वह सर्वथा निर्विशेष है। सविशेष होने से सम्बन्धित हो जाना पड़ता है

4. Wolfson-Vol. I, 165,

तथा निषेध का अंश आ जाता है। ईश्वर सब प्रकार के निषेधों से सर्वथा परे है। इसी से स्पिनोज़ा ने स्पष्ट कहा कि ईश्वर सर्व प्रकारेण अनन्त है, केवल एक दृष्टि से अथवा एक रूप से नहीं। जो अनन्तता सापेक्ष होती है उसमें निषेध का अंश होता है परन्तु ईश्वर में किसी प्रकार का विशेषत्व (determination) नहीं है। द्रव्य के विशेषण भी अनन्त हैं किन्तु सापेक्ष दृष्टि से जिसके कारण वे द्रव्य नहीं कहे जा सकते।

स्पिनोज़ा ने स्वरूप लक्षण (properties) और विशेषणों (attributes) में भेद किया है। स्वरूप गुण वे हैं जिनको हम ईश्वर की परिभाषा से तर्कण निकाल सकते हैं।[5] जैसे ईश्वर की परिभाषा के आधार पर हम कह सकते हैं कि ईश्वर की सत्ता अनिवार्य है, वह असाधारण, अपरिवर्तनशील, अनन्त आदि है। विशेषण (attributes) पद का प्रयोग स्पिनोज़ा ने एक पारिभाषिक अर्थ में किया है। विशेषण वे हैं जो बुद्धि द्वारा द्रव्य के स्वरूप के रूप में ग्रहण किये जाते हैं। अतः हम उनको आरोपित कह सकते हैं। वैदान्त ने इसी अर्थ में उपाधि शब्द का प्रयोग किया है।

ईश्वर के स्वरूप लक्षण के विषय में इस प्रकार तर्क किया जा सकता है। स्वतंत्र बोध वाला और स्वतंत्र सत्ता वाला होने के कारण ईश्वर सबसे प्रथम है, और सबका आधार है। द्रव्य सरल, अविभाज्य, अपरिवर्तनशील, शाश्वत, एक और अनन्त है। जो वस्तु साकार सविशेष सापेक्ष होगी उसमें ये गुण नहीं रह सकते हैं। डेकार्ट ने विस्तार और विचार को भी द्रव्य की कोटि में रखा है परन्तु स्पिनोज़ा का आग्रह था कि द्रव्य की परिभाषा इन पर लागू नहीं होती है। ये स्वतंत्र नहीं हैं। अतः उन्होंने इनको अपदस्थ कर विशेषण का नाम दिया। द्रव्य एक से अधिक नहीं हो सकता; नहीं तो सीमित और सापेक्ष हो जायगा। द्रव्य सर्वथा—सब दिशा में सब दृष्टि से—अनन्त है क्योंकि किसी भी प्रकार द्रव्य को विशिष्ट करना उसमें निषेध को घुसाना है।

विशेषण निषेध है। इसी से द्रव्य जटिल भी नहीं हो सकता और न द्रव्य की सृष्टि हो सकती है। द्रव्य स्वयंभू है। स्वयंभू का अर्थ यह नहीं है कि वह कार्य-रूप है, भले ही वह अपना ही कार्य क्यों न हो। इसका सही अर्थ यह है कि द्रव्य अकारण है, अर्थात् उसका न कोई कारण है, न हो सकता है। द्रव्य सर्वव्यापी है क्योंकि वही एक मात्र सत्ता है। इसी से वह स्वतंत्र भी है, स्वतंत्रता का अर्थ स्वतंत्र इच्छा वाला नहीं, बल्कि सर्वनिरपेक्ष सत्ता है। एक मात्र सत्ता होने के कारण द्रव्य सबका आधार या कारण भी है और वही एक मात्र कारण है।

ऊपर के संक्षिप्त विवरण से स्पष्ट है कि स्पिनोज़ा ने ईश्वर के उन सब लक्षणों को स्वीकार किया है जिसे सामान्यतः ईश्वरवादी स्वीकार करते हैं। केवल

5. Correspondence–XXXIII, page 365.

दो बातें नहीं कही गई हैं। एक तो यह कि ईश्वर कोई पुरुष या व्यक्ति नहीं है और दूसरी यह कि सृष्टि का अर्थ इच्छात्मक या संकल्पात्मक सृष्टि नहीं है क्योंकि व्यक्तित्व और इच्छा पूर्णता के द्योतक नहीं हैं, बल्कि अपूर्णता के। ईश्वर की कारणता किस प्रकार की है, इस पर आगे विचार होगा। यहाँ तो केवल इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि ईश्वर सर्वव्यापी होते हुए भी सबसे परे है। अतः यदि सर्वेश्वरवाद का अर्थ यह है कि दृष्टि जगत् ही ईश्वर है तो स्पिनोज़ा को सर्वेश्वरवादी कहना गलत है। स्पिनोज़ा ईश्वर को किसी भी ईश्वरवादी से कम परे नहीं मानते हैं। मार्टिन्यू ने यह दोषारोपण किया है[6] कि स्पिनोज़ा ने धार्मिक शब्दावली का अनुचित और भ्रामक प्रयोग किया है। परन्तु वे यह नहीं जानते कि धार्मिक पदावली का अर्थ लगाने का प्रत्येक व्यक्ति को अधिकार है। कोई भी धर्म यह नहीं कह सकता कि अमुक शब्द का अमुक मात्र अर्थ हो और कुछ नहीं। साधारणतया परत्व और व्यापकत्व में विरोध माना जाता है। परन्तु वास्तव में इनमें विरोध नहीं है। परत्व का अर्थ यह नहीं है कि ईश्वर किसी दूर देश में है बल्कि यह है कि ईश्वर सीमित वस्तुओं का समूह मात्र नहीं है, वह उनका मूल है। बल्कि यों कहा जा सकता है कि ईश्वर सर्वव्यापी है क्योंकि वह परे है। जो परे नहीं है वह सर्वव्यापी नहीं हो सकता। और जो सर्वव्यापी है, वास्तव में वही परे भी हो सकता है। एकदेशीय वस्तु परे नहीं हो सकती है। जो लोग ईश्वर के पररूप पर ध्यान नहीं देते वे उसको पर्याय रूप ही समझते हैं। ईश्वर में सत्ता और सत्व का भेद नहीं है। इसी से कहा जाता है कि ईश्वर की सत्ता अनिवार्य है। वह नित्य है। द्रव्य में न तो सत्ता और सत्व का भेद है और न ही उसमें अन्य किसी प्रकार का भेद है। उसमें बुद्धि और इच्छा का भी भेद नहीं है और न ही संभाव्यता और वास्तविकता का।

द्रव्य विषयक भ्रामक धारणायें

पाश्चात्य विद्वानों ने चाहे वे वस्तुवादी (पोलक, मार्टिन्यू) हों, चाहे वे विज्ञानवादी (केयर्ड, जोआकिम्) हों, दोनों ने स्पिनोज़ा के द्रव्य की कल्पना को भ्रामक रूप में रखा है क्योंकि दोनों को व्यावहारिक जगत् की सत्यता की चिन्ता है। मार्टिन्यू का कहना यह है कि जगत् दो समान और विरोधी द्रव्यों (विस्तार और विचार) का विकास मात्र है और ईश्वर तो केवल नाम मात्र का योग है।[7] वास्तव में स्पिनोज़ा द्वैतवाद से प्रारम्भ करता है। स्पष्ट है कि यह विचार सर्वथा गलत है, क्योंकि स्पिनोज़ा ने बार-बार ईश्वर को केन्द्र में रखने की चेतावनी दी है। वे विचार और विस्तार को द्रव्य मानकर नहीं चलते हैं। स्पिनोज़ा के दर्शन में ऐक्य प्रधान है,

6. Martineau Study, p. 171.
7. Martineau, Types, Vol. I, 293.

न कि द्वैत या अनेकत्व। इसी से उन्होंने सृष्ट द्रव्य की कल्पना का खण्डन किया। यह कहना भी कि विरोधी विधेयों का उद्देश्य एक नहीं हो सकता,[8] ठीक नहीं है। सर्वप्रथम विचार और विस्तार भिन्न हैं न कि विरोधी और दूसरे विचार और विस्तार का द्रव्य से कोई विरोध नहीं है, क्योंकि द्रव्य निर्विशिष्ट है। अतः वे दोनों द्रव्य के विधेय हो सकते हैं। उल्फ़ का यह कहना कि द्रव्य विभिन्न विशेषणों की एक संहति[9] या ऐक्य है, द्रव्य के परत्व को भूल जाना है। द्रव्य विशेषणों से परे होकर ही निर्विशिष्ट हो सकता है। अनन्त सापेक्ष विशेषणों को जोड़कर निरपेक्ष अनन्त नहीं बन सकता, और फिर उन विशेषणों को संयुक्त कैसे किया जायगा जब उनसे परे कुछ है ही नहीं? उल्फ़ का यह कहना कि विस्तार और विचार ही मात्र विशेषण हैं[10] अथवा हैलेट का यह कथन कि विस्तार और विचार के परे कुछ नहीं है[11] द्रव्य के स्वरूप को न समझना है। केयर्ड ने विचार पक्ष पर अधिक ज़ोर देकर द्रव्य को विचारात्मक रूप में प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है। परन्तु स्पिनोज़ा का द्रव्य तो विचार और विस्तार दोनों से परे है। विचार के भी परे होने पर द्रव्य शून्य नहीं हो जाता है क्योंकि वह तो स्वतन्त्र बोध वाला है। विचार के परे का अर्थ यही है कि द्रव्य निर्विशेष है। यह तर्क करना कि तत्त्व निर्विशेष नहीं हो सकता तो यह कहने के समान होगा कि तत्त्व निषेध-मुक्त ही नहीं हो सकता।

द्रव्य का कारणत्व

ईश्वर या द्रव्य अपरिवर्तनशील होते हुए भी जगत् का कारण है। ऐसा होना किस प्रकार संभव है? यह कहा जाता है कि यदि द्रव्य अपरिवर्तनशील है तो जगत् मिथ्या है और यदि जगत् सत्य है तो द्रव्य को परिवर्तनशील मानना होगा। इस प्रसंग में वेदान्त में मायावाद की शरण ली जाती है। क्या स्पिनोज़ा में भी मायावाद है? इस प्रश्न पर विचार विशेषण के प्रसंग में होगा।

सामान्यतः ईश्वर को प्रथमकारण, प्रधानकारण, सामान्यकारण, तात्विक-कारण और स्वतंत्रकारण कहा गया है। स्पिनोज़ा ने यह सब स्वीकार किया है परन्तु उन्होंने एक तो स्वतन्त्र कारण का अर्थ दूसरा लगाया है और दूसरे ईश्वर को अंतर्यामी कारण माना है जबकि दूसरे लोग केवल दूरस्थकारण मानते हैं। स्पिनोज़ा का कहना है कि यदि ईश्वर स्वतंत्र कारण है तो वास्तव में सृष्टि प्रयोजनात्मक नहीं हो सकती। लोग सोचते हैं कि ईश्वर के पूर्णत्व का अर्थ है कि उसमें अपनी इच्छानुसार

8. Martineau, Study, p. 183.
9. P.A.S. XXVII, p. 179 (A. Wolf, Spinoza's Conception of the Attributes of Substance).
10. Ibid, p. 190.
11. Aeternitas, p. 299.

मनमानी करने की शक्ति है। इस प्रश्न के प्रसंग में तीन प्रश्न उठते हैं—बुद्धि और इच्छा का सम्बन्ध, संभाव्य और वास्तविक का सम्बन्ध, तथा सृष्टि की सप्रयोजनता का प्रश्न। सर्व प्रथम ईश्वर की सरलता का अर्थ है कि ईश्वर में बुद्धि और इच्छा का द्वैत नहीं हो सकता। यदि ईश्वर में बुद्धि और इच्छा मानी भी जाय तो स्पष्ट है कि वह बुद्धि और इच्छा हमारी बुद्धि और इच्छा के समान नहीं होगी। इस बात की संभावना कि ईश्वर इससे अच्छी अथवा इससे बुरी सृष्टि भी कर सकता था, ईश्वर की संपूर्णता का परिचायक है न कि उसकी पूर्णता का[12]। ईश्वर ने वही किया है जो वह कर सकता था। इसी से स्पिनोज़ा ने कहा कि संभाव्य और वास्तविक में कोई भेद नहीं है। यदि ईश्वर परममंगलमय है तो उससे सर्वोत्तम के अतिरिक्त और कुछ संभव ही नहीं है। ईश्वर विकल्प नहीं करता और न विकल्पों को तौलता ही है—मंगलमय सर्वज्ञ को इसकी आवश्यकता ही नहीं पड़ सकती। स्पिनोज़ा के दर्शन में आकस्मिक (Contingent) का अर्थ इच्छा-तंत्र नहीं है, परतंत्र है। ईश्वर में इच्छा स्वातंत्र्य न होने का अर्थ है कि सृष्टि प्रयोजनात्मक नहीं है। यदि हम सृष्टि का कोई प्रयोजन मानते हैं तो हमको प्रयोजन का एक मापदण्ड मानना होगा। वह मापदण्ड ईश्वर से स्वतंत्र है अथवा ईश्वर पर निर्भर करता है? यदि वह ईश्वर से स्वतंत्र है तो ईश्वर के परे भी कुछ मानना पड़ेगा और यदि वह मापदण्ड ईश्वर की इच्छा पर निर्भर करता है तब वह मापदण्ड नहीं रहा। इसी से स्पिनोज़ा कहते हैं कि जो लोग सोचते हैं कि ईश्वर किसी शुभ को दृष्टि में रखकर सृष्टि करता है, वे शुभ को ईश्वर से भी ऊपर रख देते हैं।[13] उनसे अच्छे तो वे हैं जो यह कहते हैं कि सृष्टि अनपेक्ष शक्ति (absolute power) का कार्य है। धर्म में ईश्वर को पूर्ण पुरुष के रूप में देखा जाता है। अतः धर्म में सृष्टि सप्रयोजन मानी जाती है किन्तु हमको वही दृष्टि दर्शन में नहीं रखनी चाहिये क्योंकि दर्शन का तत्त्व तो निर्विशिष्ट व्यक्तित्वहीन है।[14] हमको दर्शन और धर्म का घपला नहीं करना चाहिये। सृष्टि को सप्रयोजन कहना अपनी भावनाओं को ईश्वर पर आरोपित करना है।[15]

ईश्वर में इच्छा-निषेध से भी अधिक विवादग्रस्त प्रश्न है ईश्वर के सर्वव्यापी होने का। क्या हम मान सकते हैं कि ईश्वर दुनियां की अच्छी-बुरी सब चीज़ों में वर्तमान है? क्या इससे ईश्वर की पूर्णता पर आँच नहीं आयेगी? सर्वव्यापी होने से क्या ईश्वर विभाजनशील नहीं हो जायगा? इन शंकाओं के उत्तर में हम पूछते हैं: क्या ईश्वर को दूरस्थ रखकर उसे हम जगत् की बुराइयों के दायित्व से बचा सकते

---

12. Ethics I, Appendix.
13. Ethics I, Scholium 2 to Prop. 33.
14. Correspondence XXIII, p. 190–91.
15. Ethics I, Appendix.

हैं ? ईश्वर जब सबका कारण है तब उसे अच्छा-बुरा सबका कारण मानना पड़ेगा चाहे जिस अर्थ में हम लें। दूसरी बात यह है कि दुनियाँ की चीज़ों को हम अच्छा-बुरा अपने मापदण्ड से देखकर समझते हैं।[16] स्वतः न कोई चीज़ अच्छी है न बुरी। ईश्वर सबमें व्याप्त है इसका अर्थ यह नहीं है कि ईश्वर सब वस्तुओं का समूह है बल्कि ईश्वर सबका आधार या कारण है। इसी से ईश्वर के विभाजनशील होने का प्रश्न ही नहीं उठता। सर्वप्रथम तो विस्तार विभाजनशील नहीं है क्योंकि उसके टुकड़ों को एक दूसरे से पृथक नहीं कर सकते। दूसरे यदि विस्तार विभाजनशील भी हो तो भी वह द्रव्य का एक आरोपित गुण है, उससे द्रव्य प्रभावित नहीं होता। अतः ईश्वर को सर्वव्यापी मानने में आपत्ति न होनी चाहिये।

स्पिनोज़ा ने एक जगह कहा है जिस प्रकार ईश्वर की सत्ता किसी उद्देश्य से नहीं होती उसी प्रकार ईश्वर का कार्य भी किसी प्रयोजन से नहीं होता।[17] वह इतना पूर्ण है कि उसका कोई प्रयोजन नहीं हो सकता। यदि वह क्रियाशील है तो अपने स्वभाव के कारण। यही उसकी स्वतंत्रता है। स्पिनोज़ा ने इसीलिये स्वतंत्र अवश्यत्व[18] (free necessity) शब्द का प्रयोग किया है। ईश्वर पूर्ण और एक मात्र कारण है; यह उसकी स्वतंत्रता है, न कि उसकी स्वेच्छा। जो कुछ हो सकता था वह सब ईश्वर ने किया है यह कह देने के उपरान्त यह कहने का कि ईश्वर ने इससे अच्छा संसार क्यों नहीं बनाया, निरर्थक मालूम होता है। हमको संसार की वस्तुओं को अपने मापदण्ड से नहीं देखना है बल्कि उनके स्वरूप की दृष्टि से देखना है। स्वतः कोई चीज़ न अच्छी है न बुरी।

ईश्वर के विशेषण (Attributes) या उपाधियाँ

स्पिनोज़ा एक ओर तो द्रव्य को सर्वथा निर्विशिष्ट कहते हैं और दूसरी ओर द्रव्य के अनन्त विशेषणों की बात करते हैं। द्रव्य को पूर्णरूप से निर्विशिष्ट कह देने के उपरान्त फिर विशेषणों को लाने का प्रश्न कैसे उठता है ? कहा जाता है कि यहाँ पर स्पिनोज़ा का दर्शन कमज़ोर है क्योंकि विशेषणों को लाने का प्रयोजन तो समझ में आता है परन्तु उसका तर्क नहीं समझ में आता[19]। निर्विशिष्ट द्रव्य के स्वरूप से विशेषण निकाले नहीं गये हैं बल्कि उसमें डाले गये हैं। इस आलोचना की विशेषता यह है कि इसमें द्रव्य के निर्विशिष्ट रूप को स्वीकार किया गया है और परोक्षरूप से यह भी मान लिया गया है कि विशेषण आरोपित हैं। विशेषणों के लाने का उद्देश्य यह दिखाना जान पड़ता है कि संसार की वस्तुओं जो उन विशेषणों के पर्याय हैं वे द्रव्य

16. Correspondence XXIII, p. 190.
17. Ethics, Preface to Part IV.
18. Correspondence LVIII, p. 295.
19. Caird, p. 131, 134.

पर अवलंबित हैं क्योंकि विशेषण स्वयं द्रव्याश्रित हैं। विशेषण आरोपित हैं यह तो उनकी परिभाषा से ही स्पष्ट हो जाता है। स्पिनोज़ा ने स्पष्ट कहा है कि बुद्धि इस प्रकार के विशेषण आरोपित करती है।[20] विशेषण की परिभाषा में कहा है कि विशेषण वह है जिसे बुद्धि द्रव्य के तत्त्व के रूप में देखती है। कुछ लोग इस परिभाषा में बुद्धि के देखने पर ज़ोर देते हैं और कुछ लोग द्रव्य के तत्त्व पर ज़ोर देते हैं। जो लोग द्रव्य के तत्त्व पर ज़ोर देते हैं वे विशेषणों को तात्विक मानते हैं और जो बुद्धि के देखने पर ज़ोर देते हैं वे उनको कल्पित मानते हैं। विशेषणों को तात्विक मानने में दो प्रकार की कठिनाइयाँ उठती हैं। एक तो यह कि स्पिनोज़ा ने कई स्थल पर स्पष्ट कहा है कि विशेषण बौद्धिक हैं।[21] दूसरी कठिनाई यह होती है कि विशेषणों को तात्विक मानने से द्रव्य की सरलता, निर्विशिष्टता आदि को खतरा उत्पन्न हो जाता है। अतः हम उल्फ़सन[22] और एर्डमान[23] के मत से सहमत हैं कि विशेषणों को बौद्धिक मानना अधिक संगत है। पोलक का यह कहना कि द्रव्य विशेषणों के अतिरिक्त कुछ नहीं है, ग़लत है[24]। मार्टिन्यू, एर्डमान की आलोचना करते हैं और कहते हैं कि विशेषणों को बौद्धिक मानना असंभव है और उनको तात्विक मानने से अनेक कठिनाइयाँ आती हैं परन्तु वास्तव में विशेषणों को बौद्धिक मानना असंभव नहीं है और उससे अनेक कठिनाइयाँ हल हो जाती हैं जो उनको तात्विक मानने से उठती हैं।

विशेषणों के विषय में उनके तात्विक और कल्पित होने के अतिरिक्त तीन और प्रश्न उठते हैं जो उपरोक्त प्रश्न से सम्बन्धित हैं—उनका द्रव्य से संबंध, उनका आपसी सम्बन्ध और उनकी संख्या। यदि विशेषणों को तात्विक माना जाय तो द्रव्य के साथ उनका सम्बन्ध ठीक नहीं बैठता और द्रव्य का परत्व और महत्त्व प्रायः समाप्त हो जाता है। विशेषणों के आपसी सम्बन्ध के विषय में स्पिनोज़ा ने कहा है कि वे समानान्तर हैं। समानान्तर के दो अर्थ हैं—एक तो यह कि वे एक दूसरे से स्वतंत्र हैं और दूसरे यह कि उनमें परस्पर क्रिया-प्रतिक्रिया न होने पर भी अनुरूपता (Correspondence) है। विशेषणों के तात्विक होने पर वे स्वतंत्र तो होंगे परन्तु उनमें अनुरूपता (Correspondence) न होगी, या कम से कम उसका कोई तात्विक आधार न होगा। उनमें अनुरूपता (Correspondence) इसलिये होती है कि वे दोनों एक ही द्रव्य के विशेषण हैं। बुद्धि कभी द्रव्य को विस्तार के रूप में लेती है और कभी विचार के रूप में—अर्थात् वे बौद्धिक हैं। इसी तरह विशेषणों की संख्या

---

20. Correspondence IX, p. 108.
21. Cogitata, II–5
22. Wolfson, Vol. I, p. 146.
23. Erdmann--History of Philosophy, Vol. II, 72–73 footnotes.
24. Pollock, p. 152.

का प्रश्न भी तभी हल हो सकता है जब उनको आरोपित समझा जाय। स्पिनोज़ा ने कहा है कि विशेषण अनन्त हैं। वे केवल सीमा की दृष्टि से ही अनन्त नहीं हैं बल्कि संख्या की दृष्टि से। कुछ लोग यह कल्पना नहीं कर पाते कि दूसरे कौन से विशेषण हो सकते हैं और कहते हैं कि शायद दो ही विशेषण, विचार और विस्तार मात्र हैं। द्रव्य के अनन्त विशेषण हैं इसका वास्तविक अर्थ यह है कि द्रव्य अनन्त प्रकार से विशिष्ट हो सकता है क्योंकि वह सर्वथा निर्विष्ट है। हमारी बुद्धि उसे दो प्रकार से विशिष्ट करती है परन्तु उसमें विशिष्ट होने की अनन्त क्षमता है। ऐसा अर्थ लगाने से अज्ञेयवाद की समस्या नहीं उठेगी क्योंकि विशेषण पहले से वहाँ हैं ही नहीं तो उनके जानने न जानने का प्रश्न कैसे उठेगा? वे तो आरोपित होते हैं। यह सही है कि स्पिनोज़ा ने कहीं-कहीं ऐसे शब्दों का प्रयोग किया है कि जान पड़ता है कि विशेषण वास्तविक हैं, जैसे विचारवान द्रव्य, शरीरवान द्रव्य। उन्होंने यह भी कहा है कि जिस वस्तु में जितनी ही अधिक सत्ता होगी उसमें उतने ही अधिक विशेषण होंगे परन्तु उन्होंने इसे स्पष्ट करके कहा है कि यह नियम द्रव्य की अनन्तता को ध्यान में रखकर बनाया गया है न कि अन्य किसी बात को ध्यान में रखकर।[25]

सभी विशेषणों का स्थान समान है। प्रो० उल्फ़सन ने कहा है कि स्पिनोज़ा के दर्शन में विचार और विस्तार ने रूप (form) और भौतिक द्रव्य (matter) का स्थान ले लिया है परन्तु ऐसा कहने से दोनों के स्थान में भेद आ जाता है। विज्ञानवादी केयर्ड[26] और जोआकिम[27] ने विचार पर अधिक बल दिया है और वस्तुवादी एलेक्ज़ाण्डर[28] ने प्रस्ताव किया है कि क्यों नहीं विस्तार को अधिक महत्त्व दिया जाय। परन्तु स्पिनोज़ा न तो वस्तुवादी थे और न विज्ञानवादी थे। अतः उनके लिये सभी विशेषण समान स्तर के थे।

कभी-कभी यह प्रश्न उठाया जाता है कि विचार और विस्तार की तरह क्या काल को द्रव्य का विशेषण नहीं कहा जा सकता? यह सत्य है कि स्पिनोज़ा ने द्रव्य को शाश्वत् (eternal) कहा है किन्तु शाश्वत् का अर्थ अनन्त काल नहीं बल्कि अकाल या कालहीन है।[29] क्योंकि शाश्वत् में कब, पहले, बाद में का प्रश्न नहीं उठता। ये सब प्रश्न काल के अन्तर्गत उठते हैं। अतः द्रव्य के विशेषणों के पर्याय तो काल में हैं किन्तु स्वयं द्रव्य कालातीत या शाश्वत है। कालातीतता द्रव्य पर आरोपित नहीं है। अतः इसे विशेषण नहीं कह सकते। यह तो द्रव्य का स्वरूप ही है।

---

25. Wolfson, Vol. I, p. 152.
26. Caird, p. 156
27. Joachim, **Study**, p. 137.
28. Alexander, **Spinoza & Time**, 51–52.
29. Ethics I, Definition VIII, Explanation.

विशेषणों के विषय में यह भी पूछा जाता है कि क्या वे सक्रिय हैं ? उल्फ[30] की शिकायत है कि अंग्रेज़ी व्याख्याकारों ने प्रायः सबने विडिलबैन्ड का यह मत कि विशेषण निष्क्रिय हैं—स्वीकार किया है। पोलक, उल्फ़ और स्टाइनर ने विशेषणों और उनके पर्यायों के बीच कार्य-कारण सम्बन्ध को विस्तार और ज्योमेट्री के चित्रों के रूप में लिया है। इस विवाद के पीछे रहस्य यह है कि लोग समझते हैं कि विशेषणों को सक्रिय मानने से पर्यायों को सत्य मानने में सुविधा होगी और नहीं तो वे विशेषणों के सीमित रूपों के समान हो जायेंगे। परन्तु यदि विशेषण आरोपित हैं तो उनके सक्रिय होने से भी पर्याय सत्य न हो सकेंगे। द्रव्य वास्तव में विभाजित नहीं हो सकता। द्रव्य तो विशेषणों से परे है।

अतः यदि हम विशेषणों को सक्रिय मान भी लेते हैं तो उससे न तो द्रव्य की परिवर्तनशीलता सिद्ध होती है और न पर्यायों की सत्यता। एक पक्ष का भय और दूसरे पक्ष की आशा, दोनों ही निराधार हैं। विशेषणों का सिद्धान्त केवल व्यावहारिक जगत् की व्याख्या के लिये अपनाया गया है। निर्विशिष्ट द्रव्य स्वयं परिवर्तित होकर कारण नहीं बनता बल्कि विशेषणों के माध्यम से कारण बनता है।

पर्याय (Modes)

द्रव्य या ईश्वर सर्वथा निरपेक्ष है परन्तु जब हम उसे जगत् की दृष्टि से देखते हैं तो उसे जगत् का स्वतंत्रकारण कहते हैं। स्वतंत्र कारण के रूप में द्रव्य को Nature Naturans कहते हैं।[31] अर्थात् द्रव्य का एक कूटस्थ रूप है और एक सोपाधिक रूप है। वेदांत में इनको ब्रह्म और ईश्वर के रूप में पृथक किया गया है। द्रव्य विशेषणों के कारण विशिष्ट होकर सक्रिय होता है और तब उससे सृष्टि होती है। किन्तु विशेषण असीम हैं। अतः असीम से ससीम की सृष्टि कैसे होती है ? स्पिनोज़ा ने इस कठिनाई को हल करने के लिए ऐसे पर्यायों की कल्पना की है जो पर्याय हैं फिर भी असीम हैं। स्वभावतया पर्याय असीम ही हो सकता है फिर भी यह दिखाने के लिये कि असीम से असीम की सृष्टि अचानक नहीं हो जाती बल्कि मध्यवर्ती अवस्थाओं से गुज़रने के बाद होती है, ससीम पर्यायों की कल्पना की गई है।[32] असीम पर्याय भी दो प्रकार के हैं—निकटतम और मध्यवर्ती। विशेषणों के निकटतम पर्याय है—अनंतबुद्धि (विचार के) गति और स्थिरता (विस्तार के)। स्पिनोज़ा मध्यवर्ती पर्याय का एक ही उदाहरण देते हैं और वह है—सम्पूर्ण जगत् का रूप (face of the whole universe)। निकटतम पर्यायों से ही सभी सीमित

---

30. P.A.S., p. 180.
31. Ethics I, Scholium to Prop. 29.
32. Ethics I, Prop. 23.

वस्तुओं की सृष्टि होती है और उन्हीं के योग या समूह को सम्पूर्ण जगत् का रूपक कहा जाता है।

ऊपर जो कुछ कहा गया है उससे स्पष्ट है कि पर्यायों का क्रमिक विकास होता है और क्रम के अन्त में हम ससीम विशिष्ट वस्तुओं को पाते हैं। इसी से स्पिनोज़ा ने पर्याय की परिभाषा में कहा है कि वे वस्तुयें पर्याय हैं जिनका अस्तित्व और ज्ञान दोनों दूसरे के माध्यम से हों। यहाँ द्रव्य की परिभाषा और पर्याय की परिभाषा एक दूसरे के सर्वथा विरुद्ध मालूम पड़ती हैं। जहां द्रव्य सर्वथा स्वतंत्र हैं, पर्याय सर्वथा परतंत्र हैं, जहाँ द्रव्य में कोई निषेधात्मक अंश नहीं है वहां पर्यायों में एक प्रकार से निषेध ही निषेध है, क्योंकि वे सर्वथा विशिष्ट हैं और इस प्रकार अन्य से भेद उनमें अपनी चरम सीमा पर है। किन्तु सभी पर्याय एक स्तर के नहीं हैं। जहां निकटतम पर्याय केवल विशेषण या द्रव्य पर अवलम्बित हैं वहाँ अन्य पर्यायों की दोहरी परतंत्रता है। एक तरफ तो वे अन्य पर्यायों पर निर्भर करते हैं और दूसरी ओर वे अंततोगत्वा किसी विशेषण पर आश्रित हैं, लेकिन एक विशेषण के पर्याय दूसरे विशेषण के पर्याय पर अवलम्बित नहीं होते। एक विशेषण के पर्याय उसी विशेषण के पर्यायों पर निर्भर करते हैं। इन पर्यायों में भी सीमित सापेक्ष स्वतंत्रता है किन्तु वे न तो विशेषणों की तरह और न द्रव्य की तरह स्वतंत्र हैं।

एकतत्ववाद में सबसे बड़ी समस्या है एक से अनेक की या अनन्त से सीमित वस्तुओं की उत्पत्ति। अतः प्रश्न है कि किस प्रकार स्पिनोज़ा का सर्वथा अनन्त द्रव्य सीमित पर्यायों के रूप में परिणित हो सकता है? यदि असीम और ससीम में सह-अस्तित्व है तो दोनों सापेक्ष होंगे और यदि क्रम है तो असीम को ससीम में परिणत मानना पड़ेगा।[33] उल्फ़सन का कहना है कि यदि कार्य कारण के समान है तो ससीम की उत्पत्ति असीम से कैसे हो सकती है? उनका कहना है कि स्पिनोज़ा में एक और अनेक का सम्बन्ध केवल तार्किक है, कालिक या देशीय नहीं। अतः द्रव्य को तर्काधार कह सकते हैं, कारण नहीं।[34]

यदि एक से अनेक की वास्तविक उत्पत्ति मानी जाये तो एक का एकत्व समाप्त हो जाता है और यदि एक से अनेक की उत्पत्ति वास्तविक नहीं है तो अनेक की सत्यता समाप्त हो जाती है। अतः प्रश्न है कि दोनों विकल्पों में कौन स्पिनोज़ा के द्रव्य की कल्पना से संगत है? स्मरण रहे कि उनके दर्शन में द्रव्य ही केन्द्र में है। हम लोगों के विचार से यदि विशेषण मानसिक या बौद्धिक हैं तो पर्यायों को मिथ्या मानना ही पड़ेगा अर्थात् जगत् की उत्पत्ति एक प्रकार का विवर्त होगा। यद्यपि हम यह स्वीकार करते हैं कि इसे स्पिनोज़ा ने स्पष्ट नहीं किया है। उन्होंने केवल यही

---

33. Caird, p. 167.
34. Wolfson, Vol. I, p. 398.

कहा है कि पर्यायों की उत्पत्ति विशेषणों से होती है, साक्षात् द्रव्य से नहीं। द्रव्य, उनका कारण इसी अर्थ में है कि विशेषण जो पर्यायों के कारण हैं, वे द्रव्य पर आश्रित हैं।

मनुष्य का स्वरूप

साधारणतया हम जीवों और वस्तुओं में भेद करते हैं, विशेषकर मनुष्य और वस्तुओं में। परन्तु स्पिनोज़ा के दर्शन में संसार में सब कुछ व जीव और अजीव, सीमित पर्याय ही है और सभी के दो पहलू हैं विचार और विस्तार, जो द्रव्य के विशेषण हैं। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि मनुष्य का अन्य जीवों से या अन्य वस्तुओं से कोई भेद नहीं है। चूंकि विचार और विस्तार के पर्यायों में एक प्रकार की समानान्तरता है इसलिये कहा जा सकता है कि जैसा शरीर वैसा मन अथवा जैसा मन वैसा शरीर। मनुष्य का शरीर एक जटिल मशीन के समान है और वैसा ही उसका मन या विचार भी है। मनुष्य के विचार की एक विशेषता यह भी है कि मनुष्य में केवल विचार (idea) मात्र ही नहीं है बल्कि विचार का भी विचार है (idea ideae)। अतः मनुष्य का स्थान संसार में अन्य वस्तुओं के समान भी है और भिन्न भी। कुछ विद्वानों ने विचार के विचार (idea ideae) पर बल देकर स्पिनोज़ा को विज्ञानवाद की ओर खींचने का प्रयत्न किया है परन्तु एलेक्ज़ान्डर ने विस्तार की उन विचित्रताओं की ओर जो विचार में नहीं पाई जाती हैं, ध्यान आकर्षित करके कहा है कि स्पिनोज़ा को क्यों न वस्तुवादी मोड़ दिया जाय। तथ्य यह है कि स्पिनोज़ा न तो विज्ञानवादी हैं और न वस्तुवादी। उनका अपना निराला सिद्धान्त है कि विचार और विस्तार दोनों समान स्तर के हैं और द्रव्य उनके परे है।

इस प्रकार मनुष्य विचार और विस्तार के पर्यायों की एक गठित इकाई है। उसके मन की जटिलता उसके शरीर की जटिलता के अनुरूप है परन्तु दोनों के पर्याय परस्परावलम्बी नहीं हैं। दोनों की कार्य-कारण शृंखला अलग-अलग है। दोनों में अनुरूपता होने के कारण भ्रम होता है कि उनमें कार्य-कारण सम्बन्ध है। वास्तव में बाह्य वस्तुओं का ज्ञान उनके द्वारा मन पर प्रभाव पड़ने से नहीं होता है, बल्कि उनका शरीर पर जो प्रभाव होता है उससे होता है। और बाह्य वस्तुओं में परिवर्तन मन के द्वारा नहीं होता है बल्कि बाह्य वस्तुओं द्वारा होता है। अथवा यह भी कह सकते हैं कि जगत् की समस्त जड़ पर्यायों की एक शृंखला है और समस्त मानसिक पर्यायों या विचारों की दूसरी शृंखला है। उन दोनों शृंखलाओं के बीच सूत्र रूप में द्रव्य वर्तमान है जो दोनों का आधार है।

मनुष्य के स्वरूप के ऊपर के वर्णन से दो-तीन निष्कर्ष निकलते हैं। एक तो यह कि मनुष्य भी अन्य जीवों और वस्तुओं के समान प्रकृति का एक अंग है। अर्थात् प्रकृति के भीतर मनुष्य का कोई एक अलग निजी राज्य नहीं है। मनुष्य भी अन्य वस्तुओं की भांति कार्यकारण के नियम के भीतर है। दूसरा निष्कर्ष यह निकलता

है कि मन और शरीर में परस्पर प्रभाव-शीलता नहीं है यद्यपि शरीर की जटिलता का ज्ञान न होने के कारण ऐसा जान पड़ता है। तीसरा निष्कर्ष यह है कि न तो शरीर के बिना मन और न मन के बिना शरीर ही रह सकता है, यद्यपि दोनों में कारण सम्बन्ध नहीं है।

प्रथम निष्कर्ष--मनुष्य प्रकृति का अंग है—का अर्थ यह है कि मनुष्य में इच्छा स्वातंत्र्य नहीं है। मन या बुद्धि का एक पर्याय दूसरे पर्यायों से निर्धारित होता है, किसी अन्य कारण से नहीं। इच्छा स्वातंत्र्य के पक्ष में प्रायः तीन विचार प्रस्तुत किये जाते हैं—एक तो हमारा स्वतंत्रता का अनुभव, दूसरे नैतिक जीवन की आवश्यकता और तीसरे धार्मिक जीवन का आधार। यह सत्य है कि हम सब स्वतंत्रता का अनुभव करते हैं किन्तु इस अनुभव को ही तात्विक सत्य नहीं माना जा सकता। यदि ऐसा हो तब तो तत्त्व दर्शन की आवश्यकता ही न पड़े। हम अपनी इच्छाओं को स्वतंत्र समझते हैं क्योंकि उनके कारणों को नहीं जानते। इच्छा स्वातंत्र्य का अनुभव तो बच्चे, पागल व्यक्ति और शराबी भी करते हैं किन्तु क्या वे वास्तव में स्वतंत्र हैं? स्वतंत्र इच्छा का अनुभव तो हम स्वप्न में भी करते हैं किन्तु क्या वह वास्तविक है?[35] कभी-कभी यह भी कहा जाता है कि ईश्वर ने सबको स्वतंत्र बनाया है जिससे सब लोग अपने सदाचार और असदाचार के लिये उत्तरदायी हो सकें। इस प्रसंग में स्पिनोज़ा का कहना है कि जब हम ईश्वर के ही विषय में इच्छा स्वातंत्र्य नहीं मानते तो फिर मनुष्य के विषय में कैसे मान सकते हैं? दूसरी बात यह है कि यदि ईश्वर को स्वतंत्र मान भी लिया जाय तो ईश्वर रचित जीव को कैसे स्वतंत्र माना जा सकता है? स्वतंत्रता देने लेने की चीज़ नहीं है। दूसरे के द्वारा प्रदत्त स्वतंत्रता वास्तव में परतंत्रता है, स्वतंत्रता नहीं। ईश्वर और जीव दोनों स्वतंत्र नहीं हो सकते। एक की स्वतंत्रता दूसरे की स्वतत्रता की सीमा होगी। यह कहना कि मनुष्य की स्वतत्रता सीमित है, स्वतंत्रता के अर्थ को भूल जाना है। स्वतंत्रता के लिये तीसरा तर्क नैतिक उत्तरदायित्व निश्चित करने के लिये दिया जाता है। यदि स्वतंत्रता नहीं है तो नैतिक निर्णय अर्थहीन है।[36] कांट ने यही तर्क दिया है। किन्तु पूछा जा सकता है कि क्या हम स्वप्न में किये कर्मों के लिये भी नैतिक दृष्टि से उत्तरदायी हैं? नैतिकता को स्वतंत्रता पर आश्रित करने वालों की यह कठिनाई है। तात्विक दृष्टि से स्वतत्रता आवश्यक नहीं है, केवल उत्तरदायित्व का अनुभव मात्र पर्याप्त है। स्पिनोज़ा ने केवल यही नहीं दिखाया है कि स्वतंत्रता तात्विक दृष्टि से असत्य और तार्किक दृष्टि से अनावश्यक है बल्कि यह भी दिखाया है कि उनका

---

35. Ethics, Appendix to Part I.

36. Martineau, Types, Vol. II, p. 41.

नियतिवाद स्वतंत्रतावाद से अधिक श्रेयस्कर है। यह जीवन में अधिक शांति देने वाला है और सामाजिक कलहों को दूर करने वाला है।[37]

इच्छा स्वातंत्र्य के अतिरिक्त एक दूसरा विश्वास जो अनुभव के आधार पर स्वीकार किया जाता है, वह है मन और शरीर का परस्पर प्रतिक्रियावाद। स्पिनोज़ा इस सर्वमान्य विश्वास के विरुद्ध कहते हैं कि विस्तार के पर्याय विस्तार के पर्यायों के ही कारण हो सकते हैं और विचार के पर्याय विचार-पर्याय के ही कारण हो सकते हैं। परन्तु क्या हम जब जैसा चाहते हैं वैसे अपने शरीर को नहीं घुमाते हैं? अथवा शरीर के घाव का असर मन पर नहीं होता है? स्पिनोज़ा का कहना है कि इन स्थितियों में हमें समकालीनता के कारण कारण-कार्यता का भ्रम होता है। जब इच्छा उत्पन्न होती है तब हाथ उठता है, परन्तु इच्छा में और हाथ के उठने में कार्य-कारण का सम्बन्ध नहीं है। यदि हम मन और शरीर में परस्पर प्रतिक्रियावाद मान भी लें तो यह नहीं बताया जा सकता है कि किस प्रकार यह प्रतिक्रिया होती है। डेकार्ट स्वयं इसे न समझा सके। एक जगह स्पिनोज़ा ने कहा है कि यदि मनुष्य स्वतंत्र होता तो अपनी ज़बान को काबू में रखता परन्तु "अनुभव से यह स्पष्ट है कि मनुष्य अन्य चीज़ों को अपनी ज़बान की अपेक्षा अधिक आसानी से शासन में रख सकता है।"[38] मन और शरीर के पारस्परिक सम्बन्ध के निषेध से जो सबसे बड़ी कठिनाई उठती है वह यह है कि यदि बाह्य वस्तुओं का प्रभाव मन पर नहीं पड़ता है तो हमको उनका ज्ञान कैसे होता है? शरीर के पर्यायों से वह ज्ञान हो नहीं सकता क्योंकि शरीर के पर्यायों का भी प्रभाव मन पर नहीं पड़ सकता। परन्तु यहां यह याद रखना है कि यद्यपि शरीर के पर्यायों का मन पर प्रभाव नहीं पड़ता फिर भी प्रत्येक शारीरिक पर्याय के अनुरूप मानसिक पर्याय होता है जिसे हम जानते हैं। मन और शरीर के पर्यायों की अनुरूपता का ज्ञान प्रत्यक्ष के आधार पर नहीं होता बल्कि इस तात्विक सिद्धान्त के आधार पर होता है कि विचार और विस्तार दोनों समान रूप से एक ही द्रव्य के विशेषण हैं।

तीसरा प्रश्न यह है कि यदि मन के बिना शरीर और शरीर के बिना मन नहीं है तो क्या आत्मा के अमरत्व को स्वीकार किया जा सकता है? यह सत्य है कि स्पिनोज़ा आत्मा के अमरत्व को स्वीकार करता है किन्तु साधारण अर्थ में नहीं। स्पिनोज़ा के अनुसार मन के दो अंश हैं—एक नित्य और एक अनित्य। अतः वे कहते हैं कि मनुष्य का मन शरीर के साथ पूर्ण रूप से नष्ट नहीं हो जाता है।[39] मन का नित्य अंश वह है जिससे हम ईश्वर के साथ ऐक्य का अनुभव करते हैं

---

37. Ethics, Note to Prop. 49.
38. Ethics III, Scholium to Prop. 2.
39. Ethics V, Prop. 23.

अर्थात् वह ईश्वर के साथ एक है। इस प्रश्न पर हम आगे फिर विचार करेंगे। परन्तु यह स्पष्ट है कि स्पिनोज़ा आत्मा (अमर) और मन (नश्वर) में भेद करते हैं।

ज्ञान मीमांसा

ज्ञान के सत्यासत्य के प्रश्न के प्रसंग में हमें दो बातें याद रखनी हैं। एक तो यह है कि स्पिनोज़ा न तो प्रतिरूपता के सिद्धान्त (correspondence theory) को स्वीकार करते हैं और न ही समन्वय-सिद्धान्त (coherence theory) को स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार सत्य विचार के अंतरस्थ (intrinsic) लक्षण होते हैं जिनसे हमारे मन में जब सत्य विचार आते हैं तो हम उसी समय जानते हैं कि वे सत्य हैं। ये लक्षण हैं स्पष्टता (clarity) तथा विशिष्टता (distinctness)। सत्य विचार के कुछ बाह्य लक्षण भी हैं। जैसे वस्तु-अनुरूपता जो पर्याप्त (adequate) विचारों में पाये जाते हैं। स्पिनोज़ा का स्पष्ट कथन है कि सत्य का असत्य से विभेद अंतरस्थ गुण के कारण ही होता है।[40] असत्य विचार वह है जिसमें ज्ञान की अपूर्णता हो। असत्यता अज्ञान से भिन्न है। सत्य स्वयं स्पष्ट है; असत्य स्वयं स्पष्ट नहीं है।[41]

स्पिनोज़ा ज्ञान के विभिन्न अथवा तीन स्तर स्वीकार करते हैं किन्तु उनका स्तर का विभाजन आजकल के सत्य के विभिन्न अंश (degrees of truth) के सिद्धान्त से भिन्न है। उनकी दृष्टि में ज्ञान का प्रथम स्तर है कल्पना (imagination)[42]। यह उस स्तर का ज्ञान है जिस स्तर पर हम अविवेकी रूप में जीवन निर्वाह करते हैं। प्लेटों ने इसे मत (opinion) की संज्ञा दी है और वेदान्त में इसे व्यावहारिक ज्ञान कहा गया है। इस स्तर पर हम वस्तुओं को विभाजित और स्वतंत्र कारणों के रूप में देखते हैं। हम उनमें ऐक्य और नियमबद्धता नहीं देखते। प्रत्येक व्यक्ति जगत् के विषय में अपने-अपने ढग से कल्पना करता है। इस स्तर पर ज्ञान अस्पष्ट और असम्बद्ध होता है।

ज्ञान का दूसरा स्तर वह है जो तर्काश्रित होता है। इस स्तर पर एक वस्तु के तत्त्व के आधार पर दूसरे वस्तु के तत्त्व के विषय में ज्ञान प्राप्त किया जाता है।[43] इस स्तर के ज्ञान में व्यक्तिगत भेद नहीं होते क्योंकि इसमें सामान्य नियमों के आधार पर ज्ञान होता है। इस प्रकार के ज्ञान के सहारे हम ईश्वर के समीप तक पहुँच सकते हैं। इसके सहारे सदाचार और एक प्रकार की मानसिक शांति की प्राप्ति संभव है, परन्तु इसके आधार पर ईश्वर से एकाकार होना संभव नहीं है। उसके

40. Emendatione, p. 23.
41. Ethics II, Prop. 34.
42. Ethics II, Prop. 40, Scholium 2.
43. Ethics II, Scholium to Prop. 40.

लिये तो तीसरे प्रकार के ज्ञान की आवश्यकता है जिसे अनुभूति (intuition) कहा गया है।

अनुभूति के प्राप्त होने पर हम ईश्वर से इस प्रकार एक हो जाते हैं कि अन्य किसी वस्तु पर निर्भर नहीं करते और न अन्य किसी वस्तु से प्रेम रह जाता है। इस प्रकार का ज्ञान मन के उस अंश पर निर्भर करता है जो नित्य है।[44] अनुभूति अनुमान जन्य या अप्रत्यक्ष ज्ञान नहीं है बल्कि साक्षात् ज्ञान है। इस विषय में स्पिनोज़ा एक उदाहरण देते हैं। यदि तीन संख्यायें दी हों और चौथी ऐसी संख्या प्राप्त करनी हो जो तीसरी से उसी प्रकार सम्बन्धित हो जैसे दूसरी प्रथम से है तो इसे तीन प्रकार से प्राप्त किया जा सकता है। एक तो वणिकों का तरीका है जो केवल उस चौथी संख्या को जानते हैं परन्तु उसके पीछे जो सिद्धान्त है उसे नहीं जानते। दूसरा तरीका है चौथी संख्या को सिद्धान्त के आधार पर जानना और तीसरा तरीका जो दोनों से भिन्न है वह है चौथी संख्या को अन्तर्दृष्टि से प्रत्यक्ष रूप में जानना।

जीवन का लक्ष्य और साधन

स्पिनोज़ा के तत्त्व-सिद्धान्त के विषय में चाहे जो कहा जाय, जीवन के लक्ष्य और उसके साधन के विषय में जो उन्होंने कहा है उसके महत्त्व तथा उनके दर्शन के साथ उसकी संगति को तो स्वीकार करना ही पड़ेगा। जीवन के लक्ष्य और उसके साधन के विषय में साधारण लोगों का विश्वास यह है कि वह लक्ष्य सुख है और बाह्य वस्तुयें या विभिन्न व्यक्ति उसके साधन हैं। किन्तु आध्यात्मिक व्यक्ति सुखों की स्वाभाविक अनित्यता को पहचान कर उसको जीवन का लक्ष्य नहीं मानता और न वह बाह्य जगत् (वस्तुओं एव व्यक्तियों) को उसका कारण मानता है। अपने सुख दु:ख का कारण मैं हूँ। अतः यह सभव है कि अपने सुख दु:ख के द्वन्द्वों से मुझे छटकारा या मुक्ति मिल जाय। इसी से आध्यात्मिक साधन आत्म-साधन है, अन्तर्मुखी है और आत्म-सुधार से सम्बन्धित है जगत्-सुधार से नहीं। इसी दृष्टिकोण से स्पिनोज़ा ने कहा कि वस्तुओं को अच्छा बुरा कहना ठीक नहीं है। ऐसा तो हम अपने स्वार्थ या इच्छापूर्ति को ध्यान में रख कर करते हैं। अपने संवेगों का कारण हमें अपने भीतर ढूँढ़ना चाहिये। संभवतः ये संवेग वास्तविक कारणों के अज्ञान के कारण होते हैं। मानसिक घटनाओं (संवेगों और विचारों) का कारण मानसिक ही हो सकता है, यह स्पिनोज़ा का सिद्धान्त है।

स्पिनोज़ा का कहना है कि प्रत्येक वस्तु में अपने स्वरूप में रहने की एक शक्ति है जिसे जीवन शक्ति (conatus) कहते हैं।[45] जो क्रियायें इस स्वरूप शक्ति के कारण होती हैं उन्हें हम कर्म कह सकते हैं और जो बाह्य कारणों से होती हैं, उनको

---

44. Ethics, Prop. 31.
45. Ethics II, Prop. 6.

प्रतिक्रिया। यह स्वरूप-शक्ति मानसिक जगत् में इच्छा कहलाती है। इसी के कारण कामना सुख और दुःख नामक मौलिक संवेग होते हैं और इन्हीं के सम्मिश्रण से अन्य सवेग होते हैं। ज्ञान के समान संवेगों के भी तीन स्तर हैं। प्रतिक्रियात्मक संवेग जो साधारण जीवन में कल्पना (imagination) के स्तर पर होते हैं, सदाचारात्मक संवेग जो विचार या तर्क के स्तर के हैं। पहले प्रकार के संवेग पशु और मनुष्य दोनों मे मिलते हैं किन्तु दूसरे प्रकार के संवेग केवल मनुष्यों में पाये जाते हैं। तीसरे प्रकार का संवेग है ईश्वर-प्रीति जो अनुभूति के स्तर का है और जो किसी-किसी व्यक्ति में पाया जाता है।

आध्यात्मिक जीवन मे सर्वप्रथम आवश्यकता है प्रतिक्रियात्मक संवेगों को रोकने की। इस प्रयत्न में तीन कठिनाइयाँ पाई जाती हैं। एक तो यह कि सत्य का ज्ञान इतना बलशाली नहीं होता कि असत्य से तत्काल मुक्त कर दे। दूसरा मनुष्य प्रकृति का अग है। अतः उसे प्रकृति के आवेगों से बचना कठिन है। तीसरी कठिनाई यह है कि मनुष्य की जीवन शक्ति (Conatus) सीमित है। इसके अतिरिक्त संवेगों के कुछ ऐसे कठोर नियम हैं जिनको हम बदल नहीं सकते। संवेगों के रोकने में मनुष्य की असमर्थता को स्पिनोज़ा बधन कहते हैं।[46] मनुष्य का लक्ष्य बंधन से मुक्त होना है।

केयर्ड ने यह शंका व्यक्त की है कि यदि मनुष्य प्रकृति का अंश है तो वह स्वतंत्र हो ही नहीं सकता।[47] अथवा यह भी कहा जा सकता है कि यदि मनुष्य प्रकृति का अंश है तो उसे उसी प्रकार बंधन नहीं हो सकता जैसे पत्थर के टुकड़े को बंधन नहीं है। यह आपत्ति तभी मान्य है जब मनुष्य सवंथा प्रकृति का अंश हो परन्तु स्पिनोज़ा के अनुसार मनुष्य सर्वथा प्रकृति का अंश नहीं है। यदि मनुष्य सर्वथा प्रकृति का अंश होता तो उसमें स्वतत्रता की प्रवृत्ति भी न होती। इसी से स्पिनोज़ा की शब्दावली में "जहाँ तक" का प्रयोग है। मनुष्य "जहाँ तक" प्रकृति का अंश है वहाँ तक उसका स्वरूप प्रकृति के नियमों से निर्धारित होता है। परन्तु मनुष्य का एक पहलू है जो प्रकृति के नियमों अथवा काल के परे है, वह नित्य है। इसी से स्पिनोज़ा के विरुद्ध नियतिवाद के आधार पर की गई आपत्ति भी ठीक नहीं जान पड़ती। नियति या प्रकृति की नियमितता प्रकृति के भीतर ही सीमित है और प्रकृति पर्यायों का समूह है, द्रव्य नहीं है।

प्रायः यह कहा जाता है कि नियतिवादी दर्शन में नैतिकता और आध्यात्मिक जीवन संभव नहीं है। परन्तु क्या यह सत्य नहीं है कि प्रत्येक धर्म में दैवी-विधान के रूप में नियतिवाद की मान्यता है। और नैतिक आचरण के लिए यह आवश्यक नहीं

---

46. Ibid, Preface to part IV.
47. Caird, p. 269.

है कि हमारी स्वतंत्रता सत्य ही हो। आवश्यकता केवल स्वतंत्रता में विश्वास की है। इसी से स्पिनोज़ा का कहना है कि नियतिवाद न तो दैवी और न मानवी नियमों की अवहेलना करता है।[48] मानव नियतिवाद को स्वीकार करे या न करे, उसका व्यवहार पूर्ववत् ही रहेगा। एक बात अवश्य है। यदि हम नियतिवाद को स्वेच्छा से स्वीकार कर लेते हैं तो मानसिक शांति प्राप्त होती है, सामाजिक परिस्थितियों के कारण उद्विग्नता नहीं होती और सतत् ईश्वर का ध्यान बना रहता है। कहा जाता है कि यदि हम स्वतंत्र नहीं हैं तो अपने को परिवर्तित कैसे कर सकते हैं। मगर वास्तविक परिवर्तन स्वतंत्र इच्छा से नहीं, ज्ञान से होता है; ज्ञान से ही आँख खुलती है। ज्ञानजन्य क्रान्ति के लिये स्वतंत्रता की आवश्यकता नहीं है।

एक बात और ध्यान देने योग्य है। नैतिकता और आध्यात्मिकता में भेद है। आध्यात्मिक व्यक्ति भी नैतिक होता है परन्तु उसकी नैतिकता स्वाभाविकी या सहज होती है, उसमें अभिमान के लिये स्थान नहीं होता। परन्तु केवल नैतिकता प्रयत्न-प्रधान होती है और उसका आधार अहकार होता है। नियतिवाद के आधार पर अहकार को हटाकर नैतिकता को आध्यात्मिकता का रूप दिया जा सकता है जिसमें चेतना का केन्द्र बिन्दु अहम् नहीं बलिक परम् होता है। इसी से स्पिनोज़ा ने इच्छा पर बल न देकर ज्ञान पर अधिक बल दिया है।

हमारी बुद्धि में कुछ ऐसी शक्तियाँ हैं जिनसे हमारा नैतिक जीवन सरल हो जाता है।[49] एक तो ज्योंही हम किसी संवेग के स्पष्ट रूप को देखते हैं, त्योंही उस संवेग का वेग कम हो जाता है। दूसरे जब हम नियतिवाद का स्मरण करते हैं तब भी मन की बेचैनी कम हो जाती है। तीसरे शान्ति के समय जिन विचारों का हम अभ्यास करते हैं वे विचार मन की खलबली के समय काम देते हैं और चौथे मन के सभी वेगों को ईश्वर से सम्बन्धित किया जा सकता है और ईश्वर सम्बन्धी विचार के मन में प्रवेश करने से वेग कुंठित हो जाते हैं।

स्पिनोज़ा ने शील या सदाचार के विषय में कुछ बातें ऐसी कही हैं जो प्रायः पाश्चात्य विचारकों को खटकती हैं। सर्वप्रथम उनका यह कहना कि शुभ और अशुभ सापेक्ष हैं, लोगों को अच्छा नहीं लगता परन्तु यदि हम विचार कर देखें तो हमारे व्यवहार में वे सापेक्ष रूप में ही आते हैं। स्पिनोज़ा ने यह भी कहा है कि शील एक प्रकार का आत्म प्रेम है। परन्तु आत्म प्रेम का अर्थ स्वार्थ नहीं है। आत्म प्रेम से उनका मतलब सच्चे आत्म प्रेम से है।[50] पाप यदि एक प्रकार का आत्महनन है तो शील या सदाचार आत्म प्रेम नहीं तो और क्या है ? पाप आत्म प्रेम के कारण नहीं

---

48. Correspondence XLIII, p. 257, also p. 347.
49. Ethics V, Props. 2, 3.4.
50. Ethics IV, Prop. 25 and Scholium to Prop. 18.

संसार-प्रेम के कारण होते हैं। शील स्वार्थ पूर्ति के लिये नहीं, शील शील के लिये होता है।

विवेक जन्य सदाचार व्यक्तिगत शान्ति ही नहीं बल्कि सामाजिक शान्ति का भी आधार होता है। विवेकी मनुष्य अपने को नियमानुसार रखने में ही स्वतंत्रता का अनुभव करता है। वह क्रोध और घृणा के स्थान पर प्रेम से समस्याओं का हल करता है। वह जिसे अपने लिये शुभ समझता वही दूसरों के लिये करता है। उसके आचरण से पारस्परिक विरोध नहीं उत्पन्न होता क्योंकि वह जिस परम शुभ को दृष्टि में रखता है उसके लिये गला काटने वाली स्पर्धा की आवश्यकता नहीं है क्योंकि वह सब को समान रूप से प्राप्त हो सकता है।

यह सब होते हुए भी विवेक जन्य सदाचार से उच्चतर वह सदाचार है जो ईश्वर-भक्ति जन्य होता है। स्पिनोज़ा के दर्शन में ईश्वर-प्रेम का एक विशेष अर्थ है। इसे वे बौद्धिक प्रेम कहते हैं क्योंकि यह संवेगात्मक नहीं ज्ञानात्मक होता है। साधारण जीवन पशुओं के समान होता है, विवेकी सदाचारी होता है और अनुभूति लब्ध पुरुष का जीवन दैवी होता है। जब मनुष्य ईश्वर को अपने कारण या आधार के रूप में जानता है तो दो बातें होती हैं – एक तो मनुष्य में ईश्वरानुराग उत्पन्न होता है और दूसरे मनुष्य अपने उस अंश को पहचानता है जो नित्य है। इससे यह अर्थ निकलता है कि मनुष्य की अमरता या नित्यता उसके कारण या आधार ईश्वर में है। यहाँ एक और बात ध्यान में रखने की है। वह यह है कि सच्चे आत्म-प्रेम और ईश्वर-प्रेम में विरोध या भेद नहीं है क्योंकि ईश्वर ही हमारी सच्ची आत्मा है। स्पिनोज़ा ने एक जगह स्पष्ट कहा है कि साक्षात् अनुभूति से ही प्रेम हो सकता है।[51] अतः सच्चा ईश्वर प्रेम एक साक्षात् अनुभूति है। कुछ लोग ऐसा सोचते हैं कि ईश्वर की साक्षात् अनुभूति मनुष्य को नहीं हो सकती है अथवा व्यक्तित्वहीन निर्गुण ईश्वर के प्रति प्रेम हो ही नहीं सकता। परन्तु स्पिनोज़ा साक्षात् अनुभूति की संभावना स्वीकार करते हैं, क्योंकि मनुष्य और ईश्वर सर्वथा भिन्न नहीं बल्कि तत्त्वतः एक ही हैं। जो लोग ईश्वर को व्यक्ति मानकर प्रेम करते हैं उनका प्रेम संवेगात्मक होता है परन्तु निर्गुण का प्रेम ज्ञानात्मक होता है। ईश्वर को व्यक्ति मानने में कठिनाई यह है कि उसमें निषेधांश प्रवेश कर जाता है। निर्गुण ही निषेध-मुक्त हो सकता है। स्पिनोज़ा ने ईश्वर प्रेम के मार्मिक लक्षण बताये हैं। जो व्यक्ति ईश्वर से प्रेम करता है वह यह नहीं चाहता कि बदले में ईश्वर भी उससे प्रेम करे।[52] उसके हृदय में लेन-देन की भावना नहीं होती। जो ईश्वर को जानता है वह न तो ईश्वर से घृणा कर सकता है और न उससे विमुख हो सकता है। कुछ लोग ईश्वर प्रेम को केवल सत्य प्रेम के रूप में

51. Short Treatise, p. 133.
52. Ethics V, Prop. 19.

लेना चाहते हैं परन्तु सत्य प्रेम तो वैज्ञानिक में भी होता है। वास्तव में ईश्वर-प्रेम तत्त्व प्रेम है।

ईश्वर-ज्ञान या ईश्वर-प्रेम एक नूतन जन्म है। यह वह ज्ञान है जिससे हम ईश्वर के साथ अपनी एकता का अनुभव करते हैं परन्तु वह ज्ञान वैसा ही दृढ़ होना चाहिये जैसा इस समय हमको अपने शरीर का या संसार का ज्ञान है।[53] (देहात्म ज्ञानवत् ज्ञानम् देहात्मज्ञान बाधकम्-उपदेश साहस्त्री-चार–5) जब यह ज्ञान होता है तब मनुष्य को पता चलता है कि शरीरनाश के साथ उसका नाश नहीं होता है।[54] उसका एक अंश नित्य है। जो अंश बुद्धि-शरीरात्मक है वह अनित्य है और जो उसका आधार (द्रव्य) है वह है नित्य। ईश्वर का ज्ञान प्राप्त कर अपने अमरत्व को खोजना या प्राप्त करना यही जीवन का लक्ष्य है। बिना ईश्वर को जाने अपने स्वरूप का ज्ञान नहीं हो सकता और न ईश्वर से सच्चा प्रेम हो सकता है। यह कहना कि प्रेम के लिये द्वैत आवश्यक है प्रेम को भूल जाता है क्योंकि प्रेम की प्रवृत्ति को द्वैतनाशक और ऐक्य स्थापक होती है। स्पिनोज़ा का ईश्वर प्रेम वेदान्ती दृष्टि से ही समझा जा सकता है।

————

53. Short Treatise, p. 122.
54. Ibid, p. 152.

LIST OF ABBREVIATION

Aeternitas— For **Aeternitas** (A Spinozistic Study) By H. F. Hallett, Clarendon Press, Oxford, 1930.

Alexander— **Spinoz a and Time** by S. Alexander, George Allen & Unwin, 1927.

Caird— **Spinoza** by John Caird, Blackwood's Philosophical Classics.

Cogitata— Spinoza's **Cogitata Metaphysica** Tr. by H. H. Britain (Appendix to the Principles of Descartes' Philosophy) Open Court Publishers Corp. Chicago, 1905.

Correspondence— **The Correspondence of Spinoza.** Ed. & Tr. by A Wolf. George Allen & Unwin, 1928.

Emendatione— Spinoza's **Tractatus de Intellectus Emendatione** Tr. by R.H.M. Elwes along with the **Ethica.**

Ethics— Spinoza's **Ethica** Tr. by R.H.M. Elwes, Tudor Pub. Corp New York, New Edition. 1936.

Joachim-Study— **A Study of the Ethics of Spinoza** by H. H. Joachim, Oxford University Press 1901.

Joachim, Tractatus—**Spinoza's Tractatus De Intellectus Emendatione.** A Commentary by H. H. Joachim. Oxford University Press 1940.

Martineau, Study– **A Study of Spinoza** by J. Martineau, First Edition London 1882) Third Edition 1895.

Martineau, Types– Types of Ethical Theory 2 Vols. by J. Martineau, Clarendon Press II Ed Revised 1886.

P.A.S.-- Proceedings of the Aristotelian Society.

Pollock— **Spinoza** : His Life and Philosophy by Sir F. Pollock (Duckworth 1880 Ist Ed.) IInd Ed. 1912.

Roth-- **Spinoza** by L. Roth. Benn 1929.

Short Treatise-- Spinoza's Short Treatise on God, Man and Human Welfare Tr. by L. G. Robinson Chicago-1909.

Spinoza— **Spinoza** by Stuart Hampshire, Pelican.

Theologico— Spinoza's Tractatus Theologico Politicus, Trubner & Co. London 1862.

Wolfson-- **The** Philosophy of Spinoza 2 Vols by H. A. Wolfson, Harvard University Press 1934.

———

A List of Books by Spinoza

1. Cogitata Metaphysica. 1663
2. Correspondence.
3. Emendatione.
4. Ethica.

(2–4: 1677 Posthumously)

5. Short Treatise. 1862
6. Tractatus--Theologico-Politicus. 1670 (Anonymously)

A List of Books Regarding Spinoza's Philosophy

Caird

Hallett

Joachim

Martineau

Pollock

Roth

Stuart Hampshire

Wolfson.

The Chapter on Spinoza i--Histories of Philosophy-- by Erdmann, Falckenberg, Windleband, Russell and O'Connor (Ed.).

स्पिनोज़ा का संक्षिप्त जीवन वृत्त

वेनिडिक्टस डी स्पिनोज़ा का जन्म एम्स्टर्डम में 24 नवम्बर, 1632 को यहूदी परिवार में हुआ था। इनकी प्रारंभिक शिक्षा रैबी निकल स्कूल में हुई। वहीं इन्होंने लेटिन के अतिरिक्त हिब्रू भाषा भी सीखी और प्राचीन बाइबिल और टालमड भी अध्ययन किया। बाद में इन्होंने मध्यकालीन यहूदी दर्शन (विशेषकर मेमोनाइडीज़) का अध्ययन किया। क्रांतिकारी विचारों के कारण इनका यहूदी सम्प्रदाय के लोगों से गहरा मतभेद हो गया और वे 1656 में सम्प्रदाय से बहिष्कृत भी कर दिये गये। उसके बाद उनका जीवन एकाकी हो गया और वे कांच घिसकर जीविकोपार्जन करने लगे। तत्कालीन विचारकों और दार्शनिकों से इनका सम्पर्क था और उनसे पर्याप्त पत्राचार भी हुआ था। विद्वद् जगत् में इनकी इतनी प्रतिष्ठा थी कि 1673 में उनको हाईडेलबर्ग की यूनिवर्सिटी में प्रोफेसर के पद के लिये चुना गया, किन्तु उन्होंने स्वीकार नहीं किया। 1677 में हेग में उनका देहांत हो गया।

4

लाइबनिज

1646–1716

गॉटफ्रीड विल्हेल्म वॉन लाइबनिज़ जर्मनी के लाईपत्सिग् नगर में 21 जून, 1646 को पैदा हुये थे।[1] उस समय यूरोप में तीस वर्षीय युद्ध चल रहा था। वेस्टफ़ेलिया की संधि में अभी दो वर्षों की देर थी। किंतु इस संधि से भावी युद्धों की संभावनाएं समाप्त नहीं हुई थीं। तीस वर्षीय युद्ध किसी एक मोर्चे पर नहीं लड़ा गया था। कैथोलिक धर्म की प्रभुसत्ता क्षीण हो चुकी थी। कुछ राज्यों ने प्रोटेस्टैंट धर्म स्वीकार कर लिया था और पोप के आधिपत्य से अलग हो गए थे। इनके लिए आवश्यक था कि साम्राज्य में सम्मिलित कैथॅलिक राज्यों को या तो अपने राज्य में मिला लें, अथवा धर्म परिवर्तन कराकर उन्हें अपनी ओर कर लें। एक सैद्धान्तिक युद्ध भी चल रहा था। चूँकि प्रोटेस्टैंट धर्म अभी व्यापक नहीं हो पाया था, इसलिए राज्य सामयिक विज्ञान के यांत्रिक सिद्धान्त को संरक्षण दे रहे थे और कैथॅलिक प्रोटेस्टैंट राज्य अपना स्वत्व बनाए रखने के लिए विज्ञान का विरोध कर रहे थे। इसी परिवेश[2] में लाइबनिज़ का विकास हुआ।

वह एक प्रोटेस्टैंट परिवार में पैदा हुआ था। उसके पिता लीप्ज़िग नगर के विश्वविद्यालय में नीति-दर्शन के प्रोफेसर तथा नगर के एक प्रतिष्ठित वकील थे। उसकी माता भी एक विश्वविद्यालय से सम्बन्धित परिवार से आई थीं। लाइबनिज़ को अपने पिता का संरक्षण अधिक समय तक प्राप्त न हो सका, क्योंकि 1652 में

---

1. जीवन-वृत्त के लिए देखें—
   (i) John Theodore Merz : Leibniz. (Blackwood Series)
   (ii) Le Roy E. Loemker : Philosophical Papers and Letters, Second edition, Dordrecht–Holland, D. Reidel Publishing Company, 1969; Introduction.
2. G. Clarke : Early Modern Europe.

ही उनका देहान्त हो गया था। किन्तु किसी ज्ञात उल्लेख से यह नहीं मालूम होता कि वह अपने परिवार को किसी आर्थिक अभाव में छोड़ गए थे।

लाइबनिज़ की माता ने अपने इकलौते बेटे की शिक्षा की ओर काफी ध्यान दिया। प्रारंभ में वह लीप्जिग के निकोलाई स्कूल गया, जहां उसने लेटिन और ग्रीक के अतिरिक्त साहित्यशास्त्र, तर्कशास्त्र तथा शास्त्रीय धर्मशास्त्र[1] का अध्ययन किया। स्कूल के अतिरिक्त उसने अपने पिता के पुस्तकालय में भी काफी पढ़ा था। उसकी माता ने दस वर्ष की आयु में ही उसके लिए उसके पिता के पुस्तकालय का द्वार खोल दिया था। लाइबनिज ने अपने बचपन के स्वाध्याय का अपने निबंधों और पत्रों में बार-बार स्मरण किया है। किन्तु क्योंकि वह अपनी समझ से बाहर की चीजों को पढ़ रहा था, इसलिए गंभीर अध्ययन का आदी न हो सका। देकार्त से सम्बन्धित अध्ययन की चर्चा करते हुए, उसने 1676 में फुशे को एक पत्र में लिखा था : "मैं स्वीकार करता हूं कि मैं अभी तक उनकी कृतियों को उतनी सतर्कता के साथ नहीं पढ़ सका हूं जितनी कि मैं उनके साथ बरतना चाहता हूं....।"[2] उसी पत्र में उसने लिखा है कि "मैंने उन पुस्तकों को पढ़ना बहुत कठिन पाया है जिन्हें अधिक विचार के बिना नहीं समझा जा सकता।"[3]

यही नहीं, 1679 में लिखे अपने एक निबंध में वह कहता है : "प्रथमतः, मैं स्वशिक्षित था, और द्वितीयत :, प्रत्येक विज्ञान में, जब मैं उसे पहले-पहल पढ़ता था, तो कुछ नया खोजता था, प्रायः उसके सर्वमान्य सिद्धान्तों को समझने से पूर्व ही।"[4] इसी निबंध में वह बताता है कि इस प्रकार के अध्ययन से उसे दो लाभ हुए थे। एक तो यह कि अध्यापक की प्रामाणिकता के आधार किसी चीज को मान लेने के बजाय उसे युक्तियाँ खोजनी पड़ती थीं और दूसरा यह कि हर बात को स्वयं समझने के प्रयास में उसे प्रत्येक कथन की जड़ें खोदकर मूल तत्त्व प्राप्त करने का अभ्यास हो गया।

---

1. Scholastic Theology
2. "I admit that I have not been able to read his writings with all the care I intend to devote to them,...."
   —"Letter to Foucher", Everyman's Library, No. 905, Pt. II, P. 47.
3. "I have always found it difficult to read books which cannot be understood without much thought;...."
   —Ibid, P. 47.
4. "First, I was self-taught, and second, I looked for something new in every science when I first studied it, often before I even understood its established content."
   —'On the General Characteristic, Loemker's collection, Article No. 24.

संभवतः, विश्लेषण पद्धति जो उसकी कृतियों में सर्वत्र व्याप्त है उसने इसी अध्ययन से प्राप्त की थी और इसी के साथ अपनी वय से अधिक प्रौढ़ता। 10 जनवरी, 1714 को उसने निकोलस रेमांड को लिखा था कि पंद्रह वर्ष की आयु में वह लीप्जिग नगर की सीमा पर स्थित रोजेंथाल के वनों में सोचा करता था कि उसे आधुनिक यांत्रिकतावाद का पक्ष लेना चाहिए, अथवा शास्त्रीय द्रव्यात्मक आकारों का। किन्तु अभी तो उसे विश्वविद्यालय में एक ही वर्ष हुआ था।

लाइबनिज की बाल-प्रौढ़ता अन्य अध्येताओं ने भी स्वीकार की है। चौदह वर्ष की आयु में उसने विश्वविद्यालय में प्रवेश किया था। वहां उसने दर्शन एवं विधिशास्त्रों का अध्ययन किया था और सत्रह वर्ष की आयु में, विशिष्टत्व के सिद्धान्त"[1] पर लेटिन में शोध-प्रबन्ध प्रस्तुत कर स्नातक की उपाधि प्राप्त की थी। बीस वर्ष की आयु में उसने 'संयोजनों'[2] पर दूसरा शोध-प्रबन्ध विधिशास्त्र विशेषज्ञ (जूरिस डाक्टर) की उपाधि के लिए प्रस्तुत किया था, किंतु उक्त विश्वविद्यालय ने अल्प वय के आधार पर इसे अस्वीकृत कर दिया था। लाइबनिज को अपने प्रबन्ध की उपयुक्तता पर विश्वास था और उसने उसे आल्ट्डार्फ विश्वविद्यालय में प्रस्तुत किया। उस विश्वविद्यालय ने उसे वांछित उपाधि प्रदान करने के अतिरिक्त विधिशास्त्र के प्रोफेसर पद के लिए भी आमन्त्रित किया, किन्तु लाइबनिज की योजनाएँ इससे भिन्न थीं।

वह तत्कालीन शासन-तंत्रों को धार्मिक विवादों से मुक्त कर, उन्हें ज्ञान-विज्ञान के संरक्षण एवं संवर्धन में लगाना चाहता था। अतः यह आवश्यक था कि वह उन्हीं क्षेत्रों में कार्य करे। उसकी आकांक्षाओं के अनुकूल 1667 में, मेंज के आर्कबिशप, शोनबर्न के जॉन फिलिप ने उसे नगर की वैधिक संहिता के पुनरीक्षण में हर्मन ऐंड्र्यू लास्सर की सहायता करने के लिए नियुक्त कर लिया। 1672 तक वह मेंज में रहा और 'कैथॅलिक प्रमाणों' से सम्बन्धित धार्मिक लेख[3] लिखता रहा। यहीं से उसे 1672 में एक राजनैतिक उद्देश्य से लुई चौदहवें से भेंट करने पेरिस भेजा गया था। उसका उद्देश्य सफल नहीं हुआ और 1673 में आर्कबिशप की मृत्यु हो जाने से वह सेवानिवृत्त भी हो गया। फिर भी वह 1676 तक पेरिस में ही रहा।

पेरिस में व्यतीत किए हुए चार वर्ष दार्शनिक एवं गणितज्ञ लाइबनिज के निर्माण में बहुत उपयोगी सिद्ध हुए। यहीं आर्नाल्ड एवं रेवरेंड फादर मैलेब्रांक से उसकी भेंट हुई और वह देकार्त के दर्शन से भलीभांति परिचित हुआ। गैसेंडी एवं

1. Principles of Individuation.
2. Art of Combinations.
3. Theological Writings connected with 'Catholic Demonstrations'

हॉब्ज के भौतिक दर्शन का परिचय उसे यहीं प्राप्त हुआ। लाइबनिज का गणित-सम्बन्धी ज्ञान अभी तक बहुत अल्प था। पेरिस में क्रिश्चियन हाइगेंस के समीप उसने गणित के आधुनिक विकास का ज्ञान प्राप्त किया। यहीं से वह 1673 में एक संक्षिप्त यात्रा पर लंदन गया और वहाँ उसने राबर्ट ब्वॉइल तथा न्यूटन से भेंट की।

1676 में ड्यूक ऑव ब्रन्स्विक ने हैनोवर के राजकीय पुस्तकालय में उसे लाइब्रेरियन नियुक्त कर लिया और वह इसी वर्ष के अन्त में हालैंड होते हुये हैनोवर चला गया। हालैण्ड में वह संभवतः एक मास रहा था और स्पिनोजा के किसी मित्र के सौजन्य से उसने उसकी 'नीतिशास्त्र' पुस्तक के कुछ अंश पढ़े थे।

लाइबनिज का शेष जीवन हैनोवर में व्यतीत हुआ। वहां उसका मुख्य कार्य पुस्तकालय की देखभाल तथा हैनोवर के राजवंश का इतिहास संकलित करना था। बीच-बीच में उसे राजनयिक कार्यों के लिए अन्य राज्यों में भी भेजा जाता था। ड्यूक, अथवा उसके पुत्र से, जो 1714 में जार्ज प्रथम के नाम से इंगलैंड के राज-सिंहासन पर बैठा, लाइबनिज को अपने दर्शन एवं विज्ञान सम्बन्धी कार्यों के लिए कोई प्रोत्साहन न मिला। डचेज, सोफिया और उसकी पुत्री सोफिया शार्लट, जो बाद में प्रशा की रानी बनी, अवश्य लाइबनिज के चिंतन एवं लेखन में रुचि लेती थी। लाइबनिज ने 'थियॉडिसी' की रचना सोफिया शार्लट के लिए ही की थी और उसी के अनुमोदन पर उसके पति ने 1700 में बर्लिन की विज्ञान अकादमी की स्थापना का आदेश दिया था। लाइबनिज को उसका पहला अध्यक्ष बनाया गया था।

अकादमियों की स्थापना

लाइबनिज के जीवन की बहुत-सी योजनाओं में से एक योजना यूरोप के मुख्य स्थानों में विज्ञान अकादमियां स्थापित करने की थी। 1670 और '71 के बीच लिखे हुए अपने एक निबंध[1] में उसने बहुत ही भावपूर्ण भाषा में कहा था कि हमने समुद्रों पर रेंगने वाले पुल बना लिए हैं। आकाश अपने सितारों को हमसे नहीं छिपा सकता, क्योंकि हम अपने टेढे शीशों से उन्हें देख लेते हैं। इतिहास का प्रकाश हम पर इस प्रकार पड़ रहा है, मानों हम हमेशा से जीवित हों। फिर कहता है कि इस सब सामग्री का क्या होगा जो इतने अध्यवसाय से जुटाई गई है, यदि हम अपनी सुख-समृद्धि का निर्माण अगली शताब्दी के लिए स्थगित कर देते हैं। 'क्यों न हम संयुक्त शक्तियों से अपने को छिपाते रहने का हठ करने वाली प्रकृति पर एक प्रहार करें ?''[2] उसका आशय पूरे यूरोप में विज्ञान अकादमियों की

---

1. "Elements of Natural Law"; Loemker's Collection, No. 7.
1. "Why not strike a blow with combined forces against this persistence of nature in concealing herself ?"
—Elements of Natural Law. Loemker, p. 132

स्थापना कर प्रकृति पर विजय पाने का संयुक्त प्रयास करना था। किंतु राजकीय अनुमोदन के अभाव में हैनोवर, वियना, ड्रेस्डेन तथा सेंट पीटर्स्बर्ग में लाइबनिज द्वारा प्रस्तावित अकादमियों की स्थापना न हो सकी।

प्रतीकात्मक भाषा :—

संयोजन के संबंध में निबंध लिखने के समय से लाइबनिज के मस्तिष्क में यह विचार काम कर रहा था कि यदि किसी शास्त्र में प्रयुक्त सरल पदों के लिए प्रतीक निश्चित कर लिये जायें और जटिल पदों को प्रतीकों के संयोजन से बनाया जाय तो चिंतन की प्रक्रिया बहुत सरल होगी और भूलों की संभावना भी घट जायगी। उक्त लेख में उसका सुझाव इस प्रतीकात्मक पद्धति को विधिशास्त्र एवं धर्मशास्त्र में प्रचलित करने का था।

अपने सुझाव की युक्तियुक्तता दिखाने के लिए उसने विधिशास्त्र एवं धर्मशास्त्र तथा विधिशास्त्र एवं गणित में समानता प्रदर्शित की थी। उसने कहा कि गणित और विधिशास्त्र दोनों में मूल तत्त्व दृष्टान्त होते हैं। विधिशास्त्र के मूल तत्त्व जिनसे दृष्टान्तों की विविधता उत्पन्न होती है, वे व्यक्ति, वस्तुएं, कर्म तथा अधिकार हैं।[1]

मई 1678 तक उसके विचार और अधिक व्यापक हो गए थे और उसने वाल्टर वॉन शिर्नहाउस को लिखा कि 'संयोजन अथवा प्रतीकों की सामान्य कला में बीजगणित से भी बड़ी उपलब्धियां निहित हैं, क्योंकि इसके प्रयोग से हमारे सभी विचारों को चित्रित किया जा सकता है और उन्हें स्थिर, संक्षिप्त एवं व्यवस्थित किया जा सकता है........।"[2]

1679 में "सामान्य विशेषताओं (प्रतीकों) पर अपने लेख में उसने यह विचार व्यक्त किया कि "मानवीय विचारों की एक वर्णमाला तैयार की जा सकती

---

1. "That both have elements and both have cases....the terms from whose complexions there arise the diversity of cases in the law are persons, things, acts and rights...."

—Dissertation on the Art of Combinations; Loemker No. 1.

2. "that the general art of combinations or characteristics contains much greater things than algebra has given, for by its use all our thoughts can be pictured and as it were, fixed, abridged, and ordered;...."

—Letter to Walter Von TSchirnhaus; Loemker, No. 19. p. 193.

है और इस वर्णमाला के वर्णों की तुलना तथा उनसे बने हुए शब्दों के विश्लेषण से प्रत्येक वस्तु की खोज की जा सकती है।"[1]

लाइबनिज को संभवत: अपनी योजना बहुत स्पष्ट न थी, क्योंकि उक्त लेख में वह इसके उपयोग की बहुत प्रशंसा करता है, किंतु उसका कोई प्रारूप प्रस्तुत नहीं करता। अंत में उसने 1714 में रेमांड को लिखा कि यदि मेरा ध्यान कम बंटा हुआ होता या कुछ प्रतिभाशाली युवक मेरी सहायता के लिए होते, तो मैं अब भी एक प्रकार का सार्वभौमिक प्रतीकात्मक विज्ञान निर्मित करने की आशा करता, जिसमें चिंतन के सभी सत्य एक प्रकार के आकलन में घटित हो जाते हैं।[2]

संभवत: लाइबनिज अपनी सार्वभौमिक प्रतीकात्मक भाषा और उस भाषा से निर्मित विज्ञान के विषय में केवल सोचता ही रहा, इस पर कार्य नहीं किया। इसीलिए वह इसकी कठिनाइयों से अवगत न हो सका। उसे सोचना चाहिए था कि गणित की भांति सामान्य अनुभव से संबंधित चिंतन में उसे सर्वत्र इकाइयों से जटिल संयोगों की ओर ही नहीं जाना होगा, बल्कि जटिल संयोगों को सरल इकाइयों में विश्लिष्ट करना होगा। दार्शनिक का कार्य भौतिक वस्तुओं को उनके भागों में बांटना नहीं, बल्कि जटिल संप्रत्ययों को सरल, संप्रत्ययों में बांटना हो सकता है। अत: यह कार्य बहुत कठिन होगा। किन्तु वह पाइथागोरस के संख्या सम्बन्धी विचारों को याकब बोहम के "प्राकृत भाषा संबंधी विचार संयुक्त करना चाहता था।[3] आजीवन वह यही सोचता रहा कि संख्याओं में जगत का रहस्य छिपा है और संभवत: इसीलिए वह विविध दृष्टियों से अनुभव की वस्तुओं की वास्तविकता उनके सरल अवयवों में खोजता रहा तथा अपने इस मौलिक विचार के लिए युक्तियां सोचता रहा, यद्यपि वह अपनी प्रतीकात्मक भाषा का विकास न कर सका।

---

1. "....that a kind of alphabet of human thoughts can be worked out and that everything can be discovered and judged by comparison of letters of this alphabet and an analysis of words made from them."

—General Characteristics.

2. Letters to Remond; Loemker, No. 68.
3. "Men have been convinced ever since Pythagoras that the deepest mysteries lie concealed in numbers. ....Meanwhile there remained deep-rooted in men the propensity to believe that marvels can be discovered by means of numbers, characters, and a certain new language, which some called the Adamic language; Jacob Bohme called it the **Natursprache.**"

—On the General Characteristic,
Loemker's No. 24. p. 221

तार्किक आकलन[1]

1679 के आसपास जब वह प्रतीकों के माध्यम से सामान्य चिन्तन की संभावना पर विचार कर रहा था, उसने तार्किक चिंतन में प्रतीक पद्धति के प्रयोग का प्रयत्न किया। इस कार्य में भी उसे विशेष सफलता नहीं मिली, किंतु अवयवों में अवयवी की वास्तविकता का विचार उसके आकलन के नियम से भी पुष्ट होता दिखाई दिया।

उसके नियम का कथन है कि जब किसी दिए हुए पद का संप्रत्यय किन्हीं दो या अधिक संप्रत्ययों से निर्मित होता है, तो उस निर्मित पद की प्रतीक संख्या निर्माता पदों की प्रतीक संख्याओं का गुणनफल होती है। उदाहरण के लिए, यदि मान लें कि 'मनुष्य बौद्धिक प्राणी है' और 'बौद्धिक' की प्रतीक संख्या 2 तथा प्राणी की प्रतीक संख्या 3 है, तो 'मनुष्य' की प्रतीक संख्या 6 होगी।[2]

आकलन के उपर्युक्त नियम को स्वीकार कर लेने पर उसके अंतर्भूत परिणामों को भी मानना होगा। यदि विधेय के संप्रत्ययों में गुणा करने से उद्देश्य का संप्रत्यय प्राप्त हो जाता है, तो उद्देश्य के संप्रत्यय में विधेय के संप्रत्यय समाविष्ट हैं और उद्देश्य संबंधी स्वीकारात्मक वाक्य का आशय इस समावेश को प्रदर्शित करना है। यह भी कि विधेय के संप्रत्यय उद्देश्य के संप्रत्यय के अवयव हैं। यदि यह मान लें कि उक्त वाक्य में उद्देश्य के संप्रत्यय का विधेय के संप्रत्ययों में पूर्ण विश्लेषण हो गया है, तो यह वाक्य उद्देश्य की वास्तविक परिभाषा है, क्योंकि संपूर्ण विधेय पद को उद्देश्य पद के स्थान पर रखा जा सकता है और चूँकि यह परिभाषा उद्देश्य के उन सभी अवयवों का कथन करती है जिनसे वह निर्मित है, तो इस वास्तविक परिभाषा से उद्देश्य के आंतरिक स्वभाव तथा उसके गठन अथवा निर्माण का ज्ञान होता है।

लाइबनिज स्वयं इस तथ्य को स्वीकार करता है कि ये विचार उसके मन में बहुत अल्पायु में ही बैठ गए थे और "जैसा कि प्रारंभिक झुकाव प्रायः करते हैं" वे उसके मन में स्थित रहे और उसके चिंतन को बराबर प्रभावित करते रहे।[3] उसके अनिवार्य तथा आपातिक सत्यों का भेद तथा पृथक् एवं गुंफित संप्रत्ययों का विश्लेषण इन्हीं विचारों पर आधारित है। सबसे आधारभूत विचार संप्रत्ययों में संप्रत्ययों के समावेश का सिद्धान्त है, जो उसने अपने तार्किक आकलन से एक अनिवार्य निष्कर्ष के रूप में प्राप्त किया था।

---

1. Two Studies in Logical Calculus, Pt. I; Loemker's No. 26.
2. "Two studies in Logical Calculus, Pt. I, Article 4.
3. "........when I was a mere by I became involved in thesec onsiderations, and as first inclinations usually do, they have remained strongly fixed in my mind eversince".
—On the General Characteristic; Loemker's No. 24.

सत्य कथन : अनिवार्य एवं आपातिक

"स्वतंत्रता पर" निबंध में एक अवतरण है जिसमें लाइबनिज कहता है कि सभी रचित अस्तित्वों पर ईश्वरीय असीमता की छाप लगी हुई है। उदाहरण के लिए, पदार्थ का कोई छोटे-से-छोटा अंश ऐसा नहीं है जिसमें अनन्त जीवों या वस्तुओं का एक संसार न हो।[1] इस कथन से पता चलता है कि लाइबनिज के अनुसार जगत की रचना ही इस प्रकार से हुई है कि वस्तुओं के भीतर वस्तुएं हैं। अतः सत्य कथन वे ही हो सकते हैं, जिसमें इस वास्तविकता की स्वीकृति हो।

तर्क वाक्यों की व्याख्या से भी लाइबनिज इसी विचार की पुष्टि करता है। निषेधात्मक तर्कवाक्य किसी उद्देश्य के विषय में कोई स्वतंत्र कथन नहीं करते, बल्कि किसी स्वीकारात्मक वाक्य के कथन का निषेध करते हैं।[2] अतः उन पर स्वतंत्र विचार की आवश्यकता नहीं है। स्वीकारात्मक वाक्य दो प्रकार के होते हैं— सामान्य एवं विशिष्ट। सामान्य स्वीकारात्मक वाक्य में उद्देश्य के संप्रत्यय में विधेय के संप्रत्यय का समावेश स्पष्ट है। जैसे "सभी स्वर्ण धातु है।"[3] किन्तु, विशिष्ट स्वीकारात्मक वाक्य में इस प्रकार का समावेश स्पष्ट नहीं होता। जैसे कहें कि "कुछ विशेषज्ञ बुद्धिमान हैं।" लाइबनिज के विचार से इस वाक्य का अर्थ यह है कि विशेषज्ञों की कोई उप-जाति है, जिसमें बुद्धिमता का गुण व्याप्त है।[4] इस प्रकार उद्देश्य में विधेय के समाविष्ट अथवा व्याप्त होने का नियम यहां भी चरितार्थ होता है। अन्तर इतना ही है कि इस प्रकार के वाक्यों में विधेय उद्देश्य के किसी एक वर्ग-विशेष में व्याप्त होता है।

अब यदि स्वीकारात्मक वाक्यों का आशय उद्देश्य में विधेय की व्याप्ति दिखाना है, तो सत्य कथन की सत्यता सूचित व्याप्ति की वास्तविकता पर निर्भर

---

1. that all created beings have a certain mark of the divine infinity impressed upon them...........For example, there is no portion of matter, however tiny, in which there is not a world of creatures, infinite in number".

—On Freedom.

2. "Negative propositions, however, merely coflict affirmative ones and assert that they are false".

—Logical Calculus, Pt. I, Art. 8.

3. "For example, all gold is a metal, that is, the concept of metal is contained in the concept of gold generally and viewed in itself,........".

—Calculus, Pt. I, Art. 17.

4. "It suffices for our purpose that some species of expert has a concept which contains the notion of prudence, even though it is not made explicit what sort of species this may be,........"

—Ibid, Art, 18.

करेगी। मुख्य प्रश्न यह निश्चित करने का है कि किसी कथन द्वारा सूचित उद्देश्य और विधेय का संबंध वास्तविक है, अथवा नहीं।

लाइबनिज का उत्तर है कि पदों के संपूर्ण विश्लेषण से यह सम्बन्ध स्पष्ट किया जा सकता है। उसके अनुसार इस पद्धति से स्वयंसिद्ध सत्यों तक को प्रमाणित किया जा सकता है। यदि उद्देश्य अथवा विधेय अथवा दोनों को तदात्मकताओं में घटित कर दिया जाय तो उनके विरुद्ध संप्रत्ययों को सत्य मानकर यह दिखाया जा सकता है कि उनके सत्य मानने पर वे एक ही साथ संभव और असंभव दोनों हैं।[1] और क्योंकि ऐसा नहीं हो सकता, इसलिये उनका विपरीत वाक्य प्रमाणित है। और वह इस निष्कर्ष पर पहुंचता है कि तादात्मक वाक्य स्वतः प्रमाणित हैं, क्योंकि उन पर विरोध के नियम का प्रयोग करने के लिए किसी विश्लेषण की आवश्यकता नहीं। अन्य वाक्यों को पदों के विश्लेषण द्वारा विरोध के नियम के अन्तर्गत लाया जा सकता है।[2] किंतु उसे यहां कुछ कठिनाई दिखाई देती है।

परन्तु सभी पद समान रूप से अंततः विश्लेष्य नहीं हैं। "जब कोई संप्रत्यय बहुत जटिल होता है, हम निश्चित रूप से उन सभी संप्रत्ययों को एक साथ नहीं सोच सकते, जो उसे निर्मित करते हैं।"[3] इस कठिनाई को स्पष्ट करने के लिए एक ओर वह वाक्यों में अनिवार्य[4] तथा आपातिक[5] का और दूसरी ओर संप्रत्ययों में पृथक्[6] और गुंफित[7] का भेद करता है।

---

1. "What are properly called axioms, however, can be reduced to identifies by analyzing either the subject or the predicate or both, and so demonstrated; for by assuming the contrary, we can show that the same thing would at the same time be and not be".

   —On universal Synthesis etc., Loemker's No. 25.

2. "Thus any truth whatever can be justified, for the connection of the predicate with the subject is either evident in itself as in identities, or can be explained by the analysis of the terms."

   —Ibid.

3. "When a concept is very complex, we certainly cannot think simultaneously of all the concepts which compose it."

   —Meditations on knowledge, Truth and Ideas, Loemker's No. 33

4. Necessary.
5. Contingent.
6. Distinct.
7. Confused.

लाइबनिज के चिंतन में तादात्मक वाक्य मूल अथवा प्रारंभिक वाक्य हैं, जिनके पदों का और सरल पदों में विश्लेषण नहीं किया जा सकता। इस विचार को वह अनेक निबंधों में व्यक्त करता है। 'सामान्य विशेषता' में वह इन्हें 'अपने आप में सत्य' मानता है, क्योंकि इन्हें सिद्ध करने के लिए मध्य पद नहीं प्राप्त किया जा सकता है।[1] 'सामान्य संश्लेषण आदि' में वह इस विचार को दुहराता है।[2] 'स्वतंत्रता पर' निबंध में वह अपने तत्संबंधी विचारों को व्यवस्थित करने का प्रयत्न करते हुए कहता है कि 'मौलिक सत्य वे हैं जिनके लिए कोई कारण नहीं दिया जा सकता। तादात्मयकताएं अथवा अव्यवहित सत्य इसी प्रकार के हैं, जो अपने विषय में वही बात स्वीकृत करते हैं, अथवा विरुद्ध कथन को अस्वीकार करते हैं।''[3] अपने लेख 'ज्ञान, सत्य और विचारों पर चिंतन' में वह इस बात को स्पष्ट करता है कि तादात्मयक वाक्यों के पद अपरिभाष्य संप्रत्यय होते हैं। ये संप्रत्यय मौलिक अथवा प्रारम्भिक होते हैं और इन्हें स्वतः समझा जा सकता है।[4]

इन्हीं तादात्मयकताओं के विवेचन से उसे अनिवार्य वाक्यों की व्याख्या प्राप्त हो जाती है। ये वाक्य वे हैं जिनके पदों को मौलिक संप्रत्ययों में विभाजित किया जा सके, अथवा जिनकी पूर्ण परिभाषा निर्मित की जा सके। किंतु ये कौन-से वाक्य हैं? अनुभव के सत्य उसके विचार में आपातिक हैं, क्योंकि उनके उद्देश्यों में यद्यपि विधेय के संप्रत्ययों का समावेश रहता है तथापि उनका पूर्ण विश्लेषण नहीं किया जा सकता, क्योंकि यह विश्लेषण असीम श्रेणियों में व्यक्त होता है।[5] आदम की सरल अवधारणा में ईश्वर ने संपूर्ण भावी संसार की संभावनाओं को संपुटित कर

---

1. "Identical propositions are the primary propositions, incapable of proof, that is, true perse, for nothing can be found to serve as a middle term to connect something with itself."
2. उद्धरण पीछे दिया जा चुका है।
3. "Original truths are those for which no reason can be given; such are identifies or immediate truths, which affirm the same thing or deny the contrary".
4. We may also have distinct knowledge of an indefinable concept, when the concept is primitive or is the mark of itself, that is, when it is irreducible and to be understood through itself and therefore lacks requisite marks".
—Meditations on Knowledge, Truth and Ideas.
5. "In contingent truths, however, though the predicate inheres in the subject,....but he analysis proceeds to infinity, only God being able to see, not the end of the analysis indeed, since there is no end, but the nexus of terms...."
—On Freedom. Loemker p. 265

दिया था । अतः ईश्वर ही आपातिक सत्यों के पदों का संपूर्ण विश्लेषण देख सकता है । निष्कर्षतः उनके पद मनुष्य के लिए गुंफित हैं । वे पृथक् होते यदि उन्हें तादात्म्यक वाक्यों के पदों के समान मौलिक संप्रत्ययों में घटित किया जा सकता ।

इस चिंतन के अनुसार अनिवार्य सत्यों की परिधि बहुत सीमित हो जाती है । केवल गणित और तत्वविद्या के अमूर्त सत्यों का ही मूल संप्रत्ययों में विश्लेषण संभव होता है । किंतु, तब इन सत्यों की अनिवार्यता का क्या अर्थ होगा ?

'साइमन फुटो को पत्र' में लाइबनिज ने लिखा था कि हेतु-फलाश्रित[1] वाक्य अनिवार्यता व्यक्त करते हैं । इन वाक्यों में दो ऐसी वस्तुओं को पूर्व कल्पित किया जाता है जिनमें परस्पर सहमति है । यदि एक घटित होगी तो दूसरी अवश्य घटित होगी । अतः अनिवार्यता का अर्थ अस्तित्व की संभावना है ।[2] विरोध का नियम विरोधी संभावना की असंभावना प्रदर्शित करता है । ऊपर हम देख चुके हैं कि उचित ज्ञान का आदर्श वास्तविक अथवा पूर्ण परिभाषा है, जिसमें उद्देश्य के सभी संप्रत्ययों का विधेय में विश्लेषण प्राप्त हो जाता है । "ज्ञान पर चिंतन" में वह इसी ज्ञान को उपयुक्त कहता है । इस प्रकार की परिभाषा में, यदि वह संभव हो, तो जटिल पद के द्वारा सूचित वस्तु का स्वभाव ज्ञात होगा । किन्तु वह जानता है कि इस प्रकार की परिभाषा मात्र सैद्धान्तिक है, वास्तविक नहीं । 'सामान्य संश्लेषण' में यह विचार व्यक्त हुआ है[3] और 'तत्वविद्या के विवेचन' में इसका पुनरावर्तन भी हुआ है ।[4] अतः अनिवार्य सत्य का जो स्वरूप हमारे लिए संभव है वह हेतु फलाश्रित है । इसीलिए लाइबनिज सर्वत्र वास्तविक परिभाषा की चर्चा न करके कारणात्मक

---

1. "For all hypothetical propositions assert what would be or would not be, if something or its contrary were posited; consequently they assume two things at the same time, which agree with each other, the **possibility** or **impossibility, necessity** or **indifference** of something".

—Letter to Simon Foucher (1675)

2. "But this possibility and this necessity compose or from what are called the **essences** or **natures** and the truths which are usually called eternal....for there is nothing so enternal as what is necessary".

—Ibid.

3. "....We know hardly anything adequately, few things a **priori** and most things through experience".

4. "This is very rare, since for the most part human knowledge is merely either confused or suppositive".

—Discourse on Metaphysics.

परिभाषाओं को ही पर्याप्त मान लेता है। इन परिभाषाओं में संप्रत्ययों का अंततः विश्लेषण न होने पर भी विरोध के नियम की प्रवृत्ति रहती है, क्योंकि हेतु और फल में सहमति एवं असहमति देखी जा सकती है। अतः पूर्ण विश्लेषण जिसे लाइबनिज उपयुक्त ज्ञान का आदर्श मानता है केवल एक सैद्धान्तिक कल्पना बन कर रह जाती है।

आपातिक सत्यों के पद, जैसा ऊपर दिखाया जा चुका है, बहुत जटिल होते हैं और उनमें समाविष्ट संप्रत्ययों का पूर्ण विश्लेषण कठिन है चूंकि वह सदैव असीम श्रेणियों में संभव है। इनके प्रारम्भिक सत्य के रूप में वह कहा जा सकता है, जिसका अव्यवहित प्रत्यक्ष[1] होता है। परन्तु इसे वह वास्तविकता न मानकर आभास मानता है, क्योंकि उसकी पूर्ण परिभाषा, जो अस्तित्वों के मौलिक स्वभाव का कथन करती है, संपूर्ण अवयवों के विश्लेषण पर ही निर्भर करती है। इनके औचित्य का निर्णय विरोध के नियम से नहीं किया जा सकता, क्योंकि विरोध का नियम भी जटिल अथवा गुंफित संप्रत्ययों के सरल प्रत्ययों में विश्लेषण की अपेक्षा करता है। किंतु यह नहीं है कि इन्हें जानने और प्रमाणित करने की कोई विधि नहीं है। 'स्वतंत्रता पर' निबंध में उसने इन्हें अनुभव और युक्ति द्वारा ज्ञेय बताया है। 'हम अनुभव द्वारा तब जानते हैं जब हम किसी वस्तु का पर्याप्त पृथक् रूप में इन्द्रियों द्वारा प्रत्यक्ष करते हैं; युक्ति द्वारा तब, जब हम इस सामान्य नियम का प्रयोग करते हैं, कि बिना कारण के कुछ घटित नहीं होता, अथवा यह कि विधेय का उद्देश्य में समावेश सदैव ही किसी कारण की अपेक्षा करता है।''[2] किंतु इन दोनों विधियों की भी सीमाएं हैं।

वह आनुभविक, अथवा प्रयोगात्मक पद्धति का समर्थन करता है, किंतु इस प्रकार ज्ञात सामान्य परिणामों को वह अपूर्ण मानता है। "सामान्य संश्लेषण" में वह कहता है कि "हमें अपने प्रयोगों को व्यवस्थित तथा संयोजित करने के लिये विशेष विधि की आवश्यकता है, जिससे कि उपयोगी आगमन किए जा सकें और उनसे कारणों की खोज की जा सके, एवं सामान्य सत्यों एवं अभिगृहीतों को स्थापित किया जा सके।'[3] पर, 'सोफिया शार्लाट को पत्र' में वह आगमनात्मक निर्णयों पर

---

1. Immediate perception.
2. "We know by experience when we perceive a thing distinctly by our senses; by reason, however, when we use the general principle that nothing happens without a reason, or that the predicate always inheres in the subject by virtue of some reason". —Loemka, p. 265.
3. "But we need a particular art for arranging as well as for ordering and combining our experiments, so that useful **inductions** can be made from them, causes discovered, and general truths and postulates set up...."

संदेह प्रकट करता है कि 'हमें यह निश्चय नहीं होता कि यह अनिवार्य है जब तक हमें उसके लिए कोई युक्ति प्राप्त न हो।'[1]

वस्तुतः उसकी दो कठिनाइयां हैं। एक तो उस समय भौतिक विज्ञान का विकास अपनी प्रारंभिक अवस्था में था। सूक्ष्मदर्शक यंत्रों ने अभी तक वस्तुओं के आंतरिक संगठन का उतना उद्घाटन नहीं किया था जितना कि आंतरिक विविधता का संद्यः दर्शन कराकर वैज्ञानिकों को चमत्कृत कर दिया था।[2] दूसरे, यह कि आभासों के संपूर्ण संस्थान को वह ईश्वर के मूल संप्रत्ययन से जोड़ रहा था।[3] अतः उसकी दृष्टि में न तो भौतिक वस्तुओं का संपूर्ण विश्लेषण संभव था और न कारण-श्रेणियों का ही संपूर्ण उद्घाटन संभव था। अतः वह पर्याप्त युक्ति द्वारा अध्ययन का सुझाव देते हुए भी इसकी अपूर्णता के प्रति सतर्क करता है : 'इसके लिए किसी एक दिशा में झुकाव प्रदर्शित करना पर्याप्त है....यह किसी वस्तु में अनिवार्यता स्थापित नहीं करती, क्योंकि विपरीत अवस्था सदैव संभव बनी रहती है।''[4]

लाइबनिज की विधियाँ

उपर्युक्त चिंतन से तीन विधियां प्राप्त होती हैं––संप्रत्ययात्मक विश्लेषण की विधि, आगनात्मक विधि तथा यौक्तिक या तार्किक विधि। संप्रत्ययात्मक विश्लेषण की विधि का प्रयोग गणितीय एवं तात्विक चिंतन में संभव है, जहां चिंतन का विषय वास्तविकताएं नहीं, बल्कि उनके स्वभाव से सम्बन्धित परिकल्पनाएं होती हैं। ये परिकल्पनाएं अनिवार्य होती हैं, क्योंकि इनमें यह अभिगृहीत होता है कि यदि वस्तुएं होंगी तो परिकल्पना के अनुसार व्यवहार करेंगी। उसने "प्राकृतिक

---

1. "........We are not sure that this is necessary unless we have grasped the reason for it".
2. "But it is also trut that, the more closely we examine our appearances, the better ordered we find them, as **miscroscopes** and other means of observation have shown".

   —Letter to Simon Foucher.
3. "It is God who is the ultimate reason of things, and the knowledge of God is no less the beginning of science than his essence and his will are the beginning of beings".

   —Letter to Rev. Father Malebranche (1687)
4. "........it is enough to effect a **greater inclination** in one direction or the other........it does not place necessity in the thing itself, because its contrary would still remain possible per seand implies no contradiction.

   —On the General Characteristic.
   Loemker, p. 227.

विधि के तत्त्वों" (1660–71) में कहा था "ठीक इसी प्रकार संख्याओं के संबंध सत्य होते हैं चाहे कोई गिनने वाला न हो और कोई गिनी जाने वाली चीज भी न हो।"[1] इसी संदर्भ में वह यह भी स्वीकार करता है कि इस विधि से प्राप्त सत्य सहेतुक होते हैं और वे अस्तित्व का विवेचन नहीं करते बल्कि उसका जो किसी का अस्तित्व मानने पर निगमित होता है।[2] इसी विश्लेषण विधि से यथार्थ परिभाषाएं[3] निष्पन्न होती हैं, जो विश्लेषण की सफलता के अनुपात में उपयुक्त[4] होती हैं। विरोध, अथवा अविरोध का नियम इसी विधि के अन्तर्गत प्रयुक्त होता है।

आगमनात्मक विधि निरीक्षण और प्रयोग पर निर्भर करती है। आभासों, अथवा संपूर्ण वस्तुओं का अध्ययन इसी विधि के अन्तर्गत आता है। इससे दो प्रकार की परिभाषाएं प्राप्त की जा सकती हैं—शाब्दिक[5] तथा कारणात्मक[6]। शाब्दिक परिभाषाएं वे हैं जो किसी वस्तु को दूसरी वस्तु से पृथक् करने के लिए पर्याप्त विशेषताओं अथवा लक्षणों का कथन करती हैं। कारणात्मक परिभाषाएं आभासों में पूर्वा पर संबंध स्थापित करती हैं।

यौक्तिक विधि आगमनात्मक विधि पर आधारित है। यह प्रयोगों द्वारा स्थापित परिभाषाओं के पक्ष में पर्याप्त युक्तियों का अनुसंधान करती है। लाइबनिज यौक्तिक चिंतन को ही व्यापक मानता है, क्योंकि विरोध के नियम का प्रयोग वहीं संभव होता है जहां चिंतन के पद सरल होते हैं। किंतु उक्त दोनों नियमों को, लाइबनिज के चिंतन के आधार पर, एक दूसरे से अलग नहीं किया जा सकता। कभी वह यह मानता है कि विरोध के नियम का प्रयोग वहीं किया जा सकता है जहां पदों का संपूर्णतः विश्लेषण प्राप्त होता है, तो कभी यह मान लेता है कि आभासों की सहमति-असहमति देखने में भी इसका प्रयोग हो सकता है।

इस प्रसंग में उसके दो कथन महत्त्वपूर्ण प्रतीत होते हैं। एक यह कि उद्देश्य में विधेय का समावेश भी किसी न किसी कारण पर निर्भर करता है और दूसरा यह कि पर्याप्त हेतु द्वारा किसी एक दिशा में अधिक झुकाव का अनुभव होता है। अतः हम यह निर्णय कर सकते हैं कि विरोध और पर्याप्त युक्ति के नियमों का

---

1. "Just so the relation of numbers are true even if there were no one to count and nothing to be counted,........"

—Elements of Natural Law.

2. "For they are all **conditionalia,** conditional truths, and treat not of what does exist but **what follows** if existence be assued".

—Elements of Natural Law.

3. "Real definitions.
4. Adequate.
5. Nominal.
6. Causal.

प्रयोग एक साथ अपेक्षित है, किन्तु जहां विरोध के नियम का प्रयोग नहीं किया जा सकता वहां पर्याप्त हेतु से काम लेने की बाध्यता होती है। वह कहता भी है कि "यह इतना सत्य है कि जहां गणितीय अनिवार्यता न मिलती हो वहां इसे ही संपूर्णतः खोजना चाहिए।"[1]

ज्ञान की प्रामाणिकता

पर, क्या लाइबनिज ने अपने चिंतन द्वारा विज्ञान और दर्शन का मार्ग अवरुद्ध कर दिया है? नहीं, उसने ज्ञान को एक सतत प्रयत्नशील प्रक्रिया के रूप में देखा था और यह सूचित किया था कि यह हमारी वर्तमान सामर्थ्य में भले ही न हो, किंतु जो कुछ भी गुंफित है स्वभावतः पृथक् किया जा सकता है और अन्ततः पिंडों के गुण एवं परिणाम किन्हीं पृथक् संप्रत्ययों में घटित किए जा सकेंगे।[2]

विरोध और पर्याप्त हेतु के नियमों द्वारा खोई हुई बाजी जीतने का उसने प्रयत्न किया है। "साइमन फुशे को पत्र" में उसने लिखा था कि दो ऐसे सामान्य निरपेक्ष सत्य हैं जो हमें वस्तुओं के अस्तित्व की सूचना देते हैं। एक यह कि हम चिंतन करते हैं और दूसरा यह कि हमारे चिंतन में एक बहुत बड़ी विविधता है। पहले से यह प्राप्त होता है कि हम हैं और दूसरे से यह कि हमारे अतिरिक्त कुछ और भी है।[3] लाइबनिज व्यक्तीय आत्म-चेतनता में वह सब कुछ खोज लेता है जो उसे न तो संप्रत्ययों के विश्लेषण में प्राप्त हुआ था और न ऐन्द्रिक अनुभव में।

वह प्लेटो के स्मृति-सिद्धान्त से प्रभावित था। 'तत्वविद्या केविवेचन' में उसने कहा है कि 'वस्तुतः हमारी आत्मा में सदैव किसी भी स्वभाव अथवा आकार का पुनः प्रस्तुतन करने की प्रवृत्ति रहती है, जब भी उसके विषय में चिंतन करने का

---

1. "So true is this that whatever is not of mathematical necessity,........must be sought here entirely".

—On The General Characteristic

2. "Since everything is by its nature resolvable into the distinct, even though it may not always be in our power to do this, it follows that all qualities and mutatious of bodies can, according to their nature, at length be reduced to certain distinct concepts".

—On The Elements of Natural Science

3. "So there are two absolute general truths;........which tell of actual existence of things. One is **that we** think; the other **that there is a great variety in our** thoughts. From the former, it follows **that we are;** from the latter, that there is something other than us,........"

—Letter to Simon Foucher.

अवसर प्राप्त होता है।"[1] प्लेटो से उसका पार्थक्य इस बात में है कि वह अनुभव के अवसर से पूर्व आत्मा में ज्ञान की सत्ता नहीं मानता, किन्तु 'पुनः प्रस्तुतन की प्रवृत्ति' के रूप में वह ज्ञान, अथवा विचार को जन्मजात मानता है। जॉन लॉक के विरुद्ध उसने 'नवीन निबंधों' की भूमिका में कहा कि हर्क्यूलिस की मूर्ति बनाने के लिए वह एकदम साफ पत्थर लेने के बजाय एक ऐसा पत्थर चुनना पसंद करेगा जिसमें हर्क्यूलिस की मूर्ति के अनुकूल धारियां हों।[2] वह यह कहना चाहता है कि स्व.-चेतन आत्मा[3] में ज्ञान की असीम संभावनाओं को बिना स्वीकार किए हुए ज्ञान की व्याख्या संभव नहीं है।

उसने 'सोफिया शार्लाट को पत्र' में लिखा था कि 'इस विवेचन से ज्ञात होता है कि हमारे भीतर एक प्रकाश है जो हमारे साथ ही पैदा हुआ है। क्योंकि इन्द्रियां और आगमन हमें कभी भी वह ज्ञान नहीं दे सकते जो पूर्णतः सामान्य तथा निरपेक्षतः अनिवार्य हो।'[4] और अब ज्ञान के प्रस्तुतन तथा प्रामाणिकता का संपूर्ण भार आत्म-चेतनता पर आकर टिकता है। लाइबनिज को उस सरलतम ज्ञेय की खोज थी, जिसका अपरोक्ष ज्ञान हो। आत्म-चेतनता में उसे इस तत्त्व की उपलब्धि हो जाती है। उक्त पत्र में वह कहता है कि 'इंद्रिय-संवेद्य तथा कल्पनीय के अतिरिक्त वह भी है जो केवल बुद्धिगम्य है, क्योंकि यह केवल बोध का विषय है। और जब मैं अपने आप के विषय में सोचता हूं तो मेरे विचार का विषय इसी प्रकार का होता है।"[5]

---

1. "As a matter of fact, our soul always does have within it the disposition to represent to itself any nature or form whatever, when an occasion arisets for thinking of it".
—Discourse on Metaphysics.
2 Self-conscious Soul.
3. "Accordingly I have taken as illustration a block of veined marble, rather than a block of perfectly uniform marble or than empty tables, that is to say, what is called by philosophers **tabula rasa**.
—New Essays, Introduction.
4· This consideration also shows that there is a light which is born with us. For since the senses and induction can never teach us truths that are fully universal or absolutely necessary,...........it follows that we have drawn these truths in part from what is within us"—
—Letter to Sophia Charlotte.
5. "Besides what is sensible and imaginable, therefore, there is that which is only intelligible, since it is the object of understanding alone. And such is the object of my thought when ! think of myself". —Letter to Sophia Charlotte.

लाइबनिज को आत्म-चेतन आत्मा में ज्ञानमीमांसात्मक द्रव्य[1] की उपलब्धि हो गई है। 'नवीन निबन्धों' की भूमिका में वह गुंफित प्रत्यक्षों की सम्पूर्ण विविधता को इसी में स्थानान्तरित कर देता है। उसका कथन है कि असंख्य सूचकों से ज्ञात होता है कि प्रत्येक क्षण हमारे भीतर प्रत्यक्षों की एक असीम कोटि या शृंखला विद्यमान रहती है। इन प्रत्यक्षों के लिए स्पष्ट होना, अथवा अतर्दर्शन का विषय होना, आवश्यक नहीं है। ये आत्मा में होने वाले परिवर्तन हैं, जिनकी हमें कोई चेतना नहीं रहती, क्योंकि उनके संस्कार या तो बहुत लघु होते हैं अथवा इतने अधिक होते हैं, अथवा इतने सटे होते हैं कि, प्रत्येक अपने आप का सूचक नहीं होता, किन्तु उनमें से प्रत्येक दूसरों से संयोजित होकर अपना प्रभाव करता है और, कम से कम गुंफित रूप में सम्पूर्ण में अपना भान कराता है।[2] यह उसके 'लघु प्रत्यक्षों'[3] का सिद्धान्त है, जिसकी पुष्टि के लिए उसने सागर के गर्जन का उदाहरण दिया है। सागर के किनारे खड़े होकर हम एक गर्जन सुनते हैं, किन्तु अलग-अलग उन छोटे-छोटे शब्दों को नहीं सुनते जिनसे गर्जन का निर्माण होता है, यद्यपि यह नहीं माना जा सकता कि वे लघु शब्द हमें प्रभावित नहीं करते, क्योंकि "एक सौ हजार कुछ नहीं से कुछ का निर्माण नहीं हो सकता।"[4]

अब स्थिति यह है कि लाइबनिज को आत्म-चेतन आत्मा के रूप में वह द्रव्य प्राप्त हो गया है जो न केवल स्पष्ट ज्ञान का आधार है, बल्कि सम्पूर्ण जगत की विविधता को भी गुंफित रूप में प्रतिबिम्बित करता है। अपने "एकक-शास्त्र"[5] के निर्माण के लिए अब उसे एक ही कदम उठाना शेष था कि वह अपने द्रव्य को, जिसे उसने ज्ञान-मीमांसा द्वारा प्राप्त कर लिया था, तात्विक एवं व्यापक मान ले। आत्म-चेतन द्रव्य को तात्विक मानने में कोई कठिनाई न थी, क्योंकि आत्म-चेतन

---

1. "Epistemological Substance.
2. "Besides there are countless indications which lead us to think that there is at every moment an infinity of perceptions within us, but without apperception and without reflexion, that is to say, changes in the soul itself of which we are not conscious, because the impressions are either too small and too numerous or too closely combined, so that each is not distinctive enough by itself, but nevertheless in combination with others each has its effect and makes itself felt, at least confusedly, in the whole".

   —New Essays, Introduction.
3. Petites perceptions.
4. "........a hundred thousand nothings cannot make some thing"

   —New Essay, Introduction
5. The Monadology

अनुभव में पर्यावरण की विविधता का ही पुनः प्रस्तुतन नहीं होता, बल्कि स्वयं के अस्तित्व का भी अनुभव होता है। इसे व्यापक मानने में भी उसे कठिनाई न हुई, क्योंकि उसका द्रव्य सम्बन्धी सिद्धान्त संसार की रचना के निमित्त अपरिमित द्रव्यों को स्वीकार करता है और लघु प्रत्यक्षों के मानवीय अनुभव से स्पष्ट हो जाता है कि इनमें चेतनता की असीम कोटियां सम्भव हैं।

लाइबनिज का एकक

लाइबनिज ने 1714 में "एकक शास्त्र" नाम से एक छोटी-सी पुस्तक प्रस्तुत की थी। इस पुस्तक में कोई नवीन स्थापना नहीं है। उसके विविध लेखों एवं पत्रों में जो द्रव्य-सम्बन्धी चिंतन के परिणाम स्थिर हुए थे, उन्हीं को उक्त शीर्षक के अन्तर्गत संकलित किया गया है। उसके दर्शन में 'एकक'[1] शब्द 'द्रव्य' के लिए प्रयुक्त हुआ है। इसीलिए एकक-सम्बन्धी विचारों के संकलन को एककशास्त्र नाम दिया गया है। किन्तु 'एकक' का संप्रत्यय पाश्चात्य दर्शन के इतिहास में नया न था। इटली के प्रसिद्ध दार्शनिक गिआर्दिनो ब्रूनो (Giordano Bruno) (1548–1600) जीवित द्रव्य के रूप में 'एकक' का प्रयोग कर चुका था। पर लाइबनिज ब्रूनो के बजाय संत टॉमस एक्वाइनस का आभार स्वीकार करता है।[2] संभवतः लाइबनिज को आत्माओं की अविभाज्यता का विचार संत टामस से ही प्राप्त हुआ था और लाइबनिज का एकक सरलीकृत आत्माओं का संप्रत्यय है।

लाइबनिज के दर्शन में एकक की मूल अवधारणा उसके 'संयोजन क्रिया पर निबन्ध' में ही अंकुरित होने लगती है, जहां वह यह स्थापित करता है कि जटिल वस्तुएं सरल अवयवों से ही निर्मित हो सकती हैं। उक्त निबन्ध में गणितीय रेखा आपातिक वस्तुओं का प्रतिनिधित्व करती है। लाइबनिज यह पाता है कि रेखा को, वैचारिक रूप से, असंख्य अविभाज्य बिन्दुओं में विभाजित किया जा सकता है। इन बिन्दुओं में ही रेखा का मौलिक स्वभाव है। किन्तु प्रत्येक बिन्दु रेखा को समान रूप से प्रस्तुत नहीं करता। प्रत्येक बिन्दु में संपूर्ण रेखा की सम्भावना विद्यमान है, किन्तु रेखा में सभी के स्थान भिन्न हैं। अतः प्रत्येक बिन्दु रेखा का एक भिन्न दृष्टिकोण प्रस्तुत करता है और सभी दृष्टिकोण सार्थक हैं, क्योंकि यदि एक को भी छोड़ दिया जाय तो रेखा की सम्पूर्ण उद्भावना में से कुछ घट जायगा।

इस गणितीय चिन्तन में लाइबनिज को अपने द्रव्य-सम्बन्धी चिंतन के लगभग सभी आधारभूत विचार प्राप्त हो जाते हैं। किन्तु स्पिनोजा की भांति वह

---

1. The Monad के लिए शब्दावली आयोग द्वारा स्वीकृत नवीन शब्द
2. "I saw that these forms and these souls must be indivisible, Just as is our mind; in fact, I remembered that this was the opinion of St. Thomas with regard to the souls of beasts".
—A New System, Art. 4.
Loemker. P. 454

एक द्रव्य के संप्रत्यय को पर्याप्त नहीं मानता। वह ईश्वर को अन्तिम द्रव्य मानता है, किन्तु उसका कथन है कि यदि एककों की स्थापना न करें तो ईश्वर के अतिरिक्त विश्व की सभी वस्तुएं सारहीन हो जाएंगी।[1] अतः आपातिक वस्तुओं की व्याख्या के लिए बहुद्रव्यों के संप्रत्यय की आवश्यकता है।

उसने गणितीय चिंतन से प्राप्त किया था कि किसी रेखा को निर्मित करने वाले सभी बिन्दु समान रूप से आवश्यक हैं, किन्तु सभी भिन्न दृष्टिकोणों से रेखा की व्याख्या प्रस्तुत करते हैं। इस विचार को उसने 'अभिन्न वस्तुओं के तादात्म्य के नियम'[2] के रूप में प्रस्तुत किया है। उसका कथन है कि कोई भी दो वस्तुएं, जिन्हें एक दूसरे से पृथक किया जा सकता है, एक नहीं हो सकतीं : "दो वस्तुओं की अभिन्नता कल्पित करना एक ही वस्तु को दो नामों से अभिहित करना है।"[3]

उक्त नियम की सहायता से वह रिक्त स्थान[4] की मान्यता को खंडित कर देता है, क्योंकि रिक्त स्थान के भिन्न-भिन्न भाग परस्पर सहमत हो सकते हैं। रिक्त स्थान के खंडन में जगत एक पूरित स्थान[5] के रूप में सिद्ध हो जाता है और तब द्रव्यों का सातत्य मानना अनिवार्य हो जाता है। साथ ही देश की स्वतंत्र सत्ता का भी निषेध हो जाता है, क्योंकि यदि रिक्त स्थान नहीं है तो वस्तु-संदर्भ से पृथक किसी देश की स्वतंत्र व्याख्या संभव ही नहीं है। लाइबनिज देश की वस्तुओं के सह-अस्तित्व की व्यवस्था तथा काल को क्रमिक अस्तित्व की व्यवस्था के रूप में मानता है। वास्तव में यह वस्तुएं नहीं है, परन्तु हमारे उनके विषय में विचार की प्रक्रिया के रूप हैं। किंतु अभी एक संप्रत्यय बच जाता है, जो द्रव्य का प्रतियोगी है। वह विस्तार का संप्रत्यय है।

देकार्त ने ईश्वर के अतिरिक्त दो गौण द्रव्यों का मत प्रस्तुत किया था, जिनमें से एक मन, अथवा आत्मा जिसका स्वउप-गुण विचार या चेतना है युढगल जिसका स्वरूप-गुण विस्तार है लाइबनिज देकार्त के प्रथम गौण द्रव्य से सहमत है, किन्तु दूसरे से नहीं। लाइबनिज के चिंतन के अनुसार सरल एवं अविभाज्य वस्तुएं ही द्रव्य हो सकती हैं। अतः विस्तार के द्रव्य होने का प्रश्न ही नहीं उठता। फिर भी उसने अनेक संदर्भों में इसका खंडन किया है। 'प्रथम सत्यों' में उसने कहा

1. "He (Spinoza) would be right if there were no monads; then everything except God would be of a passing nature....".
   —Letter to Louis Bourguet, 1714
2. The Law of Identity of indiscernibles.
3. "To suppose two things indiscernibie is to suppose the same thing undsr two names".
   —Leibhiz's Fourth Letter to Clarke.
4. Vacuum.
5. Plenum.

कि "देश, काल, विस्तार और गति हमारे चिंतन के भलीभांति आधारित प्रकार हैं।"[1] डी वोल्डर के पत्र (मार्च 24, 1699) में उसने कहा कि यह अपूर्ण संप्रत्यय है, जिसका स्वतंत्र संप्रत्ययन नहीं किया जा सकता। यह एक विश्लेष्य एवं आपेक्षिक संप्रत्यय है, जिसे बहुत्व, सातत्य एवं सह-अस्तित्व, अथवा भागों के एक साथ अस्तित्व में घटित किया जा सकता है।[2]

विस्तार को आभास सिद्ध कर देने से द्रव्यों के स्वतंत्र बहुत्व का विचार और अधिक पुष्ट हो जाता है। यूं तो यह विचार सरल अवयवों से जटिल वस्तुओं की रचना के विचार में प्रारम्भ से ही अंतर्भूत है। अब उसे द्रव्य की ऐसी इकाइयों की वांछा है जो सरल एवं अविभाज्य हों तथा अपने विशिष्ट दृष्टिकोणों से प्रथमतः अपने अवयवी का पुनः प्रस्तुतन करें और द्वितीयतः सम्पूर्ण विश्व का, क्योंकि विश्व के परिपूर्ण स्थान में सभी कुछ सभी के निकट है।

वस्तुतः द्रव्य के इस विचार का आत्म-द्रव्य के अतिरिक्त कोई प्रतियोगी नहीं है। फिर भी वह गणितीय बिन्दु तथा पुद्गलीय अणु की योग्यता पर विचार कर लेता है। 'प्रथम सत्यों'[3] में उसने पुद्गलीय अणुओं का विरोध किया, क्योंकि परिमित होने से वे अविभाज्य नहीं हो सकते। 'नवीन प्रस्थान'[4] में भी इस विचार को दुहराया गया है। इसी निबन्ध[5] में गणितीय बिन्दुओं का भी तिरस्कार किया गया है, क्योंकि गणितीय बिन्दु काल्पनिक हैं, वास्तविक नहीं। वे विस्तृत वस्तुओं

---

1. "Space, time, extension, and motion are not things but well-founded modes of our consideration".
   —First Truths. Loemker, p. 270.
2. "....the concept of extension is incomplete. Nor do I think that extension can be conceived in itself, but I consider it an analyzable and relative concept, for it can be resolved into **plurulity, continuity,** and co-existence or the existence of parts at one and the same time."
   —Letter to De Volder; Hanover, March 24, 1699, Loemker, p, 516.
3. "There are no atoms; indeed there is no body so small that it is not actually subdivisible",
   —First Truths.
4. "But **material atoms** are contrary to reason, besides being stiil further composed of parts. (Italies author's)
   —**A New System.** Loemker, p. 456.
5. "....mathematical points are exact but are nothing but modalities".
   —**A New System**. Loemker, p. 456.

की सीमाएं प्रस्तुत करते हैं। अतः उनसे साँतत्य (Continuum) की व्याख्या नहीं की जा सकती।

सच कहें, तो इस खंडन की आवश्यकता ही न थी। उसने अपने तर्कशास्त्रीय चिंतन से यह प्राप्त कर लिया था कि उद्देश्य में उसके भूत, वर्तमान और भविष्य के सभी विधेयों का समावेश होना चाहिए तथा विशिष्ट में सामान्य का अंतर्भाव अपेक्षित है। गणितीय बिन्दुओं तथा पुद्गलीय अणुओं में अवयवी वस्तुओं की सभी परिवर्तनशील संभावनाओं को संपुटित करना बोधगम्य नहीं है। इसीलिए उसने 'नवीन प्रस्थान' में स्पष्ट रूप से कहा कि 'उनका स्वभाव ऊर्जा का है और इससे कुछ बोध और प्रवृत्ति जैसा प्राप्त होता है, अतः उनके प्रसंग में हमें आत्माओं के संप्रत्यय से मिलते-जुलते पदों में सोचना चाहिए।[1] मिलते-जुलते पदों में इसलिए कि आत्मा को आत्म-चेतन मानना स्वाभाविक-सा हो गया है और लाइबनिज द्रव्य की उन्हीं इकाइयों से आत्म-चेतन व्यक्तियों से लेकर निर्जीव समझे जाने वाले पिंडों तक की रचना की व्याख्या करना चाहता था। अतः उसने अपनी द्रव्यात्मक इकाइयों को 'एकक' संज्ञा दी है और उनमें केवल दो धर्मों—प्रत्यक्ष और प्रवृत्ति—को स्वीकार करता है। प्रत्यक्ष से वह 'सरल में बहुत्व का पुनः प्रस्तुतन' तथा प्रवृत्ति से 'एक प्रत्यक्ष से दूसरे प्रत्यक्ष तक पहुंचने का उपक्रम' समझता है।[2]

देकार्त और उसके अनुयायियों ने दो गौण द्रव्यों को इसीलिए स्वीकार किया था कि वे सभी प्रत्यक्षों को चेतन मानते थे और अप्रत्यक्षीकृत प्रत्यक्षों के विचार को स्वीकार नहीं कर सके थे।[3] लाइबनिज ने मनोवैज्ञानिक निरीक्षण से यह मालूम कर लिया था कि आत्मचेतन व्यक्तियों में ही चेतनता के स्तर सदैव समान नहीं रहते, जैसे सुषुप्ति या मूर्च्छा की अवस्था में।[4] अतः उसे यह मानने में कोई कठिनाई न हुई कि एकक परिवार में प्रत्यक्ष की श्रेणियां असीमतः भिन्न स्तरीय हो सकती हैं।

परिणामतः लाइबनिज ने द्रव्य की इकाइयों के रूप में एककों की स्थापना की और इन्हीं से विश्व की सभी वस्तुओं की रचना की कल्पना की। इनका मूल

---

1. **A New System.**
2. "I hold perception to be the **representation of plurality in the simple.** and appetite to be the **striving from one perception to another**". (Italies mine).

   —Letter to Louis Bourguet, Hanover. December, 1714
3. "It is in this that the Cartesians made great mistake, for they disregarded perceptions which are not perceived".

   —Monadology, 14.
4. Monadology. 20

स्वभाव प्रत्यक्ष और प्रवृत्ति है, किन्तु ये सभी एक दूसरे से भिन्न हैं, यद्यपि सभी मिल कर प्रत्यक्ष के सभी संभव विकास स्तरों को अभिव्यक्त करते हैं। पर, उसका मत विकासवाद नहीं कहा जा सकता। विकासवादी विविध विकास स्तरों को क्रमिक मानते हैं, जबकि वह इन्हें सह-संभव मानता है। ऐसा मानकर वह निर्जीव समझी जाने वाली वस्तु से लेकर स्व चेतन आत्माओं और ईश्वर को भी एक ही एकक परिवार में रख देता है। ये सभी अपने दृष्टिकोण से संपूर्ण विश्व को प्रतिबिंबित करते हैं, यद्यपि इनके प्रतिबिंबन में स्पष्टता की श्रेणियां विविध होती हैं।[1]

पहली निगाह में लगता है कि लाइबनिज ने पाश्चात्य दर्शन में प्लेटो के समय से उलझी हुई आत्मा और पुद्गल, अथवा मन और शरीर के संबंधों की समस्या को एककों में स्वभाव साम्य मानकर हल कर दिया है। किंतु ऐसा हुआ नहीं है। समस्या अब असीमतः बढ़ गई है। संपूर्ण विश्व एककों से परिपूर्ण है, किंतु प्रत्येक का दृष्टिकोण शेष से भिन्न है। प्रत्येक में अपना अलग-परिवर्तन का स्रोत है,[2] क्योंकि सभी में प्रवृत्ति की भिन्न श्रेणी विद्यमान है। लाइबनिज ने एककों की इस स्वतन्त्रता और इससे उत्पन्न प्रेषणीयता के अभाव को अनेक संदर्भों में स्वीकार किया है। 1990 में उसने आर्नाल्ड को लिखा कि एककों के स्वभाव में उनकी सभी व्यापार-श्रेणियों के सातत्य का नियम मौजूद है।[3] 1703 में उसने डी वोल्डर को लिखा कि वस्तुतः वे विविधता के तत्त्व हैं।[4] और इस विचार को उसने एकक-शास्त्र में भी कई प्रकार से व्यक्त किया। एक संदर्भ में वह कहता है कि एककों के लिए परस्पर भिन्न होना आवश्यक है।[5] दूसरे में, कि वे गवाक्ष रहित हैं।[6] अभिन्न वस्तुओं के तादात्म्य के नियम से भी यही निष्कर्ष निकलता है।

---

1. "Monadology, 60.
2. "Monadology, 15.
3. "Each of these substances contains in its nature a **law of the continuation of the series of its operations** and everything that has happended to it and will happen to it." (Italies author's)
   —Letter to Arnauld, 1690.
4. "........in fact, they are the principles of diversity, for they each express the universe from their own point of view".
   —Letter to De Volder, Hanover, June 20, 1703.
5. "It is even necessary for each monad to be different from every other". Monadology, 9.
6. "Monads have no windows through which anything could enter or depart".
   —Monadology, 7.

लाइबनिज चेतन, अचेतन, जीवित तथा निर्जीव पदार्थों, वनस्पतियों, पशुओं, मनुष्यों, आत्मा और शरीर के पुराने भेदों को भी कम न कर सका। अचेतनता को चेतनता की अत्यल्प मात्रा मान लेने से चेतन और अचेतन का भेद मिटता नहीं है। उसका सातत्य का नियम[1] निकटस्थ एककों के भेद को अत्यल्प बना देता है, किंतु दूरस्थ एककों में भेद रहेगा अन्यथा एककों में ईश्वर को सम्मिलित करना असंभव होगा। वनस्पतियों, पशुओं तथा मनुष्यों में भी पारस्परिक भेद ज्यों के त्यों हैं, क्योंकि विकासवादियों की भांति लाइबनिज इन्हें क्रमिक विकास स्तर के रूप में तो मानता नहीं। उसके दर्शन में विविध वर्गों की रचना करने वाले एकक एक ही साथ उत्पन्न हुए हैं। अस्तित्व की सभी वस्तुएं सह-संभव हैं।[2] शरीर और आत्मा के भेद का भी निराकरण नहीं हुआ है, क्योंकि पशुओं और मनुष्यों के शरीर एक प्रशासक एकक के चारों ओर अधीनस्थ एककों के एकत्र हो जाने से बने हैं। अंगों का निर्माण भी इसी प्रकार हुआ है, यद्यपि प्रशासक एककों में भी स्तर भेद हैं।[3] संवेदनशीलता, भावना, स्मृति, कल्पना, यौक्तिक चिंतन आदि प्रत्यक्ष के भिन्न स्तर हैं, जो वनस्पति, पशु और मनुष्य को एक दूसरे से पृथक् कर देते हैं।

लाइबनिज ने अपनी इस कठिनाई को 'प्रथम सत्यों' पर निबंध लिखते समय ही देख लिया था, किंतु 'नवीन प्रस्थान' में उसने इसे बहुत निराश शब्दों में व्यक्त किया है : इन तथ्यों को स्थापित कर लेने के बाद मुझे लगा कि मुझे किनारा मिल गया है। किंतु जब मैं आत्मा और शरीर के संयोग पर विचार करने चला, तो मुझे लगा कि मैं फिर से खुले समुद्र में फेंक दिया गया हूं, क्योंकि न तो मुझे यह समझाने का मार्ग मिल रहा था कि आत्मा और शरीर एक दूसरे को कैसे प्रभावित करते हैं और न यही कि एक रचित द्रव्य दूसरे से कैसे आदान-प्रदान करता है।

लाइबनिज का यह कथन कि पुद्गल के छोटे-से-छोटे कण में जीवों का एक संसार है[4] और यह कि ये ऊर्जा के कण हैं, पुद्गल के वैज्ञानिक विश्लेषण तथा

---

1. "The Law of continuity.
2. Compossible.
3. "Hence we see that each living body has a dominant entelechy, which is the soul in the case of an animal; but the members of this living being are full of other living beings, plants, and animals, each one of which also has its dominant entelechy".

   —Monadolagy, 70
4. "Each part of matter can be thought of as a garden full of plants or as a pond full of fish. But each branch of the plant, each member of the animal, is also such a garden or such a pond."

   --Monadology, 67.

गतिशास्त्र (डायनेमिक्स) के विकास की ओर एक अच्छा संकेत था। किंतु लाइबनिज का संसार स्वतंत्र एवं उदासीन इकाइयों में बिखर चुका था और पूर्व-स्थापित सामंजस्य का सहारा लेकर उसने इसे जोड़ने का एक असफल प्रयत्न किया।

उसने आर्नाल्ड को 1690 में लिखा था कि एककों की पारस्परिक सहमति मूल सृष्टि के समय ही निर्धारित हो गई थी। इसीलिए प्रत्येक एकक अपने स्वभाव के अनुसार कार्य करते हुए अन्य एककों की मांगों के अनुसार कार्य करता है।[1] लगभग यही बात अपने जीवन के अन्तिम वर्षों में क्लार्क को पांचवां पत्र लिखते हुए उसने दोहराई थी कि यह प्रतिक्षण घटित होने वाला चमत्कार नहीं है, बलिक एक मूल चमत्कार का फल है। इस पत्र में वह एककों के सामंजस्य को एक सतत आश्चर्य स्वीकार करता है, किन्तु उसकी दृष्टि में पूरा संसार ही एक विचित्र घटना है।[2]

वास्तविक स्थिति तो यही है कि उसने अवसरवादियों[3] के प्रतिक्षण चमत्कार के मत के स्थान पर मूल चमत्कार को स्वीकार किया है, जिसका सीधा अर्थ यही है कि ईश्वर ने एककों को सृष्टि के समय ही ऐसा स्वभाव दे दिया है कि वे अपने अपने कार्यों को संपन्न करते हुए अन्यों से सहमत हों। 'नवीन प्रस्थान की दूसरी व्याख्या' (1996) में उसने घड़ियों का दृष्टान्त भी प्रस्तुत किया है, जो 'डीस्ट' विचारकों का प्रिय दृष्टान्त बन गया। उसका कथन है कि समान नियमों का पालन करते हुए अनेक घड़ियां स्वतंत्र रूप से एक ही समय प्रदर्शित कर सकती हैं।

अब यदि हम एककों के समान स्वभाव एवं नियमों का विश्लेषण करें तो पाएंगे कि सब में प्रत्यक्ष और प्रवृत्ति की समानता है। भेद केवल श्रेणियों का है। सभी अपने-अपने दृष्टिकोण से उसी संसार को पुनः प्रस्तुत करते हैं, अथवा यह कहें कि प्रत्येक एकक अन्य सभी एककों के क्रिया-कलापों का पुनः प्रस्तुतन करता है। एककों में शासक और शासितों का भेद भी उन्हें संबद्ध करने की युक्ति हो सकती

---

1. "........this perfect mutual accord, explicitly established by the order of the original creation, in virtue of which each substance, following its own laws, agrees with the demands of the others,........"

—Letter to Arnauld, 1960.

2. "The harmony or correspndence between the soul and the body is not ɐ perpetual miracle but the effect of consequence of an original miracle worked at the creation of things,........ Though indeed it is a perpetual wonder, as many natural things are".

—Fifth Paper, Art. 89.

3. Occasionalists.

है, किंतु यह संबंध लाइबनिज के अनुसार वास्तविक नहीं है। इसी प्रकार लाइबनिज का सातत्य का नियम है, किंतु वह भी निकटस्थ एककों का ही भेद अत्यल्प कर पाता है, दूरस्थ का नहीं। अतः यह एक मूल चमत्कार ही बन कर रह जाता है।

ईश्वर, जन्म, मरण, एवं अमरत्व

लाइबनिज के एकक-शास्त्र का मुख्य आधार ईश्वर की स्वीकृति है। वही सभी वस्तुओं का अन्तिम द्रव्य है। उसी ने अपने प्रत्यक्षों के अनुरूप तथा अपनी संकल्प शक्ति से एककों की रचना की है। लाइबनिज अपने ईश्वर को एककों का रचयिता और उनके परिवार का श्रेष्ठ सदस्य एक साथ मानकर कुछ अंतर्विरोध अवश्य पैदा करता है, किन्तु कोई अन्य मार्ग भी शायद नहीं था। एककों को वह किसी दूसरी मिट्टी से तो बनाता नहीं है। वे तो ईश्वर के स्वभाव के ही स्फुरण हैं। चूंकि यह एक मौलिक समस्या है, हम लाइबनिज को दोषी न ठहराकर इसके मानवीय लाभों की ओर ध्यान दें तो अधिक असंतोष न होगा।

एकक ईश्वर के स्वभाव से प्रस्फुटित हुए हैं, अतः वे अविनाशी हैं। और एककों के अविनाशी होने से सभी वस्तुएँ जो उनसे गठित हैं अमर, अथवा अविनाशी हो जाती हैं। लाइबनिज के शास्त्र में जन्म, मरण अथवा पुनर्जन्म मानने के लिए कहीं स्थान नहीं है।[1] एकक ईश्वरीय चमत्कार से उत्पन्न हुए हैं, अतः चमत्कार से ही नष्ट भी हो सकते हैं। बीच की स्थिति में केवल संघटित और विघटित हो सकते हैं। पर, विघटन से आपातिक वस्तु, अथवा आभास का ही नाश हो सकता है। यह विघटन भी अचानक पूर्ण नहीं होता। प्रत्येक आत्मा अपने शरीर का परिवर्तन धीरे-धीरे करती है। पूरा पिंड एक साथ विघटित नहीं हो सकता क्योंकि प्राकृतिक वस्तुओं में भागों के भीतर भाग हैं और सभी में जीवन का कोई न कोई स्तर है। वस्तुएं छीजती रहती हैं। वह हेराक्लितस का अनुसरण करते हुए कहता है : सभी पिंड नदियों की भांति निरन्तर प्रवाहमान हैं और भाग बराबर ही भीतर और बाहर आते-जाते रहते हैं।[2]

जब मृत्यु ही नहीं होती, तो पुनर्जन्म कैसे हो सकता है। 'नवीन प्रस्थान' में उसने मृत्यु को केवल 'निरीक्ष्य कार्यों का स्थगन'[3] कहा है। वह एक पिंड से एक

1. "........there is never complete generation or, strictly speaking perfect death, consisting in the separation of the soul. What we call **generation is a development and an increase,** Just as what we call death ls an envelopment and a diminution".
—Monadology, 73.
2. 'For all bodies are in a perpetual flux, like rivers, and parts are passing in and out continually". —Monad, 71.
3. 'a simple suspension of observable actions'.

आत्मा का स्थायी संबंध भी तो नहीं मानता, जबकि पुनर्जन्म के लिए यह मान्यता आवश्यक है।[1] अतः उसने ईश्वर के सहारे जन्म-मरण से मुक्त संसार की स्थापना की है। इस संसार का रचयिता ईश्वर है, जो बहुत बुद्धिमान एवं शक्तिशाली है। उसने असीम संसारों की संभावनाओं में से इस संसार को चुना है, अतः यह सर्वश्रेष्ठ संभव संसार है।[2]

वाल्टेयर ने बेचारे लाइबनिज की उसके सर्वश्रेष्ठ संभव संसार के विचार के लिए अपने 'कैंडिड' उपन्यास में बड़ी खिल्ली उड़ाई है। वाल्टेयर का डाक्टर पैनग्लॉस इसी मत के कारण पवित्र परीक्षकों द्वारा पकड़ा गया और फांसी पर चढ़ा दिया गया, किन्तु मरा नहीं, केवल मूर्च्छित हो गया। एक चिकित्सक ने मृत समझकर उसकी लाश चीड़-फाड़ के लिए खरीद ली और उसका पेट फाड़ दिया। वह होश में आ गया और चिल्लाया तो चिकित्सक ने उसकी मरहम-पट्टी की और ठीक होने पर एक दासों के सौदागर के हाथ बेच दिया। उस सौदागर ने उसे एक नाव-घाट पर मुसाफिरों को पार खेने के लिए नियुक्त किया। इसी घाट पर डा० पैनग्लॉस की उसके पुराने दर्शन के छात्र कैंडिड से मुलाकात हुई और उसने पूछा 'सर' आप अब भी सर्वश्रेष्ठ संसार के मत को मानते हैं? यहीं पर वाल्टेयर चूक जाते हैं, अथवा लाइबनिज का ईश्वर वाल्टेयर से भूल कराकर लाइबनिज को जिता देता है, क्योंकि पैनग्लॉस महोदय कहते हैं कि दार्शनिक किसी बात को बिना पर्याप्त युक्ति के नहीं मानता और जब मान लेता है तो फिर पीछे नहीं हटता।

सर्वश्रेष्ठ संसार की रचना करने वाले दयालु ईश्वर को प्रमाणित करने के लाइबनिज ने पग-पग पर प्रयत्न किए हैं। एककों के संसार के निर्माता के रूप में ईश्वर की आवश्यकता है। आपातिक वस्तुओं का प्रागनुभवीय विश्लेषण असीम श्रेणियों में संभव है और चूंकि मानव-मन असीम का संप्रत्ययन नहीं कर सकता, अतः यह कार्य ईश्वर के ही द्वारा संभव है। किन्तु अपने साहित्य में उन्होंने दो प्रमाणों पर अधिक बल दिया है। एक पर्याप्त युक्ति पर आधारित है और दूसरा पूर्व-स्थापित सामंजस्य पर। पर्याप्त युक्ति द्वारा ईश्वर तब प्रमाणित होता है, जब हम यह प्रश्न उठाते हैं कि यह संसार जैसा है वैसा ही क्यों है, किसी अन्य प्रकार

1. "But we must not imagine, as some have done, who have misunderstood my thought, that each soul has its own mass or quantity of matter belonging to it or affected by it for ever, and that it consequently possesses other inferior living beings forever destined to serve it".

—Monadology, 71.

2. "And this is the cause for the existence of the best, which his wisdom causes God to know, his goodness makes him choose, and his power makes him procuce".

Monadology, 55.

का क्यों नहीं है। इस प्रश्न का उत्तर अथवा संसार के अस्तित्व की पर्याप्त युक्ति हमें संसार की किसी एक अथवा अनेक वस्तुओं में भी नहीं मिलती। अतः ईश्वर को ही पर्याप्त युक्ति मानना पड़ता है।[1] ईश्वर को पूर्व-स्थापित सामंजस्य से हम तब प्रमाणित करते हैं, जब यह सोचते हैं कि संसार की अपरिमित वस्तुएं जिनका परस्पर कोई सम्बन्ध नहीं पूर्ण सामंजस्य के साथ कार्य किस प्रकार कर सकती हैं। हमें उत्तर देना पड़ता है कि ईश्वर ने इस सामंजस्य को उनके स्वभाव में पूर्व-स्थापित कर दिया है।[2]

अंततः लाइबनिज का द्रव्य सम्बन्धी दर्शन ईश्वर-शास्त्र पर ही आधारित हो जाता है, किन्तु उसके सम्पूर्ण चिन्तन में एक यौक्तिक प्रभाव है, जिससे हमें प्रभावित होना पड़ता है। हमीं नहीं इमैनएल कांट भी उक्त प्रभाव से नहीं बच सका था।

---

1. "On Freedom (1979)"
2. "A new proof for the existence of God can also be found here, one of surprising clarity. For the perfect agreement of so many substances which have no communication whatever with each other can come only from a common source".

—A New System, Art. 16.

5

"लौक"

किसी दार्शनिक का ऐतिहासिक अध्ययन करते समय हमें अनेक सम्भव दृष्टियों को ध्यान में रखना चाहिए।

उसके विचारों के स्रोतों अथवा मूल की खोज करना तथा यह बताना कि कहाँ कहाँ उसने नये मत-वादों का सूत्रपात किया है—यह भी एक दृष्टि है। **दूसरी** सम्भव दृष्टि इस बात को महत्त्व प्रदान करना है कि उस दार्शनिक ने उत्तरवर्ती दार्शनिकों को किस प्रकार प्रभावित किया तथा आगे आने वाले आन्दोलनों का रूप किस भांति निर्धारित किया। उस दार्शनिक का स्वंय में अध्ययन करने के बदले, उसे किसी सिद्धान्त, प्रवृत्ति, अथवा अन्दोलन के प्रतिनिधि के रूप में प्रस्तुत करना एक **तीसरी** दृष्टि है। **चौथी** सम्भव दृष्टि—और यह दृष्टि सबसे कम ऐतिहासिक है—यह है कि उसके विचारों एवं तर्कों को, यदि पूर्णतः नहीं तो अधिकांश रूप में, समकालीन चिन्तन के परिप्रेक्ष्य में आँका जाय। शायद ये सभी दृष्टियाँ अपने अपने क्षेत्र में उपयोगी एवं मूल्यवान् हैं।

लौक का अध्ययन आरम्भ करने के पूर्व, उनके जीवन एवं युग के सम्बन्ध में कुछ तथ्य अत्यधिक उपयोगी सिद्ध होगी। उनके युग के सम्बन्ध में हमारा ज्ञान इस कारण वांछनीय है कि वे स्पिनोजा की भांति एक निवृत्तिवादी, ईश्वर-व्यसनी (God-intoxicated) विचारक नहीं थे, वरन् वे अपने देश में तत्काल घटित कुछ महान्तम घटनाओं से सक्रिय रूप से सम्बद्ध थे। उनके समकालीन अनेक विचारकों ने उनके द्वारा विवेचित प्रश्नों को मूलतः राजनैतिक तथा केवल गौण रूप में ही दार्शनिक माना है।

लौक का जन्म सन् 1632 ई० में ब्रिस्टल के निकट एक गांव में हुआ था। उनके पिता एक वकील थे तथा सांसदों* (Parliamentarians) के समर्थक थे। सांसदों के प्रति अपनी सहानुभूति के कारण लौक के पिता को काफी आर्थिक क्षति उठानी पड़ी थी। उन्होंने अपने पुत्र की शिक्षा के प्रति बड़ी सावधानी बरती। उसे संयम, अध्यवसाय एवं उद्यम की दीक्षा दी गई, एक प्यूरीटन घराने के कठोर अनुशासन से वह परिचित हो गया। लौक सन् 1652 में ऑक्सफोर्ड में प्रविष्ट हुए तथा अन्य विषयों के साथ साथ उन्होंने हैब्रू एवं अरबी भाषा का भी अध्ययन किया। कुछ समय तक वे यूनानी भाषा के प्रवक्ता भी रहे। वे शीघ्र ही औषध विज्ञान के अध्ययन में प्रवृत्त हो गये। औषध विज्ञान में वे स्नातक की उपाधि से विभूषित हुए थे किन्तु नियमित व्यवसाय के रूप में उन्होंने उसे कभी नहीं अपनाया।

शैफट्सबरी के प्रथम अर्ल के साथ उनकी मैत्री हुई और उन दोनों ने ही उसका आनन्द लिया। शैफट्सबरी अनेक योग्यताओं के धनी थे, और उन दोनों को ही धार्मिक एवं राजनैतिक तानाशाही से घृणा थी। लौर्ड शैफट्सबरी सन् 1672 ई० में इंग्लैण्ड के लौर्ड चांसलर[1] बने और लौक औपचारिक रूप से उनके सचिव नियुक्त हुए। किन्तु देश में होने वाली ऊहापोहों के कारण उन्हें बहुधा देश के बाहर ही ठहरे रहने पर विवश होना पड़ा। वे फ्रांस में लगभग चार वर्ष तक रहे। वहां अन्य व्यक्तियों के साथ साथ उनका सुप्रसिद्ध यात्री बर्नियर से—जो शाहजहाँ के काल में भारत आया था—परिचय हुआ। बर्नियर गैसेन्डी के शिष्य थे और गैसेन्डी-वादी के रूप में ही लौक का उनसे परिचय हुआ। अनेक वर्षों तक लौक के जीवन का स्वरूप लौर्ड शैफट्सबरी के भाग्य के उतार-चढ़ावों द्वारा निर्धारित होता रहा। शैफट्सबरी की मृत्यु के पश्चात् इंग्लैण्ड में लौक ने अपना जीवन असुरक्षित अनुभव किया और वे हौलैण्ड में जा बसे, जहाँ विलियम—ऑफ–

सन 1642-85 के दौरान, इंग्लैण्ड में संसदीय सुधारों के समर्थकों एवं विरोधियों के बीच संघर्ष चल रहा था। सुधार विरोधी रॉयलिस्ट्स कहलाते थे तथा कैथोलिक धर्मावलम्बी थे। 1688 में जब इन सुधारों का विरोधी वयोवृद्ध राजा जेम्स द्वितीय इंग्लैण्ड से पलायन कर गया तथा कन्वैन्शन पार्लियामेन्ट ने विलियम तथा मेरी को बुलाकर उसके स्थान पर सिंहासनारूढ़ कर दिया तो यह संघर्ष अपने शिखर पर पहुंच चुका था। विलियम तथा मेरी 1689 से 1694 तक इंग्लैण्ड पर शासन करते रहे।

सन् 1688 की क्रांति के पश्चात् इंग्लैण्ड का एक अधिक शक्तिशाली एवं एक अधिक सम्पन्न राष्ट्र के रूप में प्रादुर्भाव हुआ। लौक एवं उनके पिता राजशाही के पक्षधरों तथा कैथोलिकों के विरोधी थे। अन्य सांसदों की भांति ही वे धार्मिक सहिष्णुता एवं प्रैस की स्वतन्त्रता के समर्थक थे।

सन् 1642-'85 के दौरान इंग्लैण्ड में संसदीय सुधारों के समर्थकों एवं विरोधियों के बीच संघर्ष चल रहा था। सुधार विरोधी 'रॉयलिस्ट्स' कहे जाते थे। कैथोलिक

ग्रौरेन्ज से उनका सम्पर्क हुग्रा। 1688 में विलियम का जहाज इंग्लैण्ड के तट से ग्रा लगा, जेम्स द्वितीय सिंहासन छोड़कर भाग खड़ा हुग्रा ग्रौर इस प्रकार इंग्लैण्ड के इतिहास में जिसे ग्लोरियस रिवोल्यूशन (Glorious Revolution) कहते हैं, वह पूर्ण हो गये विलियम के साथलौक भी इंग्लैण्ड लौट ग्राये। वहाँ ऊँचे-ऊँचे पदों पर उनकी नियुक्ति हुई किन्तु ग्रस्वस्थता के कारण उन्हें त्याग पत्र देना पड़ा ग्रौर सन् 1700 ई० में ग्रौट्स में उनका देहावसान हो गया।

दार्शनिक के रूप में लौक की स्थिति मुख्यतः उनके "ऐसे कन्सर्निंग ह्यूमन-ग्रन्डरस्टैण्डिग" के कारण है; यह ग्रंथ प्रथम बार 1690 ई० में प्रकाशित हुग्रा था। लौक की ग्रायु उस समय 57 वर्ष की थी। उनके जीवन काल में इसके चार संस्करण प्रकाशित हुए। शिक्षा, वित्तीय सुधार, ईसाई-धर्म, सहिष्णुता ग्रौर विशेषकर-समकालीन प्रश्नों पर पुस्तिकाग्रों के ग्रतिरिक्त-प्रशासन एवं राजनीति पर उन्होंने ग्रनेक ग्रंथ लिखे।

लौक ने ग्रपने जीवन के प्रारम्भ काल में इंग्लैण्ड के महान् सेनापति एवं राजनेता क्रौमवैल के कुछ ग्रन्तिम वर्ष देखे थे। क्रौमवैल की महानता का रहस्य इस बात में निहित था कि उन्होंने ब्रिटिश द्वीप समूह को संगठित किया था, ग्रंग्रेजी नौ-सेना को स्थायी कार्यकुशलता का ग्राधार-प्रदान किया था, ग्रौर विलास, दिखावे एवं ग्राडंबर से ग्रस्त समाज में प्यूरीटान ग्रादर्शों का प्रवर्तन किया था तथा संसदीय ग्रधिकारों के लिए संघर्ष किया था। यही वह युग भी है जिसमें ग्रग्रेंजी साम्राज्य एवं संयुक्त राज्य ग्रमेरिका का उदय हुग्रा था। तानाशाह फ्रांस पर संसदीय इंग्लैण्ड की विजय 18वीं शताब्दी के इतिहास की एक महत्त्वपूर्ण घटना थी। प्रथम बार ग्रग्रेंजी संस्थाएं योरप के लिए ग्रादर्श बन गई।

देकार्त की मृत्यु के समय लौक सत्रह-वर्षीय नवयुवक थे, ग्रौर जब लौक की ग्रायु छियालीस वर्ष की थी, तो हौब्स जीवित थे। न्यूटन लौक से दस वर्ष छोटे तथा बेल (Bayle) छः वर्ष बड़े थे।

लौक के ग्रंथों में इन नामों की चर्चा केवल यदा कदा ही मिलती है ग्रौर उनसे यह पता लगाना कठिन है कि किन किन लेखकों ने लौक को प्रभावित किया था। रॉयल सोसायटी की स्थापना 1663 ई० में हुई थी ग्रौर लौक उसकी स्थापना के लिए उत्तरदायी ग्रनेक वैज्ञानिकों में से कुछ के तो बड़े घनिष्ट मित्र एवं प्रशंसक थे। ग्रौषधि विज्ञान के प्रख्यात ग्राचार्य साइडैनहम (Sydenham) (1624–89) से उनका परिचय था, वे बायल—(1626–91) को भी जानते थे तथा न्यूटन—(1642–1727) के लिए तो उन्होंने "ग्रप्रतिम" (the

1. Lord Chancellor.
2. 'Essay Concerning Human Understanding'.

incomparable) पद का प्रयोग किया है। डच गणितज्ञ एवं भौतिक शास्त्री श्री ह्यूजिन्स[1] (1629–93) को उन्होंने 'महान्' (the great) कह कर संबोधित किया है। अपनी पीढ़ी के अनेक अन्य व्यक्तियों की भांति, गृहयुद्ध के समय इंग्लैण्ड को आच्छन्न कर लेने वाली भावुकता (emotionalism) से लौक को घृणा थी। जीवन, धर्म, राजनीति और विशेषकर दर्शन के गंभीर विषयों में उन्हें किसी प्रकार का भावनात्मक अनुरोध स्वीकार्य नहीं था। और, विवेक को कलंकित करने वाले तथा श्रद्धा एवं धर्म के क्षेत्र में उसके उपयोग का निषेध करने वाले भावुक 'उत्साह' की भर्त्सना करते हुए उन्हें कभी क्लांति का अनुभव नहीं हुआ।

इस काल में इंग्लैण्ड के बौद्धिक पर्यावरण को गहन रूप से प्रभावित करने वाले दार्शनिक समुदाय की ओर इंगित करना असंगत न होगा। उन्हें कैम्ब्रिज-अफलातूनवादियों[1] के नाम से पुकारा जाता था। उनमें से कम से कम कुछ दार्शनिक तो अन्तर्जात प्रत्ययों (innate-ideas) के अस्तित्व में विश्वास करते ही थे और लौक इस सिद्धान्त के एक प्रबल आलोचक थे। अन्तर्जात प्रत्ययों के लौक द्वारा निरूपण को परखने के पूर्व कुछ आधारभूत प्रश्नों के प्रति लौक के दृष्टिकोण के विषय में कुछ कहना आवश्यक है। मुख्यत: लौक की रुचि ज्ञान से संबंधित समस्या में थी। ज्ञान, सच्चा ज्ञान, सुनिश्चित और तर्कसंगत होना चाहिए। लौक कम से कम आधुनिक योरप के तो पहले ही दार्शनिक थे जो यह मानते थे कि दर्शन का प्रारंभ ज्ञान-मीमांसा (epistemology) से होना चाहिए। दूसरे शब्दों में, लौक के सम्मुख उपस्थित प्रश्न ये हैं: (1) वे कौनसी विधियां हैं जिनसे मानव मन को ज्ञान होता है? (2) हमें संभवत: किन वस्तुओं का ज्ञान हो सकता है? लौक की रुचि मानवीय बुद्धि, उसकी विषय वस्तु और साथ-साथ उसकी विचार प्रक्रिया के परीक्षण में है। अतएव, एक अर्थ में, लौक मनोवैज्ञानिक भी है; वस्तुत: कुछ लोगों का तो कथन है कि वे अंग्रेजी मनोविज्ञान के संस्थापक थे। यहां यह कहना उपयुक्त होगा कि उनके समय में ज्ञान मीमांसा एवं मनोविज्ञान के बीच कोई गहरा भेद नहीं माना जाता था और अनेक अवसरों पर लौक ज्ञान मीमांसा के प्रश्नों को मनोवैज्ञानिक प्रश्नों के साथ तथा मनोवैज्ञानिक प्रश्नों के साथ ज्ञान मीमांसा के प्रश्नों को उलझा देते हैं। अपने 'ऐसे' के अन्तिम खण्ड में उन्होंने ज्ञान के संबंध में स्वयं अपने ही सिद्धान्त का निरूपण किया है। किन्तु यह एक पूर्णतया भिन्न प्रश्न है और हम लौक के ज्ञान तथा संभाव्यता (probability) संबंधी विचारों का उचित स्थान पर विवेचन करेंगे। यहां इतना ही कहा जा सकता है कि लौक अपने 'अन्वेषण' की पद्धति से अनभिज्ञ नहीं थे, वे इसे 'ऐतिहासिक, सरल पद्धति' का नाम देते हैं। उनका विश्वास था कि मानव ज्ञान के मूल, उसकी

---

1. Huygens.
1. Cambridge Platonists.

निश्चितता एवं क्षेत्र का अन्वेषण उसके उद्‌गम का पता लगाकर किया जा सकता है। वे पूर्णतः सही नहीं थे और हमें देखना यह है कि वस्तुतः उन्होंने भूल कहां की थी?

'ऐसे' का प्रथम खंड पूर्णतः इस मत के खंडन में व्यस्त है कि प्रत्यय, चाहे सैद्धान्तिक हों चाहे व्यावहारिक, अन्तर्जात नहीं होते। विद्वानों ने यह पता लगाने की चेष्टा की है कि लौक द्वारा आलोचित अन्तर्जात प्रत्ययों के सिद्धान्त के वास्तविक समर्थक कौन थे और उनका इस संबंध में मतभेद है। कुछ विद्वानों ने तो यह सुझाव भी दिया है कि लौक ने जिस सिद्धान्त की आलोचना की थी, उसे किसी ने प्रतिपादित नहीं किया और स्वयं लौक ने अपने ही विचारों को अधिक स्पष्ट बनाने के लिए केवल एक काल्पनिक विचारक का आविष्कार भर किया था। जो भी हो, हमारे प्रयोजन की दृष्टि से यह बात महत्त्वपूर्ण नहीं है। बहुत संभव है कि लौक की दृष्टि—जैसा कि वे स्वयं उन्हें समझ पाये हों—डेकार्ट तथा उनके अनुयायियों पर थी। किन्तु कुछ उत्तर-मध्यकालीन विचारक थे, कुछ कैम्ब्रिज—अफलातूनवादी विचारक थे तथा कुछ हरबर्ट जैसे लोग थे जो किसी न किसी रूप में इस सिद्धान्त का समर्थन कर रहे थे। इन दार्शनिकों के अनुसार मानव मन इस अर्थ में सक्रिय है कि बुद्धि के पास अपनी सामग्री को ग्रहण करने तथा उसे एक व्यवस्थित रूप देने की क्षमता होती है। कुछ प्रत्यय ऐसे भी हैं जिनके साथ मानव मन का उदय होता है। बस इसी अर्थ में प्रत्ययों को अन्तर्जात माना गया है। वह दार्शनिक जिसकी लौक ने नाम लेकर चर्चा की है, हरबर्ट (1581–1648) हैं। किन्तु कुछ विद्वानों का मत है कि लौक की आलोचना केवल हरबर्ट के विचारों के विरुद्ध ही परिलक्षित नहीं थी। हरबर्ट के अनुसार मानव जाति की 'सामान्य-धारणाएं' निम्नलिखित हैं :

1—एक सर्वोच्च सत्ता अस्तित्वमान् है।

2—इस परम सत्ता की आराधना होनी ही चाहिए।

3—मानव की सामर्थ्यों का अनुक्रमण एवं सुव्यवस्था इस दैवी आराधना का सर्वोत्तम रूप है। हरबर्ट के अनुसार इस सत्य में लोग सदा से विश्वास करते आये हैं।

4—सभी पापों एवं अपराधों का क्षय एवं हनन प्रायश्चित द्वारा होना चाहिए

और

5—इस जीवन के उपरान्त पुरस्कार तथा दण्ड का विधान है।

परन्तु जब हम अन्तर्जात प्रत्ययों से संबंधित लौक द्वारा की गई आलोचना पर ध्यान देते हैं, तो हमें विदित होता है कि लौक विशिष्ट रूप से हरबर्ट द्वारा प्रतिपादित इन 'सामान्य धारणाओं' का विवेचन नहीं कर रहे हैं।

अन्तर्भूत प्रत्ययों के सिद्धान्त के समर्थकों का कहना है कि इन सिद्धान्तों के विषय में सार्वभौम मतैक्य है चाहे ये केवल मीमांसात्मक (सैद्धान्तिक) हों, चाहे व्यावहारिक। किन्तु लौक का उत्तर है कि सार्वभौम मतैक्य अपने आप में अन्तर्जातता—(innateness) का कोई सबूत नहीं है। दूसरी बात यह है कि सभी लोग, बालक एवं बर्बर जातियों के लोग, वस्तुतः, इन सिद्धान्तों के विषय में एकमत नहीं है। फिर भी यदि यह तर्क दिया जाय कि मनुष्य, कम से कम संभाव्य रूप से तो, इन सिद्धान्तों के ज्ञान की क्षमता रखते हैं, तो लौक इस बात को मान जायेंगे। किन्तु उन्होंने यह नहीं पूछा, जैसा कांट ने पूछा था, कि इस सामर्थ्य से क्या परिलक्षित होता है। तो भी यह तर्क तो दिया ही जा सकता है कि यह कथित पूर्ववर्त्तिता सामयिक नहीं है, वरन् तार्किक है। दूसरे शब्दों में, ये सिद्धान्त तार्किक रूप से अनिवार्य एवं स्वयं सिद्ध होते हैं। इस मत के समर्थकों का कथन है कि इस प्रकार की स्वयं सिद्धता की व्याख्या केवल इस रूप में की जा सकती है कि ये सिद्धान्त अन्तर्जात होते हैं। लौक इस बात को मान लेंगे कि ये सिद्धान्त—स्वतः प्रमाण या स्वयं सिद्ध हैं। किन्तु गणित के सत्य भी तो समानरूप से स्वयंसिद्ध होते हैं। किन्तु इससे तो उनकी अन्तर्जातता सिद्ध नहीं हो जाती। गणित के सत्यों का ज्ञान हमें ठीक उसी प्रकार होता है जिस प्रकार कोई भी अन्य ज्ञान, अर्थात् मन को उनका अन्तर्बोध होता है। किन्तु इस प्रश्न का निरूपण "ऐसे" के 'प्रथम' खण्ड में नहीं, वरन् 'चतुर्थ' खण्ड में हुआ है।

इस प्रकार, चिन्तन (Speculation) में प्रयुक्त सिद्धान्त किसी भी अर्थ में अन्तर्जात नहीं होते। फिर लौक यह जांचते हैं कि 'क्या व्यावहारिक (practical) सिद्धान्त अन्तर्जात होते हैं?' "आनन्द की कामना एवं दुःख के प्रति विकर्षण" के अतिरिक्त मनुष्यों के बीच कुछ और सामान्य नहीं होता। चिन्तनात्मक सिद्धान्तों की अपेक्षा नैतिक सिद्धान्तों के विषय में मतैक्य की अधिक संभावना रहती है, किन्तु ऐसे मतैक्य से उनकी अन्तर्जातता स्थापित नहीं हो जाती।

अतः, अन्तर्जात प्रत्ययों से संबंधित मत अनावश्यक हैं।

'खण्ड 2 का सारांश'

खण्ड 2, प्रत्ययों के विश्लेषण एवं वर्गीकरण में प्रवृत्त है। इसी खण्ड में लौक के पर्यायों, संबंधों एवं कारणता से संबंधित विचार भी मिलते हैं।

दूसरे खण्ड में, जिसे समझना वस्तुतः बड़ा कठिन है, लौक के लेखन का आरंभ इस कथन से होता है : कि मन "सभी प्रकार के लक्षणों, सभी प्रकार के प्रत्ययों से रिक्त एक श्वेत पत्र है।" किन्तु इसके पास तो अनेक प्रत्यय होते हैं जिन्हें श्वेतता, कठोरता, मिठास, विचारणा, गति, मनुष्य, हाथी, सेना, नशा तथा कुछ अन्य" शब्दों द्वारा अभिव्यक्त किया जाता है। तो, वे हमें किस प्रकार मिलते हैं? एक शब्द में इसका उत्तर है **"अनुभव"**। लौक ने मानव अनुभव के दो

प्रकार माने हैं : (1) संवेदन, और (2) चिन्तन"। उनके कहने का तात्पर्य यह है कि "ज्ञान के उपादान" **केवल** इन दो में से एक अथवा दूसरे से ही प्राप्त हो सकते हैं। व्यक्ति के बाहर संवेद्य पदार्थों का अस्तित्व है। वे हमारी ज्ञानेन्द्रियों को विभिन्न प्रकार से प्रभावित करते हैं। तो, ज्ञानेन्द्रियां मन के पास जो कुछ प्रेषित करती हैं वह 'संवेदन' (Sensation) कहलाता है। लगता है, 'चिन्तन' (reflection), जो ज्ञान का दूसरा स्रोत है, एक दूसरे प्रकार का 'संवेदन' ही है; यह "हमारे भीतर स्वयं अपने ही मन की प्रक्रियाओं का प्रत्यक्षीकरण है"। इसे "अन्तःइन्द्रिय" का नाम भी दिया गया है और कुछ आधुनिक व्याख्याकार तो इसे अर्न्तदर्शन–(introspection) कहेंगे लौक ने (II. I. 4) में चिन्तन को इस प्रकार परिभाषित किया है : "तो, चिन्तन से ...मेरा अभिप्राय उस अवधान से है जो मन स्वयं अपनी ही प्रक्रियाओं एवं उनकी विधि पर केन्द्रित करता है, जिसके कारण बुद्धि (understanding) में इन प्रक्रियाओं के प्रत्ययों का उदय होता है।" (I. पृ० 124)। हम आगे देखेंगे कि इन पदों में से अधिकांश का प्रयोग, लौक द्वारा उनके विश्लेषण में बरती गई सावधानी के बावजूद, भिन्न-भिन्न अर्थों में तथा असावधानी-पूर्वक हुआ है। संप्रति हम उस महत्त्वपूर्ण पद 'प्रत्यय' के अर्थ को समझने की चेष्टा करेंगे जिसे लौक ने अपने प्रावधान में पहली बार प्रस्तुत किया था। वहां "इसका प्रयोग उस प्रत्येक वस्तु के लिए हुआ है जो मानव विचार की प्रक्रिया में बुद्धि का विषय है...............विचारणा में जिसके लिए मन का अनुयोजन किया जा सके।" (पृ० 32)[1]। वास्तव में 'ऐसे' का अधिकांश भाग 'प्रत्ययों' के व्यापार एवं वर्गीकरण के विवेचन में रत है

पहली बात, वे प्रत्यय जो मन में स्थित हैं, उन प्रत्ययों से भिन्न समझे जाने चाहिए जो प्रत्यक्षीकरणों को उत्पन्न करने वाले पिण्डों अथवा वस्तुओं में पाये जाने वाले द्रव्य के रूपान्तर हैं (Vol. 1 पृ० 168)।

दूसरी बात, प्रत्ययों को 'सरल' एवं 'जटिल' दो श्रेणियों में वर्गीकृत किया गया है (Vol. 1, पृ० 144)। सरल प्रत्यय—विभिन्न ज्ञानेन्द्रियों के माध्यम से प्राप्त होने वाले प्रत्ययों की भांति ही पूर्णतः सुस्पष्ट होते हैं (Vol. 1, पृ० 144)। मन न तो उनकी रचना कर सकता है, न उन्हें विनष्ट ही कर सकता है। अपनी सम्पूर्ण सावधानी के बावजूद, लौक सरल प्रत्ययों को किसी एक विशिष्ट अर्थ तक सीमित नहीं रहते, वस्तुतः उसके चार अर्थ हैं। प्रथम अर्थ में,

---

1. "........stands for whatsoever is the object of the understanding when a man thinks........whatever it is which the mind can be employed about in thinking."
लौक ने वास्तविक एवं काल्पनिक प्रत्ययों के बीच भेद स्थापित किया है (Book II Chapter XXX)। वास्तविक विज्ञानों

'सरल प्रत्यय' अनुभव की सबसे छोटी इकाई है। दूसरे अर्थ में, वह कोई एकाकी गुण होता है, जैसे 'नीला', 'वर्गाकार' आदि। तीसरे अर्थ में, संवेदन एवं चिन्तन द्वारा प्राप्त उपादानों से मन के द्वारा जिसकी रचना की जाती है, उसके विपरीत सरल प्रत्यय वह है जो अनुभव में मन को उपलब्ध होता है। और अन्त में, इसका अभिप्राय एक निर्धारित गुण (जैसे 'वर्गाकार') के विपरीत एक निर्धार्य गुण (जैसे 'रंगीन', 'ए के अकारवाला') से है। संक्षेप में, लौक ने 'सरल प्रत्यय' का कभी कोई सुनिश्चित एवं यथार्थ अर्थ स्पष्ट ही नहीं किया है।

तीसरी बात—प्रत्ययों का एक अन्य वर्गीकरण सुस्पष्ट एवं सुनिश्चित (Clear and distinct) तथा अस्पष्ट एवं उलझे हुओं (Obscure and confused) में किया गया है (I. पृ. 486)। सुस्पष्टता (Clarity) ऐसा गुण है जो सरल तथा जटिल दोनों प्रकार के प्रत्ययों में उपलब्ध होता है। "हमारे सरल प्रत्यय तभी सुस्पष्ट होते हैं जब वे, स्वयं उन पदार्थों द्वारा जिनसे वे ग्रहण किये गये हैं, एक सुव्यवस्थित संवेदन अथवा प्रत्यक्षीकरण में प्रस्तुत किये गये हों अथवा किए जा सकते हों।" (Vol. I. पृ. 487) संवेदना-शून्य ज्ञानेन्द्रियां तथा मन्द एवं क्षणिक मनोअंकन अस्पष्टता के कारण बताए गये हैं। "एक सुनिश्चित प्रत्यय में मन अन्य सभी प्रत्ययों से भिन्नता का अनुभव करता है, एवं एक उलझा हुआ या मिश्रित प्रत्यय वह है जो दूसरे प्रत्ययों से पर्याप्त रूप में पृथक (distinguishable) नहीं दें......................" (I. पृ. 487) किन्तु यहां भी, जैसे जैसे वे प्रत्ययों को उनके नामों के संदर्भ में परखने लगते हैं, लौक का वर्गीकरण समझने में अधिकाधिक दुरूह होने लगता है (II. XXIX. 6)।

चौथी बात— उन्होंने वास्तविक[1] एवं काल्पनिक,[2] पर्याप्त[3] एवं अपर्याप्त,[4] तथा अन्त में, यथार्थ[5] एवं अयथार्थ[6] प्रत्ययों के बीच भेद किया है (II. XXX,XXXI एवं XXXII) वास्तविक प्रत्ययों का अभिप्राय उन प्रत्ययों से है जिनका प्रकृति में कोई आधार होता है, जबकि काल्पनिक अथवा निर्मूल प्रत्ययों का प्रकृति में कोई

(1) real (2) fantastic
(3) adequate (4) inadequate
(5) true (6) false

लौक ने 'वास्तविक' एवं 'काल्पनिक' प्रत्ययों के बीच भेद की व्याख्या की है (Book II, Chapter XXX)। वास्तविक प्रत्ययों का प्रकृति में आधार होता है, जबकि काल्पनिक प्रत्ययों को ऐसा कोई आधार उपलब्ध नहीं होता। श्वेतता, शीतलता एवं वेदना जैसे सरल प्रत्यय वास्तविक होते हैं। मिश्र (जटिल) प्रत्ययों की रचना में मन को क्रियाशील होना पड़ता है। 'वास्तविक' एवं 'काल्पनिक' का भेद 'प्रत्यक्ष' एवं 'कल्पना' के बीच के भेद से व्यापक साम्य रखता है। परन्तु यहां यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि लौक ने कहीं भी 'कल्पना' शब्द का प्रयोग नहीं किया है।

आधार नहीं होता। पर्याप्त प्रत्यय वे प्रत्यय हैं "जो उन आद्य रूपों (archetypes) का परिपूर्ण प्रतिचित्रण करते हैं जिनसे मन उन्हें ग्रहण किया हुआ मानता है, जो मन द्वारा उन आद्य रूपों के प्रतीक रुप में वांछित होते हैं तथा मन जिन्हें उनके साथ संबद्ध करता है।"....."अपर्याप्त प्रत्यय वे हैं जो उन आद्यरूपों के, जिनसे उन्हें संबद्ध माना जाता है, आंशिक अथवा अपूर्ण प्रतिचित्रण हैं (I. पृ. 502)।" लौक यह स्वीकार करते हैं कि सत्य एवं असत्य का सम्बन्ध केवल प्रतिज्ञप्तियों (Propositions) से ही होता है परन्तु फिर भी प्रत्ययों को बहुधा सत्य अथवा असत्य (यथार्थ अथवा अयथार्थ) कहा जाता है" (I. पृ. 514)।

यह सारा सुविस्तृत वर्गीकरण लौक द्वारा प्रयुक्त 'प्रत्यय' पद के अर्थ को स्पष्ट नहीं कर पाता। लौक के विरुद्ध सर्वमान्य आपत्ति यह है कि कभी-कभी 'प्रत्यय' से लौक का अभिप्राय "चिन्तन के विषय" से इतना नहीं होता जितना स्वयं "चिन्तन" से होता है। सच तो यह है कि इस पद के अर्थ से अलग शायद ही ऐसा कोई अन्य प्रश्न हो जिसके संबंध में इतने मतभेद उत्पन्न हुए हों।

लौक ने वास्तविक एवं काल्पनिक प्रत्ययों के बीच भेद की व्याख्या की है—(Book II, Chapter XXX)। वास्तविक प्रत्ययों का प्रकृति में अस्तित्व होता है, जबकि काल्पनिक प्रत्ययों को प्रकृति में ऐसा कोई आधार उपलब्ध नहीं होता। मिश्र प्रत्ययों का सृजन मन की क्रियाशीलता का परिचायक है। 'वास्तविक' तथा 'काल्पनिक' का भेद, व्यापक रूप से, 'प्रत्यक्ष' एवं 'कल्पना' के बीच भेद के समकक्ष है।

इसके अलावा 'प्रत्ययों' का एक अपना विशिष्ट व्यापार (function) होता है, और यह व्यापार है स्वयं से भिन्न किसी वस्तु का प्रतिचित्रण दूसरे शब्दों में, ज्ञान की प्रक्रिया में तीन घटक सम्मिलित होते हैं: (1) बोध करने वाला मन, (2) मन के बाहर जगत में स्थित पदार्थ, और (3) 'मन' में स्थित पदार्थ का 'प्रत्यय'। निःसन्देह यह एक जटिल सिद्धान्त है और इसको जन्म देने वाले सिद्धांतों को प्राचीन यूनानी अणुवादियों में खोजा जा सकता है। हमारे प्रत्यक्षीकरण के विषय स्वयं अव्यवहित (immediate) विषय वस्तुऐं नहीं हैं, वरन् उन वस्तुओं के हमारे प्रत्यय हैं। लौक ने II. VIII, 8 में जो कुछ कहा है उसमें प्रत्यय का द्योतक व्यापार स्पष्टतः दृष्टिगोचर होता है। लौक का कथन है कि "मन अपने भीतर जो कुछ अनुभव करता है, अथवा जो कुछ प्रत्यक्षीकरण, विचार, अथवा बुद्धि का अव्यवहित विषय है, मैं उसे प्रत्यय का नाम देता हूं, और हमारे मन में किसी भी प्रत्यय को उत्पन्न करने की जो शक्ति है, उसे मैं व्यक्ति का गुण कहकर पुकारता हूं, और यह शक्ति व्यक्ति (Subject) में विद्यमान है।" (I. पृ. 169)

इसके साथ ही हम लौक के दर्शन की दूसरी विशेषता पर पहुंच जाते हैं, और यह विशेषता है 'प्राथमिक'[1] एवं 'गौण'[2] गुणों के बीच का सुविख्यात भेद

प्रभेद। निश्चय ही, दर्शन के क्षेत्र में इस भेद के सर्वप्रथम प्रस्तुतकर्ता लौक नहीं थे, किन्तु लौक ने उस पर जो बल दिया, उससे बर्कले द्वारा विकसित दर्शन के क्षेत्र में कुछ नये क्षितिजों का जन्म हुआ।

प्राथमिक गुण 'पिण्ड से—चाहे वह किसी भी अवस्था में क्यों न हो ?—नितांत रूप से अवियोज्य होते हैं।" (I. पृ० 169)। प्राथमिक गुण, उदाहरणतः, ये हैं—घनत्व[3] विस्तार[4] आकृति,[5] गति[6], अथवा स्थिति[7] और संख्या[8]। स्वयं पदार्थों में, गौण गुणों का, वस्तुतः कोई अस्तित्व नहीं होता; वे तो केवल उनके प्राथमिक गुणों द्वारा हमारे भीतर नाना प्रकार के संवेदनों........उदाहरणतः, रंग, ध्वनियां, स्वाद इत्यादि....को उत्पन्न करने वाली शक्तियां मात्र हैं।" (I. पृ० 170)

गुणों का तीसरा प्रकार भी होता है। वे "पिण्डों की—उनके प्राथमिक गुणों के संचालन द्वारा दूसरे पिण्ड के आयतन,[9] गठन,[10] एवं उसकी आकृति तथा गति में ऐसे परिवर्तन उपस्थित करने वाली—शक्तियां होती है............इस प्रकार सूर्य में मोम को श्वेत बना देने वाली तथा अग्नि में शीशे (Lead) को तरल बना देने वाली शक्ति होती है।" (I. पृ० 171)।

मन से स्वतंत्र रूप में यह जगत गतिशील सूक्ष्म कणिकाओं[1] का जगत ही है; हमारी चेतना में घटित रंग, ध्वनि, गर्मी एवं ठंड, स्वाद एवं गंध के संवेदन उन सूक्ष्म कणिकाओं से उत्पन्न होने वाले कार्य (Effects) मात्र हैं। जैसा कि व्हाइटहैड ने बताया है, "प्रकृति एक ध्वनिहीन, गंधहीन, रंगहीन, नीरस चीज है; उपादानों का एक अनन्त, अर्थहीन चांचल्य मात्र।

"ऐसे" (II, VIII, 8) में लौक का कथन है कि "हमारे मन में 'खेत', 'शीतल', एवं 'गोल' जैसे प्रत्ययों को उत्पन्न करने वाली हिम-कन्दुक की क्षमता वस्तुतः उसके गुण हैं। और चूंकि वे हमारे बोध में संवेदना या प्रत्यक्ष के रूप में उपस्थित होते हैं, मैं उन्हें प्रत्यय कहता हूं।" उन्होंने स्पष्टतः यह भी स्वीकार किया है कि यदि वे कभी स्वयं वस्तुओं में अन्तर्निहित प्रत्ययों की बात करते हैं, तब उनका अभिप्राय 'गुणों' से ही माना जाना चाहिए। जब कि क्षमताओं एवं गुणों का आश्रय स्वयं वस्तुऐं हैं, प्रत्यय मन में स्थित होते हैं।

पिणु के प्राथमिक गुण हमारे मन में घनत्व, विस्तार, आकृति, गति अथवा जड़ता तथा संख्या जैसे प्रत्ययों को जन्म देते हैं।

---

(1) Primary qualities
(2) Secondary qualities
(3) Solidity
(4) Extension
(5) figure
(6) motion
(7) rest
(8) number
(9) volume
(19) texture

गौण गुण वस्तुतः स्वयं पदार्थों में स्थित नहीं होते। फिर भी उनमें प्राथमिक गुणों द्वारा हमारे मन में विभिन्न संवेदनाऐं उत्पन्न करने की शक्तियां हैं।

लौक की मान्यता है [II. VIII. 15] कि प्राथमिक गुण पिण्ड में ही स्थित रहते हैं, जब कि गौण गुणों द्वारा हमारे मन में उद्भूत प्रत्यय के समकक्ष पिण्डों में कुछ नहीं होता; "हमारे प्रत्ययों (अर्थात् आयतन, आकृति, संरचना, रंग ध्वनियों इत्यादि) जैसा स्वयं पिण्डों में कुछ नहीं होता।"

कालान्तर में बर्कले ने इन प्रश्नों के सन्दर्भ में लौक की आलोचना की।

प्रत्यक्षीकरण अथवा विचारणा, संकल्पशक्ति अथवा इच्छाशक्ति अथवा 'सामर्थ्यों, से (जिन नामों से उन शक्तियों को उन्होंने इंगित किया है) सम्बद्ध लौक के विचार तो उन्हें अंग्रेजी मनोविज्ञान के जनक कहलाने का अधिकारी बनाते हैं। हमें लौक के मनोवैज्ञानिक विचारों का विस्तृत विवेचन करने की आवश्यकता नहीं है। फिर भी प्रत्यक्षीकरण सम्बन्धी उनके विचारों का विशेष महत्त्व है, और हम प्रत्यक्षीकरण के साथ साथ व्यक्तिगत तादात्म्य सम्बन्धी उनके विचारों का भी विवेचन करेंगे।

जैसा कि लौक स्वयं स्वीकार करते हैं, **प्रत्यक्षीकरण** का विचारणा से तादात्म्य है। II, XXI, 5 में लौक ने तीन अर्थ प्रस्तुत किए हैं: (1) हमारे मनों में प्रत्ययों का प्रत्यक्षीकरण (अर्थात् इन्द्रिय प्रत्यक्ष एवं चिन्तन के प्रत्ययों का प्रत्यक्षीकरण), (2) प्रतीकों (Signs) की बोधता का प्रत्यक्षीकरण, और (3) हमारे प्रत्ययों के बीच पाये जाने वाले संयोग[2] अथवा असंगति,[3] अनुरूपता[4] एवं प्रतिकूलता[5] का प्रत्यक्षीकरण। **प्रथम** अर्थ में इसका विवेचन "खण्ड 2" में हुआ है, **दूसरे** अर्थ में "खण्ड 3" में, तथा **तीसरे** अर्थ में "खण्ड 4" में हुआ है। किन्तु लौक का विश्लेषण व्यापक एवं गंभीर नहीं बन पाया है। क्या इन्द्रिय प्रत्यक्ष एवं प्रत्ययों के बीच अनुरूपता के प्रत्यक्षीकरण में कोई सामान्य तत्त्व है? संक्षेप में, संवेदन एवं विवेक (विकल्प बुद्धि)[1] में क्या सम्बन्ध है?

इसके पूर्व II. I में उन्होंने अनुभव पद का अर्थ संवेदन एवं चिंतन तक ही सीमित रखा है। क्या अनुभव उतना ही व्यापक होता है जितना प्रत्यक्षीकरण? इसके अतिरिक्त, अनुभव को इन्द्रिय—प्रत्यक्ष एवं चिंतन तक ही क्यों सीमित रखा जाय?

संवेदना एवं प्रत्यक्षीकरण के बीच लौक में भेद किस प्रकार करेंगे? संवेदन में तो मन प्रदत्त को ग्रहण करता है किन्तु प्रत्यक्षीकरण में वह इसे स्वयं के हेतु

---

1. Microscopic particles
"Science & the Modern World", Pelican, edn. p. 70.
2. Connexion
3. Repugnancy
4. Agreement
5. Disagreement
1. Reason

अर्थवत्ता प्रदान करता है। दूसरे शब्दों में, मैं भूरे रंग की एक आयताकार चित्ति देखता हूं किन्तु वस्तुत: एक मेज का अवलोकन करता हूं। किन्तु लौक प्रत्यक्षीकरण पद को संवेदन के विरोधी अर्थ में प्रयुक्त नहीं करते।

"शरीर-मन के संबंध" के प्रश्न में लौक की रुचि वैसी नहीं है जैसी देकार्त की थी। 'ऐसे' के प्रथम संस्करण में वे आत्मा (Self) के प्रश्न को नहीं उठाते। वह प्रश्न उन्होंने दूसरे संस्करण में उठाया है; वहाँ वे आत्मा का तादात्म्य व्यक्ति से करते हैं। जहाँ स्वयं अपने लिए मैं 'आत्मा' हूं, वहाँ दूसरे के लिए 'व्यक्ति' हूं। आत्मा एक प्रकार से व्यक्ति की एकरूपता" है। उनका कहना है कि चेतना द्वारा व्यक्ति की एकरूपता या उसके एकत्व का निर्माण होता है, क्योंकि चेतना ही वह वस्तु है जो क्रियाओं को एक ही व्यक्ति में संगठित करती है। किन्त् लौक द्वारा इस एकत्व का विश्लेषण न तो यथेष्ठ बन पाया है न गंभीर ही। 'व्यक्ति' पद भी लौक के दर्शन में अस्पष्ट ही बना रह गया है। "स्वयं अपने अस्तित्व का हमारा ज्ञान सहजज्ञान होता है और हम आन्तरिक तथा भ्रमतीत रूप से यह अनुभव करते हैं कि हम हैं" (IV, IX, 3) किन्तु, "क्या यह ज्ञान यह भी बताता है कि 'मैं कौन हूं अथवा क्या हूं?"—इस विषय में लौक चुप हैं। इस प्रश्न को बाद में ह्यूम ने उठाया।

आत्मा के स्वरूप सम्बन्धी लौक के विचारों के विषय में कतिपय प्रश्न उठाये गये हैं :

1—यह स्पष्ट नहीं है कि क्या मन कोई अभौतिक पदार्थ है जिसका ज्ञान हमें उसकी प्रक्रियाओं के आधार पर ठीक उसी प्रकार होता है जिस प्रकार भौतिक पदार्थों का ?

2—इस मत के सम्बन्ध में उनके क्या विचार हैं कि मन द्रव्य का ही एक व्यापार (function) है ? यदि मनोअंकन (impressions) शारीरिक होते हैं, जैसी कि तत्कालीन कणिकीय-सिद्धान्त (corspuscular theory) की मान्यता थी, तो वे चेतना के विषयों के रूप में कैसे परिवर्तित हो सकते थे ? लगता है, लौक ने इस प्रश्न पर ध्यान देने का कष्ट ही नहीं किया।

3—क्या हमें प्रत्ययों के सहजज्ञान की भांति ही मानस् का भी ठीक वैसा ही सहजज्ञान होता है ? चिन्तन-विषयक लौक के विचारों की चर्चा करते समय हम इस प्रश्न का विवेचन करेंगे।

'पदार्थ, पर्याय, सम्बन्ध एवं कारणता'

पदार्थ :

वस्तुओं एवं गुणों के बीच सहजबुद्धि पर आधारित प्रभेद पदार्थ विषयक दार्शनिक समस्या की जड़ है। अरस्तू एवं मध्यकालीन दार्शनिकों के सिद्धांतों में इस समस्या

---

2. Identity

को बड़ा महत्त्व दिया गया था। लौक को यह समस्या अपने पूर्वगामी दार्शनिकों से उत्तराधिकार के रूप में प्राप्त हुई।

सामान्य पदार्थ का प्रत्यय विशेष पदार्थों के प्रत्यय से भिन्न माना गया है। लौक की रुचि मुख्यतः विशेष पदार्थों के प्रत्यय में है, किन्तु उन्हें शीघ्र ही यह समझ आ गया कि उन्हें सामान्य पदार्थ के प्रत्यय की भी विवेचना करनी होगी।

पदार्थ के दो अर्थ हैं : (1) वास्तविक सत्ता—किसी वास्तविक सत्ता का सत्त्व अथवा 'सच्चा स्वरूप' तथा (2) वह जो उपलक्षणों [accidents] का आश्रय हो। दर्शन के क्षेत्र में इस पद का प्रयोग दूसरे अर्थ में अधिक होता है। किन्तु लौक का कथन यहाँ से आरम्भ होता है कि पदार्थ का प्रत्यय हमें न तो संवेदन से मिलता है न चिन्तन से। और न माप, रंग, आकार आदि के अनुभूत प्रत्ययों के संयोजन अथवा परिवर्द्धन से ही उसकी प्राप्ति होती है। तो लौक की समस्या यह थी : 'पदार्थ का यह प्रत्यय हमें उपलब्ध कैसे होता है ?' हमें स्मरण रखना होगा कि लौक पदार्थ के प्रत्यय की विवेचना कर रहे हैं। अतएव, लौक की समीक्षा का उद्देश्य यह बताना है कि कोई प्रत्यय कैसे उपलब्ध होता है और यथार्थतः प्रत्यय का क्या अभिप्राय है ? दूसरे शब्दों में, वस्तु (real) के सच्चे स्वरूप में उनकी कोई रुचि नहीं है।

इस प्रश्न का उत्तर लौक यों कहकर देते हैं कि हमारे पास पदार्थ का कोई निश्चित प्रत्यय नहीं होता; हमारे पास तो केवल—"एक अस्पष्ट सा, सापेक्ष सा प्रत्यय" होता है। लौक यह स्वीकार करते हैं, कि इसकी व्युत्पत्ति गुणों एवं उपलक्षणों (accidents) के हमारे अनुभव से होती है। II. XXIII. 2 में उनका कथन है कि पदार्थ का हमारा प्रत्यय वैसा ही होता है जैसा कि गुणों के किसी आश्रय का प्रत्यय होता है।

किन्तु सामान्य पदार्थ का यह प्रत्यय अमूर्त्त होता है; इसकी उपलब्धि विशेष पदार्थों के प्रत्ययों से इन सब में व्याप्त एक सामान्य तत्त्व के पृथक्करण द्वारा होती है। इस प्रकार पदार्थ का प्रत्यय, एक प्रकार से, किसी विशेष पदार्थ अथवा वस्तु के प्रत्यय में विद्यमान रहता है। तो फिर यह समस्या उठती है कि किसी विशेष पदार्थ के प्रत्यय की उपलब्धि कैसे होती है और यह एक ऐसा प्रश्न है जिसका कोई भी सन्तोषजनक उत्तर देने में लौक असफल रहे हैं। आइये, हम किसी विशेष पदार्थ-जैसे इस मेज-के प्रत्यय का उदाहरण लें। यह स्वयं एक जटिल प्रत्यय है जिसकी रचना भूरे, कठोर, आयताकार, स्निग्ध आदि के सरल प्रत्ययों से हुई है। इसके अतिरिक्त इनके बारे में एक दूसरा तत्त्व यह भी है कि ये निरन्तर रूप से सहगमन करते हैं (II,XXIII. I)। किन्हीं विशिष्ट पदार्थ के ज्ञान के समय मन में केवल विविक्त गुणों के प्रत्यय ही नहीं होते, वरन् एक सूत्र में बद्ध उनके एकत्व को प्रत्यय भी उनके साथ आवद्ध होता है। इन सरल प्रत्ययों की सहगामिता स्वयं प्रत्ययों की भाँति ही अनुभव का यथार्थ अंग होती है। संक्षेप में, उपलक्षणों

की समष्टि को धारण करने वाले पदार्थ का जिसके स्वरूप के विषय में मैं कुछ नहीं जानता–सामान्य प्रत्यय ऐसा प्रत्यय है जिसकी व्युत्पत्ति गुणों की सहगामिता के अनुभव से होती है। पदार्थ का हमारा प्रत्यय वैसा ही होता है जैसा कि गुणों के किसी आश्रय का प्रत्यय है।

जब कोई वस्तु मुझे प्रभावित करती है, तो कुछ विशिष्ट प्रत्यय सामूहिक रूप से प्रकट होते हैं। वे मुझे 'एक' वस्तु का ज्ञान कराते हैं; मैं इन प्रत्ययों को संयोजित करता हूं और इस समूचे समुदाय को एक नाम दे देता हूं; तथा इसे एक ऐसे पदार्थ अथवा सत्ता का नाम मान लेता हूं जिसमें गुण समष्टि रूप में स्थित हैं। हम ऐसे जटिल प्रत्ययों को पदार्थ अथवा वस्तुओं के प्रत्यय कहकर पुकारते हैं। हम इस समष्टि के अभ्यस्त हो जाते हैं; और यही हमें वस्तुओं अथवा पदार्थों का ज्ञान कराती है। किन्तु अनुभव इन पदार्थों के सच्चे स्वरूप को प्रकट करने में नितान्त असमर्थ रहता है। विशेष पदार्थों के हमारे प्रत्यय मन में स्थित केवल जटिल प्रत्यय मात्र ही तो हैं; किन्तु उनसे हमें बाह्य पदार्थों का कोई यथार्थ ज्ञान नहीं होता।

जैसा कि उपर्युक्त उक्तियों से स्पष्ट है, लौक की रुचि केवल दैहिक अथवा भौतिक वस्तुओं में ही नहीं थी : उन्होंने आध्यात्मिक पदार्थों के प्रत्ययों का भी विश्लेषण किया। मूलतः वे इस अर्थ में समान हैं कि इनमें से हमें किसी का भी ज्ञान नहीं होता। चिन्तन के दौरान हमें विचारणा, तर्कणा एवं भय आदि की अनुभूति होती है और सहज ही हम यह सोचने लगते हैं कि इन क्रियाओं के लिए किसी पदार्थ की आवश्यकता तो होनी ही चाहिए और उसे हम आत्मा [spirit] के नाम से पुकारते हैं (II. XXIII, 15)। जैसा कि हम आत्मा के तादात्म्य (identity) के संदर्भ में पहले ही देख चुके हैं, एकात्मकता उत्पन्न करने की क्षमता केवल आत्मा में ही है। 'II. XIII'.—लौक ने इस सम्बन्ध में इससे अधिक और कुछ नहीं कहा है।

लौक ने, निश्चय ही, पदार्थ के अस्तित्व को नकारा नहीं और न ही उन्होंने गुणों के हेतु आश्रय की आवश्यकता का ही निषेध किया है। उन्होंने जिसका निषेध किया है वह है इस पदार्थ–चाहे भौतिक हो चाहे आध्यात्मिक–का ज्ञान। हमें पदार्थों का ज्ञान हो सकता था यदि हमारे पास उनके वास्तविक स्वरूप को प्रकट करने की क्षमता होती; किन्तु हमारे पास वह सामर्थ्य नहीं है।

पर्याय (Modes)

पदार्थों की भाँति, पर्याय भी जटिल प्रत्यय होते हैं जो "स्वयं में आत्मनिर्भर होने की कल्पना को धारण नहीं करते वरन् जिन्हें पदार्थों के अधीनस्थ तत्त्व (dependencies) अथवा उनके विकार (affections) के रूप में माना जाता है। उदाहरणतः, वे ऐसे शब्दों जैसे त्रिभुज, कृतज्ञता, हत्या इत्यादि द्वारा बोधित प्रत्यय होते हैं।" (II. XII. 4)। यहाँ यह बता देना आवश्यक है कि पर्याय एवं

लक्षण (attribute) के बीच संबंध के विषय में कुछ भी स्पष्ट नहीं है। पर्याय या तो सरल होते हैं या जटिल। एक 'दर्जन' अथवा 'कोड़ी' (20) सरल पर्याय के उदाहरण हैं; जबकि 'सौन्दर्य' जटिल पर्याय का उदाहरण है।

सरल पर्यायों के जटिल प्रत्ययों के अन्तर्गत लौक ने देश, काल, संख्या एवं अनन्तता (infinity) के प्रत्ययों का विवेचन किया है।[1]

संवेदन एवं चिन्तन के साधारण क्रम में हम देश एवं काल के छोटे-छोटे खण्डों अथवा अंशों से परिचित हो जाते हैं। और तदनन्तर मानव मन उसे "विस्तृत कर देता है" अथवा मानसिक रूप से विस्तारों (extensions) एवं कालांशों (durations) के छोटे-छोटे खंडों को मिला देता है; तथा कल्पना में अपरिसीम रूप से विस्तृत देश अथवा काल का निर्माण करता है। सामान्य देश (common space) के प्रत्यय को "विस्तार" कहा जाता है जब कि "देश" (space) इंद्रिया प्रत्यक्ष द्वारा उपलब्ध होने वाले सरल प्रत्यय को दिया गया नाम है। इसी प्रकार "स्थान" एवं "दूरी," जैसे पर्यायों तथा 'काल' तथा 'नित्यता' (eternity) जैसे काल प्रवाहों के पर्यायों की रचना अनुक्रम (Succession) एवं अवधि (duration) के प्रत्ययों से होती है।[1] परिमित एवं अपरिमित संख्या के प्रत्ययों का उपार्जन इसी विधि से होता है। 'एक' और 'एक' को जोड़कर हमें एक 'युग्म' के प्रत्यय की उपलब्धि होती है; बारह इकाइयों को मिला देने से हमें एक 'दर्जन' का प्रत्यय प्राप्त होता है और इसी प्रकार एक 'कोडी' अथवा एक 'करोड़' अथवा किसी भी अन्य संख्या के प्रत्यय की उपलब्धि होती है (II, XVI, 2)।

लौक के मतानुसार 'अनन्तता' का संबंध संख्या या परिमाण से है (II. XVI:I)। किन्तु उन्होंने गुणात्मक एवं मात्रात्मक संकलपनाओं के बीच स्थित संगत विषमताओं का विवेचन नहीं किया है; और न ही स्पष्टतः यह बताया है कि मात्रापरक संकल्पनाएं योगात्मक गुणों (additive properties) से क्यों संयुक्त होती हैं। और लौक की 'असीम संख्या" पद के सही विवेचन में सफलता नहीं

1. Footnote or attached pass.
2. See attached footnote.

काल एवं शाश्वतत्व विषयक टिप्पणी

* हमें काल एवं शाश्वतत्व (etertity) के प्रत्ययों की उपलब्धि उसी एक स्रोत से होती है—अर्थात् हमारे अपने प्रत्ययों की खंखला पर चिन्तन द्वारा प्राप्त 'अनुक्रम' एवं 'अवधि' के प्रत्यय से (II.XIV.27)।

लौक का कथन , "हमें उसी माध्यम एवं उसी स्रोत से—स्वयं अपने प्रत्ययों की खंखला पर चिन्तन द्वारा 'अनुक्रम' एवं 'अवधि' के प्रत्ययों को प्राप्त करके—जहां से काल के प्रत्यय की उपलब्धि होती है, वहां से ही शाश्वतत्व का प्रत्यय भी प्राप्त होता है (I.P.252)"।

मिली[1]। किन्तु लौक को दो उपलब्धियों का श्रेय तो दिया ही जा सकता है क्योंकि आधुनिक गणितशास्त्र ने इन बिन्दुओं के संदर्भ में उनकी सूझबूझ की संपुष्टि की है : (1) लौक ने समझ लिया था कि "अनन्त" शब्द का अर्थ संख्याओं के क्षेत्र में प्रयुक्त होने—के अर्थ के अतिरिक्त कोई और अर्थ नहीं होता; तथा (2) 'अनन्तता' का प्रत्यय अनुभवसिद्ध नहीं होता क्योंकि हमें वस्तुतः किसी भी अनन्त विविधता का अनुभव नहीं हो सकता और न किसी अनन्त संख्या की हम कभी गणना ही कर सकते हैं।

सरल पर्यायों के जटिल प्रत्ययों की लौकीय व्याख्या की वास्तविक कठिनाई यह है कि इन प्रत्ययों की व्याख्या के लिए परिवर्द्धन [enlarging] अथवा मिश्रण [compounding] की मानसिक प्रक्रियाएं अपर्याप्त हैं। वे इनकी अनुभूतिमूलक स्थिति के समर्थन के पक्ष में अत्यन्त उत्सुक थे किन्तु अन्ततः इन प्रत्ययों की रचना के लिए उत्तरदायी मन की भूमिका को व्याख्यायित करने में वे असमर्थ रहे।

मिश्र पर्याय

मिश्र पर्याय "सरल प्रत्ययों के ऐसे संयोजन हैं जो किन्हीं स्थायी–अस्तित्व वाले वास्तविक प्राणियों के विशिष्ट लक्षणों के रूप में नहीं देखे जाते वरन् बिखरे हुए तथा स्वतंत्र प्रत्यय होते हैं जो मन द्वारा संयोजित होते हैं।" (II. XXII. I)। सरल पर्यायों के विपरीत वे मानसिक प्रक्रिया के परिणाम होते हैं। लौक ने मिश्र पर्यायों के हमारे जटिल प्रत्ययों के तीन स्रोत बताये हैं : (1) निरीक्षण एवं अनुभव; (2) सरल प्रत्ययों का स्वैच्छिक संयोजन एवं (3) हमारी संकल्पनाओं की मौलिक व्याख्या।

यहां उठाये गये प्रश्नों में से अनेक का विवेचन "ऐसे" [Essay] के पिछले भाग में हुआ है जहां लौक भाषा एवं प्रत्ययों के संबंध पर प्रकाश डालते हैं।

संबंध (Relations)

जटिल प्रत्ययों का तीसरा वर्ग संबंधों के····प्रत्ययों का है। इनकी उत्पत्ति मन की तुलना–परक शक्ति से होती है। कुछ देशीय अथवा स्थानिक संबंध भी होते हैं। जैसे–'के बाएं', 'बीच में,' के 'दक्षिण में', और कुछ संबंध कालिक (Temporal) होते हैं जैसे 'के पहले' 'के पश्चात्', 'साथ–साथ'। यहां यह स्पष्ट करना वांछनीय होगा कि संबंधों की संकलपना का लगभग एक शताब्दी पूर्व तक, जब तक वह आधुनिक तर्कशास्त्र का अंग नहीं बन गया, पर्याप्त दार्शनिक निरूपण नहीं हुआ था। किन्तु, आधुनिक काल में शायद लौक ही पहले दार्शनिक हैं जिन्होंने संबंधों की संकल्पना के दार्शनिक महत्त्व को समझा था। किन्तु 'संबंधों' की लौकीय

---

* लौक 'अनन्त' को केवल 'अनन्त योग' के रूप में ही लेता है (Book II, Ch. XVI, 8, Vol. I. P. 275)। वस्तुतः. अनुभववादी विचारक अनन्त के विषय में कुछ भी सार्थक कहने की स्थिति में नहीं हैं।

समीक्षा वस्तुतः बड़ी भ्रान्तिपूर्ण थी। आरंभ में, लौक को केवल 'संबंधों' एवं 'संबंध-प्रत्ययों' के बीच प्रभेद से अपनी समीक्षा का प्रारंभ करना चाहिए था। इस प्रभेद के निर्वाह का वे सदैव ध्यान नहीं रख पाये। एक स्थान पर उन्होंने कहा है कि स्वंय संबंध ही प्रत्ययों का रूप धारण कर लेते हैं (II.XI.7) किन्तु वे केवल प्रत्यय अथवा कल्पनाएं अथवा मन की सृष्टि मात्र नहीं हैं। वस्तुतः इस विषय में उनके कोई स्पष्ट विचार ही नहीं हैं कि संबंध व्यक्तिनिष्ठ (Subjective) होते हैं अथवा वस्तुनिष्ठ-(Objective)। इस प्रश्न के संदर्भ में उनका दृष्टिकोण नितान्त अस्पष्ट है।

लौक संबंधों के प्रत्ययों की व्युत्पत्ति—अर्थात् वे संवेदन से व्युत्पन्न होते हैं अथवा चिन्तन से-के संदर्भ में कोई संतोषजनक व्याख्या प्रस्तुत नहीं करते। लौक की मान्यता है कि आनुपातिक संबंधों के प्रत्यय (उदाहरणतः 'श्वेततर', 'मधुरतर', 'के समान' आदि) प्राकृत संबंधों (यथा पिता-पुत्र, बन्धु आदि) के प्रत्यय, स्वैच्छिक संबंधों (यथा अपनी सेना के साथ एक सेनापति के संबंध) के प्रत्यय एवं अन्ततः नैतिक संबंधों के प्रत्यय—ये सभी अस्तित्वमान् हैं।

उष्णतर मृदुतर अथवा समान आनुपातिक संबंधों के उदहारण हैं। ये प्रत्यय सरल हैं अथवा जटिल ? उन्हें सरल ही मानना चाहिए क्योंकि प्रत्यक्ष रूप से हम B की तुलना में A को अधिक उष्ण अनुभव करते हैं। किन्तु लौक का तर्क है कि चूंकि यह प्रत्यय तुलना का परिणाम है, इसलिए यह सरल नहीं बल्कि जटिल है परन्तु 'श्वेत' का अनुभव करना एक बात है तथा 'क' की तुलना में 'ख' को उष्णतर अनुभव करना दूसरी बात। लगता है, लौक इस अन्तर के प्रति अनभिज्ञ हैं।

पिता एवं पुत्र के बीच का संबंध 'प्राकृत' अथवा 'सहज' माना गया है। तीसरा संबंध 'प्रवर्तित' संबंध है; यह संबंध ऐसा है जैसा एक सेनापति एवं उसकी सेना अथवा एक राजा तथा उसकी सेना अथवा राजा तथा उसकी प्रजा के बीच पाया जाता है। 'प्राकृत' अथवा 'सहज' के विपरीत, 'प्रवर्तित' संबंध परिवर्तनीय होता है।

'नैतिक' संबंध "किसी नियम (rule) के प्रति मानव की स्वैच्छिक क्रियाओं के साम्य अथवा वैषम्य का संबंध है।"

कारणता

'कारणता' के विवेचन में प्रत्याशित सावधानी नहीं बरती गई है। और लौक ने इस प्रश्न का विवेचन अस्त-व्यस्त रूप में किया है। लौक के द्वारा व्याख्यायित कारणता का सिद्धान्त अपूर्ण एवं अस्पष्ट है। लौक ने दो बातें कही हैं : (1) कोई भी वस्तु जो किसी (सरल अथवा जटिल) प्रत्यय को "उत्पन्न करती है" उसे हम कारण का नाम देते हैं; और "उत्पन्न" प्रत्यय 'कार्य' (effect) कहलाता है तथा (2) परिणाम (production) के अनेक प्रकार हैं जैसे सृजन

(creation), प्रजनन अथवा उत्पादन (generation), निर्माण (making) एवं परिवर्तन (alteration)। लौक ने 'शक्ति' (power) की संकल्पना का भी प्रवर्त्तन किया है जिसमें "कुछ विशेष प्रकार के संबंध का समावेश है।" 'शक्ति' के दो प्रकार माने गये हैं : सक्रिय तथा निष्क्रिय; सक्रिय शक्ति ही कारणात्मक क्रिया होती है।

एक बात निश्चित है : लौक ने 'उत्पादन' (production) की धारणा की समीक्षा नहीं की है। दूसरी बात, वे नहीं बताते कि वह अनुभव से व्युत्पन्न कैसे होती है। अन्त में, 'शक्ति' संबंधी उनकी समीक्षा स्पष्ट अथवा प्रबोधक नहीं है। जो कुछ उन्होंने कहा है वह यही है कि शक्ति एवं कारणात्मक क्रिया का स्वरूप अंतर्दर्शन द्वारा अधिक अच्छी तरह समझा जा सकता है। मेरे अपने हाथ की गति के प्रसंग में कारणात्मक क्रिया के स्वरूप को समझना एक बात है तथा उसी क्रिया को बाह्य विश्व—जिसके विषय में लौक स्पष्ट-रूप से अज्ञेयवादी हैं—के संदर्भ में समझना एक नितान्त भिन्न बात है। हम बहिर्मुखी कारण-संबंधों के विषय में जितने अनभिज्ञ हैं, उतने ही अज्ञान हम पदार्थों के सार्वभौमिक सत्त्व के विषय में हैं। किन्तु साथ ही लौक में यह वैध निर्णय लेने का साहस है कि प्राकृत विज्ञान (Natural Science) निश्चितता का दावा नहीं कर सकता, क्योंकि वह वस्तुओं के बीच स्थित अनिवार्य कारण संबंध का ज्ञान प्रदान नहीं करता। वह तो संभाव्यता (probability) के क्षेत्र तक ही सीमित है। स्पष्टतः लौक ह्यूम के निर्णय का पूर्व संकेत दे रहे हैं।

लौक की दो महत्त्वपूर्ण उक्तियाँ इस प्रकार हैं : (1) कारण तथा कार्य के बीच संबंध का ज्ञान हमें इस **अनुभव निरपेक्ष** (a priori) प्रतिज्ञप्ति (proposition) के सहजज्ञान द्वारा प्रस्तुत किया जाता है : कि 'प्रत्येक वस्तु का, जिसका आरंभ होता है, कोई न कोई कारण अवश्य होना चाहिए; अनुभव यह संबन्ध ज्ञान प्रदान नहीं कर सकता।'[1] और (2) हमारा संकल्प-व्यापार (Volition) कारण प्रक्रिया के अनुभव का स्रोत होता है।

कारण-नियम की धारणा के विषय में लौक कुछ नहीं कहते। वे यह नहीं बताते कि संकल्प शक्ति का अनुभूति मूलक आधार किस प्रकार इस सिद्धान्त में—'कि प्रत्येक वस्तु का, जिसका आरंभ होता है, कोई न कोई कारण अवश्य होना चाहिए'—अनुभवनिरपेक्ष रूप में प्रस्तुत होता है ?

---

* बिशप स्टिलिंगफ्लैक्ट को प्रेषित अपने पत्र में लौक ने लिखा था कि "प्रत्येक वस्तु जिसका आरम्भ होता है, उसका अवश्य ही कोई कारण होता है" तथा साथ-साथ यह भी कहा कि यह विवेक का एक प्रामाणिक सिद्धान्त है या कहिये कि एक "निश्चयात्मक रूप से सत्य" प्रतिज्ञप्ति है। यथार्थतः यह स्थिति उसके अनुभववाद से मेल नहीं खाती।

हम ऊपर देख चुके हैं कि अनुभव के दो प्रकार हैं : संवेदन तथा चिन्तन। वे दो बातों में समान होते हैं : (1) दोनों ही हमें ज्ञान के उपादानों का प्रत्यक्ष परिचय कराते हैं और (2) दोनों ही हमें ऐसे प्रत्ययों का ज्ञान कराते हैं जो, अन्तिम विश्लेषण में, या तो संवेद्य पदार्थों के प्रति-चित्रण होते हैं या फिर स्वयं मानसिक प्रक्रियाओं के प्रतिचित्रण होते हैं। किन्तु संवेदन एवं चिन्तन के बीच अनेक विषमताएँ भी होती हैं; किन्तु लौक या तो उनसे अवगत नहीं थे या फिर उनकी समीक्षा करना उन्होंने आवश्यक नहीं समझा।

पहली बात तो यह है कि चिन्तन, संवेदन के विपरीत, दूसरे स्तर की प्रक्रिया है (II. 1.24)। दूसरी बात, चिन्तन एक स्वैच्छिक क्रिया है जब कि संवेदन ऐसा नहीं है। लौक इस अन्तर के विषय में नितान्त अनभिज्ञ नहीं थे। (II.1.10), किन्तु इस प्रभेद को जाँचने का उन्होंने कभी कष्ट नहीं किया। अन्त में, यद्यपि चिन्तन से *हमें अपनी मानसिक क्रियाओं के 'प्रत्ययों' का ज्ञान हो जाता है, किन्तु मानसिक क्रियाओं की हमें कोई अव्यवहित चेतना नहीं होती। लौक ने अन्यत्र कहा है कि मन विवेक-सापेक्ष है और इसे स्वतः प्रत्यक्ष रूप से जाना जाता है (IV. 21.4)। यह स्पष्ट विरोधाभास है और लौक इससे अवगत प्रतीत नहीं होते।

भाषा और दर्शन

अपनी समग्र अस्पष्टता एवं अपूर्णता के बावजूद लौक के भाषा, शब्द, सामान्य पद, नाम एवं निरपेक्ष पद संबंधी-विचार दूसरी पुस्तक का लगभग एक चौथाई भाग उनकी समीक्षा में प्रयुक्त है––एकदम मौलिक हैं। वे उन लोगों में से एक थे जिन्होंने सर्वप्रथम यह पहिचाना था कि भाषा का अध्ययन दार्शनिक स्पष्टीकरण में कितना उपयोगी है।

तृतीय खण्ड, जो पूर्णतः शब्दों के अध्ययन से संबद्ध है, अनेक विचारकों की दृष्टि में मूल्यहीन है जबकि कुछ आधुनिक विचारकों ने उसकी प्रशंसा की है। सम्प्रति, लौक के अर्थ-विज्ञान (Semantics) के विषय में कुछ अधिक रूचिकर लेख प्रकाशित हुए हैं और हम उनके कुछ महत्त्वपूर्ण सिद्धान्तों का, जिनमें सामान्यों से संबंधित सिद्धान्त सर्वप्रसिद्ध है, संक्षेप में निवेदन करेंगे।

लौक के अनुसार शब्द प्रत्ययों का बोध कराते हैं (III. 2. 1)। दूसरे अर्थों में, प्रत्ययों से वस्तुओं का बोध नहीं होता। हमें केवल अपने ही प्रत्ययों का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। शायद केवल अप्रत्यक्ष रूप से ही शब्द अन्य मनुष्यों के मन में स्थित प्रत्ययों और साथ-साथ वस्तुओं की ओर संकेत करते हैं। यदि ऐसा न होता तो हमारे तथा उन लोगों के बीच संप्रेषण नहीं हो सकता था जो हमारी ही भाषा

---

* यह प्रश्न कि "क्या मानसिक क्रियाओं का अस्तित्व होता है ?" कोई तथ्यात्मक प्रश्न नहीं, वरन् भाषायी परम्परा से सम्बन्धित प्रश्न है। ऐसा अनेक आधुनिक दार्शनिकों का मत है।

बोलते हैं। और लौक हमें सावधान कर रहे हैं कि हम शब्दों को अपने प्रत्ययों के अतिरिक्त किसी अन्य वस्तु के बोधक न मानें।

यहां स्मरण रखने योग्य दूसरी महत्त्वपूर्ण बात यह है कि शब्दों से प्रत्ययों का बोध "पूर्णतः निरंकुश आरोपण द्वारा" होता है (III. 2.8)। शब्दों एवं उनके द्वारा बोधित प्रत्ययों के बीच का संबंध परंपरागत अथवा औपचारिक होता है। चिन्हों के लौक ने दो व्यापार माने हैं: निर्देशात्मक (referential) एवं अभिव्यंजक (expressive)। जब मैं कुछ कहता हूं तो वह कथन एक वस्तुस्थिति की ओर तो संकेत करता ही है, साथ ही वह मेरे विश्वासों एवं विचारों की अभिव्यक्ति भी करता है। किंतु लौक ने शब्दों के इस दोहरे व्यापार का सावधानी पूर्वक विवेचन नहीं किया।

लौक के "ऐसे" में सामान्य पदों का प्रश्न निःसन्देह सर्वाधिक महत्त्व का प्रश्न है। इसका प्रवर्त्तन वे इस कथन से करते हैं: "चूंकि अस्तित्वमान् सभी पदार्थ विशेष होते हैं" (III. III. 1), इसलिए प्रत्येक विशेष पदार्थ का पृथक् नाम होना असंभव है। हमें सामान्य शब्दों की आवश्यकता पड़ती है। यह कैसे होता है—इसकी व्याख्या लौक ने एक छोटे से किन्तु चक्करदार परिच्छेद में की है (III. III. 6): "शब्द सामान्य प्रत्ययों के चिन्ह बना दिये जाने के कारण सामान्य बन गये और प्रत्यय देश तथा काल की परिस्थितियों से पृथक् कर दिये जाने से सामान्य बन गये। पृथक्करण की इस पद्धति से उनमें एक से अधिक विशिष्ट वस्तुओं के प्रतिचित्रण की क्षमता आ जाती है; जिनमें से प्रत्येक उस अमूर्त्त अथवा निरपेक्ष प्रत्यय से साम्य रखने के कारण (जैसा कि हम कहते हैं) उसी जैसा बन जाता है।" (पुस्तक II. पृ० 17).

सामान्यों से संबंधित लौकीय व्याख्या को अनेक विचारकों ने विविध प्रकार से आलोचना एवं समर्थन दोनों का लक्ष्य बनाया है। इसलिए सर्वप्रथम हमें समझना यह है कि इस प्रश्न का यथार्थ स्वरूप क्या है; फिर यह समझना है कि लौक ने इसकी समीक्षा किस प्रकार की है; और अन्त में यह कि लौक की यह व्याख्या क्या संतोषजनक है?

सामान्यों की यह समस्या उतनी ही पुरानी है जितना कि यूनानी दर्शन। हम व्यक्तियों, वस्तुओं एवं घटनाओं के संपर्क में आते हैं किंतु हम जब तक उन्हें एक वृहत्तर संकलपना के अंतर्गत संगठित नहीं कर लेते, तब तक हमें उनका पूर्ण बोध नहीं होता। प्रश्न यह है कि इस वृहत्तर अथवा अधिक व्यापक संकलपना की स्थिति क्या है? क्या इसकी स्थिति विशिष्ट व्यक्तिगत सत्ताओं से ऊपर अथवा बढ़कर है? क्या यह व्यक्तिगत अथवा विशिष्ट तत्त्वों के अंतराल में स्थित रहती है? या फिर यह कोई अनावश्यक संयोजन (addition) मात्र है?

लौक की समीक्षा "पृथक्करण" (abstraction) नामक एक मानसिक

प्रक्रिया की सहायता से प्रारंभ होती है। "पृथक्करण" एक मानसिक क्रिया है। और सामान्यों की उत्पत्ति 'पृथक्करण' से होती है।

यह कहना पड़ेगा कि लौक ने "पृथक्करण" की इस महत्त्वपूर्ण धारणा की कोई व्याख्या नहीं की। विभिन्न संदर्भों में पृथक्करण भिन्न-भिन्न रूप धारण कर लेता है। एक फूल नीला है और एक कमीज भी नीली है। देश और काल की मूर्त्त परिस्थितियों में से हम "नीले" की धारणा को "पृथक्" कर लेते हैं। अथवा, पृथक्करण (अमूर्त्तीकरण) तुलना-प्रक्रिया का परिणाम भी हो सकता है। हम एक बिल्ली, एक पक्षी एवं एक मछली की शरीर-संरचनाओं की तुलना करके यह जान सकते हैं कि उन सब में एक सामान्य लक्षण यह है कि वे सब मेरुदण्ड धारी हैं और इसीलिए हम उन्हें 'मेरुदण्डी' की संज्ञा प्रदान करते हैं। या फिर पृथक्करण एक सामान्य सिद्धान्त के ज्ञान का रूप धारण कर सकता है। यदि मैं पूछूँ कि "7, 11, 15, 19 की शृंखला में अगली तीन संख्याएँ क्या होंगी....?" तो मैं उस व्यक्ति को इस शृंखला में सुस्पष्ट सामान्य तत्त्व को समझने के लिए कह रहा हूं। यह कहा जा सकता है कि इन सभी रूपों में लौक की रुचि नहीं थी; वे शायद प्रथम एवं द्वितीय रूपों में ही रुचि रखते थे। और वे इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि सामान्य (universal) "विवेक की सृष्टि एवं आविष्कार हैं जिन्हें इसने स्वयं निजी उपयोग के लिए रचा है और जिनका संबंध केवल चिह्नों (Signs) से है चाहे वे (चिह्न) शब्द हों चाहे प्रत्यय।" (III. 3. 11.) लौक साधारण अर्थ में नामरूपवादी (nominalist) नहीं हैं। वे यह नहीं कहते कि शब्द चिह्न होता है; उनके मत में सामान्य प्रत्यय (abstract idea) किसी जाति के सदस्यों का प्रतिचित्रण करता है। उनकी स्थिति एक संशोधित नामरूपवादी स्थिति है।

अन्य अनेक दार्शनिक प्रश्नों से संबद्ध उनके विचारों की भांति सामान्यों से संबंधित उनके विचार भी सुस्पष्ट एवं निश्चित अर्थवाले नहीं हैं। एक स्थान पर कहा गया है कि एक सामान्य अनेक विशेषों का "प्रतिचित्रण करता है" (II. XI. 9)। अन्यत्र कहा गया है कि सामान्य (universal) विलोपन (elimination) की एक विशिष्ट प्रक्रिया का परिणाम होता है; सामान्य गुणों के अतिरिक्त हम सभी अन्य गुणों का विलोपन कर लेते हैं। हम किसी नई वस्तु की रचना नहीं करते, केवल कुछ को छोड़ मात्र देते हैं (III. III. 7)। तीसरे स्थान पर सामान्य को 'अर्थ' (meaning) की संज्ञा दी गई है; सामान्य किसी उपजाति का "सत्व" होता है और इसी सत्व के प्रकाश में हम विशेषों को पहचानते हैं। यह कहपाना वस्तुतः कठिन होगा कि सामान्यों के किसी भी सिद्धान्त के विषय में लौक के विचार स्पष्ट थे।

लौक के सिद्धान्त की कुछ स्पष्ट कठिनाइयाँ ये हैं:

1. लौक ने समरूपता (resemblance) की धारणा की कोई समीक्षा नहीं की है। इस धारणा के यथेष्ट विश्लेषण के बिना हम, वस्तुतः, सामान्य के विषय में कोई संगत दृष्टिकोण विकसित नहीं कर सकते। दो बिल्लियों को परस्पर समरूप बताया जा सकता है; और इसी प्रकार नीले रंग के दो आभा-भेद समरूप कहे जा सकते हैं, किन्तु एक उदाहरण की समरूपता दूसरे उदाहरण की समरूपता से भिन्न है।

2. प्रतिचित्रण संबंधी उनका विश्लेषण न तो पूर्ण है, न संतोषप्रद ही है। उन्होंने ·····"का चिह्न", ·····"का संकेत", "·····के लिए प्रयुक्त" ·····"का प्रतिचित्रण" आदि पदों का प्रयोग किया है। एक दूसरे के पर्याय रूप में इन पदों की लौक द्वारा की गई व्याख्या कभी स्पष्ट नहीं बन पाई।

3. उन्होंने यह नहीं बताया कि हमें 'नीला', 'ऊष्ण', 'मधुर' आदि सरल गुणों के सामान्य प्रत्ययों की उपलब्धि कैसे होती है।

4. अन्त में, यहाँ यह कहा जा सकता है कि लौक के पृथक्करण संबंधी विचारों की बर्कले ने तीव्र आलोचना की है। लौक के इन विचारों की बर्कले द्वारा की गई आलोचना कहाँ तक उचित थी, यह एक दूसरी बात है। यहाँ इतना कहना अपेक्षित होगा कि लौक के विचारों को वे भली-भाँति समझ नहीं पाये।

सत्त्व (ESSENCES)

लौक के भाषा परक विचार एवं दर्शन के साथ उसके संबंध का विवेचन उनके सत्त्व-संबंधी विचारों की व्याख्या के बिना अधूरे ही रह जायेंगे। नामधेय (nominal) एवं वास्तविक (real) सत्त्वों के बीच उन्होंने अन्तर बताया है। एक अर्थ में "सत्त्व का अभिप्राय वस्तुओं की वास्तविक आन्तरिक, किन्तु सामान्यतः (पदार्थों में) अज्ञात संरचना से है जिस पर उनके अनुभव योग्य गुण आश्रित रहते हैं; इसी अज्ञात संरचना को उनका सत्त्व कहा जाता है।" (III. 3.15)। यह उनके अज्ञात पदार्थ के बिल्कुल समान ही है। यही "सच्चा" सत्त्व है। दूसरे अर्थ में, "वस्तुओं का सादृश्य ही सत्त्वों की जड़ है।" इसी सादृश्य के आधार पर वस्तुओं का नामकरण किया जाता है। कुछ विद्वानों का मत है कि नामधेय सत्त्वों को तार्किक (Logical) सत्त्वों का नाम भी दिया जा सकता है। जिस प्रकार पर्यायों (modes) एवं संबंधों के क्षेत्र में ये 'वास्तविक' एवं 'नामधेय' सत्त्व समरूप होते हैं उसी प्रकार सरल प्रत्ययों में भी उन दोनों के बीच तादात्म्य होता है। किन्तु पदार्थों के संदर्भ में वे परस्पर "नितान्त भिन्न" होते हैं (III. 3.18)[1] हमारे सरल प्रत्ययों के क्षेत्र में पृथक्करण चयनात्मक अवधान के

---

* तीन रेखाओं के बीच स्थित देश (Space) को अन्तर्विष्ट करने वाली आकृति त्रिभुज का वास्तविक एवं साथ ही संज्ञात्मक (nominal) सत्व होती है।

किन्तु द्रव्य के संदर्भ में, जो उदाहरणतः अंगूठी का उपादान है, स्थिति इससे भिन्न है। अंगूठी का संज्ञात्मक सत्त्व 'अंगूठी' नाम में मिलता है जबकि अंगूठी का वास्तविक सत्त्व इसकी रचना करने वाले द्रव्य के सत्त्व में प्राप्य होता है।

अतिरिक्त और कुछ नहीं है। दूसरे अर्थ में सत्त्व पृथक्करण की सृष्टि है, अर्थात् वह सामान्य गुणों, समरूपताओं एवं सादृश्य का अभिज्ञान होता है।

अब समीचीन होगा कि लौक के परिभाषा-संबंधी विचारों की यहां समीक्षा की जाय। अरस्तू के मतानुसार किसी 'वस्तु' की परिभाषा उसके स्वरूप को व्याख्यापित करके की जाती है। 'न्याय', 'सद्गुण', 'सौन्दर्य' एवं 'सिंह', 'मानव', 'राज्य' आदि वस्तुओं एवं पदार्थों का एक निश्चित एवं अपरिवर्त्तनीय स्वभाव होता है। उसे खोज निकालना हमारा काम है; और जब एक बार उनकी खोज हो गई, तो हम उन पदों की परिभाषा कर चुके होते हैं।

लौक की व्याख्या इससे नितान्त भिन्न है; और लौक के विवेचन से यह स्पष्ट हो गया है कि हम केवल नामों की ही परिभाषा कर सकते हैं, वस्तुओं की नहीं। "परिभाषा किसी शब्द की, 'ऐसे अन्य अनेक शब्दों के माध्यम से, जो उसके पर्यायवाची नहीं हैं, की गई व्याख्या के अतिरिक्त और कुछ नहीं है (III. 4.6)," इस प्रकार परिभाषा एवं वास्तविक सत्त्व एक ही वस्तु नहीं हैं। उन्होंने बताया है कि सभी शब्द परिभाष्य नहीं होते। सरल प्रत्ययों के नामों की कोई परिभाषा नहीं हो सकती, क्योंकि सरल प्रत्यय का किन्हीं घटकों में और आगे विश्लेषण संभव नहीं है। दूसरे शब्दों में, यदि कोई प्रत्यय किसी भी अर्थ में मिश्र नहीं है तो उसके नाम की परिभाषा नहीं हो सकती।

लौक ने यह बताने की चेष्टा की है कि भाषा के प्रयोग में कुछ ऐसे दोष होते हैं जो लगभग अनिवार्य से हैं। लौक के अनुसार कुछ दोष तो हमारी असावधानी के कारण' होते हैं। और लौक ने, अन्त में, उनके निदान भी बताये हैं।

भाषा दो प्रकार के सम्प्रेषण का वाहन है : पहले प्रकार को लौक ने साधारण अथवा सामान्य (Civil) सम्प्रेषण का नाम दिया है तथा दूसरे को दार्शनिक (Philosophical) सम्प्रेषण का। दार्शनिक सम्प्रेषण में अधिक सुनिश्चितता की अपेक्षा होती है। आदर्श स्थिति यह है कि (1) शब्द, जब भी उसका प्रयोग किया जाता है, निश्चित रूप से एक ही प्रत्यय का बोध कराये हैं, तथा (2) शब्द वक्ता एवं श्रोता दोनों को ही उस एक ही प्रत्यय का बोध कराये हैं। किन्तु इस आदर्श की उपलब्धि कठिन होती है। शब्दों के प्रयोग में कुछ अनिवार्य अस्पष्टताएँ होती हैं। जब कि सहज अथवा साधारण दैनिक वार्त्तालाप में निश्चितता एवं याथातथ्य न तो अपेक्षित होते हैं, न संभव, वैज्ञानिक वार्त्तालाप में उनका अत्यधिक महत्त्व है। हम में से अधिकांश सदा सावधानी नहीं बरतते। हम लोग "विशिष्ट शब्दावलियों" का प्रयोग करते हैं; हम सोचते हैं कि यदि शब्द है तो उसके अनुरूप कोई वस्तु भी अवश्य ही होनी चाहिए यद्यपि हमारे पास स्पष्ट प्रत्यय नहीं होते फिर भी हम शब्दों का प्रयोग करते हैं; बिना उनका अर्थ

स्पष्ट किये ही (यद्यपि हमें उसके अर्थ का ज्ञान होता है), हम शब्दों का दूसरों के समक्ष प्रयोग कर बैठते हैं; इसके अतिरिक्त हम रूपकों एवं अलंकारों का भी प्रयोग करते हैं।

इस प्रकार भाषा कुछ दोषों से ग्रस्त होती है---इनमें से कुछ तो भाषा में ही अन्तर्निहित होते हैं तथा कुछ मानव द्वारा जानबूझ कर उत्पन्न किए जाते हैं। लौक ने इनके कुछ संभव समाधान भी सुझाए हैं : हमें किसी भी "अर्थ रहित" शब्द का प्रयोग नहीं करना चाहिए। दूसरे शब्दों में, हमें यह ज्ञान होना चाहिए कि अमुक शब्द का अर्थ क्या है। दूसरी बात, अभिप्रेत प्रत्यय का हमारा ज्ञान स्पष्ट एवं सुनिश्चित होना चाहिए; तीसरी बात यह कि भाषा के प्रयोग में हमें परंपराओं का आदरपूर्वक निर्वाह करना चाहिए। यथा संभव शब्दों का प्रयोग सामान्य प्रथा के अनुरूप ही किया जाना चाहिए। और अन्त में, हमें किसी भी शब्द को सदैव उस एक ही अर्थ में प्रयुक्त करना चाहिए। यह कुछ विधियाँ हैं जिनसे विवादों और गलत-फहमियों को बहुत कुछ कम किया जा सकता है।

ज्ञान और अभिमत

[Knowledge & Opinion]

प्रथम तीन खण्डों में लौक की रुचि ज्ञान के स्रोतों में थी। संक्षेप में, वे यह सिद्ध करना चाहते थे कि (1) मानव ज्ञान का प्रत्येक संभव विषय या तो अनुभव सिद्ध होता है या फिर अनुभव-प्रदत्त उपादानों से उसकी रचना की जा सकती है; और (2) ये उपादान या तो "संवेदन" (Sensation) से या फिर चिंतन अर्थात् "अन्तर्दर्शन" (introspection) से उपलब्ध होते हैं। खण्ड 4 पिछले तीन खंडों में लौक द्वारा प्रस्तावित समस्याओं को सुलझाने का प्रयास है। इसमें उनके ज्ञान, सत्य, हमारे ईश्वर परक ज्ञान, निर्णय, संभाव्यता, विवेक एवं श्रद्धा तथा अन्त में भ्रम संबंधी चिन्तन एवं मनन का समावेश है।

ज्ञान, जैसा कि प्रारंभ में हम देख चुके हैं, किसी ऐसी वस्तु का होता है जिसके विषय में हम उचित रूपेण असंदिग्ध होते हैं।

गणितिकी मानवीय गवेषणा का ऐसा क्षेत्र है जहाँ हमारा ज्ञान निश्चित एवं उचित रूपेण असंदिग्ध होता है। अपने युग के अन्य दार्शनिकों की भांति लौक भी गणितीय सत्यों से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सके : खण्ड 4 में तो वे "बुद्धिवादी" परम्परा के निकट आ पहुंचते हैं। वस्तुतः, कुछ विद्वानों ने तो यहां तक कह दिया है कि खण्ड 2 में उन्होंने जो कुछ लिखा था, उसे वे भूल गये।[1] ज्ञान की परिभाषा करते हुए खण्ड 4 में उन्होंने कहा है कि "ज्ञान हमारे प्रत्ययों के संयोग के, तथा उनके मध्य अन्वय (agreement) अथवा व्यतिरेक (disagree-

---

O' Connor : "John Locke" (Pelican edw., p. 155).

ment) और असंगति (repugnancy) के प्रत्यक्षीकरण के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। बस यही उसका उपादान है।" (IV. 1 2.)। यहाँ इतना कहना पर्याप्त होगा कि ज्ञान की यह परिभाषा कोई अनुभववादी परिभाषा नहीं है।

वस्तुतः, लौक की यह ज्ञान परक व्याख्या स्पष्टतया सहज ज्ञानात्मक है और यहाँ देकार्त के रैगुली (regulae) का स्पष्ट प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। सहज-ज्ञान ही सच्चा ज्ञान है क्योंकि वह प्रत्यक्ष एवं अव्यवहित होता है। "इसमें मन सत्य को सिद्ध करने अथवा परखने का कष्ट नहीं करता वरन् उसका अनुभव ठीक इस प्रकार करता है जैसे चक्षु प्रकाश को, उसकी ओर मात्र निर्देशित किए जाने से, देख लेती है।" (iv. ii. i.)।

परन्तु सुप्रसिद्ध लौकीय विद्वान् आरों[1] का कथन है कि लौक के चिन्तन में कोई असंगति नहीं है। उनके मत में, लौक देकार्तीय बुद्धिवादी नहीं बन गये हैं, क्योंकि केवल अनुभव की आत्मनिष्ठ दृष्टि से ही लौक के विचार देकार्त के विचारों के समरूप हैं; वस्तुनिष्ठता की दृष्टि से उन दोनों में कोई सामञ्जस्य नहीं है।"[1] यह आलोचक जो कुछ कहना चाहता है वह यही है कि जबकि देकार्त्त के अनुसार सहजज्ञान का विषय विशुद्ध रूप से अगोचर होता है, लौक के अनुसार वह "कभी पूर्णतया बौद्धिक एवं विशुद्धतः अगोचर नहीं होता।"

ज्ञान की अपनी सुप्रसिद्ध परिभाषा में लौक ने 'अन्वय' (agreement) के अपने आशय को समझाने की कोशिश की है। उनके द्वारा किए गए अन्वय के चतुरंगी वर्गीकरण को 'अपूर्ण' एवं 'कृत्रिम' कह कर आलोचित किया गया है। 'अन्वय' के इस चतुरंगी वर्गीकरण का एक संक्षिप्त विवरण यहाँ प्रस्तुत करना असंगत नहीं होगा :

1. तादात्म्य एवं वैषम्य।
2. संबंध।
3. सह अस्तित्व।
4. वास्तविक अस्तित्व।

जब मन स्वयं अपने तथा किसी प्रत्यय के बीच सहमति का अनुभव करता है तो वह सहमति अथवा अन्वय तादात्म्य-जन्य होते हैं। लौक ने ऐसी प्रतिज्ञप्तियों को "तुच्छ" (trifling) बताया है। ऐसी प्रतिज्ञप्ति के उन्होंने निम्न उदाहरण प्रस्तुत किए हैं : "जो कुछ है वह है ही" अथवा "एक ही वस्तु का एक साथ 'होना' और 'न होना' असंभव है।"

जब मन अपने प्रत्ययों के बीच अन्वय का प्रत्यक्षीकरण करता है तो इस (अन्वय) को सापेक्ष कहा जाता है। "दो समानान्तर रेखाओं के बीच समान आधारों पर रचित दो त्रिभुज समान होते हैं"—इसका उदाहरण है।

Aaron : "John Locke" p. 224.

जब मन उसी विषय (Subject) में "सह-अस्तित्व (co-existence) अथवा सह अस्तित्वहीनता (non-existence) का अनुभव करता है जैसे 'सोना स्थिर है,' तो हमें तीसरे प्रकार का अन्वय प्राप्त होता है। इस प्रकार के अन्वय का दूसरा उदाहरण यह होगा : "आकार के लिए विस्तार आवश्यक है" अथवा "आवेग द्वारा गति के संप्रेषण के लिए घनत्व अनिवार्य है।"

अन्ततः, जब मन "किसी प्रत्यय से साम्य रखने वाले किसी यथार्थ, वास्तविक अस्तित्व का प्रत्यक्षीकरण करता है, जैसे 'परमात्मा है,' तो हमें चौथे प्रकार के अन्वय की उपलब्धि होती है। यहाँ लौक का मन्तव्य है कि अस्तित्व एक विधेय है और इसने आजतक चले आने वाले एक दीर्घकालिक विवाद को जन्म दिया है।*

लौक ने (a) हमारे सहजज्ञान में स्थित अन्वय एवं व्यक्तिरेक के यथार्थ ज्ञान तथा (b) अभ्यास जनित अथवा स्मृति ज्ञान के बीज भेद को प्रस्तुत किया है। उनकी स्मृति-विषयक व्याख्या असंतोषजनक है। "अनेक उदाहरणों में मन के पास अपने पूर्वानुभूत प्रत्यक्षीकरणों को, इस अतिरिक्त प्रत्यक्षीकरण कि ये प्रत्यक्षीकरण कभी पहले भी उसमें विद्यमान थे--के साथ-साथ पुनर्जीवित करने की शक्ति होती है।' (II. 10.2)। इस शक्ति का प्रयोग ऐच्छिक अथवा अनैच्छिक दोनों प्रकार से होता है। स्मृति ज्ञान के विभिन्न प्रकारों के बीच लौक ने कभी कोई अन्तर नहीं बताया। तैरने की प्रक्रिया का स्मरण एक बात है तथा किसी चेहरे का स्मरण दूसरी बात तथा ये दोनों ही किसी गणितीय साक्ष्म के स्मरण से भिन्न हैं।

"ज्ञान की कोटियाँ (Degrees of Knowledge) नामक अध्याय में उन्होंने **सहजज्ञान एवं उपपत्ति के बीच भेद की समीक्षा की है। "सहजानुभूत-ज्ञान** (Intuitive Knowledge) में "मन दो प्रत्ययों के बीच अन्वय अथवा व्यतिरेक का प्रत्यक्ष अनुवभ तुरन्त ही बिना किसी अन्य प्रत्यय के हस्तक्षेप के कर लेता है" (IV. 2. 1.)। उन्होंने इसके दो उदाहरण प्रस्तुत किए हैं : (1) यह प्रत्यक्षीकरण कि श्वेत कृष्ण नहीं होता; अथवा यह कि (2) तीन दो से अधिक होते हैं। इस प्रकार का ज्ञान मानवीय दुर्बलता की परिधि में प्राप्त हो सकने वाला सर्वाधिक स्पष्ट एवं असंदिग्ध ज्ञान होता है। इसी सहजज्ञान पर हमारे समग्र ज्ञान की असंदिग्धता एवं साक्ष्य निर्भर करते हैं (IV. 2. 1)। सहजज्ञान से भिन्न उपपत्तिमूलक (demonstrative) ज्ञान की सत्ता भी है। इसमें "मन को अन्वय एवं व्यतिरेक का ज्ञान····प्रत्यक्ष रूप से नहीं" वरन् "अन्य प्रत्ययों की मध्यस्थता से होता है।" संक्षेप में, उपपत्तिमूलक ज्ञान में असंदिग्धता की इतनी मात्रा

---

* ऐसा प्रतीत होता है कि लौक ऐन्सैलम एवं देकार्त्त द्वारा प्रस्तुत ईश्वर के सत्ता विषयक तत्त्वमीमांसीय प्रमाण को स्वीकार नहीं करते (IV. X 7; Vol. II. P. 310)

नहीं होती (जितनी सहजानुभूत ज्ञान में होती है)। और फिर यह बड़े "परिश्रम एवं सावधानी" से उपलब्ध होता है और फिर भी यह संदेह से पूर्णतया रहित कभी नहीं होती।

लौक के सत्य परक विवेचन "तर्कवाक्य" के विचार से प्रारंभ होते हैं। सरलतम होने के कारण तर्कवाक्य हमारे ज्ञान की इकाइयाँ हैं, अथवा, "सत्य का संबंध वस्तुतः केवल तर्कवाक्यों से ही होता है" (IV. V. 2)। किन्तु तर्कवाक्य का लौकीय विश्लेषण स्वभावतः अपूर्ण है।

अस्तित्व के तिहरे--अर्थात् हमारे निजी अस्तित्व, ईश्वर के अस्तित्व तथा अन्य पदार्थों के अस्तित्व के--ज्ञान के संबंध में लौक के विचार रोचक हैं : हमें स्वयं अपने अस्तित्व का ज्ञान सहजज्ञान से होता है, ईश्वर के अस्तित्व का उपपत्ति द्वारा तथा अन्य वस्तुओं का संवेदन द्वारा होता है। उनकी युक्तियाँ बहुत कुछ देकार्त की युक्तियाँ जैसी हैं।

निर्णय (Judgment) एवं ज्ञान (Knowledge) में अन्तर यह है कि जहां ज्ञान में संबंधों का सहजज्ञान होता है, निर्णय में अन्वय अथवा व्यतिरेक की धारणा अपेक्षित होती है। जब हम निर्णय लेते हैं तो केवल साक्ष्य का मूल्यांकन करते हैं; हमें उससे असंदिग्धता की प्राप्ति नहीं होती। निर्णय का, जो विश्वास के अनुरूप ही होता है, उद्देश्य यह है कि "जहाँ स्पष्ट एवं असंदिग्ध ज्ञान अप्राप्य हो वहाँ उसके अभाव की आपूर्त्ति की जा सके"--(IV. 14. 3)। विश्वास में संभाव्यता की अनेक श्रेणियां होती हैं। इस संभाव्यता को मापने के लिए लौक ने दो मानदण्ड सुझाए हैं : (1) तर्क वाक्यों का आपस में परामर्श एवं व्यक्ति के शेष अनुभव से उनके सामञ्जस्य का मानदण्ड; और (2) इसके समर्थन में प्रस्तुत साक्ष्य के स्वरूप का मानदण्ड। संभाव्यता के सर्वोच्च अंशभान की उपलब्धि हमें तब होती है जब किसी विश्वास का व्यक्ति के शेष अनुभव तथा "सभी युगों के सभी मनुष्यों" के साक्ष्य के साथ सामञ्जस्य हो। उदाहरणतः यद्यपि हम स्पष्टतः समझते हैं कि सैद्धांतिक रूप से हम इस बात में सन्देह कर सकते हैं कि "लोहा जल में डूब जाता है" फिर भी विश्वासतया हम इसे स्वीकार कर लेते हैं। चूँकि लौक आधुनिक युग में संभाव्यता की समस्या पर चिन्तन करने वाले आद्यतम विचारकों में से थे, इसलिए उनके विचारों का ऐतिहासिक महत्त्व है।

यहां यदि हम यह न बतायें कि लौक के अनुसार प्रकाशना (revelation) संभाव्यता से श्रेष्ठ तो होती है किन्तु उसमें उपपत्ति (demonstration) की सी असंदिग्धता नहीं होती, तो लौक के ज्ञानपरक विचारों की हमारी व्याख्या अधूरी ही रह जायेगी। अपने युग के अन्य अनेक विद्वानों की भांति लौक भी प्रकाशना को अंगीकार करने वाली श्रद्धा तथा विवेक के बीच संबंधों में रुचि रखते थे। उनकी दृष्टि में, विवेक व्यवहित विचारणा है चाहे वह असंदिग्धता की ओर ले जाये, चाहे

संभाव्यता की ओर। विवेक को उन्होंने अनुमान अथवा उपपत्ति के रूप का बताया है।[1] लौक की भ्रम (error) अथवा गलत स्वीकृति संबंधी मान्यताएँ उनकी ज्ञान एवं सत्यपरक मान्यताओं के साथ घनिष्ट रूप से संबंधित हैं। भ्रम अभिज्ञान (Knowing) की विफलता नहीं वरन् निर्णयन (judging) का दोष है क्योंकि ज्ञान तो अचूक सहजानुभूति होता है। सत्य एवं असत्य का संबंध तर्क-वाक्यों से होता है। भ्रम अथवा गलत स्वीकृति का कारण "जो वस्तुतः असंभाव्य है उसे संभाव्य मान लेना है।" भ्रम बहुधा दोषपूर्ण स्मृति का परिणाम है। इसके अतिरिक्त, इन्द्रियां हमें धोखा दे सकती हैं जैसा कि वे अक्सर देती हैं। अन्त में, भ्रम भाषा के दुरुपयोग का परिणाम भी हो सकता है।

लौक ने स्वीकार किया है कि सत्य के प्रति प्रेम आवश्यक है किन्तु विवेक शून्य उत्साह को वे कोई महत्त्व प्रदान नहीं करते। हाँ, उत्साह एवं सच्ची तथा विवेकशील श्रद्धा के बीच भेद की उन्होंने स्पष्ट विवेचना की है। लौक के पूर्व हेनरी मोर ने उत्साह की परिभाषा करते हुए बताया था कि उत्साह "ईश्वर प्रेरित होने के दुराभिमान के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।" वस्तुतः, लौक के काल में विवेक को कलंकित करने वाला उत्साह कतिपय क्षेत्रों में लोकाचार (fashion) का रूप धारण कर चुका था। लौक ने इसकी घोर भर्त्सना की थी : वे तो यहाँ तक कह बैठे कि चूँकि विश्वास कोई साक्ष्य नहीं होता, इसलिए प्रकाशना (Revelation) को विवेक (Reason) द्वारा निर्णीत होना चाहिए।

---

* लौक हमारे ज्ञान की विभिन्न कोटियों के विषय में बात करते हैं (Book IV. ch. II) :

सर्वप्रथम वे सहजज्ञान अथवा अव्यवहित ज्ञान के विषय में बात करते हैं। उदाहरणतः, हम जानते हैं कि श्वेत कृष्ण नहीं होता, या कहिए, कोई वृत्त त्रिभुज नहीं होता। 'कि तीन दो से अधिक होता है'—यह सहजज्ञान का उदाहरण है। यह तथ्य लौक के पिछले कथन (Book II. ch. I. 92)—कि "समग्र ज्ञान अनुभव से व्युत्पन्न होता है"— को सीमित करता हुआ प्रतीत होता है। ज्ञान की अगली कोटि, जो अव्यवहित नहीं है, उपपत्ति है। उपपत्ति के आदर्श रूप में लौक की दृष्टि विशुद्ध गणितीय तर्कना पर है। एक स्थान (IV. II. 14) पर लौक ने कहा है कि जो कुछ भी सहज ज्ञान एवं उपपत्ति की स्थिति तक नहीं पहुंच पाया है, वह या तो श्रद्धा (Faith) है या फिर अभिमत (Opinion) किन्तु निश्चय ही वह ज्ञान नहीं है। कुछ भाष्यकारों ने बताया है कि लौक के अनुसार विवेक अन्ततोगत्वा एवं मूलतः सहज ज्ञानात्मक होता है।

अपने "ऐसे" की समाप्ति के निकट (IV, ch. X. IX. 14) लौक ने कहा है कि अन्ततोगत्वा विवेक ही प्रत्येक क्षेत्र में हमारा निर्णायक एवं पथ प्रदर्शक होना चाहिए।" सुप्रसिद्ध भाष्यकार अलैक्जांडर कैम्पबैल फ्रेंजर का कथन है कि इस वाक्य को "ऐसे" के सन्दर्भ में एक आदर्शोक्ति के रूप में स्वीकार किया जाना चाहिए। लौक का अभिप्राय शायद यह है कि प्रकाशना (Revelation) को भी विवेक की कसौटी पर जाँचा जाना चाहिए। और लौक ने इस दिशा में दैवी प्रकाशना के कुछ मानदण्ड सुझाये भी हैं क्योंकि वे किसी भी प्रकार के विवेक शून्य उत्साह के विरोधी हैं।

राजनैतिक दर्शन :

लौक का राजनैतिक दर्शन उनकी नागरिक प्रशासन संबंधी दो पुस्तकों[1] में, विशेषतः दूसरी पुस्तक में, मिलता है। विगत लगभग तीस बर्षों में लौक के राजनैतिक दर्शन से संबंधित अनेक प्रबन्ध एवं लेख प्रकाशित हो चुके हैं; वे सभी यह संकेत करते हैं कि लौक के दर्शन का गंभीरतर अध्ययन अपेक्षित है।

लौक के राजनैतिक दर्शन की इतनी अधिक व्याख्यायें हुई हैं कि यह बता पाना वस्तुतः कठिन होगा कि यथार्थ में उन्होंने क्या कहा था। कुछ लोगों ने उन्हें अराज्यवादी (Anarchist)[2] बताया है, जब कि कुछ अन्य विचारकों ने उन्हें सत्तावादी (Authoritarin) कहा है; कुछ और लोगों ने उन्हें प्राकृत नियम का प्रतिरक्षक माना है; कुछ ऐसे लोग भी हैं जिनके मत में लौक ने प्राकृत नियम का प्रतिवाद किया है; कुछ विचारकों को उनमें स्वार्थवाद के दर्शन हुए हैं जब कि दूसरों का विश्वास है कि वे बहुमत के शासन के समर्थक थे। एक विद्वान[3] ने तो लौक को रूसो एवं "सामान्य संकल्प" (General will) का अग्रदूत घोषित किया है।

अब हम उनकी पुस्तकों में लौक के द्वारा व्याख्यायित कुछ महत्त्वपूर्ण प्रश्नों का विवेचन करेंगे। दार्शनिक दृष्टि से उनके विचार अधिकांशतः तीन संकल्पनाओं-- स्वीकृति (Consent), स्वातंत्र्य (Freedom) और समानता (Equality) के चारों ओर केन्द्रित हैं। लौक ने "राजाओं के दैवी अधिकार के सिद्धान्त (कि राज्य करने का अधिकार ईश्वर से प्राप्त होता है) का खण्डन किया है; उनकी मान्यता यह है कि शासन का अधिकार तो शासितों की स्वैच्छिक स्वीकृति से जन्मता है। "स्वातंत्र्य" शब्द का प्रयोग लौक ने विभिन्न अर्थों में किया है। इसी प्रकार, उनका सिद्धान्त "समानता" की संकल्पना का एक से अधिक अर्थों में प्रयोग करता है।

प्राकृत नियम की संकल्पना, जिसकी व्याख्या लौक ने भी की है, स्टोइक्स (Stoics) के समान ही प्राचीन है'। संक्षेप में, प्राकृत नियम की मान्यता में सबसे बड़ी बात यह है कि मनुष्य दैवी नगर के नागरिक हैं जहाँ अपरिवर्त्य नियमों का परिचालन होता है (जहां परिचालित होने वाले नियम अपरिवर्त्य होते हैं)। इन

1. "Two Treatises of Civil Government"
2. 'Anarchist' के सामान्य अनुवाद "अराजकतावादी" के विपरीत इस अनुवादक ने "अराज्यवादी" पद का प्रयोग किया है क्योंकि 'अराजकतावादी' का आशय सामान्यतः 'व्यवस्थाहीन' अथवा 'व्यवस्था विरोधी' से होता है। किन्तु 'Anarchism' में सामाजिक अथवा राजनैतिक व्यवस्था का अभाव नहीं होता।
3. Wollmore Kendall : John Locke and the Doctrine of *M*ajorily Rule :

Urbana, Illinois, 1941, pp. 103-6

नियमों की खोज मानवीय विवेक द्वारा होती है। इसका अर्थ यह हुआ कि प्रकृति की दृष्टि में सभी मनुष्य परस्पर समान हैं। और चूँकि प्रकृति ने सब मनुष्यों को समान बनाया है, इसलिए राजनैतिक राज्य का अस्तित्व उन सभी लोगों की सहमति अथवा अनुबन्ध द्वारा संभव हो सकता है जिसमें वे सभी मनुष्य अपने कतिपय उद्देश्यों की पूर्ति हेतु भागीदार होते हैं। कतिपय मनुष्यों ने दूसरों के शासन में रहना स्वीकार कर लिया था।सामा जिक अनुबन्ध (Social Contract) का सिद्धान्त, इस प्रकार, प्राकृत नियम के सिद्धान्त के साथ घनिष्ट रूप से संबद्ध था। लौक के सामाजिक–अनुबन्ध के सिद्धांत की इस आधार पर आलोचना कि गई है कि इतिहास एवं समाजशास्त्र ने इसे कोई समर्थन नहीं दिया है।

किन्तु राजनैतिक दर्शन के क्षेत्र में लौक का महत्वपूर्ण योगदान यह है कि उन्होंने विधायिका एवं कार्यपालिका के बीच एक सुस्पष्ट भेद प्रस्तुत किया है। राजनैतिक शक्तियों के प्रथक्करण के संबंध में लौक की अनुशंसाओं (सिफारिशों) पर मौन्टैस्क्यू ने अपने 1748 में प्रकाशित De L' Espirit अथवा "(The Spirit of the Laws) नामक ग्रंथ में गम्भीरतापूर्वक चिंतन किया है। यदि संविधान की परिधि में इस प्रथक्करण की सुरक्षा नहीं होती, तो शासन के निर्माता अपने ही द्वारा सृजित नियमों के उल्लघंन में शक्ति के दुरुपयोग की सामर्थ्य रख सकेगें; और प्रतिनिधि–मूलक शासन शीघ्र ही निरंकुश शासन का रूप धारण कर लेगा।

लौक के सम्पदा परक सिद्धांत ने भी परवर्त्ती चिंतन को प्रभावित किया है। प्रत्येक व्यक्ति परिपूर्ण रूप से स्वयं का स्वामी है।" वह ऐसे भी किसी वस्तु का स्वामी है "जिसके साथ उसके श्रम का नियोजन हुआ है ।' इस प्रकार श्रम हीं वह तत्व है जो संपदा का सृष्टा है। यह खेद का विषय है कि संपदा एवं श्रम संबंधी उनके सिद्धांतों का सर्वाङ्गीण विवेचन नहीं हो पाया। उन्होंने समझाया है कि मानव जीवन में निजी संपदा का स्वामित्व एक आधारभूत मूल्य है और प्राकृत अवस्था में मानव को वह उपलब्ध था।

"नैतिक दर्शन"

हमें यह नहीं भूल जाना चाहिए कि लौक की प्रमुख अभिरूचियां कभी सैद्धांन्तिक नहीं रहीं; वे व्यवहारिक थीं। उनके प्रबन्ध (Essay) का एक लक्ष्य इस बात का निश्चय करना भी था कि "क्या नैतिकज्ञान मानव सामर्थ्य की पहुंच में है ?" ऐसे (Essay) के अनुसार नीति विज्ञान (Science of Morals) संभव है, अर्थात् दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि "कुछ सार्वभौम एवं अनिवार्य नैतिक निर्णयों का अस्तित्व (होता) है।" "क्या लौक हमें ऐसा विज्ञान प्रदान करने में सफलता प्राप्त कर सके ?" यह एक भिन्न प्रश्न है ; और आगे हम देखेगें कि लौक इस दिशा में असफल ही रहे।

यहां यह बता देना उपयुक्त होगा कि लौक का नैतिक दर्शन किसी विशिष्ट

ग्रंथ में प्रतिपादित नहीं हुआ है। उनके विचार "ऐसे" में बिखरे पड़े हैं किंतु "शक्ति के संदर्भ में" नामक अध्याय इन दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

लौक का उद्देश्य एक ओर सुखवाद तथा दूसरी ओर बुद्धिवाद के बीच समश्वय की स्थापना करना था। लौक का कथन इस मत से प्रारंभ होता है कि "शुभ वह है जो सुख उत्पन्न करे तथा 'अशुभ' वह है जो दुःख का कारण हो।" जो कुछ भी मोद प्रदान करे, वही सुख (होता) है; और सुख को लौक ने केवल शारीरिक सुखों तक ही सीमित नहीं रखा है; मन के सुखों को लौक ने स्पष्टतया वर्णित किया है। वस्तुतः, अपने एक पूर्ववर्त्ती लेख में उन्होंने पाँच प्रकार के स्थायी सुखों का वर्णन किया है : स्वास्थ्य'; "सुयश;' 'ज्ञान' 'परोपकार;' और 'नित्य आनन्द'। लौक का विश्वास था कि गणित की भाँति नैतिकता (Morality) में भी उपपत्ति (demonstration) का सामर्थ्य होता है।[1] उनके अनुसार' नैतिक शब्दों द्वारा इंगितपदार्थों के निश्चित (Precise) एवं वास्तविक (real) स्वत्वों का ज्ञान संभव है (111, 21, 15)।" बर्कले ने लौक के बुद्धिवाद की यह कहकर आलोचना की है कि लौक द्वारा प्रतिपादित नीतिविज्ञान [Science of morality] पूर्णतः एक तुच्छ सी वस्तु होगी। बर्कले के शब्दों में: "ऐसा लगता है कि नैतिकता की उपपत्ति हेतु व्यक्ति को केवल शब्दों का एक कोष बनाने तथा यह परखने की आवश्यकता मात्र है कि अमुक शब्द का अमुक शब्द में समावेश है।" [Common palace–Book 3 P. 702]"। वस्तुतः, आलोचकों द्वारा लौक की बहुधा की गई आलोचना का सार यही है। इसके अतिरिक्त, लौक की मान्यता थी कि नैतिक नियम दैव का विधान है, फिर भी मानवीय विवेक के साथ उसका सामाञ्जस्य है।*

उपसंहार

उनके अपने काल में लौक का स्थान सचमुच महान् है। उनके विषय में निर्णय लेने की यह एक रीति है। दूसरे प्रकार से उनका मूल्यांकन हम स्वयं अपने युग में उनका महत्त्व आंक कर कर सकते हैं।

सर्वप्रथम, हमें यह देखना पड़ेगा कि उनके अपने युग में लौक की स्थिति क्या है ? स्कौलास्टिक्स (Scholastics) के परम्परागत सिद्धान्तों के उनके आलोचन से उनके समकालीन तथा निकट उत्तरवर्ती विचारकों का चिन्तन गम्भीर

---

1. "Of Power" नामक अध्याय से यहां अभिप्राय है।

लौक ने एक बार [III, XI, 16, IV, III, 18, IV, IV, 7 एवं IV, XII, 8) कहा है कि गणित की भांति नैतिकता के क्षेत्र में भी उपपत्ति (Demonstration) का स्थान है। लौक के कहने का अभिप्राय यही है कि नैतिकप्रतिज्ञप्तियों को स्वयं सिद्ध प्रदर्शित किया जा सकता है। भौतिक प्रसंग में परिभाषाएं नैतिक अभिव्यक्तियों को स्पष्टता प्रदान करती हैं। इसका तात्पर्य यह है कि जहां तक नैतिक दर्शन का सम्बन्ध है, लौक अनुभववादी दार्शनिक नहींहै।

रूप से प्रभावित हुआ। दूसरी बात, अपने युग की राजनैतिक विचारणा के क्षेत्र में भी उनका विशाल योगदान रहा : वे ह्विग पक्ष के समर्थक थे तथा उस पक्ष के औचित्य का उन्होंने एक तर्क संगत प्रतिपादन भी प्रस्तुत किया था। सम्पदा एवं श्रम सम्बन्धी उनके विचारों का आज भी आदर है किया जाता। मौन्टैस्क्यू को उन्होंने विशिष्ट रूप से प्रभावित किया था। तीसरी बात, 'सहिष्णुता' सम्बन्धी उनके विचारों तथा 'उत्साह'–परक उनकी आलोचना से धर्मशास्त्रों की व्याख्या को नई-नई दिशाऐं प्राप्त हुई। चौथी बात, अर्थशास्त्र, वित्त, एवं मौद्रिक सुधारों सम्बन्धी उनके लेख अत्यधिक महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुए। छः प्रश्न हैं जिनके सदर्भ में विगत तीन शताब्दियों से उनके सिद्धान्तों का मनन एवं विवेचन किया जाता रहा है : यथा—

(i) 'पदार्थ' के प्रत्यय का उनका विश्लेषण ;
(ii) 'प्रमुख' एवं 'गौण' गुणों सम्बन्धी उनकी व्याख्या ;
(iii) 'निजी अस्तित्व' सम्बन्धी उनका विवेचन ;
(iv) 'नियमों' की समीक्षा एवं 'परिभाषा' का निरूपण ;
(v) उनकी ज्ञानमीमांसा ; तथा
(vi) उनका 'अनुवाद'।

देकार्त एवं लौक के सिद्धान्तों में क्रमशः दो प्रतिस्पर्द्धी विचारधाराओं का प्रतिनिधित्व दिखाई देता है। देकार्त्त एवं उनके अनुयायियों ने गणितीय तर्कना की असंदिग्धता पर विशेष बल दिया था। अपने पूर्ववर्त्ती विचारकों के विपरीत [जिनको भी गणितीय तर्कना की पद्धति ने प्रभावित किया था], देकार्त्तीय विचारकों का तर्क था कि गणितीय पद्धति का विशद्तर अनुप्रयोग सम्भव है ; उन्होंने इसका अनुप्रयोग भौतिकी के क्षेत्र में किया था तथा मानव-अनुसंधान के अन्य क्षेत्रों में भी वे इसे अनुप्रयुक्त करना चाहते थे। उन्हें आशा थी कि इस पद्धति से सभी समस्याओं का समाधान हो जायेगा। लौक इस दृष्टिकोण के विरोधी थे। उनके मत में देकार्त्तीय आदर्श की प्राप्ति असम्भव थी। लौक का कथन था कि गणित, जिसके विषय (Objects) अमूर्त होते हैं, तथा भौतिकी, जिसका विषय मूर्त भौतिक वस्तु होता है, के बीच अनिवार्य भेद होता है। लौक का तर्क था कि किसी भी सच्ची भौतिकी को अनुभव प्रदत्त सामग्री पर तर्कना के माध्यम से विकास करना चाहिए, और उसका विकास है भी इसी प्रकार सम्भव। यह सामग्री ऐसी नहीं होती कि इसे पूर्णतः गणितीय भाषा में अभिव्यक्त किया जा सके। अन्तिम रूप में वह आगमन पर ही आधारित की जा सकती है। विवेक, गणित के क्षेत्र में, जब एक बार अपने मूलभूत प्रत्ययों की प्राप्ति कर चुका होता है, तो अनुभव के आधारों की अपेक्षा किए बिना ही, स्वतन्त्रता पूर्वक अग्रसर हो सकता है। प्राकृत विज्ञानों के क्षेत्र में विवेक को व्यापक रूप से अनुभव का सहारा

लेना पड़ता है, और इसलिए उसे सम्पूर्ण असंदिग्धता की उपलब्धि नहीं हो सकती।

इतिहास ने सिद्ध कर दिया है कि अनुभवमूलक दृष्टिकोण व्यापक रूप से अधिक प्रभावशाली सिद्ध हुआ है। अनुभवमूलक दृष्टिकोण की महत्ता को सर्वोत्तम रूप से यह दिखाकर सिद्ध किया जा सकता है, कि यदि हम इसको स्वीकार नहीं करें तब क्या होगा। इसके अभाव में अविवेक का साम्राज्य छा जायेगा और एक प्रकार से सत्य-असत्य पर से अनुभव का अंकुश उठ जायेगा।

लौक एवं उनके अनुयायियों ने यह स्पष्ट कर दिया है कि अनुभव में घटित होने वाले अथवा अनुभव में घटित पदार्थों से रचित होने वाले पदार्थों के अतिरिक्त ज्ञान के कोई अन्य प्रामाणिक विषय नहीं हो सकती आज हम जिसे अनुभव-मूलक दृष्टिकोण कहकर पुकारते हैं, उसके सर्वप्रथम प्रभावशाली प्रतिपादक होने का श्रेय लौक ही को मिलना चाहिए। अनुभव-मूलक दृष्टिकोण मानवज्ञान की सीमाओं का दिग्दर्शन भी कराता है।

विचारक के रूप में लौक के पास न तो कोई क्रम है न कोई तारतम्य। उनके प्रशंसकों तक ने कहा है कि वे "अनियमित, दुर्बोध, एवं पुनरुक्तिपूर्ण" हैं।* किन्तु लौक की असाधारण सफलता का प्रतीक ज्ञान के क्षेत्र में उनके द्वारा अनुभवमूलक (आनुभविक) तत्त्व की मूलभूत महत्ता की प्रतिष्ठापना करना है।

लौक द्वारा प्रवर्त्तित प्रश्नों में से अनेक को उनके उत्तरवर्त्ती विचारकों ने सम्भाला : 'प्रमुख' एवं 'गौण' गुणों के बीच भेद की बर्कले द्वारा आलोचना की गई ; तथा व्यक्तिगत अस्तित्व (Personal identity), कारणत: एवं पदार्थ (Substance) विषयक समस्याओं को ह्यूम ने उठाया। उन्हें "श्रद्धेय" कहकर सम्बोधित करने वाले कान्ट ने उनकी ज्ञानमीमांसातमक समस्याओं को पुनर्जीवित किया।

लौक ने ही सर्वप्रथम इस तथ्य की ओर स्पष्ट एवं निश्चयात्मक ध्यान दिलाया कि मानव विचारणा का स्वरूप, उसकी प्रक्रीयाएं एवं सामर्थ्य ही दार्शनिक अनुसंधानों का प्रारम्भ बिन्दु होना चाहिए। योरोपीय दर्शन पर पड़े उनके स्थायी प्रभाव के कारणों में से यह भी एक कारण है।

---

* सी० बी० मार्टिन अपने ग्रन्थ "लौक एवं बर्कले" की भूमिका में।
सम्पादक—सी० बी० मार्टिन एवं डी० ऐम० आर्मस्ट्रौंग मैकमिलन, ऐन० डी०।

लेखक—ए० ऐम० घोष।

अनुवाद—जगदीश प्रसाद शर्मा

———

6

बर्कले

सिद्धान्तावली[1] के उपशीर्षक में बर्कले पुस्तक के उद्देश्य को स्पष्ट करते हुए कहता है कि इस पुस्तक में अधर्म, अनीश्वरवाद, तथा संसयवाद के आधारों एवं विज्ञानों में जो कठिनाईयां तथा भ्रान्तियां हैं, उनके प्रमुख कारणों के विषय में अन्वीक्षण किया गया है। पर्सिवल को लिखे गए एक पत्र में बर्कले अपने विचारों की दिशा के विषय में लिखते हुए कहता है कि उसका लक्ष्य ईश्वर के अस्तित्व तथा उसके धर्मों (ऐट्रिब्यूट्स) एवं आत्मा की अमरता को सिद्ध करना, ईश्वर के पूर्व-ज्ञान से मनुष्य की स्वतन्त्रता का समन्वय करना, एवं चिंतन प्रमुख (स्पैक्युलेटिव) विज्ञानों के कुछ अंशों की रिक्तता तथा उनके मिथ्यात्व को दिखाना एवं मनुष्य को धर्म एवं उपादेय विषयों के अध्ययन की ओर आकर्षित करना था।[2] ऐलिस्फ्रौन[3] का उद्देश्य स्वतन्त्र चिंतकों[4] के विरुद्ध ईसाई धर्म का पोषण करना कहा गया है। वास्तव में 1688 के पश्चात् इंग्लैण्ड में स्वतन्त्र चिंतन की जो लहर आई उसके कारण न केवल बौद्धिक रूप से सृजनात्मक, आलोचनात्मक, तथा ईमानदारी से चिंतन हुआ अपितु बर्कले की दृष्टि से विनाशकारी तथा कुटील चिंतन भी हुआ। अन्धविश्वास तथा अज्ञान को दूर करने के सुयत्न हुए, तो उनके प्रसार को प्रश्रय भी मिला। धर्म के सम्बन्ध में जो बौद्धिक व्याख्याएं प्रस्तुत की गई। (टोलैंड तथा कॉलिन्स के द्वारा) वे निर्विवाद नहीं थीं। इस वैचारिक परिवेश में, अपनी धार्मिक प्रवृत्ति के कारण बर्कले के विचारों की दिशा का उपर्युक्त लक्ष्यों के रूप में स्पष्ट होना स्वाभाविक ही था।

---

1. द प्रिंसपिल्ज ऑव ह्यूमन नॉलेज, द वर्कस ऑव जॉर्ज बर्कले, सम्पादक : ए.ए. ल्यूस तथा टी.ई. जेस्सप, (टॉमस नेलसन एण्ड सन्स,) खण्ड दो (1949)
2. पर्सिवल को लिखा पत्र 1·3·1710, द वर्कस ऑव जॉर्ज बर्कले, खंड आठ पृष्ठ 31-32
3. ऐलिसफॉन, द वर्क्स ऑव जॉर्ज बर्कले, खण्ड तीन (1950)
4. यहां सत्रहवीं तथा अठारवी शताब्दी के किन्हीं ऐसे विचारकों की ओर निर्देश है जो धार्मिक मत के आधार पर किसी प्रकार की रहस्यवादिता को स्वीकार नहीं करते, जो जड़वाद तथा अनीश्वरवाद प्रतिपादित करते हैं, इन में जॉन टो लैंड (1670-1722), एन्टनी कॉलिन्स (1676-1729), तथा जूलियाँ ल मैत्रि (1704-1751) आदि के नाम लिये जाते हैं।

विचारों के इतिहास की दृष्टि से बर्कले का स्थान, साधारणतया, देकार्त तथा लौक के मध्य तथा दूसरी ओर ह्यूम तथा काण्ट के मध्य आता है। यह भी अंशतः सही है कि लौक तथा बर्कले में वही सम्बन्ध है जो देकार्त तथा स्पिनोजा में[5]। परन्तु जैसा ल्यूस तथा वारनॉक आदि आधुनिक आलोचकों का मत है,[6] बर्कले की मूल समस्या लौक तथा ह्‌यूम की समस्या से भिन्न थी। बर्कले ने ज्ञान की उपलब्धि, प्रामाणिक ज्ञान के प्रतिमान आदि के प्रश्न तो उठाये ही परन्तु जैसा आरम्भ में संकेत किया गया है उसका प्रमुख लक्ष्य यह सिद्ध करना था कि ईश्वर, आत्माओं तथा प्रत्ययों के अतिरिक्त अन्य किसी का अस्तित्व काल्पनिक ही हो सकता है। अन्य शब्दों में जहां देकार्त, लॉक, ह्यूम तथा काण्ट दार्शनिक संशय को प्रधानता देते हैं, वहां बर्कले आस्तिकता तथा आध्यात्मिकता का प्रतिपादन करता है। यहाँ यह एक ध्यान रखने की बात है कि धार्मिक प्रवृत्ति के प्रमुख होने पर भी बर्कले के सिद्धान्त केवल श्रद्धा पर आधारित हों अथवा तर्क की अवहेलना करते हों, ऐसा नहीं है। बौद्धिक तथा तार्किक क्षमता एवं प्रत्यानुभव को यथार्थ--बोध का आधार स्वीकारने के कारण बर्कले की चेतना समकालीन दार्शनिक की चेतना होने का भ्रम उत्पन्न करती है। बर्गसॉ ने तो बर्कले को आधुनिक दर्शन का प्रणेता माना है।[7]

बर्कले की सर्वप्रथम कृति[8] से यह स्पष्टतया परिलक्षित किया जा सकता है कि वह तात्कालिक वैज्ञानिक प्रगति तथा उपलब्धियों से सुपरिचित था। दृष्टि संवेदन सम्बन्धी इस कृति में बर्कले अपनी नवीन प्रस्थापनाओं के लिये पृष्ठभूमि तैयार करता है। साधारणतया जब हम बाह्‌य देश तथा दूरी का प्रत्यक्ष करते हैं तब बाह्‌य देश को मन से अन्यत्र मानते हैं। बर्कले के अनुसार वस्तुस्थित यह है कि मन से अन्यत्र किसी सत् का अस्तित्व नहीं है। इस स्थिति को स्पष्ट करने के पूर्व दूरी तथा देश के प्रत्यक्ष के सम्बन्ध में प्रश्नों पर विचार करना आवश्यक था। इन प्रश्नों के अतिरिक्त अपनी इस कृति में बर्कले दो और प्रश्न उठाता है: (1) दृष्टि संवेदन तथा त्वक् संवेदन में क्या अन्तर है? तथा (2) क्या इन दोनों संवेदनों के विषय समान है? दूरी के प्रत्यक्ष के विषय में साधारण व्याख्या कुछ इस प्रकार दी जाती है: जब हम किसी वस्तु का प्रत्यक्ष करते हैं तो वस्तु से हमारे दोनों नेत्रों तक आने वाले प्रकाश की किरणें वस्तु पर एक कोण बनाती हैं। यह कोण जितना छोटा होगा, वस्तु हम से उतनी ही दूर होगी, तथा जितना बड़ा होगा, वस्तु हमसे उतनी ही निकट होगी। बर्कले का मत है कि ज्यामिति तथा शरीर विज्ञान की दृष्टि

---

5. हिस्ट्री ऑव मॉर्डन फ़िलॉसोफि, रिचर्ड फाल्केन बर्ग (कलकत्ता, 1953)
6. बर्कलेज इम्मैटीरियलिज्म, ए. ए. ल्यूस. (टॉमसनेलसन 1945) तथा बर्कले, जी. जे. वारनॉक (लन्दन—1953)
7, बर्कले डावेस हिक्स, पृ. 285, (लन्दन 1932)
8. एन एस्से टुवर्ड्ज अ न्यू थ्योरि ऑव वीजन, द वर्क्स·········खण्ड एक

से यह व्याख्या ठीक है, परन्तु जहां दूरी के प्रत्यक्ष के अनुभव का प्रश्न है, उसमें इसका कोई बोध नहीं होता । दूरी के प्रत्यक्ष की व्याख्या तभी मान्य हो सकती है जब हमें उन अवस्थाओं का बोध हो जो इस अनुभव को संभव बनाती हैं ।

इस सम्बन्ध में त्वक् तथा दृष्टि संवेदन के विषयों में अन्तर करते हुए, बर्कले यह निश्चित करता है, कि प्रत्येक संवेदन का अपना विशिष्ट विषय होता है : जिस प्रकार श्रवण का विषय ध्वनि है, उसी प्रकार दृष्टि का विषय प्रकाश तथा वर्ण है (जो अन्ततः प्रकाश के परिणाम का ही भिन्न रूप है) हैं । 'दूरी' अथवा 'दिशा दृष्टि का विषय नहीं है । मैं चन्द्रना को देख रहा हूं । इस समय मेरे प्रत्यक्ष में चन्द्रमा का रूप एक छोटे से प्रकाशयुक्त वृत्त का है । किन्तु इसके साथ ही मुझे यह भी ज्ञात है कि यह चन्द्रमा मुझ से बहुत दूर है, तथा जिस रूप का मैं प्रत्यक्ष कर रहा हूँ वह उसका वास्तविक रूप नहीं है । यहां यह प्रश्न उपस्थित होता है कि यदि यहाँ चन्द्रमा के प्रत्यक्ष में दूरी भी सम्मिलित है, तो मुझे चन्द्रमा के वास्तविक रूप का प्रत्यक्ष होना चाहिये, परन्तु ऐसा नहीं होता और इसका कारण स्वयं दूरी ही है । इस प्रकार मेरा यह प्रत्यक्ष वस्तुतः भिन्न भिन्न रंगों से मिलकर बने हुए किसी द्वि-आयाम वाले (टूडाइमेन्शनल) चित्र की भांति है । अतः यह निश्चय हुआ कि साधारण धारणा के विपरीत, दूरी दृष्टि-संवेदन का विषय नहीं है । फलतः यह प्रश्न उपस्थित होता है कि 'दूरी क्या है ?' बर्कले का कथन है कि दूरी वस्तुतः स्पृश्य वस्तु अथवा वस्तुओं का ही दूसरा नाम है । अन्य शब्दों में, देश आदि के बोध का स्रोत त्वक् संवेदन है, दृष्टि संवेदन नहीं । यह लेखनी, जिसका स्पर्श मेरी अंगुलियां कर रही हैं, उस लेखनी से भिन्न है जिसे मैं देख रहा हूं । दृष्टि के द्वारा मुझे लेखनी के विभिन्न रंगों तथा प्रकाश की चमक का प्रत्यक्ष हो रहा है, किन्तु त्वक् द्वारा लेखनी की स्थिति का ।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि प्रत्येक संवेदन का विषय अन्य संवेदन के विषय से भिन्न है । परन्तु ज्ञान की दृष्टि से प्रत्येक संवेदन का महत्त्व उसकी कुछ विशिष्टताओं पर निर्भर है । यदि किसी विषय में किसी प्रकार की ध्वनि नहीं होती, अथवा उसकी कोई गंध अथवा उसका कोई स्वाद नहीं है, तो केवल इसी कारण से इस विषय का ज्ञान संभव नहीं होगा, ऐसा नहीं है । किंतु यदि वह विषय दृश्य अथवा स्पृश्य भी नहीं है तो निश्चय ही उसका ज्ञान नहीं होगा । अन्य शब्दों में ज्ञान में जो योगदान दृष्टि तथा त्वक् संवेदन से प्राप्त होता है, वह अन्य संवेदनों की तुलना में कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण है । दृष्टि तथा त्वक् संवेदन में मौलिक भेद होते हुए भी, दोनों में परस्पर अधिक गहन सम्बन्ध है । हम जो कुछ देखते हैं, वह उस विषय का संकेत है, जिसे हम स्पर्श भी कर सकते हैं अर्थात् जिसका वास्तव में अस्तित्व है ।

दृष्टि सम्बन्धी निबन्ध में, बर्कले ने प्रत्ययों तथा वस्तुओं में भेद किया है । वस्तुओं का संकेत केवल त्वक् संवेदन से प्राप्त होता है, शेष सभी संवेदनों द्वारा

बोध, दृश्य प्रत्ययों तक सीमित है, और ये प्रत्यक्ष मन से अन्यत्र स्थिति नहीं हैं। किन्तु अपनी मुख्य कृति में[9] बर्कले ने इस भेद का परित्याग कर दिया तथा प्रत्ययों एवं उनके प्रत्यक्षकर्त्ता मन के अतिरिक्त किसी सत्ता को स्वीकार नहीं किया। वस्तुस्थिति का यह वर्णन पहली दृष्टि में, केवल नवीन एवं विचित्र ही नहीं अपितु साधारण अनुभव से असंगत तथा फलतः निरर्थक प्रतीत होता है। यदि हम **सिद्धान्तावली** का सरसरी दृष्टि से पाठ करें। तब कदाचित् इसके अतिरिक्त हम किसी अन्य निष्कर्ष पर नहीं पहुँचेंगे। परन्तु यदि बर्कले के कथनों को धैर्यपूर्वक ग्रहण करने की चेष्टा करें, तो जैसा स्वयं बर्कले ने कहा है, इनमें विचित्रता एवं असंगति के स्थान पर हम यथार्थ के स्वरूप को अधिक समीचीन रूप में ग्रहण कर पायेंगे।[10] वास्तव में बर्कले का प्रस्ताव भाषा के प्रयोग के सम्बन्ध में ग्रहण करना चाहिए। भाषा के जिस नवीन प्रयोग का वह परिचय देता है वह उसकी युक्तियों को आत्मसात् करने पर अधिक संगत प्रतीत होता है। साधारणतया, दार्शनिकों ने भाषा की प्रकृति को ठीक प्रकार से ग्रहण न करने के कारण ही, न केवल निरर्थक समस्याओं की ही सृष्टि की, अपितु जड़वाद अनीश्वरवाद, संशयवाद आदि जैसी धारणाओं की स्थापना की तथा उनके प्रचार में भी योग दिया है, जो बर्कले की दृष्टि में अधर्म तथा अशिव का स्रोत है। यद्यपि भाषा के सम्बन्ध में बर्कले के मत की तुलना आधुनिक विश्लेषणवादियों (अनालिस्ट्स) तथा भाषाई आभास-वादियों (लिंग्विस्टिक फेनोमेनोलिस्ट्स) से की जा सकती है, फिर भी यहां संबंध जो अभिप्रेत है उसे लॉक के दर्शन के सन्दर्भ को ध्यान में रख कर ग्रहण करना चाहिए। लॉक ने अपने **एस्से** का एक महत्त्वपूर्ण भाग भाषा के सन्दर्भ में प्रयुक्त किया। फिर भी वह अपने सिद्धान्त में निहित नागवादी तत्त्व को पूरी तरह नहीं देख पाया। 'वस्तु' के स्थान पर 'प्रत्यय' का प्रयोग स्वीकार कर बर्कले ने अमूर्त (फलतः अनिरूपणीय) का पूर्णतया निराकरण कर दिया।

यह स्पष्ट है कि भाषा शब्दों से निर्मित होती है।[11] परन्तु 'शब्द' से क्या अर्थ लिया जाय ? नामवादियों[12] का अनुसरण करते हुए लॉक ने यह स्वीकार किया था कि केवल विशेष (पार्टिक्युलर्स) ही यथार्थ हैं। अन्य शब्दों में, केवल विशेषों का ही देशकालिक अस्तित्व होता है। इसके विपरीत, सामान्य (यूनिवर्सल) केवल मनः स्थित एवं आत्मगत होते हैं। शब्दों से सामान्यों का संकेत प्राप्त होता है, विशेषों का नहीं। प्रत्येक शब्द किसी सामान्य सत् का बोध कराता है तथा यह सामान्य सत् अन्ततः विशिष्ट सतों का परिचय देता है। क्योंकि प्रत्येक शब्द किसी सामान्य सत् का नाम है, अतः कोई शब्द निरर्थक नहीं हो सकता।

---

9. द प्रिंसपिल्ज ऑव ह्यूमन नॉलेज
10. देखें प्रिंसपिल्ज में परिच्छेद 38, 39, तथा 51।
11. वही 'परिचय' परिच्छेद 20.

इस प्रकार शब्दों की स्थिति प्रतीकों के सदृश मानी जा सकती है। (लॉक की पुस्तक **एन एस्से कन्स ह्यूमनर्निग अन्डर्स्टैंडिग** का तृतीय भाग भाषा के सम्बन्ध में है उसके पठन से ऐसा प्रतीत होता है कि लॉक जब 'शब्द' की बात करता है, तो उसके ध्यान में केवल वे ही शब्द हैं जिनका प्रयोग संज्ञा के रूप में होता है। यह स्पष्ट नहीं है कि संज्ञा से इतर शब्दों की लॉक किस प्रकार व्याख्या करता।) शब्द की इस व्याख्या में अनेक कठिनाइयां हैं, परन्तु इनमें प्रमुख यह है कि किसी भी शब्द का प्रयोग करने पर हम अन्ततः उसके अनुरूप किसी वास्तविक सत् की कल्पना करने लगते हैं, अर्थात् हम यह मान लेते हैं कि शब्द विशेष के अनुरूप कोई वास्तविक सत् है। परिणामस्वरूप अनेक काल्पनिक सतों की सृष्टि हो जाती है, तथा उनके विषय में व्यर्थ ही विवाद खड़े होते हैं। लॉक की सामान्य प्रत्यय की धारणा में यही कठिनाई सन्निहित है। लॉक का मत था कि अमूर्तिकरण द्वारा सामान्य प्रत्ययों की प्राप्ति होती है। उदाहरणार्थ 'मनुष्य' का प्रत्यय लें। प्रत्येक मनुष्य एक विशिष्ट व्यक्ति है। तथापि सभी विशिष्ट व्यक्ति कुछ विशेषताओं की दृष्टि से एक दूसरे के समान कहे जा सकते हैं। अतः जब हम व्यक्तिगत विशिष्टताओं की ओर ध्यान न देकर, मनुष्यों के समान रूप के विषय में विचार करते हैं, तो मनुष्य की जो धारणा हमारे मन में बनती है, उसे मनुष्य का सामान्य प्रत्यय कहा जा सकता है।

ऐसे ही सामान्य प्रत्ययों की संज्ञाओं के रूप में शब्दों का प्रयोग होता है। सामान्य प्रत्यय की धारणा की विशेषता यह है कि उसके आधार पर सम्बन्धित शब्द का प्रयोग सम्बन्धित सभी उन समान विशेषों के लिए किया जा सकता है। जो अन्य अवस्थाओं में परस्पर भिन्न हों। उदाहरणार्थ 'मनुष्य' शब्द का प्रयोग प्रत्येक मनुष्य तथा सभी मनुष्यों के लिए किया जा सकता है—ये मनुष्य अन्य अवस्थाओं में परस्पर कितने ही भिन्न क्यों न हों। लॉक की दृष्टि से हमारी चिन्तन की प्रक्रिया में इन प्रत्ययों का अत्यधिक महत्त्व है। वस्तुस्थिति तो यह है कि इन सामान्य प्रत्ययों के बिना चिन्तन की प्रगति ही सम्भव नहीं है। यदि हमने सामान्य प्रत्ययों को बनाने की क्षमता न हो, तो प्रत्येक पग पर हमें अनेक विशिष्ट चित्रों अथवा विषयों का योग लेना पड़ेगा, जैसा कि आरम्भ में बालकों के भाषा सीखने के समय होता है। सामान्य प्रत्ययों के द्वारा चिन्तन करने की इस क्षमता के कारण ही मनुष्य पशुओं से भिन्न है।

आलोचना के रूप में बर्कले यह सिद्ध करता है कि जिस प्रत्यय की धारणा की क्षमता हमें पशुओं से उत्कृष्टतर स्थान प्रदान करती है, उस प्रत्यय की धारणा वस्तुतः सम्भव ही नहीं है। यह कैसे सम्भव है कि हम मनुष्य के किसी ऐसे प्रत्यय की कल्पना कर सकें जिसमें समस्त विभिन्न मनुष्यों की व्यक्तिगत विशेषताओं का बोध प्राप्त हो सकता हो। हमारे मन में जो भी प्रत्यय बनेगा वह विशिष्ट होगा, उसकी एक निश्चित रूपरेखा होगी। ऐसी स्थिति में उसमें विभिन्न विरोधी तत्त्वों

का समावेश किस प्रकार सम्भव है ? मनुष्य का प्रत्यय लम्बे एवं ठिगने, काले एवं गोरे, क्षीण एवं स्थूलकाय मनुष्यों पर किस प्रकार एक साथ प्रयुक्त किया जा सकता है ? वस्तुतः ऐसे प्रत्यय की धारणा ही कैसे सम्भव होगी जिसमें लम्बे तथा ठिगने दोनों मनुष्यों का बोध समाविष्ट हो। वस्तुतः स्वयं में विरोधी तत्त्वों एवं विशेषताओं को समाविष्ट करने वाला प्रत्यय, वास्तविक एवं तार्किक दोनों दृष्टियों से ही असम्भावित एवं निरर्थक प्रत्यय सिद्ध होगा। बर्कले काकथन है कि यह तो संभव है कि गुणों को एक दूसरे से पृथक कर उन पर विचार किया जाय, यह भी संभव है कि उन खण्डों को संयुक्त कर किसी प्रतिमा की धारणा बना ली जाय, जो वस्तुत: पृथक किये जा सकते हों, किन्तु यह सम्भव नहीं है कि उन गुणों अथवा खण्डों को संयुक्त कर प्रतिमा की धारणा बनाई जा सके, जो वस्तुतः पृथक् नहीं किये जा सकते हों। उदाहरण के लिए, यदि हम गति को गतिशील वस्तु से पृथक् कर धारण करने की इच्छा करें, तो हमें सफलता नहीं मिलेगी। लॉक का कथन है कि सामान्यीकरण की प्रक्रिया अत्यन्त दुर्बोध एवं जटिल है, परन्तु बर्कले के अनुसार वह केवल कष्टसाध्य ही नहीं अपितु असम्भव भी है।

उपर्युक्त आलोचना का आधार, लॉक के द्वारा 'प्रत्यय' (आइडिया) शब्द को प्रतिमा अथवा प्रतिबिम्ब के अर्थ में ग्रहण करना है। सामान्य प्रत्यय के निर्माण के सम्बन्ध में जो उदाहरण लॉक प्रस्तुत करता है, उससे कुछ इसी प्रकार का निष्कर्ष निकलता है। परन्तु लॉक प्रत्यय का प्रयोग केवल इसी रूप में नहीं करता। इस दृष्टि से बर्कले की आलोचना लॉक के 'प्रत्यय' शब्द के प्रयोग की अवहेलना का परिणाम कही जा सकती है, परन्तु दूसरी ओर लॉक के विरुद्ध यह कहा जा सकता है कि उसका 'प्रत्यय' शब्द का प्रयोग स्पष्ट तथा संगत नहीं है जिसके फलस्वरूप उलझनें उत्पन्न होती हैं।

इस सम्बन्ध में दूसरा प्रश्न यह उपस्थित होता है कि हम इस प्रकार के सामान्य एवं अमूर्त प्रत्ययों की बात कैसे सोचते हैं ? अर्थात् अमूर्त्त प्रत्यय का स्रोत क्या है ? स्वयं लॉक के अनुसार अमूर्त्त प्रत्यय, नामकरण के लिए निर्मित किये जाते हैं। साधारणतया यह माना जाता है कि प्रत्येक शब्द का केवल एक ही निश्चित तथा रूढ़ अर्थ होता है अथवा होना चाहिए। इससे कुछ व्यक्तियों की यह धारणा बन जाती है कि कुछ अमूर्त्त, सुनिश्चित प्रत्यय हैं, जो प्रत्येक सामान्य शब्द के सच्चे तथा एक मात्र अर्थ हैं तथा इन्हीं प्रत्ययों के माध्यम से कोई सामान्य शब्द

---

12. 'नामवाद' का सिद्धान्त विलियम ऑव आक्कम के नाम से जोड़ा जाता है। इस सिद्धान्त को स्वीकार करने वाले मानते है, कि केवल व्यक्तियों या विशिष्ट वस्तुओं का ही अस्तित्व होता है, सामान्य काल्पनिक संरचनाएं है, वस्तुतः मिलती जुलती वस्तुओं या विषयों को एक ही नाम से पुकारना उनके लिए सामान्य का प्रयोग करना है, इस प्रकार सामान्य पद नाम का काम करता है।

अथवा नाम किसी विशेष वस्तु का संकेत करता है।[13] इस प्रकार के चिन्तन का परिणाम यह होता है कि हम, एक ओर तो वस्तुओं को भाषा से दूर ले जाते हैं तथा दूसरी ओर कुछ ऐसी सत्ताओं—अर्थात् सामान्य अमूर्त्त प्रत्ययों—की स्थिति को स्वीकार कर लेते हैं, जो वस्तुओं से भिन्न होती हैं। वस्तु एवं ज्ञाता के मध्य प्रत्ययों को लाने के कारण हम नाम को सदैव एक प्रत्यय से सम्बद्ध कर लेते हैं, जब कि वह विभिन्न सन्दर्भों में अनेक एक सी वस्तुओं का परिचायक भी होता है। जैसा बर्कले स्पष्ट करता है : "एक नाम की सतत एक ही परिभाषा देना एक बात है तथा उसे सर्वत्र एक ही प्रत्यय के लिये प्रस्तावित करना दूसरी बात : पहली बात आवश्यक है तथा दूसरी व्यर्थ एवं अप्रयोज्य।"[14] यहाँ यह स्पष्ट है कि बर्कले सामान्य प्रत्यय को पूर्णतया अस्वीकार नहीं करता। वह तो केवल इतना ही कहता है कि किसी शब्द का एक सुनिश्चित अर्थ नहीं है। विभिन्न सन्दर्भों में अर्थ भी विभिन्न होते हैं। इस प्रकार शब्द से जिस प्रत्यय का बोध होता है वह एक ओर तो विशिष्ट है, किन्तु दूसरी ओर प्रयोग की दृष्टि से समान प्रकार के अनेक विषयों का बोध कराने में समर्थ प्रतीक है। केवल इसी अर्थ में प्रत्ययों को सामान्य कहा जा सकता है।

वास्तव में, बर्कले का एक महत्त्वपूर्ण उद्देश्य ज्ञात एवं ज्ञेय जगत् तथा उसके हमारे ज्ञान के मध्य सीधा सम्बन्ध स्थापित करना था। उसके द्वारा, भाषा के सम्बन्ध में की गई लॉक की आलोचना, इस दिशा में प्रथम चरण था। इस सम्बन्ध में उसका दूसरा अत्यधिक महत्त्वपूर्ण तथा प्रमुख सिद्धान्त था। प्रत्यक्ष एवं अस्तित्व में तादात्म्य। यदि किसी विषय अथवा वस्तु के अस्तित्व की बात कही जाती है, तो यह भी मानना होगा कि उस वस्तु का प्रत्यक्ष किया जा सकता है। किसी वस्तु का विद्यमान[15] होना, उसका प्रत्यक्ष किया जाना है। सिद्धान्तावली के तृतीय अधिकरण में बर्कले लिखता है : "प्रत्येक व्यक्ति स्वीकार करेगा कि न तो हमारे विचार, न भाव और न कल्पना द्वारा निर्मित प्रत्यय ही, मन के बिना कोई अस्तित्त्व रखते हैं तथा यह भी कम स्पष्ट प्रतीत नहीं होता कि विभिन्न संवेद अथवा इन्द्रियों द्वारा प्राप्त प्रत्यय, चाहे वे किसी प्रकार निश्चित हों, अर्थात् उनसे कोई भी विषय बनता हो—उस मनस् के बिना नहीं रह सकते, जो उनका प्रत्यक्ष करता है। कोई भी व्यक्ति, संवेद्य वस्तुओं के विषय में प्रयुक्त 'अस्तित्व' शब्द का अर्थ, अपनी सहजानुभूति से ही समझ सकता है। जिस मेज पर मैं लिखता हूं, वह है—अर्थात् मैं उसे देखता हूं और उसका अनुभव करता हूं और यदि मैं अपने अध्ययन कक्ष के

13. प्रिंसपिल्ज....'परिचय' परिच्छेद 18
14. वही।
15. 'विद्यमान' तथा 'विद्या'—इन दोनों शब्दों का मूल एक ही प्रकार से लिखा जाता है यद्यपि विभिन्न अर्थों में उसका स्वरूप दो प्रकार से चलता है। परन्तु मूल रूप का एक अथवा एक सा ही होना क्या नितान्त आकस्मिक है ?

बाहर होता, तब भी मैं यही कहता कि वह है--जिससे मेरा तात्पर्य यह है कि यदि मैं अपने अध्ययन कक्ष के भीतर होता, तो मैं उसका प्रत्यक्ष कर सकता था, अथवा यह कि कोई अन्य व्यक्ति उसे वास्तव में देख रहा है। गंध है, अर्थात् उसे सूंघा गया, ध्वनि हुई अर्थात् उसे सुना गया, कोई रंग या आकृति है, तो उसे दृष्टि अथवा स्पर्श के द्वारा प्रत्यक्ष किथा गया। उपर्युक्त तथा इस प्रकार के अन्य समस्त, कथनों का, मैं यही सब अर्थ लगाता हूं; कारण कि, वस्तुओं के विषय में उनके प्रत्यक्ष होने के सन्दर्भ के बाहर जो भी कहा जाता है, वह पूर्णतया अबोध्य प्रतीत होता है। उनका होना (ऐस्से–Esse) प्रत्यक्ष किए जाना (पर्सिपी–percipi) है। इन वस्तुओं का प्रत्यक्ष करने वाले मनस् अथवा चिन्तनशील वस्तुओं की परिधि के बाहर उनका कोई अस्तित्व सम्भव नहीं है।"[16] यहाँ प्रत्यक्ष एवं अस्तित्व के सम्बन्ध के विषय में जो कुछ कहा गया है, उसे निम्नलिखित चार उक्तियों में प्रस्तुत किया जा सकता है :[17]

(अ) हमारे विचार, भाव एवं प्रतिमाएँ मन से असम्बद्ध रूप में कोई अस्तित्व नहीं रखते।

(आ) इन्द्रियों के सम्पर्क से उत्पन्न होने वाले प्रत्यय (आइडियाज), चाहे वे किसी भी संघात के रूप में हों, ज्ञाता से असम्वद्ध अथवा स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं रखते।

(इ) जब किसी संवेद्य के विषय में अस्तित्व शब्द का प्रयोग करते हैं, तो उसका अर्थ प्रत्यक्षीकरण के अतिरिक्त और कुछ नहीं होता।

(ई) किसी भी ऐसी वस्तु अथवा विषय की चर्चा करना निरर्थक है, जिसका प्रत्यक्ष से कोई सम्बन्ध नहीं है।

जहां तक उपर्युक्त प्रथम उक्ति का प्रश्न है, उसके स्वीकरण में कोई विवाद नहीं है। दूसरी उक्ति भी स्वीकार की जा सकती थी, यदि प्रत्ययों के संघात तथा वस्तु को एक दूसरे से पृथक् रखा जाता। यदि हम कुछ प्रत्ययों की संयुक्त रूप में कल्पना करते हैं, तो स्वभावतः इस संयुक्त कल्पना की स्थिति मनस् में ही होगी, परन्तु यदि हमारा संकेत स्वयं वस्तु की ओर है तो बर्कले की बात को स्वीकार करने में तब तक संकोच होगा, जब तक कि यह न बताया जाय कि बर्कले का 'प्रत्यय' शब्द का प्रयोग, साधारण प्रयोग नहीं है। वस्तुतः प्रत्यक्ष जगत् की व्याख्या के लिए बर्कले द्वारा प्रस्तुत शब्दावली के विशिष्ट प्रयोग की दृष्टि से उसके कथनों में कोई विशेष असंगति दृष्टिगत नहीं होती, तथा उपर्युक्त तृतीय एवं चतुर्थ उक्तियों के रूप में प्रत्यक्षीकरण एवं अस्तित्व का तादात्म्य स्थापित किया जा सकता है। सत्ता दृष्टता है, इस सिद्धान्त को प्रस्तुत करते समय कुछ प्रश्न स्वतः उठते

---

16. प्रिंसपिल्ज···परिच्छेद 3
17. देखिए लेखक का बर्कले दर्शन, पृष्ठ 27-8 (इलाहबाद--1962)

हैं। इन प्रश्नों को समझने में ही 'सत्ता' तथा 'दृष्टता' के तादात्म्य का सिद्धान्त स्पष्ट हो जाता है। उदाहरणार्थ यदि किसी वस्तु का होना उसका प्रत्यक्ष किया जाना है, तो जब उसका प्रत्यक्ष नहीं होता तो क्या उसका अस्तित्व भी नहीं रहता ? बर्कले का मत है कि ऐसी कोई स्थिति ही नहीं होती जिसमें वस्तु का अस्तित्व हो तथा साथ ही यह भी कहा जा सकता हो कि उसका प्रत्यक्ष नहीं होता। यदि वस्तु का प्रत्यक्ष मुझे नहीं होता तो किसी अन्य को होता है और यदि किसी को भी नहीं होता तो स्वयं ईश्वर को होता है, अर्थात् यदि वस्तु का अस्तित्व है तो उसका प्रत्यक्ष भी हो रहा है। किन्तु यह तो वस्तु की वर्तमान स्थिति की व्याख्या हुई। वस्तु भूत में थी अथवा भविष्य में होगी, यह किस आधार पर कहा जा सकता है। यदि अस्तित्व तथा प्रत्यक्ष का तादात्म्य मानते हैं, तो यह कैसे कहेंगे कि 'कमरे में मेज थी' अथवा 'कमरे में मेज होगी ?' बर्कले का उत्तर है कि जब यह कहा जाता है कि कमरे में मेज थी तो कहने का तात्पर्य यह होता है कि यदि आप कमरे में गये होते तो आप वहा मेज का प्रत्यक्ष करते, अथवा जब कहा जाता है कि 'कमरे में मेज होगी; तो वास्तविक आशय यह है कि यदि कोई कमरे में जाय, तो वह प्रत्यक्ष कर सकता है कि कमरे में मेज है। इस प्रकार 'सत्ता दृष्टता है' का अर्थ केवल वर्तमान की दृष्टि से ही नहीं अपितु त्रैकालिक सन्दर्भ में ग्रहण करना चाहिए।[18] इस सम्बन्ध में दूसरी आवश्यक एवं स्मरणीय बात यह है कि दृष्टता को व्यक्तिगत दृष्टता तक सीमित नहीं करना है। जैसा बर्कले के उदाहरण से स्पष्ट है, यह किसी भी व्यक्ति (आत्मा) से सम्बन्धित हो सकती है। तथापि कुछ कठिनाइयां शेष रह जाती हैं; 'सत्ता दृष्टता है' यह केवल इन्द्रिय प्रत्यक्ष तक सीमित है। ऐसी स्थिति में स्वयं 'आत्म बोध' 'गणित के सिद्धान्त' 'प्राकृतिक नियम' तथा 'ईश्वर बोध' आदि कैसे संभव होंगे ? बर्कले ने इद्रिय प्रत्यक्ष के अतिरिक्त बुद्धि को भी ज्ञान का स्रोत मानकर इस कठिनाई को हल करने की चेष्टा की है। इस परिष्कार के रूप को आगे आत्म-बोध की समस्या के सन्दर्भ में समझने का प्रयास करेंगे।

जैसा कि बर्कले सिद्धान्तावली के प्रथम दो अधिकरणों में स्पष्ट कर देता है, समस्त अस्तित्व में केवल दो ही प्रकार की सत्ताएँ विद्यमान हैं—आत्माएँ जो दृष्टा हैं तथा प्रत्यय (आइडियाज) जो दृष्ट हैं। समस्त ज्ञेय जगत् प्रत्ययों के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। यदि यह विचार सही है, तो बर्कले के दर्शन में उस भौतिक जगत् के लिए कोई स्थान नहीं होगा, जिसे हम वस्तुओं से परिपूर्ण रूप में जानते हैं तथा जिसे हम अपने मन से स्वतन्त्र मानते हैं। बर्कले प्रत्ययों की स्थिति मनस् में स्वीकार करता है। इसका अर्थ है कि मन के अतिरिक्त अथवा उससे

---

18. 'बर्कलेज न्यू प्रिंसपिल कम्पलीटेड' ए० ए० ल्यूस—न्यू स्टडीज इन बर्कलेज फिलॉसोफि डब्ल्यू० ई० श्टाइन्क्राउज (न्यू यार्क–1966)

अन्यत्र किसी प्रकार के सत् की कल्पना करना असंगत है। इस दशा में समस्त अस्तित्व को किसी एक मनस् के रूप में मानने के लिए हम बाध्य होंगे--हमारी अपनी स्थिति स्पष्टतः उससे बाहर नहीं होगी। यदि बर्कले का आशय यही था तो स्पष्टतः उसके विचार गम्भीर चिन्तन का विषय नहीं हो सकते। किन्तु यह भी स्पष्ट है कि कोई भी स्वस्थ मनःस्थिति वाला व्यक्ति इस प्रकार की बात नहीं करेगा। दूसरी ओर बर्कले के मानसिक स्वास्थ्य पर सन्देह करने के लिये हमारे पास कोई उपयुक्त तर्क नहीं है। परिणामस्वरूप बर्कले के कथनों को अधिक धैर्य-पूर्वक समझने का आवश्यकता प्रतीत होती है।

बर्कले का प्रमुख लक्ष्य धार्मिक था। उसका विश्वास था कि दर्शन में जो एक अनिवर्चनीय (जिसके विषय में यह कहा जाता है कि 'यह नहीं कहा जा सकता कि वह क्या है') जड़ तत्त्व को मानने की प्रथा पड़ गई है, उसने ईश्वरवाद को अकथनीय हानि पहुंचाई है। ईश्वर के अतिरिक्त किसी ऐसे तत्व को स्वीकार करना जो हमारे समस्त ज्ञान का कारण हो, तथा स्वयं अज्ञेय हो, वास्तव में अनीश्वरवाद एवं संशयवाद के लिए स्थान बनाना है। फलतः बर्कले जड़ तत्त्व की धारणा के खण्डन को अपने चिन्तन का एक मुख्य विषय मानता है। बर्कले के मतानुसार, लॉक ने जड़ पदार्थ, को हमारे मनस् में उत्पन्न प्रत्ययों का बाह्य अथवा वस्तुगत कारण माना। साथ ही लॉक जड़ को निष्क्रिय भी मानता है। किन्तु यदि जड़ निष्क्रिय है तो उसमें प्रत्ययों को उत्पन्न करने की सक्रियता अथवा शक्ति नहीं हो सकती अर्थात् जड़ तत्त्व प्रत्ययों का कारण नहीं हो सकता। प्रत्ययों की उत्पत्ति तो मनस् के द्वारा ही संभव है। यह बात उस समय पूर्णतया स्पष्ट हो जाती है जब हम इस बात का स्मरण करते हैं कि केवल आत्मा अथवा मनस् ही सक्रियता का स्रोत हो सकता है।[19] लॉक ने जड़ तत्त्व को गुणों का अधिष्ठाता अथवा आश्रय भी कहा है। बर्कले प्रश्न करता है कि 'आश्रय' का क्या अर्थ हो सकता है? यह तो स्पष्ट है कि यहां आश्रय एवं आश्रित में वह सम्बन्ध नहीं है, जो किसी छत तथा स्तम्भों में हो सकता है, क्योंकि इस उदाहरण में आश्रय तथा आश्रित दोनों ही ज्ञात हैं, जबकि जड़ तत्त्व अज्ञेय है। जड़ तत्त्व की एक अन्य व्याख्या इस प्रकार दी जा सकती है कि जड़ तत्त्व सामान्य सत् का वह प्रत्यय है, जिसके साथ आश्रित गुणों के प्रत्यय संयुक्त रहते हैं। किन्तु सामान्य अमूर्त्त प्रत्यय का खण्डन तो बर्कले ने आरम्भ में ही कर दिया है। वास्तव में सामान्य सत् का प्रत्यय तो रिक्ततम प्रत्यय है, जिसकी कल्पना भी असंभव है। जड़ द्रव्य को मनस् से स्वतन्त्र अथवा बाह्य रूप

---

19. यहां ये पूर्वपिक्षाएं निहित हैं, कि मन, आत्मा, या चित् से भिन्न जिस दूसरे तत्त्व की कल्पना की जाती है, वह जड़ या अचित् है, जड़ या अचित् परिभाषया निष्क्रिय है, फलतः केवल मन या चित् ही सक्रिय हो सकता है पाठक लक्ष्य करेंगे कि भौतिकी में आगे चलकर जढ़ की इस प्रकार की अवधारणा को छोड़ दिया गया है।

में स्थित माना जाता है, किन्तु स्वयं लौक का कथन है कि हम प्रत्ययों अथवा उनके युग्मों एवं सम्बन्धों के अतिरिक्त और कुछ नहीं जानते। यदि ऐसा है तो जड़ द्रव्य की. जिसे हम प्रत्ययों से पृथक् तथा मनस् से स्वतन्त्र मानते हैं, बात करना ही दुष्कर है।

जड़ द्रव्य की धारणा के निराकरण के फलस्वरूप बर्कले मुख्य तथा गौण गुणों के भेद को भी अस्वीकार करता है। वस्तु के गुणों में भेद करते हुए लॉक ने यह स्वीकार किया है कि कुछ गुण ऐसे हैं, जिसके बिना वस्तु की कल्पना ही नहीं की जा सकती तथा जिन्हें, इसी कारण, वस्तु का तात्विक अथवा मुख्य गुण कह सकते हैं, तथा कुछ गुण ऐसे हैं, जिनका कारण तो ये मुख्य गुण होते हैं, परन्तु जिनकी स्थिति मन से स्वतन्त्र नहीं होती। बर्कले इस भेद को स्वीकार नहीं करता। जैसा हम पहले देख चुके हैं, उसके अनुसार, प्रत्ययों का कोई अज्ञेय आश्रय नहीं होता, अतः यह कहना उचित नहीं है कि किसी गुण, मनस् से स्वतन्त्र किसी बाह्य विषय अथवा द्रव्य में आश्रित होते हैं। इस दृष्टि से सभी गुणों की स्थिति मनस् में हुई। बर्कले के मतानुसार जिन तर्कों से कुछ गुणों को 'गौण' (सैकण्डरी) सिद्ध किया गया है, उन्हीं के द्वारा तथाकथित प्राथमिक अथवा मुख्य (प्राइमरी) गुणों को भी मनोनिष्ठ सिद्ध किया जा सकता है—आकार (साइज), आकृति (शेष) भार, संख्या तथा प्रसार जैसे तथा–कथित मुख्य गुण भी व्यक्ति तथा स्थिति के साथ परिवर्तित हो जाते हैं। दिन के स्पष्ट प्रकाश की अपेक्षा कुहरे में वस्तुएं बड़ी दिखाई पड़ती हैं, दूर उड़ने वाला वायुयान समीप के यान की अपेक्षा धीमी गति से उड़ता हुआ प्रतीत होता है, गोलाकार वस्तु दूर से अंडाकार दिखाई पड़ती है। इसके अतिरिक्त जितनी निश्चयात्मकता तथा स्पष्टता मुख्य गुणों के विषय में उपलब्ध होती है, उतनी ही गौण गुणों के विषय में थी। यदि आकार, आकृति, भार तथा संख्या में परिमाण को निश्चित किया जा सकता है, तो श्वेत रंग की वस्तु को, जो किसी अन्य रंग में उसी रंग की जान पड़ती है, अन्ततः हम श्वेत रंग की ही मानते हैं।

मुख्य गुणों को गौण गुणों से पृथक् करने की प्रवृत्ति अमूर्तीकरण की भ्रामक धारणा पर भी आधारित है। किन्हीं वस्तुओं के समान (कॉमन) गुणों की, अन्य गुणों से पृथक् कर धारणा बनाना संभव है, इस बात को स्वीकार कर लेने पर उपर्युक्त भेद करना सरल हो जाता है। उदाहरणार्थ, किसी भी वस्तु को लें, उसका कोई न कोई प्रसार होगा, अतः प्रसार इन अनेक वस्तुओं की एक सामान्य विशेषता हुई। यहां पृथक्करण की इस प्रक्रिया में इस ओर ध्यान नहीं दिया गया कि, आकार की (जिसे वस्तु का तात्विक अथवा प्राथमिक गुण माना जाता है) किसी न किसी प्रकार के रंग से (जो वस्तु का गौण गुण माना जाता है) पृथक् धारणा उतनी ही दुष्प्राप्य है जितनी स्वयं आकार की धारणा। प्रसार के बिना रंग की कल्पना ही नहीं की जा सकती। अर्थात् लॉक द्वारा प्रस्तुत गुणों का यह भेद सामान्यीकरण अथवा अमूर्तीकरण के दोषों में से ही एक है।

इस भेद की आलोचना करते हुए बर्कले एक तर्क यह प्रस्तुत करता है कि मुख्य गुणों के प्रत्यय, वस्तु का वास्तविक प्रतिनिधित्व करते हैं, जबकि आकस्मिक गुणों के प्रत्यय वस्तु के किसी वास्तविक गुण का परिचय नहीं देते। किन्तु समस्या यह है, कि जब हमें मूल विषय अथवा वस्तु का ही कोई ज्ञान नहीं है, तो यह किस आधार पर कहा जा सकता है कि अमुक गुण वस्तु के वास्तविक एवं तात्विक गुण हैं तथा अमुक गौण ?

बर्कले की गुण भेद सम्बन्धी उपर्युक्त आलोचना के परिणामस्वरूप यह कहा जा सकता है, कि सभी गुण अथवा प्रत्यय मनः स्थित हैं। वे सभी एक ही स्तर के हैं, तथा मन एवं उसके प्रत्ययों के अतिरिक्त किसी बाह्य अज्ञेय रूप सत् को स्वीकार करने की प्रवृत्ति को किसी प्रकार न्याययुक्त नही ठहराया जा सकता है। एक सच्चे धार्मिक व्यक्ति की भांति बर्कले प्रश्न करता है कि ईश्वर किसी ऐसी वस्तु की रचना क्यों करेगा, जिसका न तो कोई प्रयोजन हो और न ही जिस का ज्ञान सम्भव हो।

तथापि बर्कले की उक्ति इस प्रकार अभिव्यक्त हुई है कि सामान्यतया केवल उसके सिद्धान्त को ही अस्वीकार करने की प्रवृत्ति उत्पन्न नहीं होती, अपितु उसके प्रति एक प्रकार का रोष सा भी उत्पन्न हो जाता है, तथा डा० जॉनसन एवं स्विफ्ट के मन में उत्पन्न हुई प्रतिक्रियाएं पुनः जागृत हो जाती हैं। यह कैसे सम्भव है कि मैं वस्त्र नहीं अपितु प्रत्यय को पहनता हूँ, भोजन नहीं अपितु प्रत्यय खाता हूँ, भवन् में नहीं अपितु प्रत्यय में रहता हूँ ? विचित्रता यह है कि वस्तुतः बर्कले का प्रयोजन सामान्य दृष्टिकोण का खण्डन न होकर उसका पोषण करना ही था। विडम्बना यह है कि बर्कले का यह प्रयोजन होने पर भी, आगे मूर ने यह मानकर कि बर्कले का प्रमुख कथन 'सत्ता दृष्टता है' सामान्य दृष्टिकोण के विरुद्ध निष्कर्षों पर ले जाता है, प्रत्ययवाद का खण्डन प्रस्तुत किया।[20]

उपर्युक्त उलझन से बचने के लिये एवं बर्कले का मुख्य सिद्धांत को उचित ग्रहण करने के लिये, उसके द्वारा 'प्रत्यय' शब्द के विशिष्ट अर्थ में किए गए प्रयोग को स्पष्ट करना आवश्यक है। लॉक प्रत्यय के विषय में लिखता है "जब मनुष्य चिन्तन करता है, उस समय उसकी बुद्धि का जो भी विषय हो," वह प्रत्यय है,।[21] वह प्रत्यय का प्रयोग उस सभी के लिए करता है जो कल्पना, बोध (नोशन) तथा जाति (स्पीशीज) के द्वारा समझा जाता है। स्पष्ट है, कि यह प्रयोग अधिक व्यापक होने के कारण 'प्रत्यय' के अर्थ को अस्पष्ट कर देता है। बर्कले इस अस्पष्टता कि ओर ध्यान न देकर इस सम्बन्ध में लॉक की ही भाषा का प्रयोग करता है। अर्थात्, यदि वह एक ओर 'प्रत्यय' से किसी विशिष्ट बिम्ब अथवा प्रतिमा

20. 'रैफरटेशन ऑव आइडीयलिज्म' माइन्ड (1903)
21. एस्से कन्सर्निग ह्यूमन अन्डरस्टेंन्डिग, 1.1.4.

का अर्थ लेता है, तो दूसरी ओर, उसका प्रयोग 'वस्तु' के स्थान पर भी करता है। किन्तु बिम्ब तथा वस्तु को एक ही प्रकार की कोटि में रखना उचित नहीं है। एक मनः स्थित है तथा दूसरी मन से स्वतन्त्र। बर्कले 'प्रत्यय' शब्द के इस दुहरे अर्थ को स्पष्ट न कर, अपितु इससे लाभ उठाकर, एक ओर लॉक की आलोचना करते हुए जड़ तत्व का निराकरण तथा केवल मन एवं प्रत्ययों की स्थिति का प्रतिपादन करता है, तो दूसरी ओर प्रत्यय को वस्तु का पर्याय मानकर, वस्तुओं एवं बाह्य जगत् के विषय में साधारण दृष्टिकोण को भी सुरक्षित रखने का प्रयास करता है।

लॉक के मूल सिद्धान्त को मान्यता देते हुए बर्कले यह कहता है कि हम प्रत्ययों के अतिरिक्त अन्य किसी सत् से परिचित नहीं होते। अतः उनके अतिरिक्त किसी 'जड़ तत्व' को स्वीकार कर, लॉक ने अपने दर्शन में स्वयं ही असंगति उत्पन्न कर दी है। जब हम प्रत्यक्ष करते हैं, तो स्थिति यह नहीं होती, कि हमें प्रत्ययों का बोध तो होता है, तथा इन प्रत्ययों का कोई अधिष्ठाता अथवा आधार भी है, जिसका हमें कोई बोध नहीं होता। वास्तव में जिसे हम वस्तु कहते हैं वह प्रत्ययों का कोई रहस्यमय अज्ञात एवं अज्ञेय आधार न होकर कुछ प्रत्ययों का संघात मात्र है। किंतु यदि प्रत्यय मनः स्थित होते हैं, तथा वस्तुएं इन प्रत्ययों के संघात के अतिरिक्त और कुछ नहीं है तो यह जानना कैसे सम्भव होगा कि हम अपनी कल्पना से भ्रमित नहीं हैं तथा वास्तव में यथार्थ का साक्षात् कर रहे हैं? इस प्रश्न के समाधान के रुप में, बर्कले यथार्थ एवं काल्पनिक प्रत्ययों में भेद करता है। यथार्थ प्रत्यय जिन्हें इन्द्रिय का प्रत्यय भी कहा गया है, काल्पनिक प्रत्ययों की तुलना में, अधिक नियत, स्पष्ट एवं स्थायी होते हैं। यथार्थ प्रत्यय, संकल्प से स्वतन्त्र होते हैं। स्पष्ट है, कि यथार्थ प्रत्ययों की चर्चा करते समय बर्कले वास्तव में वस्तुओं की बात कर रहा है। 'प्रत्यय' शब्द के प्रयोग पर बल देते हुए बर्कले यह कहता है कि यथार्थ प्रत्यय, काल्पनिक प्रत्ययों की तुलना में, अधिक नियत, स्पष्ट, स्थायी प्रबल एवं संयुक्त होने पर भी अन्ततः प्रत्यय ही रहते हैं। 'वस्तु' के स्थान पर 'प्रत्यय शब्द को प्रयुक्त करने के कुछ निश्चित कारण हैं। 'वस्तु शब्द का प्रयोग न करने का कारण यह है कि वस्तु से किसी ऐसे सत् का बोध होता है, जो मन से अन्यत्र है, फलतः मन से असम्बन्ध है तथा अज्ञेय फलतः रहस्यात्मक है। दूसरी ओर प्रत्यय शब्द के प्रयोग से 'ज्ञेय' का मन से जो सम्बन्ध है वह भी स्पष्ट हो जाता है वस्तुओं को प्रत्यय कहने का अर्थ है कि वे ज्ञेय हैं, अर्थात् मन से सम्बन्धित हैं, अथवा मन में हैं। 'प्रत्यय' के उपयोग द्वारा बर्कले यह सिद्ध करने में सरलता से सफल हो जाता है कि प्रत्यक्ष की संभावना के सन्दर्भ के बाहर अस्तित्व की चर्चा संभव नहीं।

यदि आधुनिक विश्लेषणवादी शब्दावली का प्रयोग करें तो यह कह सकते हैं कि बर्कले वस्तु-भाषा के स्थान पर इन्द्रिय प्रदत्त भाषा अथवा प्रत्यय-भाषा का प्रयोग कर लॉक की भाषा में संशोधन करता है। जैसा पहले उल्लेख किया जा चुका

है, ऐसा करने का मुख्य कारण भाषा से भौतिक अथवा जड़ जैसे विशेषणों को बहिष्कृत करना है ! बर्कले द्वारा 'प्रत्यय' शब्द का प्रयोग किये जाने पर भी, जहां तक 'जड़' के अर्थ का प्रश्न है कोई विशेष परिवर्तन दृष्टिगत नहीं होता । जो व्याख्या साधारणतया जड़ तत्व के सम्बन्ध में प्रस्तुत की जाती है, वही व्याख्या बर्कले ने प्रत्ययों के सम्बन्ध में प्रस्तुत की है : प्रत्यय निष्क्रिय होते हैं । वे चित्र के द्वारा स्पष्ट तो होते परन्तु स्वयं चित्रुप नहीं होते । आत्माएँ तथा प्रत्यय एक दूसरे से नितान्त भिन्न हैं । जब हम यह कहते हैं कि उनका अस्तित्व है, उन्हें जाना जाता है तो इस प्रकार के शब्दों से उन दोनों की किसी समान प्रकृति का अन्दाजा लगाने की भूल हमें नहीं करनी चाहिए ।[22] जब हम यह कहते हैं कि प्रत्यय मन में हैं तो इससे हमारा अभिप्राय केवल यही होता है कि वे मन पर आश्रित हैं । इस प्रकार प्रत्ययों को मन से भिन्न, निष्क्रिय एवं वस्तु का पर्याय घोषित कर, पुनः समस्त भौतिक जगत् एवं उसमें स्थित वस्तुओं को प्रतिष्ठापित किया गया है । फलस्वरुप जहां एक ओर यह कहा जा सकता है कि बर्कले, भौतिक जगत् की सत्ता को अस्वीकार नहीं करता, तथा उसके सम्बन्ध में अधिक उपयुक्त भाषा का प्रयोग प्रस्तावित करता है, वहां यह भी कहा जा सकता है कि वह जड़ जगत् को पूर्णतया निष्कासित नहीं कर पाया है । 'सत्ता दृष्टता है'—इसमें केवल दृश्य के अस्तित्व का ही बोध हो पाता है । हमारे ज्ञान के अन्तर्गत जितने भी विषय आ पाते हैं वे सभी दृश्ट सत्यों के स्तर पर रखे जाते हैं । परन्तु यहां लगभग उसी प्रकार के प्रश्न उपस्थित होते हैं, जैसे प्रश्न उस अवसर पर उपस्थित हुए जब एयर ने सार्थकता के सिद्धान्त को प्रथम बार प्रस्तुत किया । यथा जिन्हें हम अर्थवान मानते हैं तथा जिनका हमें किसी न किसी रुप में बोध होता है, उनके ज्ञान एवं अस्तित्व की बात किस प्रकार की जा सकती है ? आत्मबोध किस प्रकार संभव होता है ? आत्मा प्रत्ययों का प्रत्यक्ष करता है, अतः वह स्वयं तो प्रत्यय हो ही नहीं सकता किंतु उसके विषय में इतनी बात कहना भी किस प्रकार संभव है ? फिलसॉफिकल कमेन्टरी (दार्शनिक मीमांसा) में 429वें अधिकरण में बर्कले अस्तित्व के अर्थ को इस प्रकार प्रस्तुत करता है कि उसके द्वारा आत्मा अथवा मन में अस्तित्व को भी सिद्ध किया जा सकता है । बर्कले का कथन है : 'अस्तित्व का अर्थ है प्रत्यक्ष किया जाना या प्रत्यक्ष करना........।'' (इस प्रकार चाहे अस्तित्व का सम्बन्ध निष्क्रिय सत् से हो अथवा सक्रिय सत् से, वह सदा प्रत्यक्ष (ज्ञान) के सन्दर्भ में ही निर्धारित होगा) इस प्रकार प्रत्यक्षीकरण के द्वारा एक ओर विषयों का संकेत प्राप्त होता है, तो दूसरी ओर विषयी का । परन्तु प्रश्न यह है कि यह ज्ञान किस प्रकार का है । बर्कले आत्मा के अस्तित्व को एवं उसके बोध दोनों के विषय में यही स्पष्टोक्ति करता है कि वे प्रत्ययों के अस्तित्व तथा उनके बोध के सदृश नहीं हैं ।[23] वे शब्द जो सक्रिय

22. प्रिंसपिल्ज, परिच्छेद 142.
23. वही,

आत्मा का द्योतन करते हैं वे प्रत्ययों के लिये प्रयुक्त नहीं हो सकते। परन्तु इनका अर्थ यह नहीं है कि वे सार्थक नहीं है। कारण कि 'मैं' यह समझता हूं कि 'मैं' पद अथवा 'मैं स्वयं का क्या अर्थ हें''.........यद्यपि वह कोई प्रत्यय नहीं है, न ही उसके समान है अपितु वह है जो प्रत्ययों के विषय में सक्रिय है।[24]

इन पदों के ज्ञान के लिये बर्कले **सिद्धांतावली** के द्वितीय संस्करण में 'नोशन' (संबोध शब्द का प्रयोग करता है।[25] ऐलसीफ्रान में 'मैं स्वयं' पदों के साथ 'संकल्प' 'स्मृति' 'प्रेम' 'घृणा' आदि पदों को भी लिया गया है।[26] अन्य शब्दों में चैतन्य तथा विभिन्न चेतन प्रक्रियाओं में तादात्म्य माना गया है। अन्यत्र आत्मबोध के विषय में बर्कले 'रिफलैक्स एक्ट' (प्रत्यावर्तित क्रिया) जैसे शब्दों का प्रयोग करता है।[27] इन तथ्यों से प्रभावित होकर रैमजे ने[28] आत्म-बोध की प्रक्रिया को ऑस्टिन की शब्दावली में पर्फोमिटिव एक्ट[29] कहा है 'मैं' शब्द उस घटना अथवा क्रिया की ओर संकेत करता है जो उस समय होती है जब कोई अपनी क्रिया के विषय में बात करते समय 'मैं' शब्द का प्रयोग करता है। आत्म-बोध के विषय में केवल इतना ही स्पष्ट प्रतीत होता है कि वह विषय-बोध से भिन्न है परन्तु इसके अतिरिक्त उसके स्वरुप को अधिक स्पष्ट करना संभव प्रतीत नहीं होता। एक स्थान पर बर्कले विषय-बोध के सम्बन्ध में कहता है कि वह अव्यवहित है, परन्तु केतन प्रक्रिया का बोध आन्तरिक इन्वर्ड फीलिंग (अनुभूति) अथवा रिफ्लैक्शन (चिंतन) के द्वारा होता है।[30] क्या इससे यह निष्कर्ष निकालना चाहिए कि आत्म-बोध अनुमान का परिणाम है ? यह ठीक नहीं जान पड़ता। जड़ की धारणा के विषय में वह कहता है कि उसे न तो प्रत्यय की भांति जाना जा सकता है और न ही प्रत्यावर्तित क्रिया के द्वारा।[31] यदि इससे यह आशय लें कि जड़ की धारणा अनुमान का परिणाम है तो स्पष्ट है कि प्रत्यावर्तित क्रिया अनुमान से भिन्न है और यदि यह समझें की ज्ञान की

---

24. एलिसफॉक, द वर्क्स खण्ड तीन, पृष्ठ 292.
25. प्रिंसपिल्ज, द वर्क्स, खण्ड दो, पृष्ठ 116-8.
26. द वर्क्स खण्ड तीन, पृष्ठ 212,
    तथा द प्रिंसपिल्ज परिच्छेद 27.
27. द वर्क्स खण्ड दो, पृष्ठ 232.
28. बर्कले एण्ड द पॉस्सिबिलिटि ऑव एन एम्पीरिकल मैंटाफिजिक्स', न्यू स्टडीज, आई टी रैम्जे।
29. आस्टिन के शब्दों में पर्फॉर्मेटिन से तात्पर्य है : एक प्रकार का कथन जिसे व्याकरण की दृष्टि से वाक्य (स्टेटमेन्ट) की कोटि में रखा जायगा, जो निरर्थक नहीं है, परन्तु जो न सत्य है और न असत्य........यदि कोई व्यक्ति इस प्रकार का कथन करे तो हम कहेंगे, कि वह न केवल कुछ कह रहा है, अपितु कुछ कर भी रहा है।" फिलॉसोफिकल पेपर्स, पृष्ठ 222 (ऑक्सफर्ड–1961),
30. पिंसपिल्ज, परिच्छेद 145.
31. द वर्क्स, खण्ड दो, पृष्ठ 232.

केवल दो विद्या हैं और जड़ की धारणा उन में किसी से भी प्राप्त नहीं होती तो प्रत्यावर्तित क्रिया अनुमान के निकट आ जाती है। दूसरी ओर बर्कले आत्मा तथा ईश्वर के विषय में जो भी कुछ कहता है उससे ऐसा लगता है कि वह उनके अस्तित्व तथा बोध के विषय में कहीं अधिक आश्वस्त है तथा यह आश्वासन अनुमान का परिणाम नहीं हो सकता । डा० दत्त का मत है कि आत्मा की यह व्याख्या प्रस्तुत करना कि वह चिंतन करता है, संकल्प करता है, प्रत्यक्ष करता है आदि बर्कले के नामवाद से संगीत नहीं रखता । कारण कि इस प्रकार की व्याख्या में आत्मा की इन विशेषताओं का सामान्यीकरण सन्निहित है जिसे बर्कले ने अस्वीकार किया है ।[32]

प्रत्ययों के आधार के रूप में जड़ तत्व धारणा को अस्वीकार कर देने पर यह प्रश्न उपस्थित होता है कि फिर प्रत्ययों का कारण क्या है ? बर्कले का उत्तर है कि प्रत्ययों का कारण कोई अजड़ सत् अथवा आत्मा ही हो सकता है। इस विश्वास के पीछे कदाचित् बर्कले के मन में मानवीय कल्पना-व्यापार का सादृश्य रहा हो। बर्कले के मन में, उत्पन्न करने की शक्ति अथवा वास्तविक कारणत्व केवल आत्मा में ही सम्भव है। आत्मा के अतिरिक्त अन्य कोई सत् सक्रिय नहीं होता। यहां समस्या यह उत्पन्न होती है कि यदि जिन्हें हम वस्तुएँ मानते है, वे प्रत्यय हैं तथा प्रत्यय होने के कारण ये आत्मा द्वारा सृष्ट है तो क्या यह नहीं कहना चाहिए कि यह संसार तथा उसके विविध प्रपन्च मेरे मन को परिधी में सीमित हैं अर्थात् काल्पनिक जगत् एवं यथार्थ जगत में की समस्या भेद की एक बार पुन: उपस्थित हो जाती है। इसी कारण बर्कले को सोलिप्सिस्ट (वह विचारक, जो समस्त जगत् को अपने मन तक सीमित मानता है) कह दिया जाता है। किन्तु यह उचित नहीं है। बर्कले ने इस समस्या के समाधान की चेष्टा की है। **सिद्धान्तावली** के आरम्भ में ही बर्कले ने प्रत्यय या दृश्य के अस्तित्व के विषय में यह कहा है कि यदि उसका प्रत्यक्ष मैं नहीं करता तो कोई अन्य करता है और यदि कोई भी नहीं करता तो स्वयं परम-आत्मा करता है। इस प्रकार वस्तु की स्थिति सदा प्रत्यय या दृश्य होने पर भी किसी एक ही विषयी से सम्बद्ध रहती हो यह आवश्यक नहीं है।

यहां यह प्रश्न उपस्थित होता है कि अन्य आत्माओं अथवा परम-आत्मा का का बोध हमें किस प्रकार होता है ? "जैसे अन्य आत्माओं के मन में स्थित प्रत्ययों को, हम अपने प्रत्ययों के द्वारा जान सकते हैं तथा अपने प्रत्ययों को सदृश मानते हैं, उसी प्रकार हम अन्य आत्माओं को अपनी आत्मा के द्वारा जानते हैं उसी प्रकार हम अन्य आत्माओं को अपनी आत्मा के द्वारा जानते हैं और इसी

---

32. 'बर्क्लेल ऑब्जैक्टिव आइडीयलिज्म : एन इन्डियन वियू' न्यू स्टडीज डी. एम. दत्त, पृष्ठ 119.

अर्थ में हमारी आत्मा अन्य आत्माओं का प्रत्यय या प्रतिबिम्ब है। हमारी आत्मा किसी सीमा तक, उसी प्रकार अन्य आत्माओं के समान है, जिस प्रकार मेरे द्वारा प्रत्यक्ष किया गया नीलापन अथवा गर्मी अन्य आत्माओं द्वारा प्रत्यक्ष किए गए इन प्रत्ययों के समान हैं।[33] मैं अनेक गतियों, परिवर्तनों एवं प्रत्यय समूहों को देखता हूं, जो मुझे सूचना देते हैं कि मेरी भांति कुछ विशेष कर्त्ता पुरुष हैं……… हम अन्य आत्माओं का जो ज्ञान प्राप्त करते हैं, वह मेरे प्रत्ययों के ज्ञान की भांति अपरोक्ष नहीं है, किन्तु उन प्रत्ययों के माध्यम पर आश्रित है, जिनको हम अपनी आत्मा से भिन्न अन्य कर्त्ताओं अथवा आत्माओं से अन्य कार्य अथवा सहवर्ती संकेत मानते हैं।[34] अधिक सुनिश्चित अर्थ में, ऐल्सीफ्रॉन को नहीं देखता, अपितु उन दृश्य चिन्हों तथा संकेतों को देखता हूँ जो अदृश्य आत्मा अथवा चिन्तनशील सिद्धान्त जैसे सत् का अनुमान करने में मदद करते हैं।[35]

ये उद्धारण बहुत स्पष्ट नहीं है तथा इनका विश्लेषण हमें अनेक प्रकार की उलझनों का परिचय देगा। वर्तमान प्रसंग में इतना ही समझना पर्याप्त होगा कि अन्य आत्माओं का बोध अनुमान द्वारा होता है। वस्तुतः इसी प्रकार के कथन ईश्वर के विषय में भी उपलब्ध हैं। **ऐल्सीफ्रॉन** में अन्य आत्माओं के बोध के विषय में जो कहा गया है, उसी के सदृश अदृश ईश्वर के अस्तित्व के विषय में भी कहा गया है। मैं ऐसे चिन्हों तथा संकेतों को देखता हूँ जो ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध करते हैं।[36] जहां प्रत्ययों के कुछ सीमित तथा संकुचित संग्रह किसी विशिष्ट मानव मन अथवा आत्मा का संकेत करते हैं, उसी प्रकार हम जहां भी तथा जब भी दृष्टि दौड़ाते हैं, हमें देवत्व का स्पष्ट संकेत प्राप्त होता है।[37] "यदि हम सृष्टि के विशाल अवयवों की विस्मयाकारक शोभा, सौन्दर्य तथा पूर्णता के साथ छोटे अवयवों की उत्कृष्ट रचना तथा उसके साथ सम्पूर्ण सृष्टि के सन्तुलन पर ध्यान द, तथा यह जानने का प्रयत्न करें कि नित्य, अनन्त ज्ञान, शिव तथा पूर्ण आदि शब्दों से किन गुणों का परिचय प्राप्त होता है, तो हमें उस आत्मा का बोध हो जायेगा जो सर्वोपरि है, जिसके द्वारा सभी कुछ संचालित है, और जिससे सबका अस्तित्व है।"[38] वस्तुतः यह प्रकृति जिसका हम सदा दर्शन करते हैं, ईश्वरीय मात्रा ही तो है, जिससे नित्य प्रति हम उसी प्रकार ईश्वर का साक्षात्कार करते रहते हैं जैसे अन्य आत्माओं का।[39] लॉक जिस भाषा का प्रयोग करता है, तथा जिस प्रकार के विचारों को विस्तृत करता है, उनके कारण, व्यर्थ

33. द प्रिंसपिल्ज, परिच्छेद 140.
34. वही, परिच्छेद 145.
35. द वर्क्स, खण्ड तीन, पृष्ठ 147.
36. वही,
37. प्रिंसपिल्ज, परिच्छेद 148.
38. वही परिच्छेद 146.
39. वही, तथा द वर्क्स, खण्ड तीन. पृष्ठ 155–162.

ही ज्ञेय एवं ज्ञाता के मध्य एक आवरण सा आ जाता है। इसके विपरीत, बर्कले ज्ञेय प्रत्यय को ज्ञाता से अपरोक्ष रूप में असम्बद्ध कर देता है।

कतिपय आलोचकों[40] का मत है कि ईश्वर की धारणा, बर्कले के प्रत्यक्ष के सिद्धान्त को पूर्णता प्रदान करने के लिये, कृत्रिम रूप में प्रस्तुत की गई है, अर्थात् जब बर्कले ने यह देखा कि कोई ऐसी स्थिति भी सम्भव है, जब वस्तु का अस्तित्व तो हो, किन्तु किसी भी ससीम आत्मा द्वारा उसका प्रत्यक्ष नहीं किया जा रहा हो, तो वस्तु के अस्तित्व को सुरक्षित रखने तथा अपने सिद्धान्त के औचित्य को सिद्ध करने के लिए उसने ईश्वर की धारणा का आश्रय लिया। किन्तु, जैसा ल्यूस[41] का मत है बर्कले के लिए ईश्वर तो एक आधारभूत सत्य है, उसे स्वीकार करने पर ही हम आगे बढ़ पाते हैं। ईश्वर का अस्तित्व तो संशय के क्षेत्र से परे है ; प्रश्न तो वस्तुतः जड़ का अस्तित्व का है। यदि ल्यूस के इस मत को हम स्वीकार नहीं भी करें तब भी ध्यान देने योग्य बात यह है कि अन्य आत्माओं के अस्तित्व के सदृश्य ईश्वर के अस्तित्व के सम्बन्ध में बर्कले प्रमाण देने का प्रयास करता है। इस पर भी यह समस्या उठती है—जैसा डा० दत्त ने स्पष्ट किया है, कि जिस मान्यता (ज्ञान की अपरोक्षता) के अधार पर, बर्कले के सिद्धान्तों का खण्डन करता है, उससे वह अपने आत्मा एवं परम-आत्मा सम्बन्धी विचारों की संगति किस प्रकार बैठाता है।

बर्कले की कारणत्व की व्याख्या अपनी विशिष्टता के कारण मौलिक व्याख्या कही जा सकती है। उसका विश्वास था कि उचित अर्थ में कारणत्व की क्षमता केवल संकलपयुक्त आत्मा में ही होती हैं। जब हम यह देखते हैं कि अन्ततः ससीम आत्माएँ भी ईश्वर अथवा परम-आत्मा द्वारा सृष्ट हैं, तो यह परिणाम स्वाभाविक प्रतीत होता है, कि वास्तव में केवल एक ही कारण है, और वह स्वयं परम-आत्मा है, शेष सब कार्य हैं। इस परिणाम को स्वीकार करते समय, पहली दृष्टि में तो ऐसा प्रतीत होता है कि इससे प्रकृति के नियमों के रूप में, भौतिक जगत् की वैज्ञानिक व्याख्या संभव नहीं होगी। परन्तु इसके विपरीत ल्यूस का कथन है[42] कि यदि समस्त सृष्टि को कार्य तथा परम-आत्मा को कारण न मानें, तो भौतिक जगत् की उचित व्याख्या नहीं दी जा सकेगी। वैज्ञानिक कार्य-करण की शृंखला का जो रूप प्रस्तुत करता है, वह केवल एक सीमित अर्थ में ही मान्य हो सकता है। अचिन्तनशील वस्तुओं अथवा प्रत्ययों को कारणत्व से विभूषित करने का परिणाम एक ओर तो यह होगा कि समस्त व्यवस्था के अस्त-व्यस्त हो जाने की संभावना हो जायगी तथा दूसरी ओर किसी भी नियम को निर्धारित करना

---

40. बर्कले दर्शन, पृष्ठ 81.
41. ईर्कलेज इम्मैटीरियलिज्म, पृष्ठ 71–74.
42. वही, पृष्ठ 95.

अथवा प्राप्त करना असंभव हो जायगा। कारण कि असंख्य अचिन्तनशील वस्तुएँ किस प्रकार का व्यवहार प्रदर्शित करेंगी, यह कहना संभव नहीं होगा। दूसरी ओर यदि यह स्वीकार करें कि संसार में समस्त सत् एक दूसरे से संकेत तथा संकेतिक का सम्बन्ध रखते हैं तथा इनमें यह सम्बन्ध ईश्वर द्वारा निश्चित रहता है तो जगत् की व्यवस्था का अधिक सुसंगत ज्ञान प्राप्त होगा। बर्कले के दृष्टिकोण से यह कथन उचित नहीं है कि अग्नि ताप को उत्पन्न करती है, अपितु यह कहना अधिक संगतिपूर्ण एवं वैज्ञानिक होगा कि ताप अग्नि का चिन्ह है। इस सम्बन्ध में बर्कले का मत है कि हमें विद्वानों की भाषा में चिन्तन करना चाहिए तथा लौक की भाषा में बोलना चाहिए। विद्वान जानते हैं कि सूर्य स्थिर है तथा पृथ्वी के अपनी धुरी पर घूमने के कारण दिन और रात होते हैं तथापि साधारण बोलचाल की भाषा में हम यह कहते हैं कि 'सूर्योदय होता हैं', 'सूर्य अस्त होता है' आदि। सम्यक् दृष्टि से अग्नि एवं ताप दोनों ही कार्य हैं तथा ताप के साथ अग्नि भी होती है अथवा ताप अग्नि का अनुवर्ती है। ऐसा इसलिये है कि ईश्वर की यही इच्छा है। हम ऐसा जानते हैं इसका कारण यह है कि हम ईश्वर की कृपा है कि उसने इस प्रकार के संबंध को प्रकट कर हमें अपनी व्यावहारिक आवश्यकताओं की पूर्ति करने तथा हानिकारक विषयों से बचने के योग्य बना दिया है। स्पष्ट है, कि बर्कले, 'कारण' शब्द का प्रयोग मुख्यतया निमित्त अथवा सौद्देश्य कारण के रूप में करता है। इस प्रकार की व्याख्या, उसके मूल धार्मिक लक्ष्य से अधिक संगति रखती है। यदि हमें बर्कले के धार्मिक दृष्टिकोण के प्रति कोई आकर्षण न हो तो बर्कले के दर्शन की परिणति, ह्यूम के सन्देहवाद में होगी। यदि हम बर्कले के दर्शन से ईश्वर की धारणा को अथवा वास्तविक कारण को विलग कर दें, तो समस्त जगत् ऐसे प्रत्ययों का प्रपन्च मात्र रह जाता है, जिनके पारस्परिक सम्बन्धों के विषय में कुछ भी निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता।

बर्कले के दर्शन को अनुभववादी ज्ञानमीमांसा की मध्यवर्ती कड़ी मानने की परम्परा है। ल्यूस ने ज्ञानमीमांसा की दृष्टि से उसे यथार्थवादी (रियलिस्ट) कहा है।[43] लॉक के अनुभववादी सिद्धान्त को अधिक सुसंगत रूप में प्रस्तुत करने की चेष्टा के कारण उसे अनुभववादी कहा जा सकता है। दूसरी ओर मन एवं प्रत्ययों को ही सत् मानने तथा प्रत्ययीकरण के अतिरिक्त संबोध एवं बौद्धिक ग्रहण को स्वीकार करने के कारण उसे बुद्धिवाद अथवा प्रत्ययवाद का प्रतिष्ठाता भी कहा जाता है। लौक का ज्ञान-सिद्धान्त, परोक्ष ज्ञान का सिद्धान्त कहा जा सकता है, क्योंकि उसके मतानुसार हमें वस्तु अथवा विषय का ज्ञान प्रत्ययों के माध्यम से होता है। प्रत्यय वस्तु का प्रतिनिधित्व करते हैं। इसी कारण लॉक के इस सिद्धान्त को प्रतिनिधित्वात्मक सिद्धान्त भी कहा जाता है। किन्तु बर्कले ज्ञेय एवं ज्ञाता के

---

43. न्यू स्टडीज, पृष्ठ 10.

मध्य किसी प्रकार की मध्यस्थता स्वीकार न करने के कारण अपरोक्ष-ज्ञान के सिद्धान्त को प्रस्तुत करता है। उसकी मुख्य आलोचना है, कि जब हमें वास्तविक वस्तु के स्वरूप का कोई परिचय ही प्राप्त नहीं है, तो हम यह कैसे कह सकते हैं कि अमुक प्रत्यय अमुक वस्तु का प्रतिनिधित्व करता है। किन्तु स्वयं बर्कले का सिद्धान्त भी दोष से पूर्णतया मुक्त नहीं है। यदि यह सत्य है कि हमारे ज्ञान के विषयों के अन्तर्गत प्रत्ययों के अतिरिक्त और कुछ नहीं है, तो फिर किसी ऐसी सत्ता की चर्चा करना असंगतिपूर्ण है जो प्रत्यय न हो। बर्कले को आत्मा अथवा परम-आत्मा के अस्तित्व के विषय में मूक रहना चाहिए था किन्तु जैसा हमने देखा बर्कले की दृष्टि से आत्मा तथा परम-आत्मा की धारणाएँ तो महत्वपूर्ण हैं, अतः वह इनकी सिद्ध के लिये प्रत्यक्ष के अतिरिक्त संबोध तथा अनुमान दोनों को स्वीकार कर लेता है।

यहां ज्ञान के अपरोक्ष तथा परोक्ष सिद्धान्तों को लेकर ज्ञान की एक सामान्य समस्या के विषय में चर्चा करना अप्रांसगिक नहीं होगा। परोक्ष ज्ञान को स्वीकार करने से भ्रम तथा मिथ्या ज्ञान की व्याख्या सरल हो जाती है। जब हमारे प्रत्ययों का कोई वास्तविक आधार नहीं होता तो वे काल्पनिक होते हैं तथा उन्हीं के कारण हम भ्रमित होते हैं। दूसरी ओर जब ज्ञान की प्रामाणिकता का प्रश्न उपस्थित होता है तो बर्कले का अपरोक्ष सिद्धान्त सबल प्रतीत होता है। यदि, जो ज्ञेय है वह ज्ञाता को प्रत्यक्ष है तो उसकी प्रामाणिकता में सन्देह करने के लिए कोई स्थान नहीं है। परन्तु यहां भ्रम एवं मिथ्या ज्ञान की व्याख्या संभव नहीं होती। लॉक तथा बर्कले के ज्ञान सम्बन्धी इन विचारों के अध्ययन से ज्ञान की प्रामाणिकता की समस्या के अनेक पक्ष प्रकट होते हैं। जहां तक प्रश्न तथा समस्या के स्पष्टीकरण की बात है, इन दार्शनिकों के विचारों का महत्व सहज ही स्पष्ट है।

———

7

डेविड ह्यूम

(1711–1776)

1. जीवन-चरित् एवं कृतियाँ

डेविड ह्यूम का जन्म एक मध्यवर्गीय परिवार में 26 अप्रेल 1711 ई. को एडिनबरा में हुआ था। वह जोसेफ ह्यूम का द्वितीय पुत्र था। जब वह करीब दो वर्षों का था तभी पिता का देहान्त हो गया। उसका पालन-पोषण माँ ने किया और उसकी शिक्षा भी माँ की देख-रेख में ही हुई। माँ बड़े ही दृढ़ चरित्र और प्रखर बुद्धि की महिला थीं और उन्हें सारे परिवार का स्नेह और सम्मान प्राप्त था। ह्यूम के जीवन पर माँ का गहरा प्रभाव पड़ा था।

सन् 1723 में ह्यूम एडिनबरा विश्वविद्यालय में दाखिल हुआ और करीब चार वर्षों तक वहां शिक्षा पाता रहा। किन्तु वहां से उसने कोई उपाधि प्राप्त नहीं की। विश्वविद्यालय छोड़ते समय उसकी उम्र 16 वर्षों से कुछ कम ही थी। उसका कहना है कि अपनी पहली कृति **मानव-प्रकृति पर प्रबन्ध** की रचना की योजना उसने विश्वविद्यालय में शिक्षा पाते समय ही बनाई थी। किन्तु पश्चिमी दर्शन के कुछ प्रतिष्ठित इतिहासकार इसे विश्वास योग्य नहीं मानते।

विश्वविद्यालय छोड़ने के बाद ह्यूम ने कुछ दिनों तक वकालत के लिए तैयारी की, किन्तु उसमें उसका मन लगा नहीं। सन् 1729 में उसे स्नायु-रोग हो गया जो कई वर्षों तक उसे कष्ट देता रहा। इसके कारण शिथिलता या उत्साह-हीनता आ जाया करती थी जिससे उसका दार्शनिक अन्वेषण रुक गया था। स्नायु-रोग होने के पूर्व उसका झुकाव स्टोइक दार्शनिकों के नैतिक विचारों की ओर हो गया था, और उनके नैतिक नियमों का अभ्यास वह बड़ी लगन से करता रहा था। किन्तु यह कहना कठिन है कि उसका स्टोइक नैतिक अभ्यास उसकी स्नायवीय अस्वस्थता का कारण था। वस्तुत: उसकी अस्वस्थता का कोई भी निश्चित कारण बतलाना कठिन है क्योंकि इस विषय में कहीं भी स्पष्ट रुप से उसने कुछ नहीं कहा है।

कुछ समय के लिए अपने दार्शनिक अन्वेषण को स्थगित रखने के बाद सन् 1734 में वह फ्रांस चला गया और तीन वर्षों तक एकाग्रचित हो मनीषी की तरह चिंतन करता रहा। फलस्वरूप अपनी सुप्रसिद्ध, पहली पुस्तक, **मानव प्रकृति पर प्रबन्ध**[1] की रचना उसने वहीं सम्पन्न की। इस अवधि में उसने बड़ी सादगी और मितव्ययिता की जिन्दगी बिताई और पैतृक संपत्ति से जो थोड़ी बहुत आमदनी होती थी, उसी से काम चलाया। इस ग्रंथ से उसे बड़ी आशाएं थीं और यश प्राप्ति की बड़ी उम्मीदें भी इसने उसके मन में जगाई थीं। किन्तु प्रकाशक मिलने में काफी कठिनाई हुई और सन् 1740 के पूर्व पूरे ग्रंथ का प्रकाशन नहीं हो पाया। दो भाग सन् 1739 में छपे और तीसरा सन् 1740 में। किन्तु घोर निराशा तो उसे तब हुई जब छपने के बाद तत्कालीन दार्शनिकों और अन्य विचारकों पर इसका कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ा। न तो प्रशंसा की बौछारें मिलीं, न समझ-बूझ कर की गई आलोचना की चोटें ही। इंगलैंड, फ्रांस और जर्मनी की कई पत्रिकाओं में समीक्षाएं तो छपीं, किन्तु किसी समीक्षक ने ग्रंथ के साथ न्याय नहीं किया। अपनी आत्म-कहानी में ह्यूम कहता है कि पुस्तक प्रेस से मृतजात शिशु की तरह निकली जो विद्वानों के मन-मस्तिष्क में हलकी-सी हिलोर भी नहीं उत्पन्न कर सकी।

सन् 1740 में उसकी दूसरी रचना, **मानव प्रकृति पर प्रबन्ध का सारांश**,[2] निकली। इसके लेखक का नाम व्यक्त नहीं किया गया था किन्तु इतिहासकारों ने निश्चित कर लिया है कि इसका लेखक ह्यूम ही है। सन् 1742 में ह्यूम की तीसरी रचना **निबन्ध, नैतिक एवं राजनैतिक**[3] प्रकाशित हुई। इस ग्रंथ का पाठकों ने अच्छा स्वागत किया। सन् 1744 में एडिनबरा विश्वविद्यालय में दर्शन के प्राध्यापक के पद के लिए उसने आवेदन किया किन्तु उसकी नियुक्ति नहीं हो पाई। उसके धर्म-संबंधी अपरंपरागत विचारों को उसे नियुक्त न करने का कारण बताया गया था।

सन् 1745 में उसे आनन्डेल के मारक्विस के निजी शिक्षक के रूप में नियुक्ति मिली। किन्तु सन् 1746 में ही वह रद्द कर दी गई। नियुक्ति की अवधि में भी वह सुखी न रह पाया था क्योंकि मारक्विस कुछ-कुछ पागल था, और कई अन्य परेशानियां भी थी। नियुक्ति रद्द होने के तुरन्त बाद ही वह जनरल सेंट क्लेयर का सचिव बना। सन् 1747 में जब जनरल क्लेयर सैनिक राजदूत की

1. ए ट्रिटीज ऑफ ह्युमन नेचर : इस अध्याय में संदर्भित संस्करण : दो खण्डों में, ए. डी. लिंड्से की भूमिका सहित, लंदन, जे. एम. डेन्ट ऐंड सन्स, अनुमुद्रित 1961 (संक्षिप्त प्रयुक्त नाम—प्रबंध)

2. ऐन ऐब्सट्रैक्ट ऑफ ए ट्रिटीज ऑफ ह्युमन नेचर। संदर्भित संस्करण जे. एम. केईन्स एवं पी. स्राफ्फा की भूमिका सहित, आर्कन बुक्स, हैम्डेन, कनेक्टीकट, अनुमुद्रित 1965।

3. एसेज : मॉरल ऐंड पॉलिटिकल।

हैसियत से विएना और ट्यूरिन गया तो ह्यूम भी सचिव के रूप में उसके साथ था। इन नौकरियों से यह लाभ हुआ कि उसके पास पर्याप्त धन हो गया जिससे बिना अर्थ-संकट के दार्शनिक अनुशीलन में वह लगा रह सका। सन् 1748 में उसके दो ग्रंथ निकले, मानव बोध शक्ति संबंधी दार्शनिक निबंध और **तीन निबन्ध, नैतिक एवं राजनैतिक**। पहले ग्रंथ को ही सन् 1758 में उसने **मानव बोधशक्ति सम्बन्धी खोज**[4] के नाम से प्रकाशित किया। इसी नाम से यह ग्रंथ आज भी विख्यात है। सन् 1751 में उसका **नीति के सिद्धांतों सम्बन्धी खोज**[5] ग्रंथ प्रकाशित हुआ। ये दोनों ग्रंथ **प्रबंध** के संशोधन और परिमार्जन से तैयार किए गए हैं। जब **प्रबंध** को तनिक भी सफलता नहीं मिली तो ह्यूम ने भी समझा कि उसमें कुछ दोष हैं। उसने अच्छी तरह से उसका परिष्कार किया और परिष्कृत **प्रबंध** को उपर्युक्त दोनों ग्रंथों के रूप में प्रस्तुत किया। ये दोनों ही **प्रबंध** से अधिक स्पष्ट, सुलझे हुए, और सुगठित हैं। किन्तु यह कहना भी ठीक नहीं होगा कि ये ग्रंथ **प्रबंध** के संशोधित परिमार्जित संस्करण मात्र हैं। कई विषय जिनकी विस्तृत चर्चा **प्रबंध** में की गई थी उन्हें इनमें से हटा दिया गया है या उनकी चर्चा केवल संक्षिप्त रूप में की गई है।

ह्यूम की रचनाओं में इनका सर्वाधिक महत्व है। उसने स्पष्ट शब्दों में कहा भी है कि उसके दर्शन का मूल्यांकन इन्हीं के आधार पर होना चाहिए, न कि **प्रबंध** के आधार पर। फिर भी मेरी समझ में प्रबंध की उपेक्षा नहीं की जा सकती। उसके दर्शन को ठीक-ठीक समझने के लिए तीनों **प्रबंध** और दोनों **खोज** का समुचित अध्ययन आवश्यक है।

सन् 1751 में ग्लासगो में तर्कशास्त्र के प्राध्यापक के लिए ह्यूम उम्मीदवार था, किन्तु इस बार भी उसकी नियुक्ति नहीं हुई। सन् 1752 में एडिनबरा में उसे विधि-संकाय में पुस्तकालयाध्यक्ष का पद मिला। इस पद पर काम करने की अवधि में उसने **इंगलैंड का इतिहास**[6] की रचना आरंभ की। यह ग्रंथ सन् 1754–1762 के बीच 6 खंडों में प्रकाशित हुआ। सन् 1752 में ही **राजनीतिक प्रबन्ध**[7] निकला

---

4. ऐन इन्क्वायरी कनसर्निंग अंडरस्टैंडिंग। संदर्भित संस्करण : एल. ए. सेलबी-बिगे द्वारा भूमिका सहित संपादित दूसरा संस्करण, आक्सफोर्ड, क्लैरेंडन प्रेस, 1902।
(संक्षिप्त प्रयुक्त नाम : पहली खोज)

5. ऐन इनक्वायरी कानसिंग दी प्रिन्सिपुल्स ऑफ मोरल्स। संदर्भित संस्करण : एल. ए. सेलबी-बिगे द्वारा भूमिका सहित संपादित। 4 के साथ ही एक ही जिल्द में मुद्रित।
(संक्षिप्त प्रयुक्त नाम : दूसरी खोज)

6. हिस्ट्री ऑफ इंग्लैंड।

7. पॉलिटिकल डिस्कोर्सेज।

और सन् 1757 में **चार प्रबन्ध**[8]। सन् 1750 में उसने **धर्म सम्बन्धी संवाद**[9] की रचना आरंभ की थी, किन्तु उसका प्रकाशन उसकी मृत्यु के बाद सन् 1779 में हुआ।

सन् 1763 में हर्टफोर्ड के मारक्विस के निजी सचिव के रूप में नियुक्त होकर उसके साथ ह्यूम फ्रांस गया इस उम्मीद में कि वह दूतावास का सचिव बना दिया जायेगा। सन् 1765 में वह सचिव नियुक्त हो भी गया। इस कार्य में उसने बड़ी दक्षता दिखलाई। इस समय तक बौद्धिक जगत में उसे प्रसिद्धि मिल गई थी। सन 1766 में वह घर वापस आ गया और सन् 1767 में राज्यीय अवर सचिव के पद पर आसीन हुआ। इस पद से सन् 1768 में उसने अवकाश ग्रहण किया। सन् 1776 में, बहुत दिनों तक पेट की बीमारी से पीड़ित होने के कारण उसकी मृत्यु हुई।

ह्यूम बड़ा ही सरल प्रकृति का था। देखने में वह तनिक भी सुन्दर नहीं था, न उसका व्यक्तित्व ही रौबीला या। वह कुछ-कुछ असंस्कृत, देहाती जैसा, दीखता था। उसकी वाक्शक्ति भी बहुत अच्छी नहीं थी। फिर भी उससे मिलने वाले उसकी प्रतिभा के कायल थे, और फ्रांस तथा इंग्लैंड, दोनों देशों में वह प्रभावशाली रहा था।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि ह्यूम बड़ा ही मेधावी और विभिन्न विषयों में रूचि रखने वाला विचारक और लेखक था। वस्तुतः ज्ञान के अनेक क्षेत्रों को उसकी मौलिक देन सभी स्वीकार करते हैं। तत्त्वमीमांसा, ज्ञानमीमांसा, नीति-शास्त्र, मनोविज्ञान, राजनीति, अर्थशास्त्र, इतिहास तथा धर्म के क्षेत्रों में उसकी देन की प्रतिष्ठा को अस्वीकार करना इतिहास को झुठलाना होगा। फिर भी, इस अध्याय में ज्ञान, सत्ता, नीति और धर्म से संबंधित उसके विचारों और सिद्धांतों का ही विवेचन किया जायेगा। इन विषयों पर ह्यूम के विचारों का दार्शनिक महत्व सर्वाधिक है और उनका प्रभाव अर्वाचीन दर्शन पर भी बहुत है। मनोविज्ञान संबंधी उसके विचारों की चर्चा कहीं-कहीं की जायेगी। किन्तु वहीं तक जहां तक उसके दर्शन को समझने के लिए उसके मनोविज्ञान को समझना अपेक्षित होगा। सत्ता के संबंध में उसके विचार बड़े ही अपरंपरावादी और क्रांतिकारी हैं। इसलिए उसे सत्ताशास्त्री या तत्त्वमीमांसक कहने में अपरपरावादी विद्वानों को कुछ आपत्ति हो सकती है। किन्तु यह आपत्ति उनके परंपरा के प्रति पक्षपात का ही द्योतक

8. फोर डिसटेंशन्स।

9. डायलॉग्स कानसर्निग नेचुरल रिलिजन। संदर्भित संस्करण : रिचार्ड बुलेहाइम द्वारा भूमिका सहित संपादित संकलन ह्यूम ऑन रेलिजन में समाविष्ट, फान्टाना लाइब्रेरी 1963।
(संक्षिप्त प्रयुक्त नाम : संवाद)

होगी। सत्ता का दार्शनिक विवेचक तत्वमीमांसक होता है, भले ही उसकी विवेचना परंपरा का समर्थन करे या खंडन।

किसी भी दार्शनिक, या विचारक मात्र, की विचारधारा पर उसके पूर्ववर्ती और समकालीन वैचारिक वातावरण का प्रभाव पड़ता ही हैं! ह्यूम पर भी कई विचारकों का प्रभाव पड़ा है। जिन विषयों पर उसने चिंतन किया है उनसे संबंधित प्रचलित मतों से यह प्रमाणित हुआ था। किन्तु वह अत्यन्त ही मौलिक चिंतक था। प्रचलित मतों में विद्यमान सूझ को पकड़ कर उसने उसे नई दिशा दी, न कि किसी मत का अंधानुकरण या उसका विस्तार मात्र किया। यह मत काफी प्रतिष्ठित-सा हो गया है कि ह्यूम ने लॉक और बर्कले के प्रत्यय-सिद्धांत का तार्किक विस्तार मात्र कर संवेहवाद को जन्म दिया। किंतु आगे के विवेचन से स्पष्ट हो जायगा कि ऐसा मानना अंधविश्वास मात्र है। ह्यूम ने एक सुचिंतित, मौलिक दर्शन दिया है, न कि लॉक–बर्कले के मतों में निहित् या छिपे निष्कर्षों का स्पष्टीकरण मात्र। यह सत्य है कि अनुभववाद के बहुत से गूढ़ निष्कर्षों और आपादनों को ये लोग नहीं दे पाए थे, या किसी पक्षपातवश स्पष्टतया स्वीकार नहीं कर सके थे। ह्यूम उनसे अधिक सक्षम तर्कशास्त्री था और तर्कतः आपादित किसी भी सत्य को अप्रिय होने पर भी, स्वीकार करने के लिए अपेक्षित साहस की न उसमें कमी थी, न उसके महत्व को परखने के लिए अपेक्षित वैश्लेषिक प्रतिभा की। अनुभूत के प्रति न तो उसके अन्दर कोई ममता थी ,न अनुभूत तथ्य को स्वीकार करने के विरुद्ध कोई अनिच्छा।

2. दार्शनिक चिंतन का लक्ष्य

अपने ज़माने के प्रचलित दर्शनों से ह्यूम बहुत असंतुष्ट था, यहां तक कि उसका असंतोष क्रोध और घृणा के रूप में भी कहीं-कहीं उसकी रचनाओं में व्यक्त हुआ है। उसका असंतोष विशेष कर उन दर्शनों के प्रति अधिक था जो अत्यंत ही गूढ़ या सूक्ष्म कही जाने वाली परिकल्पनाओं की उड़ानें भरा करते थे। ये अति गूढ़ परिकल्पनाएं ही विद्वत समाजों में विज्ञान और दर्शन के नाम से प्रख्यात थीं। लोगों में यह विश्वास प्रचलित था कि ज्ञान दो प्रकार का होता है, साधारण और असाधारण। साधारण ज्ञान वह है जो सर्वसाधारण को सुलभ होता है। यह साधारण व्यक्ति की साधारण तरीकों से प्राप्त होने वाला ज्ञान है। अनुभव और प्रयोगों द्वारा होने वाला वस्तुओं और तथ्यों का चलता ज्ञान, और उसका सुव्यवस्थित रूप विज्ञान, दोनों को साधारण ज्ञान के अंतर्गत माना जाता था। किंतु साधारण ज्ञान को ओछे प्रकार का ज्ञान समझा जाता था, न कि अन्तिम सत्य का प्रकाशक। अंतिम सत्य के ज्ञान, असाधारण ज्ञान, से आशय उस (तथाकथित) ज्ञान से था जो विश्व की अंतिम व्याख्या देता है, जो निश्चयात्मक रूप से बतलाता है कि जो भी सत्य है वह क्यों सत्य है। ऐसी धारणा थी कि इस ज्ञान का उद्भव ऐन्द्रिय अनुभव से नहीं बल्कि बुद्धि से होता है और बुद्धि मनुष्य की दैवी शक्ति है।

बुद्धि चिरंतन, शाश्वत सत्यों को अपनी दैवी दृष्टि से ढूंढ निकालती है। इन सत्यों को मनुष्य अपनी गूढ़ परिकल्पनाओं द्वारा व्यक्त करता है। ह्यूम के अनुसार इन दो प्रकार के ज्ञान में विश्वास अंधविश्वास है, बल्कि अंधविश्वास से भी बदतर है क्योंकि इससे झूठे अहंकार और हठ उत्पन्न होते हैं। इसमें आस्था रखने वाला दार्शनिक समझने लगता है कि उसके पास ऐसा ज्ञान है जो साधारण व्यक्ति के लिए अप्राप्य है, जो कभी भी गलत नहीं हो सकता है।

इस अंधविश्वास को ह्यूम तोड़ना चाहता था। वह प्रमाणित करना चाहता था कि गूढ़ परिकल्पनाओं वाला ज्ञान, बुद्धि की तथाकथित दैवी दृष्टि से देखे हुए सत्य का ज्ञान; ज्ञान नहीं, बल्कि, ज्ञान की विडंबना मात्र है। उसका सहारा वही लेता है जिसका मस्तिष्क पक्षपात रहित नहीं है, जो अपने धार्मिक विश्वासों को तर्कपूर्ण तरीकों से सिद्ध करने में असमर्थ हो उन्हें गूढ़ कही जाने वाली परिकल्पनाओं के ताने-बाने से ढक कर साधारण जनता को ठगना चाहता है। वस्तुतः उपर्युक्त प्रकार का असाधारण ज्ञान, ह्यूम के अनुसार, संभव ही नहीं है। किंतु उसकी असंभवता, या असाध्यता, को किस प्रकार सिद्ध किया जाय? ह्यूम का कहना कि इसके लिए एक ही तरीका है कि हम मनुष्य की बोध या ज्ञान-शक्ति के स्वरूप की गंभीरता से परीक्षा करें और उसकी क्षमता, ग्रहण करने की योग्यता का ठीक-ठीक विश्लेषण कर यह प्रमाणित करदें कि इन गूढ़ परिकल्पनाओं के विषय ऐसे हैं कि उन तक मानवी बोध-शक्ति की पहुँच हो ही नहीं सकती[10]। उसके लिए उन तक पहुंचना शक्य ही नहीं है, और जो शक्य नहीं है उसे करने की चेष्टा करना मूर्खता नहीं तो और क्या है?

किन्तु ह्यूम के दार्शनिक चिंतन का लक्ष्य केवल खंडनात्मक नहीं है। वस्तुतः उसका अभीष्ट बोध-शक्ति की क्षमता और सीमा का अन्वेषण कर मानव-ज्ञान की आधार भूमि की विवेचना करना है। एक प्रकार से यह कार्य वैसा ही है जैसा कोई भूगोल का विद्वान करता है। जिस क्षेत्र का भूगोल वह लिखता है उसका पूरा वर्णन देता है। ह्यूम अपने दर्शन को मानसिक भूगोल की संज्ञा देता है क्योंकि मन की, बोध-शक्ति की, क्षमताओं और अक्षमताओं का ठीक-ठीक वर्णन-विश्लेषण उसका लक्ष्य है। वस्तुतः यही उसका मुख्य लक्ष्य है और यह खंडनात्मक नहीं बल्कि पूर्णतः भावात्मक है। यह जान लेने के बाद कि हमारा मस्तिष्क कहां तक पहुंच सकता है हम स्वतः जान लेते हैं कि किन-किन क्षेत्रों में उसे लगाना सार्थक है और किन-किन में निरर्थक। किंतु उस जमाने में इस विषय में काफी भ्रम था और जो उसकी पहुंच के बाहर है उसकी खोज में लगना मानव मस्तिष्क का विशिष्ट कार्य समझा जाता था। इसीलिए ह्यूम ने अपने अन्वेषण के खंडनात्मक पक्ष पर काफी जोर दिया।

---

10. पहली खोज, पृ. 12।

अपने दार्शनिक अन्वेषण को ह्यूम मानव-विज्ञान भी कहता है।[11] मनुष्य की बोध-शक्ति का ही प्रयोग ज्ञान-विज्ञान के सभी क्षेत्रों में होता है। गणित, भौतिकी, राजनीतिक, विधि, नीति, कोई भी क्षेत्र क्यों न हो, सभी जगह बोध-शक्ति ही ज्ञानार्जन में साधक होती है। इसलिए उसके स्वरूप का अन्वेषण सभी क्षेत्रों के लिए महत्वपूर्ण है, और सभी विज्ञानों के लिए सहायक और आवश्यक होने के फलस्वरूप उसे आधारभूत विज्ञान या मानव-विज्ञान कहा जा सकता है। मेरी समझ में मानव-विज्ञान से ह्यूम का आशय ऐसे विज्ञान से है जिसका ज्ञान सभी विशिष्ट वैज्ञानिक अन्वेषणों के ठीक-ठीक संचालन के लिए अनिवार्य है। वह समझता है कि उसका दर्शन ऐसा ही विज्ञान प्रस्तुत करता है। इसलिए वह उसे मानव-विज्ञान कहता है।

बोध-शक्ति के स्वरूप की परीक्षा में प्रयुक्त अपनी पद्धति को वह प्रायोगिक पद्धति कहता है[12]। वह कहता है कि मानव प्रकृति के विषय में सावधानी से किए गए निरीक्षण और प्रयोगों पर ही उसके विषय में प्रामाणिक निष्कर्ष स्थापित किए जा सकते हैं। इससे कोई समझ सकता है कि किसी समाज-विज्ञान के अन्वेषक की तरह ह्यूम ने भी निरीक्षण और प्रयोग के आधार पर मानव प्रकृति या बोध-शक्ति, के विषय में सामान्य सत्यों को प्रस्तुत किया होगा किन्तु बात ऐसी नहीं है। उसकी रचनाओं में ऐसे निरीक्षण या प्रयोगों के उल्लेख नहीं मिलते। वस्तुतः वह अपने अनुभव, और जो बातें सर्वसाधारण को मानव-प्रकृति के विषय में विदित हैं, उन्हीं के आधार पर अपने निष्कर्षों को प्रस्तुत करता है। उसकी पद्धति इस अर्थ में प्रायोगिक है कि जो कुछ वह अपने अनुभव के आधार पर मानव प्रकृति के विषय में कहता है, उसे कोई भी अपने अनुभव से जाँच सकता है। उसका दावा है कि कोई भी उसे झुठला नहीं सकता, और उसे उसकी बातों पर विश्वास न हो वह उन्हें अपने अनुभव में परीक्षा करके देख ले। उसकी पद्धति से स्पष्ट हो जाता है कि वस्तुतः ह्यूम दार्शनिक है, वैज्ञानिक नहीं। यह तो उसकी भाषा जो उस—जमाने की भाषा है—का दोष है कि वह उसे वैज्ञानिक की तरह दर्शाती है। वह बार-बार पाठक से अपील करता है, कभी निवेदन के रूप में, कभी चुनौती के रूप में, कि वह अपने अनुभव की कसौटी पर उसके सिद्धांतों को कस ले। यह अपील पाठक के केवल ऐन्द्रिय या आंतरिक अनुभव मात्र से नहीं, बल्कि उसकी चिंतना, तर्कना, वैश्लेषिक प्रतिभा, आदि से भी है।

3. ज्ञान मीमांसा

(क) अनुभववाद

ह्यूम भी लॉक की तरह अनुभववाद का प्रतिपादक है, बल्कि उसने इस मत

---

11. प्रबन्ध पहला भाग, पृष्ठ 5।
12. वही।

को लॉक से अधिक सुदृढ़ और सुगठित रूप में प्रस्तुत किया है। अनुभववाद दो प्रकार का होता है : प्रत्यय-अनुभववाद और प्रतिज्ञप्ति-अनुभववाद। पहला प्रत्ययों की उत्पत्ति से संबंधित सिद्धांत है और दूसरा प्रतिज्ञप्तियों के सत्यापन से संबंधित। प्रत्यय-अनुभववाद मानता है कि हमारे सभी मूल प्रत्यय, या सरल प्रत्यय, अनुभव से प्राप्त होते हैं। सरल प्रत्ययों से जटिल प्रत्यय हम बौद्धिक क्रिया द्वारा बना सकते हैं, किन्तु किसी भी सरल प्रत्यय को अपने अंदर से उत्पन्न करने की क्षमता बुद्धि में नहीं है। इसके विपरीत प्रत्यय बुद्धिवाद मानता है कि हमारी बुद्धि को ऐसी क्षमता प्राप्त है। कम से कम कुछ प्रत्यय ऐसे हैं जिन्हें बुद्धि अपने अंदर से उद्भुत करती है, या जो उसमें जन्मजात रूप में विद्यमान रहते हैं। प्रत्यय-अनुभववाद का बड़ा ही स्पष्ट उदाहरण लॉक में मिलता है और प्रत्यय-बुद्धिवाद का देकार्त में। प्रतिज्ञप्ति-अनुभववाद मानता है कि कम से कम कुछ प्रतिज्ञप्तियाँ, उदाहरण स्वरूप वे जो तथ्यों या अनुभव जगत के विषय में होती हैं, ऐसी हैं कि उनकी सत्यता-असत्यता का निर्णय अनुभव द्वारा ही हो सकता है। 'मेरे दांत में दर्द है,' राम नाराज है', 'हिन्दु समाज रूढ़िवादी है', 'बगल के कमरे में एक काला सांप बैठा है', आदि प्रतिज्ञप्तियों को सत्य या असत्य उनसे संबंधित तथ्यों के अनुभव के आधार पर ही किया जा सकता है। प्रतिज्ञप्ति-बुद्धिवाद मानता है कि तथ्यों के विषय में कथन करने वाली प्रतिज्ञप्तियों में भी कम से कम कुछ ऐसी हैं जिनकी सत्यता-असत्यता का निर्णय बुद्धि स्वयं बिना किसी बाहरी सहायता के, बिना अनुभव द्वारा तथ्यों की जांच कराए, कर सकती है। प्रतिज्ञप्ति-बुद्धिवाद का उदाहरण भी देकार्त का दर्शन में मिलता है। 'ईश्वर अस्तित्ववान है,' 'विश्व का कोई कारण है,' आदि प्रतिज्ञप्तियों की सत्यता उसके अनुसार बुद्धि द्वारा प्रमाणित होती है। प्रत्यय-अनुभववाद और प्रतिज्ञप्ति अनुभववाद दोनों का समर्थन और प्रतिपादन ह्यूम करता है।

अनुभववाद की स्थापना मनोवैज्ञानिक एवं तार्किक, दोनों प्रकार के सिद्धांत रूप में की जा सकती है। मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त के रूप में इसकी मान्यता होगी कि वस्तुतः, या तथ्यतः, हमारे ज्ञान का उदय या आरम्भ अनुभव से होता है। जो हमारा वस्तुगत ज्ञान है, अपने और संसार की विभिन्न वस्तुओं के विषय में जो ज्ञान प्राप्त करते हैं, उसका स्रोत हमारा अनुभव और केवल अनुभव ही है। यह मानव प्रकृति के विषय में, मनुष्य के बौद्धिक जीवन के विषय में, एक तथ्य है। हमारे मन-मस्तिष्क की बनावट ही ऐसी है कि वस्तुओं का एवं उनसे सम्बन्धित तथ्यों का ज्ञान हम अनुभव द्वारा ही पा सकते हैं। तार्किक अनुभववाद, इससे भिन्न, ज्ञान के उद्गम से सम्बन्धित सिद्धान्त नहीं, बल्कि अर्थ सम्बन्धी सिद्धान्त है। उसका कहना है कि वस्तुओं, तथ्यों, के विषय में प्रयुक्त होने वाली भाषा तभी अर्थ-पूर्ण हो सकती है जब कि यह कम से कम सिद्धान्त सम्भव हो कि अनुभव द्वारा

उसकी सत्यता-असत्यता की परीक्षा की जा सके। अर्थात्, यदि मैं किसी से कोई ऐसी बात कहता हूं जो किसी तथ्य के विषय में है जैसे 'दसहरी आम मीठे होते हैं', तो मेरे कथन का अर्थ वह तभी समझ सकता है जब इसमें प्रयुक्त पदों द्वारा वर्णित वस्तुओं या गुणों की वह अनुभूत कर सकता है, कम से कम उनमें अनुभूत होने की कल्पना कर सकता है। लॉक, बर्कले और ह्यूम तीनों का अनुभववाद मनोवैज्ञानिक है। किन्तु ह्यूम के अनुभववाद में तार्किक अनुभववाद की ओर भी स्पष्ट संकेत है और यदि इन संकेतों को समुचित रूप में विकसित किया जाए तो उसके आपाततः मनोवैज्ञानिक अनुभववाद को तार्किक अनुभववाद में रूपान्तरित किया जा सकता है। यही कारण है कि बीसवीं सदी के तार्किक अनुभववादी ह्यूम से प्रभावित ही नहीं बल्कि उसे अपना दार्शनिक पूर्वज भी मानते हैं।

(ख) ज्ञान के घटक : प्रत्यक्षानुभव और प्रत्यय

ह्यूम के अनुसार ज्ञान के दो मूल घटक है : प्रत्यक्षानुभव और सरल प्रत्यय। सभी सरल प्रत्यय (Simple Ideas) प्रत्यक्षानुभव (Impression) से उत्पन्न होते हैं। प्रत्यक्षानुभव की अपेक्षा प्रत्यय दुर्बल, कम स्पष्ट, होते हैं। वे प्रत्यक्षानुभव से ही उत्पन्न उनके प्रतिबिंब, छाया या नकल की तरह हैं। हर एक सरल प्रत्यय के मूल में कोई न कोई प्रत्यक्षानुभव अवश्य होगा अन्यथा वह प्रत्यय सच्चा प्रत्यय नहीं कहा जायगा। प्रत्यक्ष और प्रत्यय में भेद केवल शक्ति या स्पष्टता का है। सर्व-प्रथम प्रत्यक्षानुभव होता है और बाद में चिंतन या स्मृति में संदेह हो कि उसके चित्र या उसकी नकल के रूप में प्रत्यय का प्रयोग होता है। यदि हमें कभी कोई प्रत्यय सच्चे अर्थ में प्रत्यय है या नहीं, तो इसकी जांच करने का तरीका है यह पता लगाना कि उसके मूल में प्रत्यक्षानुभव है या नहीं। यदि उसका मूल कोई प्रत्यक्षानुभव नहीं है, तो यह प्रत्यय निरर्थक है, उसे प्रत्यय नहीं बल्कि छलना मात्र समझना चाहिए। प्रत्यक्षानुभव के अन्तर्गत ह्यूम सभी प्रकार की अनुभूतियां को रखता हैं जैसे ऐंद्रिय, संवेदन, भावनाएँ, आवेग, आंतर प्रत्यक्ष, इत्यादि। जीभ पर शक्कर रखकर उसका स्वाद लेना, क्रोध अनुभव करना, आकाश की लाली को देखना, संगीत सुनना आदि प्रत्यक्षानुभव है और बाद में शक्कर के स्वाद, किए गए क्रोध, आकाश की लाली, संगीत की मधुरता, आदि को याद करना या उनके विषय में चिंतन या चर्चा करना उनके प्रत्ययों का प्रयोग करना है। जब मैं आकाश की लाली को देखता हूँ तब मुझे प्रत्यक्षानुभव होता है, और बाद में उसे बिना देखते हुए जब मैं उसकी चर्चा करता हूँ तो मेरे मन में उसका प्रत्यय रहता है न कि प्रत्यक्षानुभव। इस तरह स्पष्ट है कि प्रत्यक्ष से प्रत्यय अवश्य ही कम स्पष्ट और शक्तिशाली होंगे। क्रोध के अनुभव से अनुभूत क्रोध की स्मृति को कौन कम शक्तिशाली नहीं मानेगा ?[13]

---

13. वही पृ. 11-14, पहली खोज, पृ. 17-18

लॉक की तरह ह्यूम के अनुभववाद की भी मुख्य प्रतिज्ञप्ति यही है कि सभी सरल प्रत्ययों के मूल में कोई न कोई प्रत्यक्षानुभव रहता है। ये प्रत्यय ज्ञान के आवश्यक अंग हैं और इनकी उत्पत्ति बिना किसी प्रत्यक्षानुभव के नहीं हो सकती। इसलिए ह्यूम का निष्कर्ष है कि कोई भी सरल प्रत्यय जन्मजात नहीं हो सकता।

जैसा कि ऊपर कहा गया है, ह्यूम का अनुभववाद प्रत्यय अनुभववाद है क्योंकि यह इस प्रश्न का उत्तर है कि प्रत्यय कैसे प्राप्त होते हैं। यह मनोवैज्ञानिक भी है क्योंकि इसके प्रतिपादन का आधार ह्यूम का मनोविज्ञान अर्थात् मनुष्य की मानसिक गठन के विषय में उसके विचार हैं। हमारे मन की बनावट ही ऐसी है कि कोई प्रत्यय बिना किसी प्रत्यक्षानुभव के नहीं हो सकता। इस प्रकार यह कहना कि प्रत्यय प्रत्यक्षानुभव से उनके प्रतिबिम्ब या चित्र के रूप में, उत्पन्न होते हैं, मानव प्रकृति या मनुष्य की बोध शक्ति के विषय में एक तथ्य या सत्य है। किन्तु जब ह्यूम कहता है कि जिस प्रत्यय के मूल के रूप में किसी प्रत्यक्षानुभव को नहीं ढूंढ़ा जा सकता, अर्थात् जो किसी भी प्रत्यक्षानुभव से सम्बन्धित नहीं है वह निरर्थक है, तो वह तार्किक अनुभववाद के मूल सिद्धान्त की स्थापना करने लगता है। प्रत्ययों के या पदों के अर्थ को अनुभव से अनिवार्यतः सम्बद्ध करना ही तार्किक अनुभववाद है। ह्यूम की रचनाओं में इस बात पर काफी बल दिया गया है कि जिस पद से व्यक्त या नामाँकित प्रत्यय का किसी प्रत्यक्षानुभव से सम्बन्ध नहीं है, उसे भाषा में व्यवहार करना एक निरर्थक पद को व्यवहार करना है। वह यह भी कहता है कि हम उन्हीं पदों का अर्थ समझ सकते हैं जिनसे व्यक्त प्रत्ययों का अपने, किसी न किसी, प्रत्यक्षानुभव से सम्बन्ध जोड़ सकते हैं।[14] पदों के अर्थ के विषय में यह सिद्धान्त मनोवैज्ञानिक नहीं है क्योंकि इसका आधार मानव प्रकृति से सम्बन्धित या इसी प्रकार का अन्य कोई तथ्य नहीं है। मैं नहीं कहता कि यह सिद्धान्त निर्दोष है, बल्कि यही कि इसकी सत्यता-असत्यता किसी मनोवैज्ञानिक सत्य पर आश्रित नहीं है। किन्तु मनोवैज्ञानिक अनुभववाद की सत्यता-असत्यता मानव प्रकृति सम्बन्धी तथ्यों पर ही आश्रित है। यदि कोई यह प्रमाणित कर दे कि कम से कम एक भी सरल प्रत्यय ऐसा है जिसका मूल कोई प्रत्यक्षानुभव नहीं है और जिसे प्रत्यय मानना आपत्तिजनक नहीं है, तो ह्यूम के अनुभववाद का वह अंश जो मनोवैज्ञानिक है निरस्त हो जायेगा।

मनोवैज्ञानिक अनुभववाद को प्रमाणित करने के लिए ह्यूम दो प्रकार के तर्क देता है, एक भावात्मक और दूसरा नकारात्मक।[15] उसका कहना है कि जब हम अपने अनुभव की परीक्षा करते हैं तो पाते हैं कि ऐसा कोई भी प्रत्यय नहीं है जिसका आधार कोई न कोई प्रत्यक्षानुभव न हो। यही नहीं, बल्कि वह चुनौती

---

14. पहली खोज, पृ. 22
15. पहली खोज, पृ. 19-20.

भी देता है कि जो उसके मत को नहीं मानता, वह ऐसा प्रत्यय प्रस्तुत करें जिसका सम्बन्ध किसी भी प्रत्यक्षानुभव से नहीं है। उसका संकेत है कि इस चुनौती को कोई भी पूरा नहीं कर सकता। नकारात्मक तर्क है कि जिसको जिस प्रकार के अनुभव नहीं हो सकते वह उन अनुभवों से सम्बन्धित प्रत्ययों को भी नहीं बना सकता। जैसे बहरा न तो संगीत के माधुर्य का प्रत्यय बना सकता है, न अंधा लाली का। जिसे आवाज का या रंग का अनुभव नहीं हो सकता, उसके अंदर इनके प्रत्यय भी नहीं बन सकते, न वह इन प्रत्ययों के द्योतक पदों का अर्थ समझ सकता है। यदि कोई किसी अंधे के सामने लाली का वर्णन करे तो वह उसके लिए निरर्थक ही होगा।

प्रत्यक्षानुभव और प्रत्यय में, जैसा कि ऊपर कहा गया है, अन्तर केवल स्पष्टता या सजीवता का है। प्रत्यानुभव प्रत्ययों से अधिक सप्राण, विषद, सशक्त होते हैं। दोनों में कोई जाति-भेद नहीं है। और यह जो स्पष्टता या सप्राणता का भेद है, वह अनुभव द्वारा सत्यापनीय है। अर्थात् हम अनुभव में पाते हैं कि प्रत्यक्षानुभव प्रत्ययों से अधिक सशक्त; और प्रत्यय उनकी तुलना में दुर्बल या धूमिल हैं। यहां भी ह्यूम का दावा है कि कोई भी किसी प्रत्यक्षानुभव और उससे उत्पन्न प्रत्यय की तुलना करेगा तो उसका अनुभव उसे असंदिग्ध रूप में बताएगा कि कौन तत्व किस से अधिक या कम स्पष्ट या धूमिल है। अतः ज्ञान की आदि या आधार सामग्री तथा इन सामग्रियों के पारस्परिक भेद की चेतना, दोनों हमें अनुभव से ही मिलते हैं।

ह्यूम के अनुसार अनुभव केवल एक प्रकार का ही होता है जो हमारा साधारण अनुभव कहलाता है। इन्द्रियों के माध्यम से या मन के माध्यम से यह सम्पन्न होता है। हम आँख से गुलाब की लाली को देखते हैं और मानसिक निरीक्षण अन्तर्निरीक्षण से अपने सुख–दुःख की चेतना प्राप्त करते हैं। इस प्रकार के साधारण अनुभवों के अतिरिक्त कोई दूसरा असाधारण अतीन्द्रिय, अनुभव हमें नहीं होता। प्लेटो जैसे कई दार्शनिक इसी तथाकथित अतीन्द्रिय अनुभव को सर्वाधिक महत्त्व देते हैं जबकि ह्यूम इसकी वास्तविकता को ही नहीं मानता। उसका तो कहना है कि साधारण अनुभव से बिलकुल असम्बद्ध या स्वतन्त्र किसी भी प्रकार का प्रत्यय हम नहीं बना सकते। हमारी कल्पना या हमारे चिन्तन का भी नियन्त्रण हमारा अनुभव करता है। जो कल्पनीय था चिन्तनीय है, वह मूलतः अनुभवगम्य भी होगा। जो अननुभूत है उसकी कल्पना भी हम नहीं कर सकते। कल्पना या चिन्तन में तो हम अनुभव से प्राप्त प्रत्ययों में ही नए सम्बन्ध डाल कर नए–जैसे दिखनेवाले प्रत्ययों को बना लेते हैं, किन्तु जिनके अवयव सभी अनुभव से ही मिले हुए होते हैं। यदि कोई प्रत्यय ऐसा निकलता है जिसका सम्बन्ध किसी प्रत्यक्षानुभव से नहीं है तो उसे हम कोई अर्थ नहीं दे पाएंगे।

हर एक सरल प्रत्यय या एक पृथक विशिष्ट एवं स्वतंत्र सत्ता है। वह

प्रत्यक्षानुभव पर आश्रित है, किन्तु अपने आप में सभी सरल प्रत्यय और एक प्रकार से कहें तो सभी प्रत्यक्षानुभव स्वतंत्र हैं। इसका मतलब है कि दो सरल, या दो प्रत्यक्षों में कोई अनिवार्य संबंध नहीं है। इसलिए किसी एक सरल प्रत्यय से किसी दूसरे प्रत्यय को या किसी एक प्रत्यक्ष से किसी दूसरे प्रत्यक्ष को, तर्कतः निकाला नहीं जा सकता। यहां पर ह्यूम आधुनिक दर्शन के एक बहुत प्रचलित सिद्धांत की ओर संकेत कर रहा है : तार्किक संबंध वस्तुओं या तथ्यों के बीच नहीं बल्कि प्रति-ज्ञप्तियों के बीच ही हो सकते है। प्रत्यय और प्रत्यक्षानुभव तो वस्तुएं या घटनाएं हैं, प्रतिज्ञप्ति नहीं।

प्रत्यय तो, इस प्रकार, प्रत्यक्षानुभव से मिलते हैं, किन्तु प्रत्याक्षानुभव कहाँ से आते हैं? उसका उत्पादक क्या है? इस प्रश्न का उत्तर ह्यूम नहीं देता है। प्रत्यक्षानुभव हमें होते हैं और उनसे प्रत्यय बनते हैं, प्रत्यक्षानुभव अधिक सशक्त और प्रत्यय उनकी अपेक्षा दुर्बल होते हैं। इतना तो हम जानते हैं; इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं। हमारे हिस्से में तो केवल प्रत्यक्षानुभव हैं और उनसे उत्पन्न प्रत्यय। प्रत्यक्षानुभव के परे किसी प्रकार के उनके स्रोत की चर्चा हम नहीं कर सकते क्योंकि इस स्रोत का हमें कभी अनुभव नहीं होता। लॉक ने द्रव्य के रूप में ऐसे स्रोत को मान लिया था अनुमान के आधार पर, किन्तु ह्यूम ऐसा नहीं मानता। इस विषय में लॉक की अपेक्षा ह्यूम अधिक तर्कसंगत है क्योंकि इस अनुमान के लिए कोई असंदिग्ध आधार-वाक्य लॉक के पास नहीं था। प्रत्यक्षानुभव के स्रोत की चर्चा ही ह्यूम नहीं करता, न यही कहता है कि वे क्यों इतने सशक्त या प्रत्ययों से अधिक सशक्त होते हैं।

ह्यूम के अनुसार हमारे ज्ञान का आरंभ प्रत्यक्षानुभव से होता है, किन्तु इससे यह निष्कर्ष नहीं निकालना चाहिये कि ज्ञान के घटक या उसकी आधार सामग्रियाँ, कुछ और हैं। वे भी प्रत्यक्षानुभव ही हैं। इसलिए उसके मत को दोनों प्रकार से व्यक्त किया जा सकता है : यह भी कह सकते हैं कि ज्ञान का आदि स्रोत प्रत्यक्षानुभव है, और यह भी की ज्ञान की आदि सामग्रियाँ प्रत्यक्षानुभव हैं। प्रत्यक्षा-नुभव से अधिक मौलिक या अधिक आधारभूत हमें कुछ भी कभी नहीं मिलता।

(ग) प्रत्ययों के साहचर्य नियम

यद्यपि प्रत्यय एक दूसरे से पृथक और स्वतंत्र है, फिर भी ह्यूम स्वीकार करता है, कि उनके संघात या समूह बनते हैं और कुछ विशेष प्रत्यय ही कुछ विशेष प्रकार के संघात बनाते हैं। उनका सहाचर्य अनियमित या उच्छृंखल नहीं होता, उनके मिलने में विशिष्ट क्रम होते हैं। इसका तात्पर्य है कि प्रत्ययों के संघटन के अवश्य ही कुछ नियम होंगे। इन्हीं नियमों को ह्यूम साहचर्य-नियम कहता है। चूंकि प्रत्यय मूलतः असंबद्ध हैं, इसकी व्याख्या आवश्यक है कि वे किस प्रकार समूह बना पाते हैं। ह्यूम का कहना है कि प्रत्ययों के संघातों की जब हम परीक्षा करते हैं, या

जब उनके मिलने के क्रम को गंभीरता से देखते हैं तो पाते हैं कि उनके मिलने के तीन आधार हैं : सादृश्य दैशिक या कालिक सामीप्य और कार्य-कारण का संबंध । यदि दो चीजें एक दूसरे के समान या समरूप हैं तो एक का प्रत्यय हमें दूसरे के प्रत्यय की याद दिलाता है । किसी वस्तु का चित्र स्वभावतः मूल वस्तु की ओर हमारे विचार को ले जाता है । इसी तरह किसी मकान के एक हिस्से का विचार दूसरे मिले-जुले हिस्से के विचार को जगाता है, और जब हम किसी चोट का विचार करते हैं तो उससे उत्पन्न होने वाले दर्द को सोचने लगते हैं । चित्र और चित्रित वस्तु में सादृश्य है, मकान के दो हिस्सों में सामीप्य और चोट-दर्द में कारण-कार्य का संबंध है । इन नियमों का ज्ञान भी हमें, उसके अनुसार, अनुभव से ही मिलता है । जब हम प्रत्ययों के आपसी संबंधों की छानबीन करते हैं तो पाते हैं कि इन तीनों गुणों में से किसी एक के भी होने पर दो प्रत्ययों में सहाचर्य हो जाता है । किन्तु ह्यूम स्वीकार करता है कि निश्चयात्मक ढंग से यह प्रमाणित करना कठिन है कि इन तीनों के अतिरिक्त कोई अन्य गुण नहीं है जिसके द्वारा प्रत्ययों में मेल होता हो ।

साहचर्य नियमों का प्रतिपादन ह्यूम आगमनात्मक सामान्यीकरण के आधार पर करता है । उनकी वह किसी सिद्धांत से निगमित नहीं करता, बल्कि उनके संघटनों के अनुभव के आधार पर आगमनात्मक पद्धति द्वारा उनको स्थापित करने का दावा करता है । इसलिए वह कहता है कि जितनी अधिक संख्या में प्रत्ययों के संघटनों की परीक्षा हम करेंगे, उतना ही हमारा सामान्यीकरण, सत्य पाए जाने पर, मजबूत होता जायेगा । लगता है कि उसे विश्वास था कि यह सामान्यीकरण असत्य नहीं सिद्ध होगा ।

तीनों साहचर्य नियम तार्किक न होकर आनुभाविक नियम मात्र हैं । इसलिए इनमें किसी प्रकार की अनिवार्यता की बात तो की ही नहीं जा सकती क्योंकि यह तो आनुभाविक तथ्य मात्र हैं; ऐसा वस्तुतः होता है, कि दो प्रत्ययों में उक्त तीन गुणों में से किसी के होने से एक का विचार दूसरे के विचार को जगाता है । परन्तु यदि ऐसा न भी हो तो कोई तार्किक असंगति नहीं होगी ।

सादृश्य सामीप्य और कार्य-कारण सम्बन्ध को ह्यूम प्राकृतिक संबंध कहता है । इनके चलते स्वभावतः एक प्रत्यय दूसरे के साथ हो लेता है । किन्तु कभी-कभी हम दो ऐसे प्रत्ययों में भी तुलना करने लगते हैं जिनमें कोई प्राकृतिक संबंध नहीं रहता । इन सम्बन्धों को ह्यूम दार्शनिक सम्बन्ध कहता है । ये हैं : (1) सादृश्य (2) तादात्म्य (3) दिक् और काल (4) मात्रा या संख्या (5) गुण की मात्रा (6) विरोधता और (7) कारण-कार्य भाव । हम देखते हैं कि इनमें तीनों प्राकृतिक सम्बन्ध भी उल्लिखित हैं । इसलिए यह समझने में कठिनाई होती है कि प्राकृतिक और दार्शनिक संबन्धों में क्या भेद हैं । यह कठिनाई और भी बढ़ जाती है क्योंकि

---

16. वही, पृ. 23-24, प्रबन्ध, पहला भाग, पृ. 19–23.

दार्शनिक सम्बन्धों को वह वस्तुओं का सम्बन्ध भी कहता है। प्रत्यय वस्तुओं से भिन्न हैं। इसलिए प्रत्ययों के आपसी सम्बन्धों के नियमों का वस्तुओं के आपसी सम्बन्धों के नियमों से अभिन्न होना आवश्यक नहीं है। इस विषय में ह्यूम का विवेचन स्पष्ट नहीं है। बैसन की व्याख्या[17] है कि प्राकृतिक सम्बन्ध से उसका तात्पर्य उक्त तीन साहचर्य सम्बन्धों से है एवं उन अन्य सम्बन्धों से भी जो प्रत्ययों के साहचर्य को उत्पन्न कर सकते हैं, और दार्शनिक सम्बन्धों से वस्तुओं के बीच किसी भी प्रकार के सम्बन्ध से, चाहे वह प्रत्ययों का साहचर्य उत्पन्न करे या न करे। प्रत्ययों का साहचर्य प्राकृतिक सम्बन्ध है, जब कि कार्य-कारण सम्बन्ध प्राकृतिक और दार्शनिक दोनों है क्यों कि वह कार्य-कारण से सम्बन्धित प्रत्ययों के बीच साहचर्य उत्पन्न करता है और वस्तुओं के बीच का भी सम्बन्ध है। उष्णता और आग (वस्तुओं) में कार्य-कारण का सम्बन्ध है और यह सम्बन्ध उष्णता और आग के प्रत्ययों के बीच साहचर्य भी पैदा करता है। कुछ अन्य प्रकार के वस्तुओं के सम्बन्ध जैसे उपर नीचे के, भारी हलका आदि केवल दार्शनिक हैं।

यह व्याख्या भी ह्यूम के सिद्धान्त को बिलकुल स्पष्ट या तर्कसंगत नहीं बनाती है। ऊपर-नीचे, भारी-हल्का, होने के सम्बन्ध पैदा कर सकते हैं। यदि इस मेज के ऊपर गिलास प्रायः रखा रहता है तो इस मेज का प्रत्यय गिलास के प्रत्यय को जगा सकता है। वस्तुतः वस्तुओं का कोई भी सम्बन्ध उनसे सम्बन्धित प्रत्ययों में साहचर्य पैदा कर सकता है। साहचर्य नियमों का, और प्राकृतिक और दार्शनिक नियमों की चर्चा का, यह सारा प्रकरण ह्यूम के दर्शन का बड़ा कमजोर अंश है। साहचर्य नियमों के सिद्धान्त के प्रति ह्यूम का उत्साह भी कम हो गया था। जिस विस्तार और जोश के साथ इसका विवेचन वह **प्रबन्ध** में करता है, वे **खोज** में विद्यमान नहीं है। **खोज** का विवेचन संक्षिप्त और दबा हुआ है।[18]

(घ) अमूर्त प्रत्यय—

अमूर्त प्रत्यय उसे कहते हैं जो किसी विशिष्ट वस्तु का प्रत्यय न होकर सामान्य होता है और अनेक वस्तओं पर लागू होता है। जैसे 'मनुष्यता' या 'मनुष्य' का प्रत्यय किसी विशिष्ट मनुष्य, जैसे राम, श्याम आदि का न होकर मनुष्य मात्र का है और उसके द्वारा मनुष्य जाति या सभी मनुष्यों का बोध होता है। ह्यूम के अनुसार सभी प्रत्यक्षानुभव विशिष्ट इकाई के रूप होते हैं, और उत्पन्न प्रत्यय भी। अतः हमें कभी किसी जाति का अनुभव नहीं होता, हमेशा विशिष्टों का होता है। इसलिए कभी भी हम अमूर्त या सामान्य प्रत्यय नहीं बना सकते। फिर भी हमारे अन्दर ऐसे प्रत्यय हैं जिनको अमूर्त या सामान्य कहा जाता है। भले ही ये वस्तुतः अमूर्त न हों, तथा-कथित ही हों, फिर भी इनकी व्याख्या तो होनी ही

17. बैसन, ए. एच., डैविड ह्यूम (पोलिकन 1958) पृ.54.
18. प्रबन्ध पहला, भाग, प. 19–23, पहली खोज, पृ. 23–24.

चाहिए। किस प्रकार अमूर्त दीखने वाले प्रत्यय उत्पन्न होते हैं ? ह्यूम के अनुसार अमूर्त प्रत्ययों का आधार सादृश्य हैं। जब हम कई वस्तुओं में उनकी विभिन्नताओं के बावजूद कुछ समानता देखते हैं तो उनके लिए एक ही नाम या पद का व्यवहार करने लगते हैं। जैसे विभिन्नताओं के होने पर भी हम एक ही पद 'मनुष्य' विभिन्न मनुष्यों के लिए प्रयुक्त करते हैं क्योंकि उनमें कुछ समानता भी हैं। इस तरह से विभिन्न मनुष्यों के लिए एक ही पद के प्रयोग करने की आदत हमारे अन्दर किसी हम एक मनुष्य का प्रत्यय उत्पन्न करती है। यही पद अन्य विभिन्न मनुष्यों के लिए भी प्रयुक्त होने वाला है, किन्तु वह उन सब विभिन्न प्रत्ययों को हमारे अन्दर जागृत नहीं करता, बल्कि उस आदत को जगाता है जो हमने एक ही पद से अनेक मनुष्यों को सूचित करने की डाल रखी है। इसी आदत के माध्यम से हम एक ही पद से अनेक वस्तुओं का बोध करते हैं। अतः वस्तुतः हमारे अन्दर कोई सामान्य प्रत्यय नहीं है। सभी प्रत्यय किसी न किसी विशिष्ट वस्तु के हैं। किन्तु एक ही पद से अनेक वस्तुओं को सूचित करने की आदत हमारे अन्दर है जो उस पद द्वारा जगाई जाती है, जिससे लगता है कि हमारे अन्दर कोई सामान्य प्रत्यय है[19] इस प्रकार वस्तुतः अमूर्त प्रत्ययों की सत्ता ह्यूम नहीं मानता है। इस मत को नामवाद की संज्ञा दी जाती है क्योंकि इसके अनुसार सामान्यों या जातियों की सत्ता नहीं है। जहाँ लगता है कि कोई प्रत्यय किसी सामान्य को बोधित करता हैं वहाँ वस्तुतः अनेक विशिष्टों के लिए एक समान नाम प्रयुक्त होता है।

(च) शब्दार्थ की कसौटी

ह्यूम के दर्शन में प्रत्ययों का बड़ा महत्त्वपूर्ण स्थान है। शब्दों या पदों के अर्थ की व्याख्या भी वह प्रत्ययों के माध्यम से ही करता है। उसके अनुसार किसी पद का अर्थ वह प्रत्यय है जिसका वह प्रतीक है, जिसके लिए वह प्रयुक्त होता है या जिसका वह निर्देश या प्रतिनिधान करता है। किसी पद का व्यवहार उसके द्वारा व्यक्त प्रत्यय के आधार पर स्थिर किया जाता है। एक खास ढंग से उसका व्यवहार करते-करते हमारे अन्दर वैसा ही व्यवहार करने की आदत पड़ जाती है। इसी तरीके से भाषीय परम्पराएँ बनती हैं। इसलिए इस प्रश्न का उत्तर कि अमुक पद अमुक ढंग से क्यों व्यक्त किया जाता है यही होगा कि वह अमुक प्रत्यय का प्रतिनिधित्व करता है। परन्तु यह आवश्यक नहीं है कि सम्बन्धित प्रत्यय हमेशा हमारे मस्तिष्क के सामने हो जब हम उसे व्यक्त करने वाले पद का प्रयोग करते हैं। अभ्यास हो जाने से बिना प्रत्ययों का ध्यान किए हुए भी हम उनके वाचक पदों का व्यवहार अर्थपूर्ण ढंग से कर सकते हैं। किन्तु प्रत्यय का होना, पदों के द्वारा प्रत्ययों का निर्देश होना, उनके अर्थवान होने के लिए अनिवार्य है। उनकी अर्थवत्ता भाषीय व्यवहार का परिणाम नहीं है, बल्कि भाषीय व्यवहार

19. प्रबन्ध पहला भाग, पृ. 27–28.

उनके द्वारा निर्दिष्ट प्रत्ययों द्वार नियन्त्रित होता है। इसलिए भले ही साधारणतः, रोजमर्रा के भाषीय व्यवहार में, हमें प्रत्ययों की चेतना न हो, किन्तु जब यह प्रश्न उठे कि कोई पद अर्थपूर्ण है या नहीं, तब हमें इसका उत्तर देने के लिए देखना पड़ेगा कि किसी प्रत्यय का निर्देश वह करता है या नहीं। पदों के अर्थ उनके द्वारा निर्दिष्ट प्रत्यय ही होते हैं, इसलिए यदि किसी पद द्वारा किसी भी प्रत्यय का निर्देश नहीं होता हो तो उसे अर्थहीन ही कहा जायगा।

इस मत के व्यावहारिक प्रयोग से ह्यूम का विश्वास है, कि अनेक दार्शनिक गुत्थियों और झमेलों को आसानी से सुलझाया जा सकता है, और अनेक अतिगूढ़ दीखने वाली तत्त्व मीमांसीय समस्याओं और उनके तथाकथित समाधानों को निरर्थक या अनर्गल सिद्ध कर दर्शन को स्वस्थ बनाया जा सकता है। कुछ प्रत्यय, विशेषकर अमूर्त प्रत्यय, अत्यन्त ही धूमिल और अस्पष्ट होते हैं इसलिए उनको उनसे कुछ मिलते-जुलते, किन्तु वस्तुतः भिन्न, अन्य प्रत्ययों से अभिन्न समझ लेने की भूल करना बड़ा सरल है, और इस प्रकार उनके वाचक पदों का गलत अर्थ में व्यवहार होने लगता है। जब हम किसी पद के व्यवहार में अभ्यस्त हो जाते हैं तो कभी-कभी यह भी होता है कि उसके अर्थहीन होने पर भी सोचते हैं। कि कोई प्रत्यय विशेष उसके द्वारा निर्दिष्ट होता होगा। इस प्रकार प्रत्ययों के विषय में भूल करना, दो भिन्न प्रत्ययों का अभिन्न समझना या जहां किसी पद से प्रत्यय निर्दिष्ट नहीं हो रहा है वहाँ भी समझना कि हो रहा है, सहज है। किन्तु प्रत्यक्षानुभव हमेशा सजीव तथा सशक्त होते हैं, और एक दूसरे से उनकी भिन्नता भी अपेक्षाकृत अधिक सुनिश्चित और स्पष्ट होती है। उनके विषय में उपर्युक्त प्रकार की भूलें करना आसान नहीं है। इसलिए ह्यूम कहता है कि हमें पदों के अर्थ-सम्बन्धी विवादों की सुलझाने के लिए प्रत्यक्षानुभवों की जांच करनी चाहिए क्योंकि हर एक प्रत्यय का आधार या जनक कोई न कोई प्रत्यक्षानुभव होता है जब कभी यह संदेह हो कि किसी दार्शनिक पद का कोई अर्थ है या नहीं तो हमें यह देखना चाहिए कि उससे निर्दिष्ट समझे जाने वाले प्रत्यय का जनक कौनसा प्रत्यक्षानुभव है। यदि किसी प्रत्यक्षानुभव को इसका जनक कहना असम्भव है तो हमें उस पद को निरर्थक करार देना चाहिए।[20]

ह्यूम का अर्थ-सिद्धान्त पूर्णतः निर्दोष नहीं होते हुए भी बड़ा ही प्रभावशाली सिद्ध हुआ है। तार्किक अनुभववाद का अर्थ-सिद्धान्त इसका परिष्कृत-परिमार्जित रूप कहा जा सकता है। इसका प्रयोग भी तार्किक अनुभववादी, जब वे तत्त्वमीमांसा के वाक्यों को असत्यापनीय होने से निरर्थक करते हैं, ह्यूम के बताए ढ़ंग से ही करते हैं किन्तु यहां भी ह्यूम की गलती यह थी कि उसने अर्थ की व्याख्या के लिए प्रत्ययों को माध्यम बनाया। पदों से प्रत्यय हो सकते हैं, किन्तु यह कहना कि

---

20. पहलीखोज, पृ. 22

प्रत्यय ही उनके अर्थ हैं, गलत है। प्रत्यय, ह्यूम के अर्थ में मानसिक, सामयिक सत्ता वाले, विशिष्ट पदार्थ या घटनाएं हैं जब कि पदों के अर्थ को मानसिक या सामायिक घटनाओं के रूप में नहीं समझा जा सकता। अर्थ का नियन्त्रण भाषीय नियम करते हैं जबकि प्रत्ययों पर उनका कोई प्रभाव नहीं रहता। भाषा सदा सामाजिक जीवन का अंग होती है, और इसके माध्यम से हम सामाजिक व्यवहार, एक दूसरे के साथ आदान-प्रदान करते हैं। किन्तु प्रत्यय सदा किसी न किसी व्यक्ति के होंगे और एक व्यक्ति किसी अन्य के प्रत्ययों का अनुभव नहीं कर सकता। ह्यूम के लिए भी प्रत्यय व्यक्तिगत, व्यक्ति-आश्रित होते हैं। उसके अनुसार मैं "क" की बात तभी ठीक-ठीक समझ सकता हूँ जब यह जानलूँ कि उसकी बात को व्यक्त करने वाले पदों से निर्दिष्ट प्रत्यय कौन-कौन से हैं। किन्तु यह प्रत्यय तो "क" के होंगे, मैं उनका अनुभव नहीं कर सकता, और इसी कारण से उसकी बातों को भी नहीं समझ सकता। इस प्रकार भाषा का सामाजिक, अंतर्वैयक्तिक प्रयोग असम्भव हो जायगा। अपने अर्थ सिद्धान्त के प्रतिपादन में प्रत्ययों का जिक्र न कर, और तद्नुरूप अन्य परिवर्तन कर, इन आक्षेपों से ह्यूम काफी हद तक बच सकता है। तार्किक अनुभववादियों ने बहुत कुछ ऐसा ही किया है। ह्यूम की विशेषता है कि उसके अधिकांश सिद्धान्तों में छोटे-मोटे परिवर्तन कर उनसे कई समविषयक आधुनिक सिद्धान्त निकाले जा सकते हैं।

(छ) निश्चयात्मक एवं आनुभविक ज्ञान में भेद

ह्यूम के अनुभववाद का निष्कर्ष है कि हमारी बोध शक्ति की सीमा अनुभव की सीमा है। अनुभव से प्राप्त प्रत्ययों का विश्लेषण, संश्लेषण, उनकी तुलना, उनके पारस्परिक सम्बन्धों की छान-बीन इत्यादि ही बुद्धि कर सकती है। वह कोई भी नवीन प्रत्यय अपने आप नहीं बना सकती। उसकी सृजनात्मकता बहुत ही सीमित है।

मनुष्य के ज्ञान के विषय, ह्यूम के अनुसार या तो प्रत्ययों के सम्बन्ध होते हैं या तथ्य। इन दोनों के अतिरिक्त अन्य कोई वस्तु ज्ञान का विषय नहीं है, और ये दोनों ज्ञान के सभी विषयों को अपने में समाहित कर लेते हैं। प्रत्ययों के संबंधों का ज्ञान हमें तर्क-शास्त्र, ज्यामीति, अंकगणित, और बीज गणित में होता है और तथ्यों का ज्ञान आनुभविक विज्ञानों जैसे भौतिकी, मनोविज्ञान आदि में। पहले प्रकार का ज्ञान तर्क, चिन्तन द्वारा प्राप्त होता है। हमारी बुद्धि प्रत्ययों के विश्लेषण द्वारा, उनके स्वरूप पर चिन्तन द्वारा ऐसे ज्ञान को प्राप्त करती है। इसके लिए अनुभव की, निरीक्षण और प्रयोग की अपेक्षा नहीं होती। बल्कि यहां पर अनुभव का सहारा लेने का प्रश्न नहीं उठता। यह ज्ञान निश्चयात्मक तथा अनिवार्य होता है, आपातिक नहीं। प्रत्ययों के सम्बन्ध-विषयक कई प्रतिज्ञप्ति यदि सत्य है तो अनिवार्यतः सत्य है, और यदि सत्य है तो अनिवार्यतः असत्य। यह

सम्भव नहीं है कि कोई सत्य प्रतिज्ञप्ति किसी विशेष परिस्थिति में असत्य हो जाय या कोई असत्य प्रतिज्ञप्ति सत्य। जो सत्य है उसके लिए कभी असत्य होना असम्भव है और जो असत्य है उसके लिए कभी सत्य होना। ऐसी प्रतिज्ञप्तियों में जो सत्य हैं उनकी विरोधी प्रतिज्ञप्ति व्याघातपूर्ण होती है। अर्थात् यदि दो प्रत्ययों के सम्बन्ध को व्यक्त करने वाली किसी सत्य प्रतिज्ञप्ति को नकारते हैं तो हमारे नकारने से बनी प्रतिज्ञप्ति असत्य ही नहीं बल्कि व्याघातपूर्ण होगी, उसका असत्य होना अनिवार्य होगा।

तथ्यों का ज्ञान, इसके विपरीत, अनुभव द्वारा, न कि चिंतन या बौद्धिक विश्लेषण द्वारा होता है। ऐसा ज्ञान अनिवार्य नहीं बल्कि आपातिक होता है। यदि कोई तथ्यात्मक प्रतिज्ञप्ति सत्य हैं या असत्य है तो उसका सत्य या असत्य होना अनिवार्य नहीं हैं। हर एक तथ्यात्मक प्रतिज्ञप्ति के विरोधी की कल्पना बिना किसी व्याघात के की जा सकती है। इस प्रकार प्रत्ययात्मक ज्ञान अनुभव निरपेक्ष या प्रागनुभविक है, जब कि तथ्यात्मक ज्ञान अनुभव-सापैक्ष या आनुभाविक है।[21]

यहां पर ह्यूम अपने ढंग से विश्लेषणात्मक और संश्लेषणात्मक प्रतिज्ञप्तियों का अंतर बतलाता है। उसका यह मत दर्शन के इतिहास में बड़ा प्रभावशाली सिद्ध हुआ है। विश्लेषणात्मक और संश्लेषणात्मक का द्वैत तार्किक अनुभववाद की एक महत्त्वपूर्ण मान्यता बन गया था और आज भी अनेक दार्शनिक इसे स्वीकार करते हैं। इसे दर्शन के इतिहास को ह्यूम की एक महत्त्वपूर्ण मौलिक देन कहने में तनिक भी अतिरंजना नहीं है।

प्रत्ययों के सम्बन्ध और तथ्यों को छोड़कर यथार्थ ज्ञान का विषय और कुछ भी नहीं है। इसलिए जब हमें यह जानना हो कि किसी रचना से कोई ज्ञान मिलता है या नहीं तो यही पूछना पड़ेगा कि उसके विषय क्या हैं, प्रत्ययों के संबंध या तथ्य। इस पद्धति की अपनाने के सिवा दूसरा कोई रास्ता नहीं है। किन्तु इसके परिणाम बड़े विध्वंसकारी भी हो सकते हैं। बहुत से धर्म या तत्वमीमांसा की पुस्तकों से विषय में यह प्रश्न उठाने से हमें यही उत्तर मिलेगा कि वे न तो प्रत्ययों के सम्बन्धों के विषय में ही कोई तार्किक चिंतन प्रस्तुत करते हैं, न तथ्यों के विषय में कोई आनुभविक ज्ञान। उस स्थिति में उन्हें भस्मीभूत कर देने में कोई नुकसान नहीं है।[22] बीसवीं सदी में तार्किक अनुभववादियों ने इसी तकनीक को अपना कर तत्त्वमीमांसा को अर्थहीन सिद्ध करने का दावा किया है। उनके अनुसार अर्थवान होने के लिये किसी वाक्य को या तो वैश्लेषिक होना पड़ेगा या सांश्लेषिक और अनुभव द्वारा सत्यापनीय। उनका कहना है कि चूंकि तत्त्वमीमांसा के वाक्य न तो वैश्लेषिक

21. वही, पृ. 25
22. वही, पृ. 165

हैं न सांश्लेषिक और न ही सत्यापनीय, इसलिए उन्हें अर्थपूर्ण नहीं माना जा सकता ।

(ज) निश्चयात्मक ज्ञान

निश्चयात्मक ज्ञान का उदाहरण ह्यूम के अनुसार गणित में मिलता है । यह अनिवार्यतः सत्य है कि किसी भी त्रिभुज के तीन कोणों का योग दो समकोण के बराबर होता है । यह प्रतिज्ञप्ति त्रिगुण के प्रत्यय के विश्लेषण मात्र से प्राप्त होती है । इसके लिए हमें अनुभव का सहारा नहीं लेना पड़ता । इसी तरह यदि इस ढेर में पांच पत्थर हैं और दूसरे ढेर में तीन तो दोनों में आठ पत्थर होंगे, अनिवार्यतः सत्य है । अपनी पहली रचना प्रबन्ध में ह्यूम ज्यामिति को अंकगणित से कम निश्चयात्मक मानता है । वह कहता है कि ज्यामिति के प्रत्यय या प्रतिज्ञप्ति पूर्णतः अनुभव निरपेक्ष नहीं है । किन्तु उस ग्रंथ में वह वैधानिक ज्यामिति और व्यवहारिक ज्यामिति के भेद को ठीक-ठीक नहीं समझ पाया था अन्यथा ऐसा करने का कोई कारण नहीं है । पहली खोज में वह इस भूल को सुधार लेता है और सारे गणित को प्रागनुभविक और अनिवार्य मानता है । गणित के स्वरूप के विषय में इस सिद्धांत का निष्कर्ष होता है कि गणित से हमें विश्व के विषय में, अनुभव-जगत के विषय में, कोई ज्ञान नहीं मिलता क्योंकि उसका सम्बन्ध प्रत्ययों के सम्बन्धों से है न कि तथ्यों से । इसलिए यह मानना गलत होगा कि जैसा देकार्त ने माना था कि विश्व के विषय में ज्ञान प्राप्त करने के लिए गणित की पद्धति सर्वश्रेष्ठ है । वह पद्धति तो तथ्यों के ज्ञान के लिए बिल्कुल बेकार होगी । ह्यूम का यह दावा पूर्णतः उचित है कि गणित निश्चायात्मक और तथ्यात्मक दोनों नहीं हो सकता । यदि उसके वाक्य अनिवार्य हैं तो वे तथ्यों के विषय में किस प्रकार का ज्ञान नहीं दे सकते ।

ह्यूम का यह मत भी इतिहास में काफी प्रभावशाली सिद्ध हुआ है । आज के अधिकांश दार्शनिक मानते हैं कि गणित के वाक्य तथ्यात्मक नहीं बल्कि विश्लेणात्मक होते हैं ह्यूम का दावा था कि कोई भी वाक्य अनिवार्य और तथ्यात्मक, अर्थात् प्रागनुभविक और सांश्लेषिक दोनों नहीं हो सकता । इसे चुनौती समझ कर कांट ने अपने सर पर यह प्रमाणित करने का बोझ लिया कि दोनों गुणों-प्रागनुभविकता और सांश्लेषिकता से युक्त वाक्य हो सकते हैं । आज के अधिकांश दार्शनिक ह्यूम के साथ हैं, न कि कांट के ।

निश्चयात्मक ज्ञान की व्याख्या ह्यूम ने प्रत्ययों के सम्बन्धों के माध्यम से की है । किन्तु प्रत्ययों के स्वरूप के विषय में जो उसका मत है उसके मानने पर कुछ बड़ी गंभीर कठिनाइयाँ पैदा होती है । प्रत्यय या तो सरल होते हैं या जटिल । सरल प्रत्ययों में कोई अनिवार्य आपसी सम्बन्ध नहीं होता, वे सभी एक दूसरे से स्वतन्त्र होते हैं । इसलिए यदि हमारे मन में कोई सरल प्रत्यय है तो उसके विषय

में हम कोई अनिवार्य सत्य नहीं दे सकते। यदि कोई प्रत्यय जटिल है तो उसको हम सरल प्रत्ययों में तोड़ सकते हैं, और उसमें उसके अंगरूप सरल प्रत्ययों में संबंध स्थापित कर सकते हैं। किन्तु यहां भी उसके निर्माण करने वाले सरल प्रत्ययों में आपसी अनिवार्य सम्बन्ध नहीं हो सकते। अतः केवल दो जटिल प्रत्ययों या एक जटिल प्रत्यय और उसके निर्माण करने वाले ऐसे सरल प्रत्ययों के बीच ही सम्बन्ध हो सकते हैं। इसलिए प्रत्ययों के बीच सम्बन्ध ढूंढने का कार्य बड़ा सीमित हो जाता है। और क्योंकि ये प्रत्यय ह्यूम के लिए विशिष्ट मानसिक पदार्थों की तरह हैं, इसलिए कोई कह सकता है कि उन में सम्बन्ध ढूंढना दो आनुभविक पदार्थों में सम्बन्ध ढूंढने से भिन्न नहीं है। अतएव प्रत्ययों के सम्बन्ध को अनिवार्य और आनुभविक पदार्थों के सम्बन्धों की आयातिक किस प्रकार कहा जा सकता है? केवल मानसिक होने मात्र से किन्हीं पदार्थों के बीच के सम्बन्ध को अनिवार्य नहीं कहा जा सकता। यदि ह्यूम प्रत्ययों को मनोवैज्ञानिक, मानसिक पदार्थ न मानकर सामान्य मानता तो ऐसी कठिनाई नहीं होती किन्तु वह तो सामान्यों के अस्तित्व को ही स्वीकार नहीं करता।

ह्यूम के लिए प्रत्यय विशिष्ट पदार्थ हैं, सामान्य नहीं। इसलिए यदि मैं किसी त्रिभुज के प्रत्यय का विश्लेषण कर यह सत्य निकालता हूं कि इसके तीनों भुजाओं के बराबर होने पर तीनों कोण भी बराबर होंगे तो यह प्रतिज्ञप्ति उस प्रत्यय विशेष या त्रिभुज विशेष के विषय में ही सत्य होगी। क्या गारन्टी है कि यह सभी समबाहु त्रिभुजों के विषय में सत्य होगी? समबाहु त्रिभुज के प्रत्यय को सामान्य प्रत्यय मान लेने पर कहा जा सकता है कि चूंकि प्रत्यय सामान्य है, उक्त वाक्य सभी ऐसे त्रिभुजों के लिए सत्य है। किन्तु ह्यूम के लिए सामान्य प्रत्यय का अस्तित्व ही नहीं है। जैसे कि हमने देखा है, ह्यूम के अनुसार जहां प्रत्यय सामान्य लगते हैं वहां केवल सामान्य पद का नाम होता है। एक ही पद मात्र का व्यवहार अनके पदार्थों के लिए किया जाता है। यदि ह्यूम विश्लेष्णात्मक वाक्यों की व्याख्या पदों के अर्थों के माध्यम से करता, तो वह इस विषय में एक अत्यन्त आधुनिक मत का प्रतिपादक हो गया होता। फिर भी प्रतिपादक न सही, वह इसका पुर्वानुभावक तो हनिश्चय ही है।

वस्तुतः ह्यूम की सूझ गलत नहीं थी। विश्लेष्णात्मक और संश्लेषणात्मक वाक्यों के भेद को उसने ठीक आंका था, परन्तु वह लॉक के प्रत्यय सिद्धांत से अपने को पूर्णतः मुक्त न कर सका। यदि प्रत्ययों को माध्यम न बनाकर वह भाषा के माध्यम से इस भेद की व्याख्या करता तो उपर्युक्त कठिनायाँ नहीं होती। यदि वह कहता कि गणित के वाक्यों का सत्य या असत्य होना उसमें प्रयुक्त पदों के अर्थ पर पूर्णतः निर्भर है, और आनुभविक विज्ञान के, तथ्यात्मक, वाक्यों का सत्य, असत्य होना तथ्यों द्वारा उनकी सत्यापनीयता पर न कि उनमें प्रयुक्त पदों के अर्थ पर, तो उसका मत उन कठिनाइयों के मुक्त हो जाता जो प्रत्ययों को माध्यम बनाने से

होती हैं। इस मत की ओर भी संकेत ह्यूम के दर्शन में मिलते हैं, किन्तु इस रूप में अपने मत को व्यक्त न करने के लिए हम उसे दोषी भी नहीं ठहरा सकते। यह भाषा आज के दर्शन की है, ह्यूम के दर्शन की नहीं। सम्भवतः वह इस मत को अपने युग की भाषा में कर रहा था।

(झ) आनुभविक ज्ञान और संभाव्यता

जैसा कि कहा गया है, आनुभविक ज्ञान, ह्यूम के अनुसार, अनिवार्य नहीं होता। इसमें कोई अनिवार्यता नहीं है कि सूर्य कल उदय होगा ही। यदि कोई कहे कि सूर्य उदय नहीं होगा तो इसमें न तो कोई व्याघात है, न इसकी असत्यता को तर्कतः प्रमाणित किया जा सकता है क्योंकि इसका असत्य होना असंभव नहीं। सभी आनुभविक प्रतिज्ञप्तियाँ ऐसी ही होती हैं।

आनुभविक ज्ञान, तथ्यों के ज्ञान, का आरम्भ प्रत्यक्षानुभवों से होता है। किन्तु यदि हम अपने को प्रत्यक्ष तक ही सीमित रखें तो हमारा काम नहीं चलेगा। वस्तुतः आनुभविक ज्ञान का आरम्भ भर प्रत्यक्ष से होता है। उसका अधिकांश भाग, या अत्यधिक महत्वपूर्ण भाग, वैसी प्रतिज्ञप्तियों से बना हुआ है जो प्रत्यक्ष के बहुत आगे संकेत करती है। यह ज्ञान कि जिस आम को मैं चख रहा हूँ वह मीठा है प्रत्यक्ष हमें देता है, किन्तु यह बहुत महत्वपूर्ण नहीं है। महत्वपूर्ण तो यह जानना है कि ऐसे सभी आम मीठे होते हैं। वस्तुतः सभी महत्वपूर्ण आनुभविक सत्य प्रत्यक्ष के आगे निर्देश करते हैं। आनुभविक विज्ञानों के तो सभी सत्य प्रत्यक्ष की सीमा को लाँघकर भूत और भविष्य को, अपने में समाहित करते हैं। प्रत्यक्ष से आगे जाने वाले सत्य किस प्रकार स्थापित होते हैं? कुछ दार्शनिक मानते हैं कि हमारी बुद्धि में ऐसी दिव्य शक्ति है कि वह वर्तमान को ही नहीं बल्कि भूत और भविष्य को भी देख लेती है, और वही इन सत्यों को स्थापित करती है या हमारे अन्दर कोई अन्य प्रकार की शक्ति है जो इन्हें खोज निकालती है। अतः ये सत्य प्रागनुभविक हैं, अनुभव से नहीं बल्कि किसी अन्य, अनुभवेतर शक्ति से स्थापित किए जाते हैं। ह्यूम ऐसा नहीं मानता। अनुभव के अतिरिक्त तथ्यों के विषय में ज्ञान प्रदान करने वाला अन्य कोई मार्ग नहीं है। उसके अनुसार इन प्रत्यक्ष से आगे जाने वाले सत्यों की स्थापना अनुमान से होती है। यह अनुमान प्रत्यक्षानुभव से होता है। प्रत्यक्षानुभव से आरम्भकर हम अनुमान द्वारा उससे आगे जाते हैं, जिसका प्रत्यक्ष नहीं करते या कर नहीं सकते उसके विषय में कथन करते हैं। और इस अनुभव का आधार है **कार्य कारण सम्बन्ध**।[23]

अनुमान दो प्रकार का होता है: निश्चयात्मक और आनुभविक। निश्चयात्मक अनुमान में आधार वाक्य से उसका निष्कर्ष तर्कतः आपादित होता है। आधार

23. वही, पृ. 23

वाक्य को मान लेने पर उससे निगमित निष्कर्ष को अस्वीकार करना व्याघातपूर्ण होता है। बल्कि ऐसे अनुमान की वैधता प्रमाणित करने की एक पद्धति यह दिखलाना है कि आधारवाक्य से निगमित निष्कर्ष को अस्वीकार करने से व्याधात उत्पन्न होता है। उदाहरण के लिए 'यह कलम काली हैं' से 'यह कलम रंगीन है' तर्कतः आपादित होता है और बिना व्याधात उत्पन्न किए कोई यह नहीं कह सकता कि कलम काली है किन्तु रंगीन नहीं है। निश्चयात्मक अनुमान में कोई विकल्प नहीं बचता, या तो निष्कर्ष निगमित होता है या नहीं, और यदि निगमित होता है तो आधारवाक्य को स्वीकार कर उसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता। ऐसे अनुमान गणित और (आकारिक) तर्कशास्त्र में पाए जाते हैं। आनुभविक अनुमान निश्चयात्मक नहीं बल्कि संभाव्य होते हैं। आधारवाक्य निष्कर्ष को निश्चित रुप में सत्य प्रमाणित नहीं करता बल्कि उसकी सत्यता को संभाव्य बनाता है। इसमें आधारवाक्य को स्वीकार कर निष्कर्ष को अस्वीकार करने में कोई व्याधात उत्पन्न नहीं होता। एक बार आग से जलने पर हम निष्कर्ष निकालते हैं कि आग हमेशा जलाती है,किन्तु इस अनुमान में कोई अनिवार्यता या निश्चयात्मकता नहीं है। यह कहना कि अभी तो आग जलाती है किंतु भविष्य में नहीं जलाएगी व्याधातपूर्ण नहीं है।

आनुभविक अनुमान से ह्यूम का बड़ा व्यापक अर्थ है। इससे उसका मतलब सिर्फ ऐसे अनुमानों से ही नहीं है जिन्हें हम आजकल की भाषा में आगमन कहते हैं, जिसमें किसी वर्ग के कुछ पदार्थों के आधार पर उस वर्ग के सभी पदार्थो के विषय में निष्कर्ष निकाला जाता है : जैसे किसी टोकरी के कुछ आमों को मीठा पाकर कोई उस टोकरी के सभी आमों के मीठा होने का अनुमान लगा लेता है। ह्यूम का मतलब तो उन सभी अनुमानों से है जिसमें किसी आनुभविक तथ्य के ज्ञान से विशिष्ट या सामान्य, भूत, वर्तमान या भविष्य में आनेवाले, निकट या दूर के किसी भी दूसरे तथ्य के विषय में कोई निष्कर्ष निकाला जाता है। इस प्रकार, आकाश में काले बादल हैं, इसलिए पानी बरसेगा, उसका चेहरा सूखा है, इसलिये वह भूखा है, बगल के कमरे में खून के दाग हैं, इसलिए उसमें किसी की हत्या की गई है, रेडियो से 'क' के गाने की आवाज आती है, इसलिए रेडियो स्टेशन पर उसके गाने की रेकार्ड ली गई है, इत्यादि सभी अनुमानों को ह्यूम के अनुसार आनुभविक अनुमान कहेंगे।

(ढ) कार्य-कारण संबंध का विश्लेषण

कार्य-कारण संबंध ही एक ऐसा संबंध हैं जिसके आधार पर अनुभूत ज्ञान, देखी हुई वस्तु या घटना से हम अननुभूत, अज्ञात, अनदेखी, वस्तु या घटना के विषय में विश्वसनीय अनुमान कर सकते हैं। संक्षेप में, यदि 'क' 'ख' कारण है तो 'क' से 'ख' के विषय में और ख से क के विषय में अनुमान किया जा सकता है जबकि केवल 'क' या केवल 'ख' ही हमारे अनुभव का विषय है। प्रश्न उठता है कि कार्य-कारण संबंध का स्वरूप क्या है? यह किस प्रकार का संबंध है? देकार्त,

स्पिनोजा, आदि कई दार्शनिकों ने इसे अनिवार्य संबंध माना था। अतः उनके अनुसार यदि 'क' 'ख' का कारण है तो 'क' के होने पर 'ख' का होना अनिवार्य है और 'क' से 'ख' के होने का निगमन तर्कतः किया जा सकता है। स्पिोजा ईश्वर (द्रव्य) को विश्व का कारण कहता है और उसकी कारणता की व्याख्या यों करता है कि जिस तरह त्रिभुज की परिभाषा से यह तर्कतः आपादित होता है कि उसके तीनों कोणों का योग दो समकोण के बराबर होगा, उसी तरह ईश्वर से विश्व तर्कतः आपादित होता है। कहना नहीं होगा कि वह तार्किक आपादन और कार्य-कारण भाव को अभिन्न मान लेता है, जो उसकी भयंकर भूल है।

ह्यूम के लिए कार्य-कारण संबंध आनुभविक संबंध है जो वस्तुओं; या घटनाओं के बीच होता है, न कि प्रत्ययों के बीच होने वाला कोई तार्किक संबंध 'क' 'ख' का कारण है, इसका ज्ञान केवल अनुभव से हो सकता है, चिंतन या प्रत्ययों के विश्लेषण से नहीं। अनुभव के बिना हम नहीं जान सकते हैं कि आग से गर्मी पैदा होती है या मिर्च खाने से जीभ लहरती है। आग या मिर्च के विषय में कितना भी सोचें, किन्तु जब तक आग जलाकर न बतायेंगे या मिर्च न खाएंगे, उपर्युक्त प्रकार के ज्ञान नहीं हो सकते। कौन वस्तु किस अन्य वस्तु का कारण या कार्य है, यह ज्ञान अनुभव द्वारा ही हो सकता है। इस संबंध में कोई अनि-वार्यता नहीं है। आग से गर्मी का मिलना एक तथ्य मात्र है। यह कहना कि कल उससे ठंडक मिलेगी न तो निरर्थक है, न बिना सिर-पैर का। इसलिए इसे आपातिक संबंध ही कहेंगे।

किन्तु सिर्फ एक या दो बार आग से गर्मी मिलने से हम आग को गर्मी का कारण नहीं कहते हैं। कार्य-कारण का संबंध होने के लिए अपेक्षित है कि आग और गर्मी में अनवरत संबंध का हमें अनुभव हो। जब दो वस्तुओं या घटनाओं में अनवच्छिन्न, निरंतर संयोग हो, तभी उनमें कार्य-कारण संबंध का आरोप किया जाता है। वस्तुतः यह संबंध दो विशिष्ट वस्तुओं में नहीं बल्कि दो प्रकार या वर्ग की वस्तुओं में होता है। जिस विशिष्ट आग और उससे उत्पन्न जिस विशिष्ट गर्मी का अनुभव हमने आज किया है उन्हीं दोनों का अनुभव दुबारा नहीं होता है। बल्कि उसी तरह की आग से उसी तरह की गर्मी का अनुभव होता है, और ऐसा बार-बार होने से हम कहते हैं कि आग कारण हैं और गर्मी कार्य। काल क्रम में कारण पहले आता है या घटित होता है, और कार्य उसके बाद। कार्य, कारण के तुरन्त बाद भी हो सकता है, जैसे आग जलाने से ही गर्मी लगने लगती है, या काफी अरसे के बाद जैसे पेड़ की जड़ में दीमक लग जाने से महीनों या कभी वर्षों के बाद वह गिर जाता है।

यह कहना कि हर कार्य का कोई कारण होता है आनुभविक प्रतिज्ञप्ति नहीं है। यह तो प्रागनुभाविक, अनिवार्य, सत्य है, क्योंकि कार्य के प्रत्यय में ही यह

निहित होता है कि उसका कोई कारण होगा। कार्य उसी को कहते हैं जिसका कोई कारण है। हर पुत्र का कोई पिता होना अनिवार्य है क्योंकि पुत्र उसी को कहेंगे जिसका कोई पिता है। किन्तु यह कहना कि हर एक सादि वस्तु (या घटना) का कोई कारण होता है प्रागनुभविक या अनिवार्य नहीं है क्योंकि सादि या सारंभ वस्तु, या वस्तु मात्र, के प्रत्यय में यह निहित नहीं होता है कि उसका कोई कारण होगा। 'अकारण वस्तु' या 'अकारण सादि वस्तु', व्याघातपूर्ण पद नहीं हैं।

अनुभव के आधार पर ही हम मानते हैं कि सभी वस्तुओं के कारण होते हैं। यही कार्य कारण सिद्धान्त है। यह हमें अनुभव से मिला है और उसके द्वारा समर्थित भी है। इसे मानकर जो निष्कर्ष हम निकालते हैं, अर्थात तथ्यों के विषयों में जो अनुमान करते हैं उनको आगे के अनुभव का समर्थन मिलता है। कार्य कारण संबंध के आधार पर जब चबाई मिर्च को तीखा पाकर अनचबाई मिर्च के तीखे होने का हम अनुमान करते हैं तो चबाने पर उसे तीखा पाते भी हैं। इसमें कोई अनिवार्यता नहीं हैं कि अमुक कारण से अमुक कार्य ही होगा; यह तो अनुभव ही बतलाता है कि किस से कौनसा कार्य उत्पन्न होता है। कार्य-कारण सिद्धांत हम इसलिए मानते हैं कि अनिवार्य न होने पर भी यह अनुभव द्वारा समर्थित है। अनुभव इसे हमें देता है और इसकी रक्षा करता है। इसके मानने में कुछ खतरा भी हैं क्योंकि इसका असत्य होना असंभव नहीं हैं, किन्तु इस खतरे से बचने के लिए इस सिद्धांत को त्याग देना विवेक शून्यता का ही परिचायक होगा क्योंकि वह अनुभव के निर्देश के विरुद्ध होगा।

आनुभविक अनुमान का रूप यों होता हैं: यहां 'क' है, इसलिए 'ख' भी तुरन्त या बाद में होगा, क्योंकि 'क' 'ख' का कारण है। उसी प्रकार कार्य से कारण का अनुमान हो सकता है: यहां 'ख' है, इसलिए यहां 'क' भी है, या रहा होगा। ऐसे अनुमान का आधार हैं: 'ख' जैसी वस्तुओं के 'क' जैसी वस्तुएं कारण हैं। अनुमान गलत भी हो सकते हैं, जैसे कभी-कभी किसी मिर्च को मैं इस उम्मीद से खाता हूँ कि तीखी निकलेगी किन्तु वह तीखी नहीं निकलती। इसका मतलब यह नहीं है कि मिर्च का तीखापन अकारण हैं, या यह कि कार्य-कारण सिद्धांत गलत है, इसका तो केवल मतलब यह है कि मैंने अनुमान करने में गलती की है। जो मिर्च मैंने कल खाई और उसे तीखी पाई थी, आज की मिर्च उससे भिन्न होगी और उसकी भिन्नता पर ध्यान न देकर, या उसे न पहचान कर मैंने गलत अनुमान लगा लिया कि वह भी कल वाली की तरह ही तीखी होगी।

कारणता का संबंध ह्यूम के लिए, अनवरत संयोग मात्र हैं। यदि 'क' जैसी और 'ख' जैसी चीजों में अनवरत संयोग है तो 'क', 'ख' का कारण है। इसके अतिरिक्त कारणता का कोई दूसरा अर्थ नहीं हैं। उसका कहना हैं कि हरएक

प्रत्यय का जनक कोई प्रत्यक्षानुभव होता है। कारणता के प्रत्यय का भी, यदि वह सरल और सही प्रत्यय है, तो कोई जनक या पूर्वानुगामी होगा। किन्तु जब हम इससे संबंध दो वस्तुओं के विषय में अपने अनुभव को टटोलते हैं तो उनमें अनवरत संयोग के सिवा अन्य किसी प्रकार का संबंध नहीं पाते। कारणता का प्रत्यय इसी अनवरत संयोग का प्रत्यय है। इसे और कुछ मानना, कार्य-कारण में किया अन्य प्रकार के संबंध के होने का दावा करना, अनुभव द्वारा समर्थित न होने से अमान्य हैं।

कारणता-संबंध के अनिवार्य न होने पर अनेक दार्शनिकों ने अनिवार्य कहा हैं, और ह्यूम मानता हैं कि हमारे अंदर ऐसी भावना रहती हैं कि कारण के होने पर कार्य अवश्य होगा। कारण की परिभाषा करते हुए ह्यूम कहता है कि वह वस्तु कार्य होती है जो बाद में और वह वस्तु जिसे हम कारण कहते हैं पहले घटित होती है। समान वस्तुओं के समान कारण होते हैं। कारण-वस्तु का विचार कार्य-वस्तु के विचार को और कार्य-वस्तु का विचार कारण-वस्तु के विचार को जगाता है। एक जगह वह यह भी कहता है कि यदि कारण-वस्तु न हो तो कार्य-वस्तु भी न होगी। उसकी भाषा से यह लगता है कि जिस तरह कारणता-संबंध को हम साधारणतया व्यक्त करते हैं उसमें अनिवार्यता का पुट रहता है। इसलिए प्रश्न उठता है कि जब इसमें वस्तुतः अनिवार्यता नहीं है तो अनिवार्यता की भावना कहां से आती है? हम क्यों ऐसा सोचते हैं कि कारण-वस्तु के होने पर कार्य-वस्तु होगी ही? ह्यूम का उत्तर है: अनिवार्यता कारण-कार्य के संबंध में नहीं है, यह वस्तुगत नहीं है बल्कि पूर्णतः मानसिक है, हमारे मनोविज्ञान का परिणाम है। किन्तु इस निकर्ष को उसने बड़े ही गंभीर विश्लेषण के आधार पर प्रस्तुत किया है। अनिवार्यता के जितने भी (तथाकथित) महत्त्वपूर्ण आधार माने जा सकते हैं, वह उनका निराकरण करने के बाद अपना निष्कर्ष देता है। उसके तर्क का यहां भी मूल आधार यही है कि प्रत्येक सरल प्रत्यय का जनक कोई न कोई प्रत्यक्षानुभव ही होता है।

अनिवार्यता को सही अर्थ में सरल प्रत्यय तभी कहा जायेगा जब हम इसके जनक प्रत्यक्षानुभव को बता सकेंगे। किन्तु जब हम मन के बाहरी वस्तुओं के अपने अनुभव की परीक्षा करते हैं तो देखते हैं कि इससे अनुरूप कोई प्रत्यक्षानुभव नहीं है। कारण और कार्य का ज्ञान अनुभव से होता है। अनुभव ही बतलाता है कि आग गर्मी का कारण है, किन्तु आग में हमें ऐसी शक्ति का अनुभव नहीं होता जिसके चलते कहा जाय कि आग अनिवार्यतः गर्मी को उत्पन्न करती है। आग और गर्मी में अनवरत संयोग के अतिरिक्त अन्य किसी भी प्रकार के संबंध का अनुभव हमें नहीं होता है। हम तो सिर्फ आग और गर्मी के संयोग का अनुभव करते हैं; संयोग की आधारभूत किसी अनिवार्य शक्ति का नहीं। इसलिए बाहरी वस्तुओं के अनुभव के आधार पर यह नहीं कहा जा सकता कि कारण में कोई ऐसी

शक्ति होती है जिससे अनिवार्यतः कार्य उत्पन्न होता है, या यह कि कारणता अनिवार्य संबंध है। किसी वस्तु के प्रथम अनुभव मात्र से हम यह निष्कर्ष नहीं निकाल सकते कि उससे अमुक कार्य उत्पन्न होगा, किन्तु यदि उसमें ऐसी कोई कारणता की अनिवार्य शक्ति हमारी बुद्धि देख पाती तो तत्संबंधी भावी अनुभवों की प्रतीक्षा किए बिना ही हम उसके कार्य को जान लेते।

शायद कोई यह कहे कि अपने मन के व्यापारों या क्रियाओं पर मनन या अनुचिंतन से हमें अनिवार्यता का प्रत्यय प्राप्त होता है। अर्थात्, इसका जनक प्रत्यक्षानुभव कोई आंतरिक अनुभव है। यह साधारण अनुभव की बात है कि संकल्प करने से, इच्छा करने से, अपने अंगों को हम हिला-डुला सकते हैं और मन की कुछ क्रियाओं का भी संचालन कर सकते हैं। संकल्पात्मक अनुभव से अनिवाय शक्ति के प्रत्यय को उत्पन्न समझना बहुतों को युक्तिपूर्ण लगता है। ह्यूम मानता है कि संकल्प का प्रभाव हमारे अंगों के क्रियाकलापों पर पड़ता है। यदि मैं चाहूं तो अपने हाथ पैरों को हिला-डुला सकता हूं। किन्तु इस तथ्य का ज्ञान भी अन्य आनुभविक तथ्यों की तरह अनुभव से ही मिलता है। अपने संकल्प में विद्यमान किसी शक्ति का अनुभव हमें नहीं होता जिससे अपने अंगों के क्रिया-कलापों को हम अनिवार्यतः संबंधित कह सकें, जिससे हम उन्हें बिना भावी अनुभव का सहारा लिए निगमित कर सके। अंगों का हिलना-डुलना उन्हें हिलाने-डुलाने की हमारी इच्छा का अनुगामी होती है; यदि मैं चाहता हूं अंगुलियों से कलम पकड़ूं तो पकड़ लेता हूं। यहां कलम पकड़ने को मेरी चाह कारण है और अंगुलियों द्वारा उसका पकड़ा जाना कार्य। ऐसी घटनाओं का अनुभव हमें हमेशा होता है, किन्तु इस अनुभव के अतिरिक्त इच्छा और अंग-संचालन में संयोग के अनुभव के अतिरिक्त, इच्छा संकल्प में किसी शक्ति के होने का, जिससे अंग-संचालन के कार्य अनिवार्यतः संबंधित कहे जा सकें, अनुभव हमें कभी नहीं होता।

मन और शरीर का संबंध बड़ा रहस्यमय है। सूक्ष्मतम विचार बड़ी भयंकर शारीरिक क्रियाओं का कारण बन सकता है। किन्तु किस प्रकार मन ऐसा कर पाता है, हम ठीक-ठीक नहीं जानते। यह कहने के लिए कि हमारे संकल्प में विद्यमान शक्ति शारीरिक क्रियाओं को उत्पन्न करती है, हमारे पास कोई औचित्य नहीं है। फिर हमारी इच्छा का समान प्रभाव सभी अगों पर नहीं पड़ता है। हम जीभ और अंगुलियों को मन चाहे ढंग से घुमा सकते हैं किन्तु दिल और जिगर हमारी बात नहीं सुनते। ऐसा क्यों होता है? इसका हमारे पास कोई उत्तर नहीं है। यह तो हम अनुभव से ही जानते हैं कि कौन-कौन से अंग पर हमारा नियंत्रण है, और कौन-कौन पर नहीं। किन्तु यदि हमें यह ज्ञान रहता कि जीभ, अंगुलियां तथा कुछ अन्य अंगों के संचालन के लिए संकल्प में एक विशेष शक्ति विद्यमान है, और दिल, जिगर आदि के संचालन के लिए उसमें ऐसी कोई शक्ति नहीं है तो बिना

अनुभव के, प्रागनुभविक रूप में ही हम जान गए होते कि क्यों हमारे अंगों पर हमारे संकल्प का प्रभाव इस प्रकार सीमित है।

शरीर-रचना विज्ञान बतलाता है, ह्यूम कहता है, कि किसी अंग विशेष को हिलाने की हमारी इच्छा का सीधा प्रभाव उस अंग पर नहीं पड़ता है बल्कि इच्छा और उस अंग की क्रिया के बीच में एक अत्यन्त जटिल ताना-बाना रहता है। पहले कई मांसपेशियों, नसों आदि में कुछ क्रियाएं होती हैं और तब जाकर उस अंग से मनचाही क्रिया सम्पन्न कराई जाती है। इस प्रक्रिया के कई अंश हमारे लिए अज्ञात या दुर्बोध हैं। ऐसी स्थिति में यह कहना कि जिस शक्ति के द्वारा संकल्प हमारे अंगों की क्रियाओं का संचालन करता है हमें उसका प्रत्यक्षानुभव होता है उचित नहीं है।

क्या यह कहना ठीक होगा कि उक्त प्रकार की शक्ति का प्रत्यक्षानुभव हमें तब होता है जब संकल्प कर हम मानसिक व्यापार करते हैं, किसी प्रत्यय की परीक्षा, दूसरे से तुलना, आदि करते हैं? ह्यूम के अनुसार ऐसा कहना भी गलत होगा। हम केवल अनुभव से जानते हैं कि संकल्प करने से किस प्रकार के मानसिक व्यापार हम कर सकते हैं, न कि अपने अन्दर विद्यमान किसी शक्ति के बोध से। फिर मानसिक व्यापारों के क्षेत्र में भी, संकल्प का प्रभाव, शरीर पर इसके प्रभाव की तरह, सीमित है, और किस प्रकार सीमित है, उसका ज्ञान भी अनुभव से होता है, न कि बुद्धि से। अपने रागों और वासनाओं पर हमारा नियंत्रण, अपने विचारों, प्रत्ययों की अपेक्षा बहुत कम है। ऐसा क्यों होता है, हम नहीं कह सकते; केवल अनुभव से इतना भर जानते हैं कि ऐसा होता है। यदि किसी शक्ति का हमें अनुभव हुआ रहता तो हम पहले ही जान लेते कि हमारे संकल्प का नियंत्रण किस पर किस मात्रा में है। संकल्प का मानसिक व्यापारों पर प्रभाव सदा एक सा भी नहीं रहता। स्वस्थ व्यक्ति अपने मानसिक व्यापारों पर रोगग्रस्त की अपेक्षा अधिक नियंत्रण रख पाता है। उसी तरह, प्रायः काल में, या पेट भरे रहने पर जो नियंत्रण हम कर पाते हैं वह संध्या के समय या भूखे रहने पर नहीं कर पाते। यह ज्ञान भी अनुभव ही देता है।

उपर्युक्त विश्लेषण के आधार पर ह्यूम का निष्कर्ष है कि कारणता-सम्बन्ध में अनिवार्यता का कारण में विद्यमान किसी शक्ति का प्रत्यय जिसे कार्य अनिवार्यतः उत्पन्न हो, अनुभव-प्रसूत न होने से सही प्रत्यय नहीं है। इस प्रत्यय का जनक प्रत्यक्षानुभव न बाह्य वस्तुओं के अनुभव से मिलता है, न आंतरिक अनुभव से। इसलिए यह कहने का हमारे पास कोई औचित्य नहीं है कि कार्य और कारण में अनिवार्य सम्बन्ध है। यदि हम ऐसा सोचते हैं फिर भी यह अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि हमारे अन्दर ऐसी भावना रहती है कि कारण के होने पर कार्य का होना आवश्यक है। यह इतनी व्यापक है कि इसे धोखा मात्र नहीं कहा जा सकता।

इसलिए प्रश्न उठता है कि हमारे मन में यह क्यों विद्यमान हैं ? इसकी व्याख्या भी ह्यूम ने बड़े ही प्रभावकारी ढ़ंग से की है।

ह्यूम के अनुसार कार्य-कारण सम्बन्ध में आरोपित अनिवार्यता एक जटिल मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया की देन है। जब दो वस्तुओं या घटनाओं, 'क' और 'ख,' में हम संयोग पाते हैं, और व्यापक पैमाने पर हमारा अनुभव बतलाता है कि 'क' जैसी और 'ख' जैसी वस्तुओं या घटनाओं में अनवरत संयोग है, हमारे मन में एक आदत सी पैदा हो जाती है कि 'क' के होने पर 'ख' भी होगा। 'क'-जैसी और 'ख' जैसी चीजों के अनवरत संयोग का अनुभव हमारे अन्दर एक मानसिक आदत पैदा करता है। इस आदत की वजह से 'क' के होने पर 'ख' के होने की हम उम्मीद करने लगते हैं और विश्वास भी कि 'ख' होगा ही। फलस्वरुप हम 'क' से 'ख' का अनुमान करने लगते हैं, परन्तु 'क' जैसी और 'ख'-जैसी चीजों में हम उनके अनवरत संयोग के अतिरिक्त कोई अन्य वास्तविक, अनिवार्य, सम्बन्ध नहीं देखते हैं, हम तो अपने अन्दर उस संयोग से उत्पन्न मानसिक आदत के चलते किसी 'क'-जैसी चीज के रहने पर किसी 'ख'-जैसी चीज के होने की उम्मीद करने लगते हैं। 'क' से 'ख' के अनुमान का आधार यह अभ्यास जनित उम्मीद या प्रत्याशा है। ऐसी बात नहीं कि 'क' से 'ख' होगा ही बल्कि हमारी भावना है कि 'क' से 'ख' होगा ही। यही भावना या आंतरिक अनुभव कारणता में मानी गई अनिवार्यता के प्रत्यय का जनक या आधार है। दो चीजों का क्षणिक संयोग उक्त प्रकार की आदत नहीं पैदा करता। उसके लिए अनवरत संयोग का अनुभव आवश्यक है। इसीलिए अनिवार्यता का आरोप हम वहाँ नहीं करते हैं जहां अनवरत संयोग का अनुभव हमें नहीं हैं।

इस प्रकार कार्य-कारण सम्बन्ध की तथाकथित अनिवार्यता कारण के होने पर कार्य के होने की उम्मीद करने की आदत से उत्पन्न हमारी विवशता है। हमारी आदत ने हमें ऐसी उम्मीद करने के लिए बाध्य कर दिया है। चूंकि एक से दूसरे की उम्मीद करने को हम अभ्यास-वश बाध्य हैं, हम समझने लगते हैं कि एक में दूसरे को उत्पन्न करने के लिए कोई अनिवार्य शक्ति है। अतः हमारे कार्यानुमान (या कारणानुमान) का आधार कार्य-कारण सम्बन्ध की अनिवार्यता नहीं बल्कि उसकी (आरोपित) अनिवार्यता का आधार एक से दूसरे का हमारा अनुमान करना है।[24]

यदि कोई कहे कि ह्यूम कार्य-कारण सम्बन्ध को अस्वीकार करता है तो वह भयंकर भूल करेगा। इस बात पर वह किसी से कम बल नहीं देता कि कार्य-कारण सम्बन्ध महत्त्वपूर्ण हैं और हमारे आनुभविक ज्ञान के विकास में इसका गौरवपूर्ण स्थान है। वह तो अपनी व्याख्या देता है जिसके अनुसार यह मात्र

24. वही, पृ. 60-79

अनवरत संयोग का सम्बन्ध है, अनिवार्यता का नहीं और जो अनिवार्यता हम इसमें सोचते हैं वह हमारी काल्पनिक, मानसिक, विवशता का इसमें आरोपित रूप है।

4. द्रव्य, आत्मा एवं बाह्य जगत —

(क) द्रव्य

द्रव्य और गुण की अवधारणा प्राचीनकाल से ही दार्शनिक चर्चा का महत्वपूर्ण विषय रही है। द्रव्य उसे कहते हैं जिसमें गुण समवेत रहते हैं, या जिस पर आधारित रहते हैं और गुण उसे जिसका हमें अनुभव होता है किन्तु वह स्वयं अपना आधार या अधिष्ठान नहीं बन सकता। गुण में एक प्रकार की अक्षमता, या अपूर्णता निहित है जिससे उसे किसी द्रव्य का आश्रय लेना पड़ता है। आमतौर पर द्रव्य और गुण का भेद इसी तरह किया जाता है, किन्तु इस तरह भेद करने से कई बड़ी ही जटिल समस्याएं पैदा होती हैं। लॉक ने कहा था कि अनुभव हमें केवल गुणों का ही होता है, किन्तु चूंकि गुण अपने आप में अस्तित्ववान होने की क्षमता नहीं रखते, चूंकि उन्हें किसी अधिष्ठान की आवश्यकता है, इसलिए उनके अधिष्ठान के रूप में द्रव्य को भी अस्तित्ववान मानना पड़ेगा, अन्यथा गुणों के अस्तित्व की व्याख्या नहीं हो सकती। कुछ गुण एक साथ पाये जाते हैं और जब तक उनको एक साथ रखने वाले किसी द्रव्य को नहीं माना जायेगा तब तक उनके साहचर्य की व्याख्या नहीं की जा सकती। लॉक मानता है कि द्रव्य का हमें कभी अनुभव नहीं होता, अनुभव से हमें कभी द्रव्य का प्रत्यय नहीं मिलता। फिर उपर्युक्त तर्क के आधार पर, जो एक प्रकार का परोक्ष प्रमाण है, वह द्रव्य को मान लेता है। बर्कले भौतिक द्रव्य को तो नहीं मानता, किन्तु आत्मा या आध्यात्मिक द्रव्य को वह अस्वीकार नहीं कर सका। इस विषय में दोनों ने ही अनुभव की सीमा का अतिक्रमण किया है और इसलिए दोनों का अनुभववाद असंगत बन जाता है। संगत अनुभववादी अनुभव से प्राप्त न हो सकने वाले प्रत्यय को सच्चा प्रत्यय नहीं मान सकता।

लॉक और बर्कले की अपेक्षा ह्यूम अधिक सक्षम तर्कशास्त्री था, और संगति के लिए उसका आग्रह उनसे अधिक सक्षम था। अनुभव से प्राप्त न हो सकने पर भी लॉक और बर्कले द्रव्य के प्रत्यय को मोहवश अयथार्थ नहीं कह सके। ह्यूम के अन्दर ऐसा मोह नहीं था। उसके अनुसार द्रव्य का प्रत्यय अयथार्थ है। चूंकि किसी प्रकार का अनुभव हमें कभी भी द्रव्य के प्रत्यय को नहीं देता, इसलिए इसे यथार्थ नहीं कहा जा सकता और भौतिक हो या आध्यात्मिक, सभी द्रव्य इस विषय में समान हैं। हर एक सरल यथार्थ प्रत्यय के जनक के रूप में कोई न कोई प्रत्यक्षानुभव रहता है। द्रव्य के प्रत्यय का जनक कोई भी प्रत्यक्षानुभव नहीं है। न तो हमें कभी अपनी किसी ऐंद्रिय-आँख, कान, जीभ इत्यादि से द्रव्य का प्रत्यक्षानुभव होता है, न कभी अन्तर्निरीक्षण से। आँख से रंग का, कान से शब्द का,

जीभ से स्वाद का अनुभव होता है, किन्तु रंग, शब्द या स्वाद के आधार-स्वरूप किसी द्रव्य का नहीं। इसी तरह अन्तर्निरीक्षण, या आंतरिक, मानसिक, अनुभव से हमें सुख, दुख, क्रोध आदि की ही चेतना होती है न कि उनके भोक्ता किसी आत्मा-रूपी द्रव्य की। इस तरह द्रव्य का कोई स्वतंत्र प्रत्यय हमें अनुभव के किसी भी मार्ग से नहीं मिलता। और अनुभव के अतिरिक्त स्वतन्त्र प्रत्ययों को प्रस्तुत करने वाला दूसरा कोई साधन है ही नहीं। जिसे हम द्रव्य कहते हैं वह गुणों का संघात मात्र है, गुणों से भिन्न द्रव्य नाम के किसी पदार्थ का ज्ञान हमें नहीं होता। तर्क और भाषा में भी द्रव्य का अर्थ गुणों का संघात ही है[25] वस्तुतः गुण-संघात से स्वतन्त्र या भिन्न पदार्थ के रूप में द्रव्य को मानना द्रव्य के प्रत्यय को निरर्थक कर देना है। इस प्रकार ह्यूम का निष्कर्ष है कि किसी भी प्रकार के भौतिक या मानसिक द्रव्य को यथार्थ मानने का हमारे पास कोई औचित्य नहीं है।

(ख) आत्मा

ह्यूम जानता है कि कुछ दार्शनिकों के अनुसार हमें आत्मा का—जो उनके लिए आध्यात्मिक या मानसिक द्रव्य, हमारे अनुभवों का भोक्ता, अनुभवकर्त्ता, है—अनुभव होता है। वे कहते हैं कि हम अनुभव करते हैं कि आत्मा द्रव्य-रूप है, अनुभवों का संघात मात्र नहीं, और यह भी कि उसमें अविछिन्नता है, निरंतरता है, एकात्मता या **सारूप्यता** है। अपने विभिन्न परिवर्तनशील, अनुभव के आधार स्वरूप आत्मा स्वयं निरंतर एक-रूप रहने वाला पदार्थ है। ह्यूम का कहना है कि यह मत अनुभव से समर्थित नहीं है। एक तो हमें कभी द्रव्य-रूप आत्मा का अनुभव नहीं होता। वह कौन-सा प्रत्यक्षानुभव है जिसे आत्मा के प्रत्यय का जनक कहा जा सकता है? दूसरे, आत्मा के प्रत्यय को अनुभव से प्राप्त मानने में व्याघात भी हैं। यदि आत्मा का प्रत्यय किसी प्रत्यक्षानुभव से प्राप्त है तो अन्य प्रत्ययों के जनक प्रत्यक्षानुभवों की तरह वह प्रत्यक्षानुभव भी एक विशिष्ट प्रत्यक्षानुभव होगा। परन्तु आत्मा को कोई एक विशिष्ट, प्रत्यक्षानुभव नहीं, बल्कि अनुभवों का आश्रय, अधिष्ठान या भोक्ता माना जाता है। किन्तु यह मानना कि आत्मा का प्रत्यय अनुभव-प्रदत्त हैं और साथ ही यह भी कि आत्मा सभी अनुभवों का आश्रय है व्याघातपूर्ण हैं। और चूँकि आत्मा को अविच्छिन्न माना जाता हैं, इसके प्रत्यय के तथाकथित जनक प्रत्यक्षानुभव को भी अविच्छिन्न मानना पड़ेगा। कहा जाता हैं कि आत्मा हमारे जीवन भर एक जैसी रहती हैं। इसलिए एक अविच्छिन्न प्रत्यक्षानुभव का होना भी आवश्यक होगा जिससे जीवन भर हमें आत्मा का प्रत्यय मिलता रहे। किन्तु इस प्रकार का कोई भी प्रत्यक्षानुभव नहीं हैं। कोई भी प्रत्यक्षानुभव अविच्छिन्न, निरंतर एक-सा रहने वाला नहीं होता।

ह्यूम के अनुसार कभी द्रव्य-रूप अनुभव-कर्त्ता आत्मा या मन का हमें अनुभव नहीं होता। अनुभव के आधार पर हम यही कह सकते हैं कि आत्मा

---

25. प्रबंध, भाग 1, पृ. 24

सतत् परिवर्तनशील अनुभवों का संघात या पुलिंदा भर हैं। भले ही हम अन्यथा सोचते हों, परन्तु इसमें किसी प्रकार की अविच्छिन्नता, एकात्मकता या निरवयवता नहीं हैं।

यहां प्रश्न उठता हैं कि यदि आत्मा परिवर्तनशील अनुभवों की पुलिंदा मात्र हैं तो वैयक्तिक एकात्मकता या सारूप्यता के प्रत्यय की क्या व्याख्या होगी ? ह्यूम इसे अस्वीकार नहीं कर सकता कि हमारे अंदर यह धारणा हैं कि आत्मा में सारूप्य होता हैं। अर्थात् जो इन पंक्तियों को लिख रहा हैं वह वही व्यक्ति हैं जिसने पिछले पृष्ठों को लिखा हैं और जो आगे आने वाले कुछ पृष्ठों को लिखेगा। हम यह भी मानते हैं कि एक ही व्यक्ति जो आज बालक है, वह कुछ वर्षों में युवा होगा और फिर वृद्ध। ह्यूम इस समस्या से अवगत हैं और उसने इसकी व्याख्या देने की चेष्टा भी की है।

ह्यूम के अनुसार आत्मा के सारूप्य का प्रत्यय कल्पना-प्रसूत या मनगढ़ंत है, किन्तु इसके कल्पित होने की व्याख्या उसने बड़ी सूझ के साथ की है। उसके लिये यह समस्या मनोवैज्ञानिक है। जबकि अनुभव से यह प्रत्यय प्राप्त नहीं है तो किस मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया से हम इसे अर्जित करते हैं ? इस प्रक्रिया को मुख्यतः वह कल्पना की क्रिया मानता है। जब दो अनुभवों में सादृश्य होता है और उनके अनुभूत होने में समय का अंतराल होता हैं तो हम कल्पना करने लगते हैं कि वे दो भिन्न अनुभव नहीं, बल्कि एक ही अनुभव के भिन्न रूप हैं अर्थात् सोचने लगते हैं कि दोनों में सारूप्य या एकात्मता है। इसी तरह भिन्न-भिन्न समय में होने वाले भिन्न-भिन्न अनुभवों में सादृश्य होने से हम उनमें एकात्मता ही नहीं मान लेते बल्कि यह भी कल्पना करने लगते हैं कि उनके अधिष्ठान के रूप में एक द्रव्य-रूप आत्मा है जो अपने विभिन्न अनुभवों में एक समान रहती है। अर्थात् सादृश्य और समय के अंतराल के माध्यम से एकात्मता की व्याख्या ह्यूम करता है। भौतिक वस्तुओं की एकात्मता की व्याख्या भी वह इसी पद्धति से करता हैं। मैं कहता हूं कि जिस कलम से मैं अभी लिख रहा हूं वह वही कलम है जिससे मैं दो रोज पहले लिख रहा था। यहां भी दो रोज पहले के और अभी के प्रत्यक्ष अनुभवों में सादृश्य होने से मैं सोचता हूं कि वे दोनों एक ही अनुभव के विभिन्न रूप हैं और उनके आश्रय के रूप में एक कलम द्रव्य की भी कल्पना कर लेता हूं। ऐसी कल्पना वस्तुतः एक भूल है किन्तु ह्यूम के अनुसार हमारे अंदर एक जबर्दस्त प्रवृत्ति है जो हमें इस भूल को करने के लिए प्रेरित करती हैं।[26] एकात्मता या सारूप्य वस्तुगत नहीं हैं; ऐसा नहीं हैं कि वस्तुतः दो वस्तुओं में पाया जाने वाला यह कोई संबंध है। यह तो हमारी कल्पना द्वारा आरोपित हैं। दो प्रत्ययों में सादृश्य होने से और समय के अंतराल में एक के बाद दूसरे के होने से, एक से दूसरे पर जाना हमारे लिए बहुत

26. वही, पृ. 238-249

ही सहज हो जाता है और इसी से हम कल्पना करने लगते हैं कि वस्तुतः दो नहीं बल्कि एक ही प्रत्यय दो रूपों में अनुभूत हो रहा है।

सारूप्य या तादात्मय के प्रत्यय में एक प्रकार का विरोधाभास रहता है। यदि हमारे सामने एक ही वस्तु 'क' है तो सारूप्य का प्रश्न ही नहीं उठता। यदि दो बिल्कुल भिन्न वस्तुएं 'क' और 'ख' हैं तब वे दो वस्तुएं हैं, और इसलिए भी सारूप्य का प्रश्न नहीं उठता। सारूप्य को संभव करने के लिए आवश्यक है कि दो वस्तुएं ऐसी हों जो किसी अर्थ में एक भी हों, तभी हम कह सकते हैं कि 'क' और 'ख' में सारूप्य' एकात्मकता या तादात्मय है। एकात्मता इकाई और अनेकता के बीच का प्रत्यय है। इसलिए प्रश्न होता है कि दो चीजें, जब दो हैं तो एक कैसे हो सकती हैं? ह्यूम ने इसकी भी मनोवैज्ञानिक व्याख्या की है। उसने यह बतलाया है कि किस प्रकार वस्तुतः दो अनुभवों या प्रत्ययों के होने पर सादृश्य के द्वारा हमारी कल्पना उन्हें एकात्मक मानने के लिए हमें प्रेरित करती है। तादात्म्य की समस्या तर्कशास्त्रीय भी है, किन्तु ह्यूम ने इसे, कार्य-कारण संबंध की तरह, मनोवैज्ञानिक समझ कर मनोवैज्ञानिक ढंग से इसका विश्लेषण किया है। तार्किक समस्याओं पर मनोवैज्ञानिक रंग चढ़ाने की ह्यूम की प्रवृत्ति का यह उदाहरण है। उसने यह तो बतलाया कि हम क्यों दो प्रत्ययों में तादात्म्य मानते हैं, किन्तु इस तार्किक प्रश्न का कि उनमें तादात्म्य मानना वैध है या नहीं, और वैध है तो क्यों, वह कोई उत्तर नहीं देता। मनोवैज्ञानिक विश्लेषण सिर्फ यही बतला सकता है कि किस मानसिक प्रक्रिया के फलस्वरूप हम दो प्रत्ययों में तादात्म्य देखते हैं, यह नहीं कि ऐसा देखना तर्कतः उचित है या अनुचित। लगता है कि ह्यूम के अनुसार चूंकि तादात्म्य कल्पना प्रसूत है, इसे वैध नहीं कहा जा सकता। किन्तु इसके लिए अपेक्षित उपयुक्त तर्क के बिना उसका ऐसा मानना उचित नहीं है। प्रत्ययों के किसी भी संबंध की वैधता या अवैधता उनकी कारण-भूत मानसिक प्रक्रिया से निर्दिष्ट नहीं होती है' वैधता-अवैधता के लिए तार्किक आधार अपेक्षित है।

(ग) बाह्य जगत

बाह्य जगत से हम उन सभी चीजों को समझते हैं जो हमारे मन और उसके अनुभवों से भिन्न और स्वतंत्र हैं। कलम, टेबिल, घर, दीवारें, तार इत्यादि बाह्य जगत की वस्तुएँ हैं। इन वस्तुओं को हम मन पर आश्रित नहीं मानते हैं। हम समझते हैं कि उनका अनुभव हमें हो या न हो, उनका अस्तित्व बरकरार रहता है। वे बाहर की वस्तुएँ हैं, हमारे मन के अंदर की नहीं, जैसे हमारे प्रत्यय, भावनाएं आदि हैं। उनके अस्तित्व में एक प्रकार की निरंतरता, एकात्मता भी रहती है। जिस कलम से मैं कल लिख रहा था, उसी से आज भी लिख रहा हूं—यह वही कलम है, समय के अंतराल से इसके अस्तित्व में कोई भेद नहीं पड़ा है। इस

प्रकार हम समझते हैं कि बाह्य जगत की वस्तुओं में बाह्यता, स्वतंत्रता और एकात्मक है। बाह्यय जगत में हमारा विश्वास हमारे साधारण विश्वासों में से एक है।

ह्यूम के ज्ञान-सिद्धान्त का एक परिणाम यह है कि बाह्य जगत् में हमारा विश्वास औचित्यपूर्ण नहीं है। हमें केवल प्रत्यक्षानुभव मिलते हैं जो हमारे ज्ञान के आदि घटक हैं। इन प्रत्यक्षानुभवों के अतिरिक्त उनके कारण या उत्पादक के रूप में कुछ वस्तुएँ भी है, इसका हमें कभी अनुभव नहीं होता। इसलिए यह मानना कि मन के बाहर भी एक दुनियाँ है, न्याय संगत नहीं है। हमारी इंद्रियां हमें प्रत्यक्षानुभव भर देती हैं, वे कभी यह नहीं बतातीं कि ये प्रत्यक्षानुभव बाह्य वतुस्ओ के चित्र या प्रतिबिंब हैं। कोई कह सकता है कि हमें बाह्य वस्तुओं का प्रत्यय होता है, हम अपने हाथ-पैर टेबिल-कुर्सी, आदि का प्रत्यक्ष करते हैं तो क्यों नहीं बाह्य वस्तुओं को मानें? ह्यूम का कहना है कि हमें बाह्य वस्तुओं का प्रत्यक्ष नहीं होता। हमें तो कुछ अनुभव मात्र मिलते हैं, लंबाई, मोटाई, रंग आदि के। इन अनुभवों से भिन्न किसी वस्तु को मानने की हमारे पास कोई युक्ति नहीं है। हम समझते हैं कि शब्द, रस, गंध आदि के गुण मन से स्वतंत्र हैं। किन्तु इंद्रियानुभव से ये स्वतंत्र नहीं है। इनके अनुभव के अतिरिक्त हमें कुछ नहीं मिलता है। दृष्टि से भी हमें प्रत्यक्षानुभव मात्र मिलता है, मन के बाहर स्थित किसी वस्तु का ज्ञान नहीं होता।

ह्यूम के अनुसार हमारे सभी प्रत्यक्षानुभव समान मर्यादा वाले हैं। अपने आंतरिक अनुभव--सुख, दुख आदि को हम कभी मन से स्वतंत्र किसी वस्तु का सूचक नहीं मानते। आंतरिक प्रत्यक्ष से अनुभव मात्र मिलते हैं। हम यह नहीं समझते कि सुख, दुख, आदि का मन से स्वतंत्र अस्तित्त्व हैं। फिर इंद्रियों से मिले अनुभव को मन से स्वतंत्र वस्तुओं का सूचक क्यों माना जाय? जब हम साधारण तरीके से देखते हैं तो कलम एक दीखती है, किन्तु जब आँख को दबा कर देखते हैं तो एक ही जगह दो कलमें दीखती हैं। दोनों दृष्टियों में कोई भेद नहीं है। इसलिए यदि यह माना जाय कि हमारे इंद्रियानुभव बाह्य वस्तुओं के सूचक हैं तो हम क्या मानें? एक या दो कलम? हमारे सभी प्रत्यक्षानुभव हमारी इंद्रियाँ और मन-शरीर की दशा पर निर्भर रहते हैं। दूरी के अनुसार चीजें छोटी बड़ी दीखती हैं, इनका रूप-रंग भी भिन्न-भिन्न दिखलाई पड़ता है, स्वस्थ और बीमार मनुष्यों के प्रत्यक्ष भी भिन्न-भिन्न होते हैं। इसलिए प्रत्यक्षानुभवों को बाह्य, मन से स्वतंत्र, वस्तुओं का सूचक मानना निरापद नहीं है [27]

प्रश्न है कि जब बाह्य वस्तुओं में विश्वास करने का कोई औचित्य नहीं है तो हम क्यों ऐसा विश्वास करते हैं? इस प्रश्न का भी ह्यूम मनोवैज्ञानिक उत्तर

27. पहली खोज, 151-152, प्रबंध भाग 1, पृ. 182-210

देता है। इस विश्वास का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण कर वह कहता है कि इसमें भी कल्पना का हाथ है। जब कभी अनुभवों की नियमित रूप में पुनरावृत्ति हुआ करती है, मन आसानी से एक अनुभव से दूसरे पर चला जाता है। इसमें समय का अंतराल बाधक नहीं होता। मैंने कलम के काले आकार को कल देखा, और आज भी। इस स्थिति में मन कल्पना कर लेता है कि कल और आज के अंतराल में, जब मैंने कलम को नहीं देखा, कलम का काला आकार अननुभूत रूप में विद्यमान था, और यह भी कि उस अननुभूत रूप का अस्तित्व मन से स्वतंत्र है। इस तरह के अनुभवों में एक प्रकार का तारतम्य, एक प्रकार की सामंजस्यपूर्ण संरचना दीख पड़ती है। कलम के आकर, रंग, लम्बाई, चिकनाहट, आदि के अनुभव नियमित और सामंजस्यपूर्ण ढंग से हुआ करते हैं। यहां भी समय का अंतराल रहता है। मैं कलम का रंग देखता हूं, उसके बाद उसकी चिकनाहट को परखता हूं। कल फिर उसके निब की परीक्षा करता हूं। ऐसी स्थिति में कल्पना मनः सृष्टि कर लेती है कि कलम नाम की एक मन से स्वतंत्र वस्तु है जो इन सारे अनुभवों को एक साथ बांधे हुए है। अतः कलम नाम की वस्तु कल्पना की सृष्टि है, अनुभूत पदार्थ नहीं। यही कल्पना बाह्य वस्तुओं में हमारे विश्वास की जननी है।

द्रव्य-रूप आत्मा के अस्तित्व की तरह बाह्य जगत की भौतिक वस्तुओं के अस्तित्व में भी हमारा विश्वास कल्पना की उपज होने के कारण औचित्यपूर्ण नहीं है। यदि हम तर्क और बुद्धि की कसौटी अपनाते हैं तो हमें इन विश्वासों को त्याग देना चाहिए। किन्तु ह्यूम का कहना हैं कि हमारे अंदर एक अदम्य, प्राकृतिक, प्रवृत्ति हैं जो हमें इन विश्वासों की ओर प्रेरित करती रहती हैं, और हमारे लिए इनसे मुक्त हो जाना संभव नहीं हैं। यहां पर हम प्रकृति और बुद्धि में विरोध पाते हैं। बुद्धि कहती हैं कि बाह्य जगत में विश्वास अनूचित हैं, जबकि हमारी प्राकृतिक प्रवृत्ति उसमें विश्वास करने के लिए हमें विवश करती हैं। यह प्रवृत्ति बुद्धि से अधिक बलवती हैं, और हम इसे दबा नहीं सकते।[28]

(5) नीति शास्त्र—

(क) अधिनैतिक दृष्टिकोण

नीतिशास्त्र में भी ह्यूम का दृष्टिकोण तत्कालीन प्रचलित मतों से बहुत भिन्न हैं। प्रायः नीतिशास्त्र को आदर्शमूलक समझा जाता हैं और इसका लक्ष्य एक आदर्श जीवन का चित्र खींचना माना जाता हैं। अधिकांश महत्वपूर्ण नीति-शास्त्री कुछ आदर्श-निर्धारक सिद्धांत या मूल्य स्थापित करते हैं और यह संस्तुति भी करते हैं कि सभी मनुष्य यथासंभव उन्हें अपने जीवन में उतारें। किन्तु ह्यूम का दृष्टि-कोण आदर्शमूलक न होकर वैश्लेषिक और आनुभविक है। उसका मुख्य प्रश्न यह

---

28. वही

नहीं हैं कि मनुष्य को क्या करना चाहिए, या कैसा जीवन आदर्श नैतिक जीवन होगा। वह तो जानना चाहता है कि हमारे नैतिक पदों का अर्थ क्या है? जब किसी कार्य या मनुष्य की प्रशंसा या निन्दा नैतिक पदों, जैसे 'अच्छा' 'बुरा' आदि द्वारा हम करते हैं तो हम उन पदों से क्या समझते हैं? अर्थात् उसका प्रश्न यह नहीं है कि कौन-से मूल्य नैतिक मूल्य है, बल्कि यह कि किसी चीज को नैतिक दृष्टि से श्रेष्ठ कहने का अर्थ क्या है। ह्यूम का प्रश्न अति आधुनिक है। बीसवीं सदी के तृतीय दशक के बाद के नीतिशास्त्र का मुख्य प्रश्न यही रहा है। ऐसे प्रश्नों की छान-बीन करने वाले प्रयास को अतिनैतिक की संज्ञा दी जाती है। इसलिए यह कहना गलत नहीं होगा कि ह्यूम का नीतिशास्त्र मुख्यतः अतिनैतिक है, न कि आदर्श निर्धारक।

नैतिक पदों के अर्थ निर्धारण में ह्यूम की पद्धति आनुभाविक और वैश्लेषिक है। वह कहता है कि इन पदों का ठीक-ठीक अर्थ समझने के लिए हमें यह देखना है कि वस्तुतः इनका प्रयोग किस प्रकार होता है, वे कौन-सी चीजें हैं जिनकी प्रशंसा या निंदा हम इन पदों द्वारा करते हैं। यह ज्ञान हमें अनुभव से ही हो सकता है, अनुभव ही बतला सकता है कि इन पदों का प्रयोग हम किस प्रकार करते हैं। किन्तु मात्र अनुभव पर्याप्त न होगा। हमें यह भी पता लगाना होगा कि जिन चीजों के लिए उनका प्रयोग होता है उनके सामान्य लक्षण क्या हैं। जैसे हम देखते हैं कि कई प्रकार के कर्मों को हम नैतिक दृष्टि से अच्छा कहते हैं। यदि विश्लेषण से यह पता लग जाए कि उन विभिन्न कर्मों में कोई सामान्य गुण है तो हम कह सकते हैं कि किसी कर्म को नैतिक दृष्टि से अच्छा या कर्तव्य कहने का अर्थ है उक्त गुण से विभूषित होना। इस प्रकार अनुभव से हमें नैतिक पदों के प्रयोग संबंधी तथ्य प्राप्त होते हैं और विश्लेषण से उन तथ्यों के सामान्य गुण या गुणों का ज्ञान होता है। इन गुणों के ज्ञान हुए बिना हमारा नीतिशास्त्रीय (या अधिनैतिक) अनुसंधान पूरा नहीं हो सकता[29] अपनी नीतिशास्त्रीय रचनाओं में ह्यूम ने इस अनुसंधान को बड़े ही तार्किक और भावुकतारहित ढंग से संपन्न किया है। एक तटस्थ विश्लेषक की तरह नैतिक पदों का वह अर्थ स्थिर करता है और किसी नैतिक सिद्धांत या मूल्य के लिए कोई संस्तुति नहीं करता।

(ख) नैतिक पदों के परिभाषक गुण

ह्यूम कहता है कि नैतिक पद साधारणतया मनुष्य और उसकी प्रवृत्तियों क्रियाओं के लिए प्रयुक्त होते हैं। कुछ पदों के प्रयोग से उनकी प्रशंसा की जाती है और कुछ से निन्दा। इस विषय में भाषा का व्यवहार सुस्पष्ट है। उसमें किसी संदेह की गुंजाइश नहीं है कि कौन पद प्रशंसा के लिए और कौन निन्दा के लिए

---

29. दूसरी खोज, पृ. 174

प्रयुक्त होता है । प्रशंसा या निन्दा के आधारभूत नियम क्या हैं, हम क्यों कुछ चिजों की प्रशंसा और कुछ की निन्दा करते हैं, यह जानने के लिए जरूरी है कि हम देखें कि वस्तुतः किन-किन चीजों की प्रशंसा और किन-किन की निन्दा हम करते हैं। यह जानने के बाद हमें पता लगाना होगा कि उनके सामान्य गुण क्या है । ये सामान्य गुण ही नैतिक मूल्यांकन, नैतिक प्रशंसा और निन्दा के आधार भूत नियम प्रस्तुत करते हैं ।[30] इस अनुसंधान में हमें अनुभव और तथ्यों के निरीक्षण को ही अपना पथप्रदर्शक मानना चाहिए, न कि किसी प्रागनुभविक चिन्तन या पक्ष-पात को ।

नैतिक प्रशंसा के सूचक पद 'ईमानदारी', 'दयालु', 'उदार', 'न्यायपूर्ण', 'विश्वसनीय', 'कृतज्ञ' आदि है और नैतिक निन्दा के 'बेईमान', 'निर्दय', 'अनुदार', 'अन्यायी', 'विश्वासघाती', 'कृतघ्न' आदि । ये पद अनेक मनुष्यों और उनकी विभिन्न प्रवृत्तियों और क्रियाओं के लिए प्रयुक्त होते हैं । अपने अनुसंधान आधार पर ह्यूम का कहना है कि सभी प्रशंसनीय कर्मों या प्रवृत्तियों का सामान्य लक्षण है कि वे या तो उस व्यक्ति विशेष के लिए जो उनका कर्त्ता या धारक होता है या दूसरों के लिए सुखद या उपयोगी होते हैं अर्थात् प्रशांसित कर्म या प्रवृत्तियाँ वे हैं जो (1) उस व्यक्ति के लिए, जिनके कर्म या प्रवृत्तियां वे हैं, तत्काल सुखद या आनन्ददायक है, (2) या दूसरों के लिए तत्काल सुखद या आनन्ददायक है (3) या स्वयं उस व्यक्ति के लिए उपयोगी है या (4) दूसरों के लिए उपयोगी है । इन चारों में से कम से कम किसी एक गुण के किसी कर्म में होने पर हम उसकी प्रशंसा करते हैं और उसमें चारों के अभाव होने पर उसके प्रति उदासीन होते हैं तथा उसमें उनके विरोधी गुणों के होने पर उसकी निन्दा करते हैं । ह्यूम का यह निष्कर्ष आनुभाविक है, आगमनात्मक या परिभाषात्मक नहीं । इसे वह किसी अन्य सिद्धान्त से निगमित नहीं करता है, न परिभाषा के रूप में प्रस्तुत करता है उसका दावा है कि यदि सभी प्रकाशित कर्मों की कोई परिक्षा करेगा तो वह भी इसी निष्कर्ष पर आएगा । इस मत की पुष्टि भी वह अनेक उदाहरणों को लेकर, वस्तुतः प्रशंसित गुणों के विश्लेषण द्वारा करता है ।[31]

ह्यूम के मत के खंडन में कोई कह सकता है कि कुछ ऐसी भी क्रियाएं या प्रवृत्तियां है जो न तो उस व्यक्ति के लिए न दूसरों के लिए उपयोगी या सुखद हैं, फिर भी वे प्रशंसित होती है, जैसे इन्द्रिय निग्रह, उपवास, तपस्या, आत्मपीड़न, आत्म-त्याग, मौन, एकांत-वास इत्यादि । इन्हें ह्यूम 'वैरागियों' के सद्गुण कहता है । किन्तु इस तथ्य की वह कोई समुचित व्याख्या नहीं देता । वह कहता है कि इन तथाकथित गुणों की प्रशंसा हम भ्रमवश करते हैं । इनकी प्रशंसा अन्धविश्वास

30. वही
31. वही, पृ॰ 269

और झूठ धर्म के प्रभाव के कारण की जाती है यदि निष्पक्ष और खुले मस्तिष्क से सोंचे तो हम उनकी प्रशंसा नहीं करेंगे। वस्तुतः ये निन्दनीय हैं, न कि प्रशंसनीय,[32]।

जो भी उपयोगी या सुखद है वह ह्यूम के लिए प्रशंसनीय है, मूल्यवान है। यही ह्यूम का मूल्य के विषय में सामान्य सिद्धान्त है। इसी के आधार पर वह सभी निर्जीव या सजीव, वस्तुओं के मूल्य की व्याख्या करता है। जो चीजें सुन्दर कह कर प्रशंसित की जाती हैं वे भी उपयोगी या सुखकर होती हैं। यहां पर प्रश्न उठ खड़ा होता है कि यदि सभी मूल्यवान वस्तुएं उपयोगी या सुखकर हैं तो विभिन्न प्रकार के मूल्यों में भेद हम क्यों करते हैं ? कुछ चीजे सुन्दर कही जाती हैं, कुछ नैतिक दृष्टि से श्रेष्ठ और कुछ ऐसी दृष्टि से श्रेष्ठ जिसका नैतिकता से कोई सम्बन्ध नहीं है। संध्या का आकाश या कोई चित्र सुन्दर कहा जाता है लेखन की दक्षता श्रेष्ठ कही जाती है परन्तु उसका नैतिकता से कोई निक्षेप संबंध नहीं है जबकि वफादारी नैतिक दृष्टि से श्रेष्ठ मानी जाती है। क्यों ? ह्यूम का कहना है कि यद्यपि इन रूपों में आनन्द मिलता है किन्तु वह विभिन्न प्रकार का होता है। जिस भाषा में हम संगीत से मिलने वाले आनन्द का वर्णन कर सकते। उसी तरह किसी निर्जीव पदार्थ से मिलने वाला सुख किसी मनुष्य के चरित्र या भावनाओं के विचार से मिलने वाले सुख से सिद्ध होता है। इस तरह विभिन्न प्रकार के मूल्यों में भेद ह्यूम मूल्यवान वस्तुओं से मिलने वाले सुख या संतोष की भिन्नताओं के माध्यम से करता है।

महत्त्वपूर्ण प्रश्न यहां पर नैतिक और उससे भिन्न या इतर मूल्यांकन के भेद का है। किसी चीज को नैतिकता से भिन्न दृष्टि से अच्छा और किसी अन्य को नैतिक दृष्टि से 'अच्छा' कहने में क्या अन्तर है इस विषय में ह्यूम का उत्तर बड़ा ही स्पष्ट है। वह कहता है कि नैतिक मूल्यांकन केवल मनुष्य के चरित्र भावनाओं और प्रवृत्तियों का होता है, उन्हीं के चिन्तन से मिलने वाले सुख में नैतिक शुभ निहित है। दूसरे, यह मूल्यांकन नैतिक तभी कहा जाता है जबकि वह निष्पक्ष एवं तटस्थ दृष्टि से किया जाता है। अर्थात् नैतिक अच्छाई किसी के चरित्र या इच्छाओं, भावनाओं, के निष्पक्ष चिन्तन से मिलने वाले संतोष या आनन्द में निहित है। यही कारण है कि कभी-कभी हम अपने दुश्मन के गुणों की भी प्रशंसा करते हैं।[33] ह्यूम का यह निष्कर्ष भी आनुभविक और आगमनात्मक है।

(ग) स्वहितवाद का खंडन—

ह्यूम स्वहित-वाद का खण्डन भी अनुभव के आधार पर करता है। वह कहता है कि वस्तुतः, तथ्यतः, परहितेच्छा, दूसरों के हित की भावना का हमारे

---

32. वही पृ. 270
33. प्रबंध दूसरा भाग पृ. 165-183

अन्दर होना उतना ही सत्य है जितना स्वहित की, अपने सुख की, भावना का होना। वह यह नहीं कहता कि स्वहितवाद—वह सिद्धान्त जिसके अनुसार मनुष्य केवल अपना हित चाहता है-अवांछनीय या निन्दनीय है; इसके विरुद्ध उसका आक्षेप तथ्यगत है। उसके अनुसार मानव चरित्र, या मानव प्रकृति के विषय में यह सिद्धान्त तथ्यतः झूठा है। यह तथ्य है कि मनुष्य के अन्दर केवल स्वहित की ही भावना नहीं है, इसलिए स्वहितवाद मानव प्रकृति का झूठा विवरण देता है। अनुभव स्पष्ट रूप में बतलाता है कि हमारे अन्दर परहित, मैत्री, उदारता, दया, प्रेम और कृतज्ञता की, भावनाएँ भी विद्यमान है।[34]

ह्यूम मानता है कि हमारा अपना सुख ही हमारा एक मात्र लक्ष्य नहीं हो सकता। हम यह नहीं कह सकते कि हम जो कुछ करते हैं उसके मूल में केवल अपने सुख के लिए हमारी कामना रहती है, क्योंकि अपने सुख की, स्वहित की, कामना अन्य कई प्रकार की कामनाओं की तुष्टि से तुष्ट होती है। उदाहरण के लिए यदि हम अहंमन्यता नहीं है तो प्रशंसा से महत्त्वाकांक्षा नहीं है तो प्रभुता मिलने से, क्रोध नहीं है तो दुश्मन को दण्डित करने से, हमें कोई सुख नहीं मिलेगा। इसलिए स्वहित कामना किसी अन्य प्रकार की कामनाओं की अपेक्षा रखती है। यदि ये अन्य कामनाएं न हों तो स्वहित की कामना सूख जायगी। इसलिए इसे ही हमारी सभी क्रियाओं का एक मात्र अभिप्रेरक मानना युक्तिसंगत नहीं है।[35]

हमारी इच्छाएं दो प्रकार की होती हैं—मौलिक या प्राथमिक, और गौण या मौलिक इच्छाओं पर अवलम्बित, उदाहरण के लिए, क्षुधापूर्ति की इच्छा मौलिक है और उसका लक्ष्य है भोजन पाना—न कि भोजन से मिलने वाला सुख। भोजन पाने से क्षुधा शान्त होने से, सुख स्वभावतः मिल जाता है, किन्तु सुख पाना क्षुधापूर्ति की इच्छा का लक्ष्य नहीं है। प्राथमिक इच्छाओं से मिले हुए सुख का विचार किसी अप्राथमिक, गौण, इच्छा का लक्ष्य बन सकता है और तब (अप्राथमिक) उस इच्छा की पूर्ति सुख पाने से ही होती है। किन्तु जब तक प्राथमिक इच्छाओं का अस्तित्व नहीं माना जाएगा, तब तक ऐसी गौण इच्छा का अस्तित्व दुर्बोध ही रहेगा। वस्तुतः हमारी क्रियाओं के अभिप्रेरक एक साथ दोनों, प्राथमिक और गौण इच्छाएं होती हैं, न कि कभी केवल प्राथमिक इच्छाएं और कभी केवल स्वसुख की इच्छा।[36] इसलिए स्वहितवादी का यह कहना कि केवल स्वहित, स्वसुख की, इच्छा हमारी क्रियाओं की अभिप्रेरक है अमनोवैज्ञानिक है। स्वहितवाद का ह्यूम का खंडन वस्तुतः निश्चयात्मक है। यदि स्वहितवाद मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त के रूप में प्रस्तुत किया जाता है तो इसका ह्यूम द्वारा किया गया खंडन अकाट्य है।

---

34. दूसरी खोज पृ. 298
35. वही, पृ. 301
36. वही, पृ. 301–302

(घ) नैतिक निर्णय का स्वरूप—

ह्यूम के अनुसार नैतिक निर्णय का अपना विशिष्ट स्थान है। वह दोनों तथ्यों के और प्रत्ययों के सम्बन्धों को व्यक्त करने वाले निर्णयों से भिन्न है। तथ्यात्मक निर्णय वर्णात्मक होता है, मूल्यात्मक नहीं। प्रत्ययों के आपसी सम्बन्धों को व्यक्त करने वाला निर्णय भी मूल्यात्मक न होकर वैश्लेषिक होता है। न इससे किसी तथ्य का वर्णन होता है, न कोई मूल्यांकन। नैतिक और तथ्यात्मक निर्णयों का भेद प्रायः लोग भूल जाया करते हैं और तथ्यात्मक से नैतिक निर्णय निगमित करने लगते हैं। ह्यूम ने बतलाया कि दोनों के बीच एक बड़ी तार्किक खाई है जो कभी पाटी नहीं जा सकती। किसी भी तरह तथ्यात्मक निर्णय से नैतिक निर्णय का निगमन वैध नहीं हो सकता। नैतिक निर्णय में कर्तव्य, 'चाहिए' की भावना व्यक्त होती है, किसी तथ्य का वर्णन मात्र नहीं होता। तथ्यात्मक निर्णय का सम्बन्ध मूल्यवान से नहीं बल्कि तथ्य वस्तु स्थिति के वर्णन से हैं। "है 'चाहिए' को अनुमति नहीं किया जा कता।[37]

तथ्यात्मक और नैतिक निर्णयों के तार्किक, अवधारणात्मक, भेद को संभवतः ह्य म पहले किसी दार्शनिक ने इतने जोरदार शब्दों में नहीं व्यक्त किया था। यद्यपि मूर, ह्यूम की पंक्तियों या उसके विचारों का उल्लेख नहीं करता है, यह स्पष्ट है कि जिस सत्य की ओर उसने प्राकृतिक दोष के सिद्धांत द्वारा हमारा ध्यान आकृष्ट किया है, उसी सत्य की ओर ह्यूम भी संकेत करता है जब वह यह कहता है कि किसी तथ्यात्मक निर्णय ने किसी मूल्यात्मक निर्णय को निगमन नही किया जा सकता।

नैतिक निर्णय में तथ्य का वर्णन मात्र नहीं होता, उसमें हमारे निर्णय, चयन, हमारी आस्था, इत्यादि व्यक्त होते हैं। उसका प्रभाव हमारे चरित्र पर पड़ता है। किसी वस्तु को अच्छा या बुरा कहने का मतलब है कि हम उसके प्रति अपनी भावना को व्यक्त करते हैं और उसके प्रति किसी विशेष प्रकार की क्रिया को करने के लिये तैयार हैं। अतः वह संवेगात्मक और नियोजक होता है।

ह्यूम के समय यह बहुचर्चित प्रश्न था कि नैतिक निर्णय में बुद्धि और भावना के क्या-क्या कार्य है। हमने देखा है कि ह्यूम के अनुसार बुद्धि का कार्य है प्रत्ययों या तथ्यों के बीच संबन्धों को ढूंढ निकालना और उनका वर्णन करना। चूंकि नैतिक निर्णय न तथ्यात्मक हैं, न प्रत्ययात्मक, इसलिए इन्हें हम बुद्धि से नहीं प्राप्त कर सकते हैं। जब कभी किसी क्रिया या घटना का हम नैतिक दृष्टि से मूल्यांकन करते हैं तो बुद्धि सम्बन्धित तथ्यों या प्रत्ययों का विश्लेषण कर उनके विषय में हमें आवश्यक विवरण प्रस्तुत करती है, किन्तु वह प्रसंशनीय है या निन्दनीय,

---

37. प्रबंध, दूसरा भाग, पृ. 177-178

करणीय है या अकरणीय, यह निर्णय बुद्धि से नहीं बल्कि भावना द्वारा होता है[38] बुद्धि 'क्या है' भर बतलाती है, यह नहीं कि हम क्या करें। वह हमें क्रियाशील नहीं बना सकती। हमारे चरित्र पर, क्रियाओं पर प्रभाव तो भावनाओं का ही पड़ता है। इस दृष्टि से बुद्धि भावना की दासी है।[39]

इस प्रकार नैतिक निर्णय में बुद्धि का कार्य है, किन्तु वह सम्बन्धित तथ्यों की जांच पड़ताल तक ही सीमित है। यह कार्य भी अनिवार्य है। किन्तु इसके सम्पन्न होने मात्र से नैतिक मूल्यांकन सम्पन्न नहीं हो जाता। उसके लिये तो हमें यह निर्णय करना पड़ता है कि स्थिति प्रशंसनीय हैं या निन्दनीय, हमें ऐसी स्थिति में क्या करना चाहिए, इत्यादि वह कार्य जिससे हमारा निर्णय नैतिक या मूल्यात्मक बनता है बुद्धि द्वारा नही बल्कि भावना द्वारा होता है। नैतिक मूल्य या गुण तथ्य-गत नहीं है; वे हमारी क्रियाओं या चरित्र में विद्यमान वस्तुनिष्ठ गुण नहीं है जिनका ज्ञान हम प्रत्यक्ष से, या बौद्धिक विश्लेषण से कर सकते है। कुछ बुद्धिवादी मानते थे कि जिस प्रकार गणित की अवधारणाओं के विश्लेषण से गणित के सत्यों को बुद्धि ढूंढ निकालती है, उसी तरह नैतिक स्थितियों के विश्लेषण से उनके संबंध में उपयुक्त नैतिक निर्णय भी वह ढूँढ सकती है, या कुछ आधारभूत नैतिक सिद्धांतों का ज्ञान करा सकती है जिनसे विशिष्ट नैतिक निर्णय निगमित किए जा सकते हैं। ह्यूम इस मत को अस्वीकार करता है। उसका कहना है बौद्धिक विश्लेषण और नैतिक मूल्यांकन तर्कतः दो विभिन्न प्रकार की क्रियाएं हैं। नैतिक मूल्यांकन हमारे चरित्र और व्यवहार को प्रभावित करता है जबकि बौद्धिक विश्लेषण मात्र में ऐसी क्षमता नहीं है।[40]

(च) संकल्प स्वातंत्र्य–

यह प्रायः माना जाता है कि बिना मानव संकल्प की स्वतंत्रता स्वीकार किए नैतिक मूल्यांकन संभव नहीं हो सकता। यदि चोर ने अपनी स्वेच्छा से चोरी नहीं की है, यदि उसका चोरी करना किसी अन्य सत्ता या किसी अनुल्लंघनीय नियम से अवश्यंभावी रूप में निर्दिष्ट हुआ है तो उस पर हम चोरी का कलंक नहीं लगा सकते और इसलिए उसे दंडित भी नहीं कर सकते। नैतिक प्रशंसा या निन्दा उसी क्रिया के लिए सार्थक होती है जिसे हम स्वेच्छा से अपने संकल्प से प्रेरित होकर, बिना किसी दबाव के, करते हैं।

ह्यूम मानता है कि कार्य-कारण नियम नैतिक और प्राकृतिक दोनों क्षेत्रों में समान रूप से सत्य हैं। हमारी वे क्रियाएं जिनका नैतिक मूल्यांकन संभव है, उतनी ही इस नियम के अंतर्गत है जितनी कि प्राकृतिक घटनाएं। इसलिए यदि

---

38. दूसरी खोज पृ. 172–173
39. प्रबंध, दूसरा भाग, पृ. 127, 167
40. वही, पृ. 167

कार्य-कारण नियम और संकल्प स्वातंत्र्य में विरोध हो तो कार्यकारण नियम को मनुष्य कि क्रियाओं पर लागू मानने से उन्हें प्रेरक संकल्प की स्वतन्त्रता को अस्वीकार करना होगा जिसका परिणाम होगा नैतिक मूल्यांकन की असंभावना। किन्तु यह समस्या ह्यूम के दर्शन में बड़ी आसानी से सुलझ जाती है। जैसा कि हमने देखा है कार्य-कारण सम्बन्ध, उसके अनुसार, अनवरत संयोग मात्र का संबंध है जो कार्य से कारण के और कारण से कार्य के अनुमान को संभव बनाता है। उसमें किसी प्रकार की अनिवार्यता, अवश्य मान्यता या अनुल्लंघनीयता, नहीं हैं। कार्य-कारण नियम को मानव क्रियाओं पर लागू मानने का परिणाम यही होगा कि उनका पूर्वानुमान किया जा सकता है, किसी के चरित्र या उसके जीवन सम्बन्धी भूतकालीन या वर्तमान परिस्थियों, उसकी मनोदशाओं के ज्ञान के आधार पर हम उसकी भावी क्रिया या क्रियाओं का पूर्वानुमान लगा सकते हैं। इसके चलते हम यह मानने के लिए बाध्य नहीं होते हैं कि उसकी क्रियाएं उसकी स्वेच्छा से नहीं होती। संकल्प स्वातंत्र्य पूर्वानुमयता का विरोधी नहीं है; उसका विरोध अनिवार्यता आवश्यकता से है। मानव क्रियाओं का कार्य-कारण नियम से संचालित होने का सही अर्थ है कि उनके भी कार्य और कारण होते हैं, यह नहीं कि उनका किया जाना किसी बाध्यता का परिणाम है। कार्य-कारण में जो अनिवार्यता हम अनुभव करते हैं वह तो ह्यूम के अनुसार मनोवैज्ञानिक है, अभ्यास-जनित है. अनवरत संयोग के अनुभव से उत्पन्न प्रत्याशा का परिणाम है। उसमें तात्विक या वास्तविक अनिवार्यता नहीं है।[41]

अतः कार्य-कारण नियम के क्षेत्र के अन्तर्गत मानव चरित्र को लाने से नैतिक मूल्यांकन असंभव नहीं होता। किन्तु वह वस्तुतः असंभव हो जायेगा यदि परमशुभ सर्वशक्तिमान ईश्वर को सत्य मान लिया जाय। यदि ईश्वर सर्वशक्तिमान है तो मनुष्य की सारी क्रियाएं उसकी इच्छा से नहीं बलिक ईश्वरेच्छा से होती है। उस हालत में हम किसी मनुष्य को उसकी क्रियाओं के लिए उसकी प्रशंसा या निंदा नहीं कर सकते क्योंकि अपनी क्रियाओं का कर्ता वह स्वयं नहीं है। ईश्वर की सर्व-शक्तिमता और नैतिक मूल्याँकन की वास्तविकता को एक साथ नहीं माना जा सकता। किंतु नैतिक मूल्यांकन को अवास्तविक भी नहीं कह सकते क्योंकि अच्छे बुरे का भेद हम वस्तुतः करते हैं, नैतिक भेद हमारी भावना में निहित है। इसलिए नैतिक मूल्यांकन की वास्तविकता सर्वशक्तिमान ईश्वर को असिद्ध करती है। ईश्वर को परम शुभ भी माना जाता है। यदि वह परम शुभ है तो कोई मनुष्य अधर्मी नहीं हो सकता क्योंकि वह जो भी करता है ईश्वरेच्छा से संचालित होकर। परन्तु ईश्वर पूर्णतः शुभ होने के कारण कोई अपराध न कर सकता है न करा सकता है और यदि अपराध दुनियाँ में होते हैं तो उनके लिए ईश्वर ही उत्तरदायी होगा।

41. पहली खोज, पृ. 92

अर्थात् यदि ईश्वर सर्वशक्तिमान है तो मनुष्यों के अपराध के लिए उत्तरदायी है और इसलिए परम शुभ नहीं है, या परम शुभ है और मनुष्यों के अपराधों के लिए उत्तरदायी नहीं है तो सर्वशक्तिमान नहीं है । [42]

6. **धर्म दर्शन**–

यद्यपि अपने धर्म दर्शन में ह्यूम अपनी अनुभववादी और तार्किक विश्लेषण पद्धति का प्रयोग उतनी दृढ़ता से नहीं करता है जैसा कि उसने आत्मा या कारणता के प्रत्ययों के विवेचन में किया है फिर भी धर्म के प्रति उसका दृष्टिकोण उसके अनुभववाद के अनुकूल ही है । धर्म की चर्चा ईसाई धर्म के संदर्भ में ही वह करता है, हांलाकि उसके ईश्वर के विवेचन से सम्वन्धित निष्कर्ष सर्वभौम महत्व रखते हैं ।

ईसाइ धर्म और उससे मिलते जुलते सभी धर्मों में ईश्वर का बड़ा महत्वपूर्ण स्थान है । प्राय: ईश्वर से एक ऐसे परमार्थ तत्व का बोध किया जाता है जो पूर्ण, अनन्त शक्तिसम्पन्न, विश्व का सृष्टा या आदिकारण, नैतिक शासक, मनुष्यों का हितैषी, पूजा श्रद्धा का पात्र आदि है । ईश्वर की परिकल्पना से धार्मिक व्यक्ति दो लक्ष्यों को सिद्ध करना चाहता है : विश्व की व्याख्या और मन की शाँति । ह्यूम ईश्वरवाद की विवेचना व्याख्यात्मक परिकल्पना के रूप में ही करता है और उसका निष्कर्ष है कि विश्व की व्याख्या के लिए न तो ईश्वर को मानना आवश्यक है न उसको मान लेने से यह व्याख्या किसी रूप में सहज की हो पाती है ।

ईश्वर की सत्ता को सिद्ध करने के लिए कई प्रकार के तर्क दिए गए हैं । ह्यूम उनमें से कुछ को तो संपेक्ष में ही गलत सिद्ध करता है और कुछ को विस्तृत परीक्षा के बाद ।

ईश्वर के लिए प्रागनुभविक तर्क भी दिए गए हैं । उदाहरण के लिए तत्व-मीमांसीय तर्क ईश्वर के प्रत्यय से उसकी सत्ता निगमित करता है । चूंकि ईश्वर के प्रत्यय में पूर्णतया निहित है और बिना सत्तावान हुए वह पूर्ण नहीं हो सकता, इसलिए वह सत्तावान है अथवा सत्तावान होना एक ऐसा गुण है जो पूर्णता का आवश्यक घटक है, इसलिए ईश्वर, जो पूर्ण है, अवश्य ही सत्तावान है । इस तर्क को ह्यूम कुछ शब्दों में ही दोष पूर्ण सिद्ध कर देता है । किसी वस्तु के अस्तित्व का अनुमान उसके प्रत्यय के विश्लेषण से नहीं बलिक आनुभविक अनुमान से, उसके कारण या कार्य के आधार पर ही, किया जा सकता है । प्रत्ययों के विश्लेषण मात्र से, प्रत्ययों के आपसी सम्बन्धों के आधार पर किया गया अनुमान तथ्यात्मक नहीं होता । वह किसी वस्तु को अस्तित्त्ववान या अस्तित्वरहित प्रमाणित नहीं कर सकता । जो है, सत्तावान है, वह नहीं भी हो सकता था । किसी भी तथ्य का

42. वही, पृ. 100–101

अस्वीकरण या किसी भी सत्तावान वस्तु को सत्तारहित कहना, व्याघातपूर्ण नहीं होता है। किसी भी वस्तु के अस्तित्व में अनिवार्यता नहीं रहती है। इसलिए किसी वस्तु के प्रत्यय के आधार पर उसका अस्तित्व सिद्ध नहीं हो सकता। वह तो केवल अनुभव के आधार पर ही हो सकता है।[43] ह्यूम का कहना है कि सत्ता या अस्तित्व कोई गुण या तार्किक विधेय नहीं है जिसे ईश्वर के प्रत्यय से, या अन्य गुणों से निगमित किया जा सकता है।[44] यहां पर ह्यूम की सूझ सही थी कि किसी भी वस्तु की सत्ता को केवल बौद्धिक चिंतन के आधार पर नहीं बल्कि अनुभव के आधार पर ही प्रमाणित किया जा सकता है।

कार्य-कारण तर्क भी, ह्यूम के लिए, विस्तृत परीक्षा की अपेक्षा नहीं रखता यह कहना कि ईश्वर होगा ही क्योंकि वह विश्व का कारण है गलत है क्योंकि कभी भी अनुभव हमें 'होगा ही' की अनिवार्यता का ज्ञान नहीं देता। विश्व को कार्य मान लेने पर भी यह सिद्ध नहीं होता है कि उसका कारण ईश्वर ही होगा। हमें कभी भी ईश्वरीय गुणों या क्रिया-कलापों का अनुभव नहीं होता। हमारे सभी सही प्रत्यय अनुभवजनित होते हैं। इसलिए हम नहीं कह सकते कि ईश्वर का प्रत्यय यथार्थ है, अर्थात् इस प्रत्यय से बोधित पदार्थ वास्तविक है, क्योंकि इस प्रत्यय का जनक अनुभव हमें प्राप्त नहीं है।

प्रयोजनमूलक तर्क की ह्यूम विस्तुत परीक्षा करता है और इसे भी ईश्वर को सिद्ध करने में अक्षम पाता है। इस तर्क के हिमायती कहते हैं कि विश्व में प्रयोजन है. साध्य-साधना का संबंध है, विभिन्न वस्तुओं और घटनाओं में संतुलन है, सुव्यवस्था हैं, नियमवर्तिता है। विश्व सोच समझ कर बनाई गई किसी मशीन की तरह है। घड़ी से विभिन्न पुर्जों को एक साथ रख देने भर से घड़ी नहीं बन जाती। घड़ी बनाने के लिए एक घड़ी साज की जरूरत पड़ती है जो अपनी बुद्धि का प्रयोग कर विभिन्न पुर्जों को खास ढ़ंग से सजाता है और किसी प्रयोजन की सिद्ध के लिए बनाता है। उसी तरह चूंकि विश्व भी एक सुव्यस्थित, सुगठित, निर्मित वस्तु की तरह है, इसका निर्माता होना आवश्यक है और यह निर्माता अवश्य ही चेतन बुद्धिमान होगा क्होंकि बिना बुद्धि के ऐसी जटिल मशीन नहीं बनाई जा सकती।

ह्यूम का उत्तर है कि विश्व की सुव्यवस्था के आधार पर, मनुष्य द्वारा बनाई गई चीजों के साथ तुलना कर ईश्वर को सिद्ध करने का प्रयास साम्यानुमान पर आधारित है। जिस तरह घड़ी से घड़ी साज का अनुमान किया जाता है, उसी तरह सुव्यवस्थित विश्व से विश्वसृष्टा ईश्वर का। किन्तु साम्यानुमान बड़ा ही दुर्बल होता है, निश्चात्मक नहीं। यहां पर साम्य भी निर्णयात्मक नहीं है। बल्कि साम्यानुमान के आधार पर यह भी कहा जा सकता है कि विश्व प्राकृतिक नियमों का

43. वही, पृ. 164
44. संवाद, पृ 119

परिणाम है, क्योंकि हम यह भी देखते हैं कि बहुत सी वस्तुएं या घटनाएं प्राकृतिक नियमों द्वारा बनती–बिगड़ती रहती है। दूसरे घड़ी से घड़ी साज का अनुमान तो उपयुक्त हैं क्योंकि हमने अनेक उदाहरणों में घड़ी–घड़ीसाज का संयोग देखा है। कार्य से कारण का अनुमान तभी वैध होता है जब दो वर्गों के पदार्थों में अनवरत संयोग पाया जाता है। घड़ी वर्ग की चीजों और घड़ीसाज वर्ग के मनुष्यों में अनवरत संयोग पाया जाता है। इसलिए किसी नई घड़ी को देखकर हम उसके घड़ीसाज का अनुमान वैध रूप में कर पाते हैं। किन्तु विश्व एक, अद्वितीय है, और ईश्वर भी एक अद्वितीय है। जहाँ दो अद्वितीय, अनोखी वस्तुएं है वहां कार्य–कारण अनुमान नहीं प्रयुक्त हो सकता यदि विश्व जैसी अनेक वस्तुओं के ईश्वर जैसी अनेक वस्तुओं के साथ (सृष्टि-स्रष्टा के रूप में) अनवरत संयोग का अनुभव हमें हुआ रहता तो हम यह सकते थे कि इस, हमारे, विश्व का स्रष्टा भी कोई ईश्वर ही है। किंतु ऐसी बात नहीं है। इसलिए घड़ी–घड़ीसाज और विश्व-विश्वस्रष्टा में पर्याप्त साम्य नहीं है जिसके आधार पर पहले से दूसरे की तुलना कर विश्व से विश्व-स्रष्टा ईश्वर का अनुमान वैध तरीके से किया जा सके।[45]

चूंकि ईश्वर का जो भी ज्ञान हमें मिलता है वह उसकी सृष्टि, विश्व के आधार पर ही मिलता है इसलिए यदि हम विश्व से ईश्वर को अनुमति करते हैं तो उसमें उन्ही गुणों को आरोपित कर सकते हैं जो विश्व की रचना करने के लिए आवश्यक है। कारण में उन्हीं गुणों का आरोप उचित है जिनके बिना कारण कार्य को उत्पन्न नहीं कर सकता है। ईश्वर में उतनी ही बुद्धि या अच्छाई की उतनी ही मात्रा अनुमित की जा सकती है जितनी विश्व से विद्यमान बुद्धि या अच्छाई को उत्पन्न करने के लिये आवश्यक है।[46] अत: यदि विश्व में विद्यमान सुव्यवस्था के आधार पर हम ईश्वर का अनुमान करते हैं तो यह अनुमान एक सीमित ईश्वर का ही हो सकता है क्योंकि ससीम कार्य के लिए असीम कारण का अनुमान औचित्य-पूर्ण नहीं होगा। किन्तु इस तथ्य की भूलकर धर्मप्राण व्यक्ति ईश्वर को असीम मान बठता है।

प्रयोजनमूलक तर्क में एक दोष यह भी है उसके आधार पर ईश्वर की एकता सिद्ध नहीं हो सकती। विश्व की तुलना मानवीय कृतियों से की जाती है और रचनाकार ईश्वर को अनुमित किया जाता है। किन्तु एक ही क्यों? किसी मकान या जहाज को बनाने में अनेक व्यक्ति अपेक्षित होते हैं। कई लोगों के सम्मिलित होने से चीजें बन पाती हैं। विश्व तो और भी जटिल है। तो क्यों नहीं अनेक रचनाकार माने जांय? अनेक ऐसे ईश्वर जो सभी सीमित सामर्थ्य वाले हैं?[47] वस्तुत: निष्पक्ष दृष्टि से देखने पर विश्व किसी मानवीं कृति की अपेक्षा एक

45. पहली खोज पृ. 143–144, 148
46. वही, पृ 136–137
47. संवाद, पृ. 138–148

जीवित प्राणी से अधिक मिलता जुलता है। जीवित प्राणी के उत्पत्ति और विकास जनन या अंकुरण के प्राकृतिक नियमों के चलते होते हैं। एक पेड़ अपने बीजों को जमीन में गिराता है और उससे अन्य पेड़ उत्पन्न हो जाते हैं। कोई मनुष्य उन्हें नहीं उगाता या बड़ा करता। इसलिए हो सकता है विश्व भी बिना किसी चेतन स्रष्टा की अपेक्षा प्राकृतिक नियमों द्वारा उत्पन्न हुआ हो और उन्हीं से संचालित होता हो।[48] ह्यूम का कहना है कि विश्व की व्याख्या के आधार पर न तो हम एक इश्वर का, न केतन ईश्वर का, वैध अनुमान कर सकते हैं।

धार्मिक व्यक्ति मानता है कि ईश्वर उदार, करुणानिधान है, वह सर्वशक्तिमान है, उसके लिए कुछ भी असम्भव या कठिन नहीं। यदि किसी मकान में त्रुटियां हैं, वह आरामदेह या आवश्यक सुविधाओं से पूर्ण नहीं हैं, तो उसके बनानेवाले की हम निन्दा करेंगे, उसे अयोग्य या अक्षम कहेंगे। विश्व में अनेक त्रुटिया हैं। यदि हम मान भी लें कि दुख से अधिक सुख है, फिर भी अन्नत ज्ञान, और अन्नत करुणा से सम्पन्न ईश्वर से हम ऐसी उमीद नहीं करते कि इतना भी दुख वह विश्व में रहने देगा। जो भी दुख है, वह अकारण नहीं हो सकता। यदि ईश्वर ने चाह कर उस दुख को उत्पन्न किया है तो वह करुणानिधान नहीं; यदि दुख उसके न चाहने पर भी है तो वह सर्वशक्तिमान नहीं।[49] ह्यूम का कहना है कि दुख या अशुभ के अस्तित्व को अस्वीकार नहीं किया जा सकता और उसके रहने सर्वशक्तिमान, करुणामय, सर्वज्ञ ईश्वर को विश्व के सृष्टा के रुप में अनुमित नहीं किया जा सकता।

ह्यूम का निष्कर्ष है कि ईश्वर के अस्तित्व में विश्वास करने के लिए पर्याप्त प्रमाण नहीं है। उसका अस्तित्व अनुभव से प्रमाणित नहीं होता, और न अनुभव के आधार पर किए गए अनुमान से। प्रागनुभविक तर्क इस विषय में अप्रासंगिक है। इसलिए हमारे पास ईश्वर को सत्तावान मानने के लिए कोई औचित्य नहीं है। फिर भी ह्यूम को अनीश्वरवादी कहना कठिन है। वह मानता है कि ईश्वर को अस्वीकार करना उतना ही कठिन है जितना बाह्य जगत को, जब कि बाह्य जगत में विश्वास करने के लिए भी हमारे पास कोई तार्किक औचित्य नहीं है। अपने संदेहवादी विचारों के बावजूद मनुष्य को कुछ विश्वासों को स्वीकारना पड़ता है क्योंकि उसे जीना है। पूरी तरह संदेहवादी होना संभव नहीं है।[50] इसलिए तार्किक औचित्य न होने पर भी हमें कुछ चीजों में विश्वास करना पड़ता है क्योंकि ये विश्वास जीवन के लिए उपादेय होते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि ह्यूम के अनुसार ईश्वर की परिकल्पना के पक्ष में केवल इतना ही कहा जा सकता है कि वह उपादेय है, यह नहीं

---

48. वही, पृ 148–154
49. वही, प. 165-188
50. वही, पृ. 106

कि औचित्यपूर्ण या तर्कतः समर्थनीय है। किन्तु यह भी स्पष्ट है कि ऐसी, निराधार, परिकल्पना किसी धर्मप्राण व्यक्ति को वास्तविक शाँति और सन्तोष नहीं दे सकती; ऐसा ईश्वर श्रद्धा का विषय नहीं बन सकता। ह्यूम मानता है कि ईश्वर के प्रत्यय के तार्किक खोखलापन को जान लेने के बाद भी ईश्वर को मनुष्य अपना सहारा बनाए रख सकता है। किन्तु यह असम्भव ही लगता।

7. **संशयवाद**

ह्यूम अपने को स्वयं संशयवादी कहता है और इतिहासकारों ने भी उसे संशयवादी कहा है। संशयवाद एक दार्शनिक सिद्धान्त है और लोक व्यवहार की साधारण भाषा में भी इस पद का प्रयोग मुक्त रूप से होता है। फलतः इसका अर्थ सुनिश्चित नहीं रह गया है। किन्तु जब तक हम इसके विभिन्न अर्थों को अलग-अलग कर नहीं समझेंगे तब तक यह समझना संभव नहीं होगा कि ह्यूम को किस अर्थ में संशयवादी कहा जा सकता है।

कुछ लोग संशयवादी उसे कहते हैं जिसका किसी भी व्यावहारिक या सैद्धान्तिक विषय पर कोई मत नहीं होता या जो मानता है कि किसी भी विचार पर कोई भी मत रखने के लिए कोई विश्वसनीय आधार नहीं हो सकता है। ह्यूम ठीक ही कहता है कि न तो वह स्वयं इस प्रकार का संशयवादी है और न ऐसा संशयवादी कहीं ढूंढने से मिल ही सकता है।[51] वस्तुतः इस प्रकार के उग्र संशयवाद का समर्थक कोई भी नहीं है।

संशयवाद से देकार्त अपना दार्शनिक चिंतन आरम्भ करता है। उसका संशयवाद आरम्भिक है, दार्शनिक चिन्तन की पूर्वगामी स्थिति का सूचक है। उसने कहा कि हमारे सभी वर्तमान ज्ञान और हमारी सभी मानसिक शक्तियाँ अविश्वसनीय हैं। सर्वव्यापक संशय से वह आरंभ करता है और संशय की क्रिया से संशयकर्ता को सिद्ध कर क्रमशः उन सारी चीजों को पुनः स्थापित कर डालता है जिनके अस्तित्व पर उसने संदेह किया था। इस प्रकार का संशयवाद भी ह्यूम के अनुसार व्याधात पूर्ण है[52] यदि सर्वव्यापी संशय से आरंभ किया जाय तो किसी भी तथ्य, जैसे संदेह करने की स्थिति, को भी असंदिग्ध नहीं कहा जा सकता जिससे देकार्त संशयकर्ता आत्मा को निगमित करता है। दूसरे, जब अपनी मानसिक शक्तियां, बुद्धि, इंद्रिय आदि पर भी हमें संदेह है तो चिंतन द्वारा, जो बुद्धि की क्रिया है, किस प्रकार आत्मा को निगमित कर सकते हैं? जब बुद्धि स्वयं विश्वसनीय नहीं है तो उसकी सहायता से निगमित निष्कर्ष किस प्रकार विश्वनीय हो सकता है? इसलिए आत्यंतिक या सर्वग्राही संशयवाद ह्यूम को किसी भी रूप में स्वीकार्य नहीं है। किन्तु वह यह स्वीकार करता है कि यदि संशयवाद को थोड़ा संयत या हलका कर दिया जाय तो

51. पहली खोज—पृ, 149
52. वही, पृ. 149-150

इससे दार्शनिक चिंतन आरंभ करना अच्छा होगा। इस हालत में वह हमें हठवादिता से बचाएगा और अपने अन्वेषण में सतर्क और सावधान रहने में सहायक होगा।

संशयवाद का एक दूसरा प्रकार भी है जो अन्वेषण के परिणाम स्वरूप रखा जाता है। कुछ विद्वान् अन्वेषण करने के बाद इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि हमारी मानसिक शक्तियां अनेक विषयों की छान-बीन में प्रायः लगाई जाती हैं; परन्तु उनके विषय में कोई भी सत्य ढूंढ निकालने में वे अक्षम हैं या जो भी सत्य ज्ञान देने का वे दावा करती हैं वह वस्तुतः सत्य नहीं होता। इस तरह का परिणामी संशयवाद इंद्रियों तक को अविश्वसनीय घोषित करता है। बुद्धि को वह विश्वसनीय नहीं मानता, और गणित को जिसमें बड़ा ही सूक्ष्म बौद्धिक चिंतन प्रयुक्त होता है, विरोधाभासों से ग्रस्त करार करता है। यह संशयवाद बड़ा ही उग्र है, सर्वग्राही है। किन्तु ह्यूम कहता है, इसका सबसे बड़ा ध्वंसक हमारा व्यवहार, हमारी साधारण जीवन चर्या है। भले ही संशयवादी के तर्क अकाट्य हों, वह भले ही तर्कतः प्रमाणित कर दे कि हमारी मानसिक शक्तियां विश्वास के पात्र नहीं है किन्तु हमारा दैनदिन व्यवहार इसका खंडन करता है, हम अपने रोज-मर्रा के व्यवहार में उन्हें अविश्वसनीय नहीं मानते हैं, बल्कि उन पर विश्वास कर अपनी जीवन चर्या चलाते हैं[53] आत्यंतिक संशयवाद के विरुद्ध ह्यूम के अनुसार सबसे बड़ी आपत्ति यह है कि इससे कभी भी कोई स्थायी लाभ नहीं हो सकता। इसका हमारे जीवन पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता, और यदि सचमुच प्रभाव पड़े तो मानव जीवन ही नष्ट हो जायेगा। यदि हम वस्तुतः मान लें कि हमारी सारी शक्तियां पूर्णतः अक्षम हैं तो न तो हम कुछ कह सकेंगे न कर सकेंगे और चुपचाप मानसिक बैठे रहने के सिवा हमारे पास कोई चारा नहीं रहेगा। स्पष्ट है कि ऐसी स्थिति में मानव जाति विनष्ट हो जायेगी[54] इस प्रकार आत्यंतिक संशयवाद का खंडन ह्यूम व्यावहारिक या उपयोगितावादी आधार पर करता हैं।

आरंभिक और परिणामी आत्यंतिक संशयवाद के अतिरिक्त संशयवाद का एक तीसरा भी प्रकार है जिसे ह्यूम अवशमित या न्यूनीकृत संशयवाद कहता हैं। यह सैद्धांतिक संशयवाद हैं। वह अपने संशयवाद को इसी प्रकार का मानता है। उसका दावा है कि वह स्थायी और उपयोगी भी है। यह बतलाता हैं कि मानव की मानसिक शक्तियां सीमित हैं, अपने श्रेष्ठतम प्रयोगों में भी वे एक निर्दिष्ट सीमा के बाहर नहीं कार्य कर सकतीं। कितना भी सावधानी और सतर्कता से उनका प्रयोग किया जाय कुछ चीजें ऐसी हैं जिनका ज्ञान वे नहीं दे सकती। अधिकांश मनुष्य हठवादी होते हैं, वे अपने विचारों को हठपूर्वक सत्य मानते है। वे प्रायः किसी विषय के एक पक्ष को ही देखते हैं और विरोधी तर्कों की उपेक्षा करते हैं। ऐसी स्थिति में यदि उन्हें अपनी मानसिक शक्तियां की सीमित क्षमता का ज्ञान हो

53, वही, पृ. 158-159
54. वही, पृ. 160

जाय तो उनमें नम्रता और संयम का प्रादुर्भाव होगा। उनका अहंकार कम होगा और अपने विरोधियों के प्रति उनकी उपेक्षा की भावना भी घटेगी[55]।

अवशमित संशयवाद का एक अन्य उपयोगी परिणाम यह भी होता है कि हम उन्हीं विषयों की छान-बीन करते हैं जो हमारी सीमित शक्तियों के अनुकूल हैं। मनुष्य की कल्पना शक्ति प्रायः अनियन्त्रित रहती है और अनुभूत वस्तुओं से भिन्न, अत्यन्त ही अजनबी और असाधारण वस्तुओं की तरफ उड़ानें भरने में आनन्द लेती है। उसकी बोध शक्ति की सीमा की चेतना करा कर अवशमित संशयवाद मनुष्य के चिन्तन को पृथ्वी पर लाता है और उन विषयों में लगाने के लिए उत्साहित करता है जो उसकी क्षमता के अनुकूल हैं।[56]

जैसा कि हम देख चुके हैं, ह्यूम के अनुसार शुद्ध बौद्धिक विश्लेषण से प्रत्ययों के सम्बन्धों का ही ज्ञान हो सकता है। प्रत्ययों के सम्बन्धों के विषय में ही निश्चयात्मक ज्ञान संभव है। निश्चयात्मक ज्ञान की यह सीमा है। इसलिए गणित जैसे अमूर्त विज्ञान को, जिसका लक्ष्य निश्चयात्मक ज्ञान है, प्रत्ययों के सम्बन्धों तक ही सीमित रखना उचित है तथ्यात्मक ज्ञान या तथ्यों के सम्बन्धों का ज्ञान, आनुभविक अनुमान, जिसका आधार कार्य कारण सम्बन्ध है, से होता है। इसमें कोई निश्चयात्मकता या अनिवार्यता नहीं होती। जो है या जिसका होना अनुमित है, उसके होने में कोई अनिवार्यता नहीं है। आनुभविक ज्ञान की यही सीमा है जिसका अतिक्रमण न होना चाहिए। सभी आनुभविक विज्ञानों के निष्कर्ष आनुभविक अनुमान पर आश्रित होने से संभाव्य मात्र ही कहे जा सकते हैं, निश्चयात्मक या अनिवार्य नहीं। नैतिकता और समीक्षा, अर्थात् किसी भी प्रकार का मूल्यांकन नैतिक, सौंदर्य विषयक आदि भावना का विषय है, बुद्धि या इन्द्रिय का नहीं, और उसमें भावना तभी काम करती है जब बुद्धि सम्बन्धित विषयों का विवरण और विश्लेषण पहले ही कर चुकी होती है। मूल्यांकन में बुद्धि और भावना की यही अपनी-अपनी सीमाएं हैं। धर्म-विद्या में ईश्वर का अस्तित्व प्रमाणित किया जाता है। जहां तक ये प्रमाण अनुभव से सम्बन्धित हैं अनुभव धर्म के ईश्वर की सत्ता को प्रमाणित नहीं करता। बुद्धि भी उसे प्रमाणित नहीं कर सकती क्योंकि बुद्धि से किसी वस्तु का अस्तित्व प्रमाणित नहीं हो सकता। धर्म-विद्या का वस्तुतः आधार श्रद्धा या आस्था है।[57] इस प्रकार मनुस्य की शक्तियों की सीमाएं हैं और उनका अतिक्रमण भ्रांति, हठवादिता और अंधविश्वास पैदा करता है।

अतः ह्यूम का संशयवाद मानव बोध-शक्ति की अक्षमता पर नहीं बल्कि उसकी सीमा पर बल देता है और उसका दावा है कि इसीलिए यह मानव व्यवहार

---

55. वही, पृ. 161
56. वही, पृ. 162
57. वही, पृ. 163-165

के लिए घातक न होकर उपयोगी ही है। हमने देखा भी है कि वह आत्यांतिक संशयवाद का हिमायती नहीं है क्योंकि वह मानव ज्ञान की असंभावना में विश्वास नहीं करता है, न प्रत्ययों के संबंधों के ज्ञान पर। तथ्यों के संबंधों के ज्ञान को, जो कार्य-कारण संबंध पर आधारित आनुभविक ज्ञान है, वह अनिवार्य न मानकर संभाव्य मानता है। यह ज्ञान भले ही सत्य उतरे किन्तृ इसका सत्य उतरना आवश्यक नहीं है। आग से हाथ जलाने का अनुमान सत्य होता है, किन्तु यदि सत्य न हो तो उसमें कोई असंगति न होगी। इसलिए ऐसे ज्ञान पर सिद्धांततः संदेह किया जा सकता है। इसी तरह हमने देखा है कि (द्रव्यरूप) आत्मा और बाह्य जगत में विश्वास करने के लिए हमारे पास, ह्यूम के अनुसार, कोई सैद्धांतिक आधार नहीं है। यदि अनुभव को ज्ञान का आदि संश्रोत माना जाय और उसका स्वरूप वैसा ही है जैसा ह्यूम ने चित्रित किया है तो आत्मा और बाह्य जगत का ज्ञान हमें नहीं हो सकता। इसका यह मतलब नहीं कि वे हैं किन्तु हमारे लिए अज्ञेय हैं, बल्कि यह कि हमें यह कहने का भी कोई अधिकार नहीं है कि वे हैं, या हैं तो उनका स्वरूप कैसा है।

कोई कह सकता है कि ह्यूम इन के विषय में—आत्मा, बाह्य जगत, कार्य-कारण संबंध पर आश्रित तथ्यात्मक ज्ञान, के विषय में संशयवादी है। किन्तु यहां भी उसका संशयवाद हमारी बोध शक्ति की सीमा पर ही आधारित है। हमारी प्रकृति की संरचना ही ऐसी है कि हमें आत्मा और बाह्य जगत का ज्ञान नहीं होता है। यह एक आनुभाविक सत्य है, हमारी प्रकृति से संबंधित एक तथ्य है। किन्तु कार्य-कारण संबंध पर आश्रि अनुमान का संभाव्य मात्र होना तर्कतः सत्य है—कार्य-कारण संबंध तथ्यगत संबंध है, और तथ्यगत संबंध पर आश्रित अनुमान तर्कतः सत्य या अनिवार्य नहीं हो सकता।

किन्तु क्या इस अवशमित संशयवाद का प्रभाव हमारे व्यावहारिक जीवन पर विध्वंसकारो नहीं होगा? यदि ह्यूम का का कहना सत्य है कि आग से गर्मी का मिलना अनिवार्य, नहीं है तो क्यों पम ठंड से बचने लिए आग जलाएगें? यदि बर्फ से ठंडक मिलना जरुरी नहीं है तो क्यों नहीं हम गर्मी पाने के लिए बर्फ की सिल्ली पर सोयें? इस आपत्ति का उत्तर ह्यूम यों देता है कि ये सारे आक्षेप सैद्धांतिक या दार्शनिक है हमारा दार्शनिक चिंतन कहता है। कि आग से गर्मी का मिलना आवश्यक नहीं है और यदि हम मात्र बोद्धिक प्राणी रहते तो यह जानने के बाद शायद गर्मी के लिए आग जलाना बन्द कर देते। किन्तु हम मात्र बोद्धिक प्राणी नहीं है। हम सामाजिक, व्यावहारिक, क्रियाशील प्राणी भी हैं इसलिए हमारी प्रकृति का व्यावहारिक अंश हमें यह किश्वास करने के लिए बाध्य करता है कि आग आग से गर्यी मिलती रहेगी, बर्फ से ठंडक मिलती रहेगी, और यह विश्वास सैद्धितिक संशय के बावजूद प्रक्षुण्ण रहता है क्योंकि वह हमारे व्यावहारिक जीवन के लिए उपादेय है। ऐसे विश्वासों के लिए हमारे अन्दर एक सुदृढ़ प्रवृति है

जो हमारी प्रकृति का नैसर्गिक अंग है। प्रकृति बुद्धि से बलवती है इसलिए हमारा बुद्धि जनित संयवाद हमारे व्यवहार पर ध्वंशकारी प्रभाव नहीं डालता। ह्यूम का उपदेश है दार्शनिक बनो, बौद्धिक चिंतक बनो, किन्तु मनुष्य भी बने रहो।[58] अर्थात दार्शनिक बन कर अपनी सहज प्रकृति को न नकारो।

स्पष्ट है कि संशयवाद और व्यावहारिक जीवन में समझौता ह्यूम मानव प्रकृति में विभिन्न तत्तों का समावे मानकर करना भी उसके लिए एक आनुभविक सत्य है। किन्तु मानव प्रकृति के इस विवरण की यथार्थता को निर्विवाद नहीं कहा जा सकता। यह मानने में तो आपत्ति नहीं हो सकती कि बुद्धि, मूल प्रकृति, आदि हमारी प्रकृति के कई घटक हैं किन्यु यह कहना कि दोनों के क्रियाकलाप एक दुसरे से स्वतन्त्र हैं, बड़ा कृत्रिम लगता है। यदि ऐसा कहना कृत्रिम न भी हो तो भी इसकी आकृत्रिमता को प्रमाणित करने के किए ह्यूम ने कौई जोरदार प्रमाण नहीं दिया है। लगता है कि वह न तो अपने अनुभववाद से फलित संशयवाद को, तर्वनिष्ठ होने के कारण, त्यागना चाहता था, न व्यावहारिक जीवन के प्रति श्रद्धालु होने के कारण, उन विश्वासों को जिन पर कि व्वावहारिक जीवन चलता है। इसलिए वह समझता है कि दोनों को आमने-सामने रख उनके बीच एक कृत्रिम रेखा खींच देने भर से उनका दार्शनिक दायित्व पूरा हो जाता है।

———

58. वही, प. 9, 108

इम्मेनुअल कांट

(1724—1804)

(किसी दार्शनिक के विचार प्रस्तुत करने की दो विधियाँ हो सकती हैं : एक तो, यथा-सम्भव उसी की पदावली में उसकी बात सारांश में या व्याख्या–टीका के साथ फिर से कह देना और दूसरी, उसके साथ विचार–विमर्श में भाग लेना; अथवा अधिक ठीक शब्दों में, उस विचार का पुन: अवगाहन करना जिसका उसने अवगाहन किया है। यह दूसरी विधि सृजनात्मक है। इस विधि से विचार करने में लेखक को स्वतन्त्रता रहती है और वह उस विचार की उससे भिन्न सम्भावनाएं और आयाम देख सकता है जो मूल लेखक ने देखे थे। इस विधि का आश्रय पहली विधि की अपेक्षा सदैव अधिक फलप्रद होता है। किन्तु जब हम किसी दार्शनिक के विचार ऐसी भाषा में प्रस्तुत करना चाहते हैं जो उससे सर्वथा भिन्न सांस्कृतिक परंपरा की माध्मम रही है जिसमें दार्शनिक ने मूलत: उस विचार का साक्षात्कार किया था, तब सृजनात्मक विधि का आश्रय प्राय: अनिवार्य हो जाता है। यदि कोई इस 'विदेशी' भाषा में भी पहली विधि से ही उस दार्शनिक के विचार प्रस्तुत करना चाहता है तो उसे बहुत सीमा तक नयी पदावली का अविष्कार करना होता है, किन्तु तब भय यह होता है कि संभवत : उसके लेखन में अपेक्षित संप्रेषणीयता नहीं रहेगी। नयी पदावली का प्रयोग, संप्रेषण की हानि करके भी, तब तो उचित कहा जा सकता है जब कोई दार्शनिक परंपरा से हट कर कोई बात कहना चाहता है, अन्यथा नहीं। किंतु यहाँ विरोधाभास यह है कि यदि अन्य परंपरा की भाषा में किये गए विचार को आप नया आयाम देना चाहते हैं, उसकी भिन्न संभावनाएं देखना चाहते हैं, तो इसका एक अच्छा उपाय उसे दूसरी परंपरा की परंपरागत पदावली के माध्यम से विचरना हो सकता है। इसके विपरीत, यदि आप दूसरी परंपरा की बात यथावत् रूप में कहना चाहते हैं तो आपको अपनी भाषा में परंपरागत पदावली को छोड़ कर नयी पदावली का अविष्कार करना होता है। यहाँ हमने यही किया है और इस प्रकार हम इस अद्भुत् प्रतिभा–सम्पन्न विचार की दृष्टि के दूसरे आयामों को भी देख सकते हैं।)

यूरोपीय प्रज्ञोदय (एनलाइटनमेंट) युग के इस जर्मन दार्शनिक की गणना दर्शन के इतिहास के कुछ बहुत थोड़े और प्रमुखतम दार्शनिकों में की जा सकती है; सम्भयतः केवल प्लेटो, अरस्तु और हेगल के साथ। यूरोप के इतिहास में यह युग मनुष्य की महिमा की प्रतिष्ठा का युग कहा जा सकता है। कांट का दर्शन इस महिमा का ही दर्शन है। किंतु किसी दर्शन की महिमा केवल अपने विषय की महिमा से ही निर्धारित नहीं होती, बल्कि अवधारणा की व्यापकता और गहराई से, तथा इस व्यापकता और गहराई के अवगाहन में और इस अवगाहन को अभिव्यक्ति देने में सफलता से भी होती है। कांट का दर्शन

इस मानदण्ड के अनुसार सर्वोच्च महिमामय है। इस कृशकाय दार्शनिक ने चेतना की दैहिक, बौद्धिक और आनुभूतिक वृत्तियों का जो सूक्ष्म और व्यापक मानचित्र प्रस्तुत किया और इसके परे निरवच्छिन्न, निरूपधिक सत्ता की थाह ली वह, उपर्युक्त दो-तीन अपवादों को छोड़कर, अन्यत्र अनुपलभ्य है। ऐसा दार्शनिक युग-बोध का प्रतिनिधि नहीं होता, युग का उद्‌बोधक होता है; इसी से उसके विचार के प्रसंग उसके समकालीन युग में अवश्य खोजे जा सकते हैं किन्तु उसकी दृष्टि को युग से पिरिसीमित नहीं किया जा सकता। इस प्रकार अवश्य ही कॉट हमें कभी-कभी ह्यूम, रूसो तथा वोल्फ आदि के विचारों की प्रतिक्रिया के रूप में चिन्तिन करता दिखलायी पड़ता हैं किन्तु ये क्रियाएं-प्रतिक्रियाएं उसके दर्शन के संबंध.में उसी प्रकार कुछ नहीं बतातीं जिस प्रकार उस काल में यातायात साधनों के विकास की स्थिति उसके कांट निग्जबर्ग से बाहर प्राय: कभी नहीं गये होने के तथ्य के सम्बन्ध में कुछ नहीं बताती। अवश्य कांट ने उस आस्था को सहारा दिया जिसके आधार का ह्यूम उच्छेदन कर रहा था, किन्तु वह कार्य तो डेकार्ट पहले ही कर चुका था; और यदि ह्यूम को, अथवा कहें उसके युग को, डेकार्ट की युक्ति प्रभावित नहीं कर सकी ती काँट की युक्ति यह कर सकती थी या कर सकी, इसका कोई अर्थ नही है। अवश्य कांट का दर्शन आस्था का दर्शन है, किन्तु वह आस्था के बचाव के प्रयत्न का दर्शन नहीं है।

यूरोपीय दर्शन में आरम्भ से ही बुद्धि और संवेद का विरोध एक पूर्व मान्यता रही है और इनमें से एक को सत् का ज्ञापक मान कर दो दर्शन-धाराएं प्रवाहित रही हैं। मध्य युग में अनुभूति को प्राथमिकता मिली और बुद्धि को भ्रामक तथा संवेद को पातक माना गया। ह्यूम ने केवल संवेद को ज्ञान के प्रमाण के रूप में देखा और तब इसे सत् के ज्ञान में असमर्थ पाकर अनास्था के दर्शन की प्रतिष्ठा की। ह्यूम की युक्ति थी कि केवल संवेद ही ज्ञान का साधन है और यह केवल अपना ही ज्ञान कराता है, ज्ञान में शेष केवल वासना और कल्पना (बुद्धि) हैं। बुद्धि केवल सामान्य आकारों की ज्ञापक है, किन्तु ये आकार सत् या सन्मूलक नही हैं। संवेद भी सन्मूलक नहीं है. सत् का ज्ञापक भी नहीं है, इस प्रकार सत् उसके लिए भी अनवगम्य है, किन्तु तब भी जगत् के ज्ञान में केवल वहीं एक निर्विकल्पक : निरूपाधिक : आधार है। उसके अनुसार विषय: जैसेः—मेज कल्पना पोढ़ संवेद-संघात है, इसमें कल्पना निवारणीय है; जिससे शुद्ध संवेद की उपलब्धि हो सके, जो एकमात्र प्रप्रिष्ठा है। क्योंकि संवेद वस्तु * का ज्ञापक नही होने पर भी, किसी न किसी प्रकार वस्तु सत् से सम्बन्धित हैं। यद्यपि ह्यूम ऐसा कहत नहीं है, किन्तु यह उसकी अकथित आस्था है। वह लॉक से अलग है—

---

* 'वस्तु' शब्द का प्रयोग हमने भारतीय दार्शनिक पदावली के अनुसार सन्-तत्त्व के अर्थ में और 'विषय' शब्द का प्रयोग ज्ञान को प्रस्तुत वस्तु—सांवृतिक वस्तु, फिनोमिनल थिंग-के अर्थ में किया हैं।

दैशिक गुणों को वस्तुगत नहीं मानने के कारण और कारणता को कल्पना मानने के कारण, किन्तु वर्कले से भी अलग हैं—संवेद को ही सत् नहीं मानने के कारण।

मनुष्य के तत्व को संवेद तक ही सीमित कर देने के कारण ह्यूम के दर्शन की अवधारणा अत्याधिक संकुचित हो जाती है, उससे कही अधिक संकुचित जितनी केवल बुद्धि को मनुष्य का तत्व मानने से हो सकती है, क्योंकि बुद्धि में अर्थ के विस्तार की सम्भावनाएं बहुत अधिक हैं, किन्तु कांट ने अपने को न संवेद तक सीमित किया, न बुद्धि तक ही, उसने सत्ता और अनुभव के पूरे तंत्र को, बल्कि तंत्र के सूत्रों को अलग–अलग और तंत्र की रचना में एक साथ भी देखा और तब मनुष्य के ज्ञान और तत्व का मानचित्र बनाने का प्रयत्न किया। उसके तीन क्रिटीक तथा धर्म, इतिहास और राजनीति–सम्बन्धी निबन्ध एक ओर अनुभव के प्रत्येक क्षेत्र को, बिना एक को दूसरे में घटाये, निरूपित करते हैं और दूसरी ओर इन्हें मनुष्य के एक ही तत्व में समन्वित करते हैं। उदाहरण के लिए प्लेटो के पास कलात्मक अनुभव और सांवेदनिक अनुभव के लिए कोई उपादान नहीं है, क्योंकि उसके लिए बुद्धि एकमात्र उपादान है; इसी प्रकार ह्यूम के पास किसी भी अनुभव के निरूपण के लिए उपादान नहीं है, क्योंकि उसके लिए एकमात्र उपादान संवेद ही है। किन्तु कांट को यह कठिनाई नहीं है, क्योंकि उसके पास संवेद, बुद्धि, अनुभूति और प्रयत्न सब उपादान उपलब्ध हैं जिनसे वह अनुभव और सत्ता के सब पक्षों का चित्रण कर सकता है। किन्तु ये उपादान पृथक और असबम्द्ध भी नहीं हैं, यद्यपि कांट इनमें पूरी तरह सामरस्य स्थापित नहीं कर पाया। उसकी दार्शनिक व्यवस्था के अनुसार, गोचर जगत् के ज्ञान में संवेद और बुद्धि की परस्पर विरुद्ध किन्तु तव भी पूरक हैं, किन्तु नैतिक वस्तुस्तिथि के : नैतिक नियभ के : ज्ञान में संवेद बाधक और बुद्धि साधक है। गोचर जतत् के ज्ञान में संवेद और बुद्धि की परस्पर पृथकदा तभी तक है जब तक बुद्धि संवेद से नियन्त्रित रहती हैं, संवेद से अनियन्त्रित बुद्धि जब विषय निर्धारण का उसी प्रकार प्रयत्न करती है जिस प्रकार वह संवेद के नियन्त्रण में करती है तब वह अनर्गल कल्पनाओं की रचना करती है; किन्तु जब वह इस प्रकार अनियन्त्रित रूप से निर्धारण नहीं कर के अपने प्रकृत व्यापार (विवेक) में प्रवृत्त होती है तब वह सत् का साक्षात्कार करती है। इन दोनों अवस्थाओं में संवेद और बुद्धि पृथक् और विरूद्ध रहते है : प्रथम में बुद्धि विषय से नियन्त्रित और इस प्रकार अपने प्रकृत व्यापार से : स्वातन्त्र्य और विवेक : वंचित रहती है और दूसरे में स्वतन्त्र किन्तु विषय–वाधा से, इच्छाओं–एषणाओं आदि से, अपने को बचाने में प्रयत्नशील[1] किन्तु एक ऐसा क्षेत्र भी है जिसमें विषय बुद्धि के

1. यहाँ यह द्रष्टव्य है कि वैज्ञानिक संदर्भ में 'संवेद' और नैतिक संदर्भ में 'संवेद' में भेद नहीं करता. जबकि प्रथम में संवेद विषय का घटक और दूसरे में विषय की ओर उत्प्रेरक होता है। दूसरे में वह औपाधिक आत्म होता है, प्रथम में उसका विषय। उदाहरण के लिए, स्वाद भोजन दो प्रकार का विषय हो सकता है—वैज्ञानिक बुद्धि का और इच्छा का, कांट इस इच्छा को भी संवेद कहता है जबकि वास्तव में यह संबेदात्मक आत्मोपाधि है।

स्वतन्त्र व्यापार में उपकरण बनता है, जिसमें वह बुद्धि के स्वतन्त्र संचरण के लिए भूमि बनता है।[2] यह सौन्दर्य-साधना का, निष्काम अध्यवसाय (डिसिटरेस्टेड जजमेंट) का, क्षेत्र है। इसमें बुद्धि विषय को मानो आकर्षित करने लिए अनुज्ञा प्रदान करती है–काम—दहन के पश्चात् काम को अनंग अस्तित्व की स्वीकृति देने के समान, लीला–भाव समान, स्वरूप–विश्रांत ब्रह्म के बजाय सप्रपंच ब्रह्म के समान। इनमें प्रथम दो उपमाएं सौन्दर्य-बोध की एषणाओं से मुक्ति का निरूपण करती हैं और तीसरी इसकी नैतिक बुद्धि से भिन्नता का।

यह सही है कि कांट आरम्भ से तृतीय समन्वय के संबंध में नहीं था; आरम्भ में वह संवेद और बुद्धि के, अथवा कहें जगत् और आत्मा के, क्षेत्र के स्पष्ट विभाजन की योजना के साथ ही प्रवृत्त हुआ था; किन्तु पीछे उसने पाया कि सौन्दर्य–बोध के स्तर पर, लक्ष्योन्मुख निर्णय (टीलिओलॉजीकल–जजमेंट) के स्तर पर, संवेद बुद्धि के स्वतन्त्र व्यापार में उपकरण बनता है और इस प्रकार यहां आत्म और अनात्म का द्वैत एक समन्वित एकत्व में प्रतिफलित होता है : प्राति–भासिक बुद्धि (अंडरस्टैंडिग) का व्यापार संवेद की सापेक्षता में, विषय-निर्धारण के रूप में प्रतिफलित होता में और सौन्दर्य–बोध इन दोनों बुद्धियों के संयोजन में, विषय–बोध की आत्म बोधोन्मुखता में, प्रतिफलित होता है।

इस तीसरे बोध को कांट ने 'रिफ्लेक्टिव जजसेट' का नाम दिया है। प्रातिमासिक बोध भी अध्यवसायात्मक (जजमेंट) ही है, किन्तु उस अध्यवसाय में और इस अध्यवसाय में मौलिक अंतर है। प्रातिभासिक अध्यवसाय में बोध विषयोन्मुख होता और इस अध्यवसाय में विषय बोधोन्मुख (रिफ्लेक्टिव) होता है। कांट के शब्दों में अध्यवसाय साधारणतः विशिष्ट को सामान्य के अंतर्गत रूप में देखने की शक्ति (फैकल्टी) है। यदि सामान्य (नियम या सिद्धांत) प्रदत्त हो, तब जो अध्यवसाय विशिष्ट को इसमें अन्तर्गत करता है वह निर्धारणात्मक (डिटर्मिनेंट) होता है। इसके विपरीत, यदि विशिष्ट प्रदत्त होता है और अध्यावसाय

---

2. In order to distingish whethe anything is beautigi or ut, we refer the represenation not by the understanfn to othe object for cognition but, by the imagination (perhaps in conjunction with the understanding) to the subject and its feeling of pleasure pain." cp. 37 "The pleasant, the beautiful and the good designate then three different rela–tions of representations to the feeling of pleasure and pain, in reference to which we distinguish from one or other objects or methods or representing them." (44)
Kant. Critique of Judgement, Translation by J. H. Bernard, Haigher Publishing Co., New York, 1964.

उसके लिए सामान्य को प्रस्तुत करता है, उस अवस्था में अध्यवसाय बोधोन्मुख होता है।"[3] विशिष्ट के प्रदत्त होने पर उसके लिए सामान्य की खोज प्रस्तुत विषय की रचना और अस्तित्व का प्रयोजन खोजने में है। प्रयोजन की यह खोज या अपेक्षा प्रकृति को स्वातन्त्र्य के अधीन करती है, क्योंकि यहां प्रकृति सिद्ध कारण–नियम से नहीं बल्कि साध्य या भाव्य सत् से प्रेरित होती है।

यह कहा जा सकता है कि तब भी ये तीन सर्वथा पृथक् क्षेत्र हैं, और यद्यपि कांट ने **क्रिटीक ऑफ जजमेंट** में प्रातिभासिक (सांवृतिक) बुद्धि और नैतिक बुद्धि के विरोध का निवारण कर उन्हें समन्वित कर दिया है किन्तु तब भी उसमें संवेद और बुद्धि का दवैत उसी प्रकार बना रहता है और स्वयं स्वलक्षण वस्तु अथवा स्वरूप–सत् तक के द्वैत उसी प्रकार बन आती है? * यह कहा जा सकता है कि स्वरूप सत् के सम्बन्ध में इस प्रकार कोई कल्पना करना कांट की व्यवस्था में अनर्गल हैं; किन्तु सच यह है कि कांट क्रिटीक ऑफ प्योर रीजन के दूसरे संस्करण के प्रवेश में संवेद और प्रागनुभविक संवृतियों अथवा विकल्पों का **एक ही मूल होने की सम्भावना** की बात करता हैं, जिसका अर्थ है कि इनके दो मूल होने की सम्भावना तो है ही। अन्यथा भी, स्वरुप–सत् और प्रातिभासिक का भेद संवेद और संकल्प को दो पृथक् सत्ताओं में प्रतिष्ठित करता प्रतीत होता है। किन्तु सम्भवतः ये कठिनाइयां केवल ऊपरी दृष्टि से ही हें जो किसी भी इतनी व्यापक योजना की प्रस्थापना में दिखायी देनी स्वाभाविक हैं। अन्यथा ये कठिनाइयां उसके दर्शन में वास्तव में नहीं हैं, जैसाकि हम आगे देखने का प्रयत्न करेंगे।

कांट के तीन क्रिटीकों में से प्रथम क्रिटीक ऑफ प्योर रीजन—में हमारे विषयात्नक ज्ञान स्वरूप का विवेचन किया गया है। किन्तु यह ज्ञान कांट के अनुसार, इस प्रकार परिसीमित है कि यह अपनी सीमाओं का उल्लेख कर उनके बाहर के लोक की ओर भी संकेत करता हैं। इसी से इस क्रिटीक में इस विषयोत्तर लोक : आत्मा, ईश्वर, नैतिक नियम : का भी संक्षेप से व्याख्यान है। किन्तु वह व्याख्यान केवल वहीं तक है जहा तक यह विषय–जगत् की, लौकिक अस्तित्व की, सीमाओं के उल्लेख के लिए प्रासंगिक हैं। इस प्रकार यहां इसका व्याख्यान बहुत कुछ निषेधात्मक है। इस पर–लोक या परालोक की यात्रा का वृत्तांत उसके क्रिटीक ऑफ प्रैक्टिकल रीजन में मिलता है।

---

3. वही, प्रवेश, पृ. सं. 15.

* कांट ने पारमार्थिक आत्म (ट्रांसेंडेंट सेल्फ) और पारमार्थिक विषय–सत् (ग्राउंड ऑफ अपीयरेंसिस दोनों को थिंग-इन-इट्सेल्फ) कहा है और उसमें यह संदेह निरंतर बना रहता है कि वह द्वैतवादी है। इस आधार पर फिख्ते और हेगल ने उसके दर्शन को अपूर्ण अथवा व्यवस्थाहीन भी कहा है।

विषय, काँट के अनुसार, वह है जिसका उपादान (मैटर) संवेद है। किन्तु इस उपादान के विषय बनने के लिए नाम-रूपात्मक अति-कल्पना (अप्पर्सेप्शन-कैटेगरीज) का सहयोग भी आवश्यक है। इस नाम-रूप के दो मूल हैं, एक सांवेदनिक चैतन्य * और दूसरा बौद्धिक चैतन्य : सांख्य की पदावली में 1. अन्तःकरण (फोर्म ऑफ टाइम), और इन्द्रियाँ (फोर्म ऑफ स्पेस), तथा 2. बुद्धि। काँट इस नाम-रूप के लिए फोर्म (आकार या मुद्राएं) पद का प्रयोग करता है और इन मुद्राओं या आकारों का स्रोत बाह्‌य वस्तु के विपरीत चैतन्य को बताने के लिए इनके साथ 'अ प्रायराई' (प्रागनुभविक) विशेषण का प्रयोग करता है। इस प्रकार, काँट के अनुसार, यह सम्पूर्ण जगत् नाम-रूपात्मक, आत्मौपाधिक है, सिवाय एक घटक-संवेद-के: संवेद इसका अनाम रूपात्मक उपादान है। इन आकारो या उपाधियों में यह एक मौलिक अन्तर हैं कि एक विकल्पात्मक (कर्तृपरक : स्पांटेनियस) हैं और दूसरी अधिकरणात्मक (रिसेप्टिव)। जैसा 'प्रागनुभविक' पद से लक्षित होता हैं, कांट संवेद को 'अनुभव' और नाम-रूप या आकारों को 'अनुभव से इतर' मानता है। ये अनुभवेत्तर नाम-रूप या आकार, कांट के अनुसार, हमारे द्वारा प्रदत्त हैं जबकि अनुभव—संवेद–चेतना की वह संवृति हैं जो उसमें बाहरी प्रभाव से उत्पन्न होती हैं—इसे चेतना का आदिम उद्दीपन भी कह सकते हैं।

यहां कुछ स्पष्टीकरण अपेक्षित हैं—'उद्दीपन' पद का प्रयोग केवल रूपकात्मक है, और वास्तव में यहां यह अत्यधिक भ्रामक हैं, क्योंकि इससे तुरन्त चक्षु के किरणों द्वारा उद्दीपन या श्रोत्र के ध्वनि-तरंगों द्वारा उद्दीपन की ओर ध्यान जाता है जो कारण-कार्यात्मक सम्बन्ध हैं। किन्तु बाह्‌य 'प्रभाव' द्वारा चेतना का "उद्दीपन" कारण-—कार्यात्मक नहीं है। किन्तु यदि यह कारण–कार्यात्मक नहीं हैं, किन्तु यदि यह कारण—कार्यात्मक नही है तो क्या है. यह देखना तो बाद की बात है, प्रथम बात यह है कि इसे कारण-कार्यात्मक कहना कोटि-व्यामिश्रण (केटेगरी-कन्फूयूजन) करना हैं: यह ऐसा ही हैं जैसा 'मेज' के लिए कहना कि "वह बात करता है।" कारण

---

* संवेदनिक चेतन्य भी वास्तव में द्विव-विध हैं-देशात्मक और कालात्मक। कांट इन्हें बाहय और आन्तर कहकर छुट्टी पा लेता है। उसकी रूचि केवल यह सिद्ध करने तक है कि ये चेतना-मूलक हैं, वस्तुगत नहीं। किन्तु ये किस प्रकार की वृत्तियां हैं, इस ओर उसने अधिक ध्यान नहीं दिया। तो भी, काल अन्त:करण-वृत्तिक है यह उसमें स्पष्ट परिलक्षिन है, देशात्मक वृत्ति के संबंध में कहना कठिन है। मेरे विचार में इसे 'देहोपाधि' कहना चाहिए, कांट इसे इन्द्रियोपधि मानता है। किन्तु सभी देश देहौपाधिक नहीं हैं, उदाहरणत: चित्रगत देश और स्वप्नगत देश। इनमें प्रथम अंत:करणोपाधिक और दूसरा तन्मात्रिक है। किन्तु कांट अपने को देहौपाधिक देश तक ही सीमित रखता है। इस पर हम लेख के अंत में कुछ चर्चा करेंगे। देश की देहौपाधिकता के संबंध में द्रष्टव्य, यशदेव शल्य-विषय और आत्म, पृ० 16-18, चित्र–लिखित देश के संबंध में वहीं पृ० 20-23।

कार्य-सम्बन्ध का अस्तिव केवल नाम-रूप के स्तर पर ही है, उससे दूसरे स्तर पर नहीं है, जबकि संवेद और संवेदाकार में 'प्रतिफलित' बाहर का प्रभाव नाम—रूप से परे है। तब इस 'प्रभाव' का क्या स्वरूप है ? कांट इसके सम्बन्ध में क्रि० प्यो० री० के द्वितीय संस्करण की भूमिका में कहता है "............यद्यपि हम इन विषयों को वस्तुसत् के रूप में जान नहीं सकते किन्तु हम इनका **विचार में अवगमन (थिंक) तो कर ही सकते हैं। यदि ऐसा नहीं माना जाय तो हम इस अतर्कसंगत निष्कर्ष को स्वीकार करने को बाध्य होंगे कि प्रतीति (अपीयरेंस) बिना किसी वस्तु के प्रतीतिगत हुए (थिंग अपीयर्ड) घटित हो सकती है :** अब मानलें कि वस्तुओं के अनुभवगम्य पक्ष और उन्हीं वस्तुओं के निरपेक्ष स्परूप में भेद नहीं किया जाय, जो कि हमारे क्रिटीक के अनुसार करना अनिवार्य है। उस अवस्था में सब वस्तुएं सामान्य रूप से, जहां तक वे निमित्त कारण (एफीशिमेंट--कॉजिज़) हैं, कारण-नियम से, और इस प्रकार प्राकृतिक व्यवस्था से, अनुशासित होंगी। उस अवस्था में एक ही सत्त्व (बींग) के लिए, उदाहरणत: मानवीय सत्त्व (मनुष्य) के लिए, बिना स्पष्ट अन्तर्विरोध के, यह नहीं कह सकूंगा कि उसका संकल्प स्वतन्त्र है और तब भी प्राकृतिक अनिवार्यता के अधीन है। मैंने दोनों प्रतिज्ञप्तियों में 'आत्मा' पद का प्रयोग एक ही अर्थ में किया है : सामान्यत: वस्तु (स्वलक्षण) के अर्थ में, और स्वरूपसत् वस्तु के अर्थ में, और ऐसा पूर्वगामी विवेचना के बिना करना सम्भव नहीं था। किन्तु यदि हमारा क्रिटीक यह प्रतिपादित करने में युक्त है कि 'विषय' पद को दो अर्थों में : प्रतीति के अर्थ में और स्वरूपसत् के अर्थ में : समझना चाहिए, यदि हमारा प्रातिभासिक बुद्धि (विषय-बुद्धि, विकल्प-बुद्धि—अंडरस्टेंडिंग) की अवधारणाओं का निगमन युक्त (वैलिड) है, और इस प्रकार कारणता का सिद्धांत वस्तुओं पर केवल प्रातीतिक पक्ष में ही लागू होता है, जबकि वही वस्तुएं अपने दूसरे पक्ष: स्वरूप सत्: में इस नियम से स्वतन्त्र हैं* तब यह मानने में कोई अन्तर्विरोध नहीं हैं कि **एक ही संकल्प प्रातीतिक (प्रातिभासिक) सन्दर्भ में, अर्थात् गोचर कर्मों के पक्ष में, अनिवार्यत: कारण-कार्य-नियमाधीन है और इस प्रकार उस दृष्टि से (उस सीमा तक) स्वतन्त्र नहीं है। जबकि दूसरी ओर स्वरूपसत् के पक्ष में यह उस नियम का विषय नहीं है और इस प्रकार स्वतन्त्र है।** मेरा आत्मा, इस दूसरे दृष्टिकोण से,

---

* यहां यह द्रष्टव्य है कि कांट यहां 'वस्तु' पद का प्रयोग 'आत्मा' के लिए कर रहा है जो एकमात्र सत् है, किन्तु तब घट-पटादि वस्तुओं के संबंध में क्या कहा जायेगा ? उनका दूसरा पक्ष क्या होगा ? वह भी स्वतंत्र संकल्प-समर्थ आत्मा ही हो सकता है, ऐसा वह मानता है। इस प्रकार यह कहना युक्तिसंगत प्रतीत होता है कि सम्पूर्ण प्रातिभासिक : मानसिक-भौतिक: जगत् का मूल उपादान एक आत्मा ही है जो अपने स्वतंत्र-संकल्प से देश-काल की उपाधियों में विभिन्न वृत्तियों के द्वारा प्रकट होता है : उतना ही वह सुख-दु:ख, इच्छा—एषणाओं के रूप में प्रकट होता है जितना घट-पटादि के रूप में।

प्रकल्पनात्मक (स्पेकुलेटिव) तर्कणा द्वारा ज्ञेय नहीं है (वैज्ञानिक-आनुभविक प्रेक्षण द्वारा तो और भी नहीं), और इसी प्रकार स्वतंत्रता भी, ऐसे सत्त्व के लक्षण के रूप में, जिसके कर्मों के प्रभाव ऐंद्रिक जगत् में प्रकट होते हैं, इस प्रकार से ज्ञेय नहीं है। यदि इसे इस प्रकार से ज्ञेय माना जाय तो मुझे ऐसे सत्त्व को अपने अस्तित्व में निर्धारित और तब भी काल में अनिर्धारित कल्पित करना होगा, जोकि असम्भव है, क्योंकि मैं अपनी इस अवधारणा के आधार के रूप में किसी प्रत्यक्ष (संवेद) को प्रस्तुत नहीं कर सकता। किन्तु यद्यपि मैं स्वातंत्र्य को जान नहीं सकता, किन्तु उसका विचार कर सकता हूँ: अर्थात् इसकी प्रस्तुति वदतोव्याघात नहीं है, यदि केवल प्रस्तुति की दो विधाओं, सांवेदनिक तथा बौद्धिक, में तथा विषय-बोधमूलक अवधारणाओं और उनसे आपादित सिद्धांतों (प्रिंसिपल्स) में हमारे द्वारा किये गए भेद का उचित ध्यान रखा जाय।"[5] इस उद्धरण में रेखांकित

---

5. "......... ... ...Though we connot *know* these objects as things in themselves, we must yet be in position at least to *think* them as things in themeselves; otherwise we should be landed in the absurd conclusion that there can be appearance without anything that appears. Now let us suppose that the distinction, which our Critique has shown to be necessary, between things as objects of experience and those same things as things in themselves, had not been made. In that case all things in general, as for as they are efficient causes, would be determined by the principle of causality, and consequently by the mechanism of nature. I could not therefore, without palpable contradiction, say of one and the same being, for instance the human soul, that its will is free and yet is subjcet to natural necessity, that is, not free. For I have taken the soul in both propositions **in one and same sense,** namely as things in general, that is as a thing in itself; and save by means of a preceding critique could not have done otherwise. But if our critique in not in error in teaching that the object is to be taken **in a twofold sense**, namely as appearance and as thing in it-self, if the deduction of the concepts of understanding is valid, and the principle of causality therefore applies only to things taken in the former sense, namely, in so far as they are objects of experience, these same objects taken in the other sense, not being subject to the principle—then there is no contradiction in supposing that one and the same will is, in the appearance, that is, in its visible acts, necessarily subject to the law of nature, and so for **not free,** while, yet, as belonging to a thing in itself, it is not subject to that law,

(Contd.)

वाक्य विशेष रूप से द्रष्टव्य हैं: कांट संवेद के हेतु के रूप में उससे स्वतन्त्र वस्तु की सत्ता आवश्यक मानता है, किन्तु यह वस्तु अन्य कुछ नहीं है केवल सांवेदनिक (प्रातिभासिक) वस्तु का ही असंवेद्य (अप्रातिभासिक) पक्ष है—ये एक ही वस्तु (आत्मा : संकल्प) के दो आयाम हैं। (यहाँ शांकर अद्वैतवाद के विवर्त-सिद्धांत से साम्य स्पष्ट है।)[6] इस प्रकार अतिक्रामी या स्वरूपसत् वस्तु संवेद की कारक नहीं है, आधार है। शंकर की पदावली में इसे उपादान कहा जा सकता है। किन्तु इसे शंकर या कांट की बात समझने के लिए रूपकात्मक प्रयोग से कुछ अधिक नहीं समझना चाहिए। उदाहरणतः शंकर में भ्रांत प्रत्यक्ष (रज्जु-स्थान में सर्प-दर्शन) का भी (साधिष्ठान: रज्जु-मूलक या भूमि-मूलक) होना आवश्यक है, किन्तु इनको (रज्जु या भूमि को) प्रातीतिक सर्प का कारण नहीं कहा जा सकता।

किन्तु इस विचार या वस्तुस्थिति को व्यक्त करने के लिए जिस भी पदावली का आश्रय लिया जाय, उसका अपने प्रयोग में रूपकात्मक होना आवश्यक है, क्योंकि यहाँ प्रातिभासिक के और अप्रातिभासित सत् के बीच 'संबंध' चर्चेय है और भाषा का सन्दर्भ केवल प्रातिभासिक ही हो सकता है। इसी से कांट के

(*Contd.*)
and is therefore **free**. My soul, viewed from the latter standponit, cannot indeed be known by means of speculative reason (and still less through empirical observation); and freedom as a property of a being to which I attribute effects in the sensible world, is therefore also not knowable in any such fashion. For I should then have to know such a being as determined in its existence, and yet as not determined in time—which is impossible, since I cannot support my concept by any intuition. But though I cannot **know**, I can yet **think** freedom; that is to say, the representation of it is at least not self-contradictory, provided due account be taken of our critical distinction between the two modes of representation, the sensible and the intellectual, and of the resulting limitation of the pure concepts of understanding and of the principles which flow from them." B-XXVII—XXVIII

6. यहां क्रिटीक ऑफ प्रैक्टीकल रीजन में V 101-102 देखना भी उपयोगी होगा जहां कांट सृष्टि के प्रश्न पर विचार करता है। V 102 में वह कहता है कि कालगत अस्तित्व प्रातिभासिक होने से वास्तव सृष्टि केवल वस्तु-सत् के स्तर पर ही हो सकती है। इस प्रकार ईश्वर हमारी सृष्टि केवल वस्तु-सत् के रूप में ही कर सकता है, जगद्गत या प्रातिभासिक रूप में नहीं। इस प्रकार जगत् और हमारा जागतिक अस्तित्व वास्तविक सृष्टि: परिणामात्मक सृष्टि: नहीं है, विवर्त है।

एतद्विषयक प्रतिपादन को उसके कुछ भाष्यकारों ने ठीक नहीं समझा है। उदाहरण के लिए कांट क्रिटीक ग्राफ प्योर रीज़न के अनुच्छेद बी 68-69 में स्वरूपसत् और प्रतिभास के 'संबंध' के विषय में जो कहता है उसकी पैटन जैसे भाष्यकार ने भी जो व्याख्या की है वह कांट के आशय से उतनी संगत नहीं है। बी 67 में यह बताने के बाद कि स्वरूपसत् किसी भी प्रकार के संबंधों से अतिक्रामी है, वह बी 68 में कहता है— 'प्रस्तुति (रिप्रेज़ेंटेशन) के रूप में जो विचार की किसी भी क्रिया से पूर्वगामी है वह निर्विकल्पक प्रत्यक्ष (इन्ट्यूशन) है, और यदि इसमें सम्बन्धों के अतिरिक्त और कुछ भी सन्निहित नहीं है तो वह (शुद्ध संबंध) प्रत्यक्ष का आकार (फोर्म ग्राफ इंट्यूशन) है। क्योंकि इस आकार में कुछ प्रस्तुत नहीं हो सकता सिवाय उसके जो मनस् द्वारा आक्षिप्त होता है (इज पॉजिटिड इन माइंड), इसलिए यह और कुछ नहीं हो सकता सिवाय उस विधा (मोड) के जिस विधा में कि मनस् अपनी निजी क्रिया से निष्पन्न (अफेक्टिड) होता है (अर्थात् आत्म-प्रस्तुति से उपहित होने के द्वारा), और इस प्रकार वह अपने ही द्वारा निष्पन्न है।* दूसरे शब्दों में, यह केवल ऐसी आंतर संवेदना मात्र है जो अपने ही आन्तर आकार से निरूपित है। इस प्रकार, जो कुछ भी संवेदना के द्वारा प्रस्तुत (रिप्रेजेंटेड) होता है वह सदैव प्रातीतिक (प्रातिभासिक) ही होता है, परिणामतः या तो हमें आन्तर संवेदना को स्वीकार नहीं करना चाहिए या हमें यह स्वीकार करना चाहिए कि संवेदना का विषयभूत विषयी इसके माध्यम में केवल प्रतिभास ही हो सकता है, वह (वास्तव) विषयी नहीं हो सकता, जो वह तब होता यदि इसका प्रत्यक्ष (इन्ट्यूशन) निरपेक्ष आत्मगत क्रिया होती, अर्थात् यदि यह क्रिया (प्रत्यक्ष) बौद्धिक होती। सारी कठिनाई इस बात को लेकर है कि एक विषयी आन्तर रूप से किस प्रकार अपना प्रत्यक्ष कर सकता है, और यह एक ऐसी कठिनाई है जो सब सिद्धांतों के लिए सामान्य है। आत्म की चेतना (अहं प्रत्ययः अप्पर्सेप्शन) अहं की अश्लिष्ट (सिंपल) प्रस्तुति है, और यदि वह सब, जोकि विषयी में श्लिष्ट बहुत्व (मैनीफोल्ड) है, आत्म की (निरपेक्ष) क्रिया के रूप में प्रदत्त हो तो आन्तर प्रत्यक्ष बौद्धिक स्वरूप का होगा। मनुष्य में (आत्म की) यह चेतना उस बहुत्व के आन्तर प्रत्यक्ष की अपेक्षा करती है जोकि विषयी को पूर्वतः प्रदत्त होता है, और वह विधा जिसमें बहुत्व मनस् को प्रदत्त होता है, संवेदना' है। यदि आत्म के प्रति चेतन होने की क्रिया मनोगत का अवगमन (एप्रीहेंड) करने में है तो यह अनिवार्य है कि वह शक्ति (फैकल्टी) मन को निष्पन्न करे, और केवल इस प्रकार ही वह आत्म-प्रत्यक्ष को उत्पन्न कर सकती है। किन्तु इस प्रत्यक्ष का आकार, जोकि मनस् में पूर्वतः विद्यमान रहता है, कालाकार (अर्थात् काल-रूप

---

* अर्थात्, उसका यह निष्पन्न होना (अफेक्टिड होना) और कुछ नहीं, अपनी प्रस्तुति से ही उपहित होना है।

आकारमूलक) प्रस्तुति के द्वारा उस विधा का निर्धारण करता है जिसके माध्यम से कि बहुत्व मनस् में एकत्रित (एकस्थ) रहता है, क्योंकि तब वह अपना उस प्रकार प्रत्यक्षीकरण (इन्ट्यूट) करता है जिस प्रकार वह तब नहीं करता यदि वह अव्यवहित रूप से आत्म-क्रियावान् होता, बल्कि उस प्रकार करता है जिस प्रकार वह अपने को प्रतीत होता है, न कि उस प्रकार जिस प्रकार वह स्वरूपत: है।[7]

---

7. "Now a thing-in-itself connot be known through mere relations and we may therefore conclude that since outer sense gives us nothing but mere relation, this sense can contain in its representation only the relation of an object to the subject, and not the inner properties of the object in itself. This also holds true of inner sense, not only because the representation of the outer *senses* constitutes the proper material with which we occupy our mind but because the time in which we set these representations, which is itself antecedent to the consciousness of them in experience, and which underlies them as the formal condition of the mode in which we posit them in the mind, itself contains (only) relations of succession, coexistence, and of that which is coexistent with succession, the enduring. B 67

"Now that which, as representation can be antecedent to any and every act of thinking anything, is intuition, and if it contains nothing but relations, it is the form of intutiion. Since this form does not represent anything save in so far as something is posited in the mind, it can be nothing but the mode in which the mind is affected through its own activity, (namely, through this positing of its representation), and so is afiiected by itseif; in other words, is nothing but an inner sense in respect of the form of that sense. Everything that is represented through a sense is so far always appearance, and consequently we must either refuse to admit that there is an inner sense, or we must recognise that the subject, which is the object of the sense, can be represented through it only as appearance, not as that subject would judge of itself if its intuitions were self-activity only, that is, were intellectual, The whole difficulty is as to how a subject can inwardly intuit itself: and this difficulty is common to every theory. The consciousness of self (appercepion) is

(*Contd.*)

इस उद्धरण में 'अफेक्ट' शब्द को उद्दीपन के अर्थ में लेते हुए पैटन ने इस प्रयोग को दुर्भाग्यपूर्ण कहा है, क्योंकि उसके अनुसार इसमें कारण-कार्यात्मक संबंध का आशय प्रकट होता है।[8] किन्तु जैसाकि उपर्युक्त को थोड़ा ध्यान से पढ़ने पर स्पष्ट हो जाता है, कांट का ऐसा कोई आशय नहीं है। पूर्वोद्धृत अनुच्छेद बी 67 के समान ही यहां भी वह स्वरूपसत् आत्म की प्रातिभासिक प्रस्तुति मात्र की ही बात कर रहा है। यहां यह द्रष्टव्य है कि मनस् के अपने द्वारा अपने को निष्पन्न करने का सम्पूर्ण व्यापार संवेदना (सेंसीबिलिटी) का देश-काल की उपाधियों में निरूपित होना ही है और इस प्रकार निरूपित यह संवेदना ही मनस् (आत्मा) को प्रातिभासिक बनाती है। उपर्युक्त उद्धरण के रेखांकित स्थल * इसकी विशेषतया पुष्टि करते हैं। इसके अनुसार मनुष्य के सब ग्रहण सांवेदनिक हैं और उसकी आत्मा के प्रति चेतन होने की क्रिया भी वास्तव में अन्तःसंवेदना ही है और यही क्रिया मनस् को निष्पन्न कर उसे अपना प्रत्यक्ष कराती है जो अनिवार्यतः कालाकार (कालोपाधिः फोर्म आफ टाइम) का माध्यम ग्रहण करती हैं। इसी को बी०—70 में आगे स्पष्ट करते हुए कांट कहता है- "किन्तु क्योंकि विषयी को प्रस्तुत विषय के संबंध–मूलक ऐसे गुण विषयी की सवेदना की विधा (मोड) पर निर्भर करते हैं, इसलिए प्रतीति के इस विषय (प्रातिभासिक आत्म) का इसके (निरुपाधिक) स्वरूप से भेद करना आवश्यक है।"[9] जैसाकि स्पष्ट हैं, कांट ने 'अफेक्ट' शब्द का प्रयोग यहाँ स्वलक्षण वस्तु से संवेदना के उत्पन्न होने (किसी भी रूप में चाहे वह हो) के अर्थ में नहीं किया है बल्कि

---

the simple representation of the 'I', and if all that is manifold in the subject were given by the *activity of the self*, the inner intuition would be intellectual. In man this consciousness demands inner perception of the manifold which is antecedently given in the subject, and the mode in which this manifold is given in the mind must, as non-spontaneous, be entitled sensibility. If the faculty of coming to consciousness of oneself is to seek out (to apprehend) that which lies in the mind, it must affect the mind, and only in this way can it give rise to an intuition of itself. But the form of this intuition, which exists antecedently in the mind, determines, in the representation of time, the mode in which the manifold is together in the mind, since it then intuitis itself not as it would represent itself, if immediately self-active, but as it is affected by itself and therefore as it appeares to itself, not as it is." B–68–69.

8. पैटन, एच.जे.–कांट्स मैटाफिजिक्स आफ एक्सपीरियंस, पृ. 60.

* रेखांकन हमारे द्वारा किया गया है।

9. क्रि. प्यो. री., बी. 70.

संवेदना और प्रागनुभविक आकारों (उपाधियों) के 'संबंध में आने' के सन्दर्भ में किया है। इस प्रकार यहां वास्तव में कांट का कहना यह है कि सांवेदनिक आकार (उपाधियां), जोकि प्रातिभासिक मनस् की उपाधियां हैं, संवेदना को 'अफेक्ट' करती हैं और यह प्रातिभासिक मनस् का अपने पर अपना व्यापार है। इस प्रकार पैटन द्वारा कांट की यह आलोचना कि यहां 'अफेक्ट' शब्द के प्रयोग में शिथिलता है, यह समझने के कारण है कि कांट यहां वस्तुसत् (स्वलक्षण वस्तु) से संवेदना की उत्पत्ति की बात कर रहा है।

किन्तु तब भी यहां यह प्रश्न रह जाता है कि कांट का संवेद की उत्पत्ति के सम्बन्ध में क्या सिद्धान्त है, क्योंकि संवेद प्रागनुभविक नहीं हैं जबकि सांवेदनिक आकार प्रागनुभविक हैं। इस सम्बन्ध में निश्चित रूप से कुछ कहना कठिन है। संवेद के आनुभविक होने से यह अनिवार्य है कि यह चिन्मूलक ही हो, किन्तु प्रागनुभविक नहीं होने से यह भी अनिवार्य प्रतीत होता है कि यह मानसिकता से: मनोपाधियों से: स्वतन्त्र हो। सम्भवत: इसकी इस विशेषता के कारण ही पैटन ने इसे वस्तुस्थिति का अपरोक्ष ज्ञापक कहा है। उसके शब्दों में, "मानवीय संवेदन-शक्ति इस प्रकार की है कि जो भी अन्त:करण को प्रदत्त होता है उस पर यह कालात्मक सम्बन्ध की उपाधि (फोर्म) का आरोप करती है: मानवीय संवेदन-शक्ति की इस उपाधि से परे संवेदन संभवत: मेरी आन्तर वस्तुस्थिति का, उपाधि से स्वतन्त्ररूप से (अव्यवहित : अपरोक्ष: रूप से) प्रत्यक्ष कर सकता है।"[10] यदि इस व्याख्या को स्वीकार किया जाय तो यह सौत्रान्तिक बौद्धों के अव्यवहित प्रत्यक्ष के सिद्धांत के अनुरूप होगा, किन्तु पैटन ने **क्रिटीक ऑफ प्योर रीज़न** के जिस अनुच्छेद (ए-37—बी-54) की व्याख्या करते हुए यह कहा है उसमें र के लिए कोई आधार नहीं है।

कांट के आशय को समझने का प्रयत्न करने से पहले यहां एक और कठिनाई की ओर संकेत करना उपयुक्त होगा। कांट देश-काल को प्रागनुभविक आकार या उपाधियां कहता है और संवेदों को अन्तर्वस्तु। यह अन्तर्वस्तु क्या है? हम घट देखते हैं इसमें उसकी गोलाई और माप दैशिक आकार हैं और उसकी पूर्वापर अवस्थाएँ कालिक आकार, इनके अतिरिक्त उसके वर्ण, गन्ध आदि गुण रह जाते हैं। क्या ये गुण अन्तर्वस्तुएं हैं? किन्तु यदि इन्हें अन्तर्वस्तुएं माना जाय, जैसाकि मानना उचित प्रतीत होता है, तब जिन्हें सापेक्ष गुण (सैकंड्री क्वालिटीज) कहा जाता है वे वास्तव में निरपेक्ष हो जायेंगे और निरपेक्ष (प्राइमरी) कहे जाने वाले गुण सापेक्ष, चाहे यह सापेक्षता व्यक्तिपरक नहीं होकर मानव--जातिपरक ही हो। किन्तु जैसाकि पीछे पैटन से दिये गए उद्धरण से ही देखा जा सकता है, उसके अनुसार कांट देश-कालात्मक आकारों को निरपेक्ष और वर्ण-गन्ध आदि

10. पैटन, वही प. 63.

को व्यक्ति-सापेक्ष मानता है। ऐसी अवस्था में यह मानना आवश्यक होगा कि कांट संवेदमूलक अन्तर्वस्तु को वर्ण, गन्ध आदि से भिन्न समझता है, क्योंकि वर्ण-गंध आदि वास्तव में भौतिक कारणों के भौतिक कार्य हैं - कुर्सी का वर्ण विशिष्ट दैर्घ्य (वेव लैंग्थ) की किरणों द्वारा मेरे विशिष्ट अक्षि-पटल का विशिष्ट उद्दीपन है—और इस प्रकार एक ओर इन्द्रियोपाधिक है और दूसरी ओर व्याख्या-सापेक्ष-विषय-बुद्धि की कल्पनाओं से रचित। ऐसी अवस्था में सांवेदनिक अन्तर्वस्तु का क्या अर्थ समझा जाय ? इसका उत्तर होगा, कारण-कार्य के सन्दर्भ से स्वतन्त्र यही वर्ण-गन्ध आदि, क्योंकि कारण-कार्यात्मक व्याख्या उस स्वयभू:सहज: का भौतिक-विज्ञान की कोटियों में अन्तर्भाव करती है और इस प्रकार मूल क्रम को उलट देती है। अर्थात्, कारण-कार्य संबंध की वर्गणा, जोकि संवेदों को संबधित करती है और इस प्रकार व्यावहारिक सार्थकता के लिए उन पर आश्रित है, उन्हीं की व्याख्या के लिए प्रयुक्त नहीं की जा सकती है। किन्तु तब यह कहना भी, कि संवेद (अन्तर्वस्तु) का कोई वस्तुगत आधार होना चाहिए, व्याख्या-सापेक्ष है, यह शुद्ध बुद्धि (प्योर रीजन) की कल्पनाओं का सापेक्ष है। कांट यह स्वीकार करता है।[11] किन्तु इस व्याख्या की यह श्रेष्ठता है कि कारण-कार्यात्मक व्याख्या जबकि वास्तव में संवेदाश्रयी है और इस कारण उससे संवेद के कारण की व्याख्या करना व्यतिक्रम है, यह दूसरी व्याख्या सवेदाश्रयी नहीं है और संवेदाश्रयी नहीं होने से यह वास्तव व्याख्या भी नहीं है; क्योंकि संवेद की व्याख्या केवल प्रागनुभविक कोटियों में ही की जा सकती है, और वह उचित रूप से केवल तभी की जा सकती है यदि वह संवेदाश्रयी हो; और यह व्यतिक्रम के बिना हो नहीं सकता। इस प्रकार यह दूसरी व्याख्या, कि संवेद का कोई वस्तुगत आधार होना चाहिए, केवल शुद्ध बुद्धि के द्वारा विषय-बुद्धि की सीमाओं का उल्लेख मात्र है।

किन्तु इसके विरुद्ध कहा जा सकता है कि कांट संवेद के प्रत्येक वैशिष्ट्य के लिए वस्तुसत् में उसका आधार मानता है। यह स्पष्टत: कारणात्मक व्याख्या है चाहे इस कारण को अति-प्रातिभासिक (ट्रांसेंडेंट) ही क्यों नहीं कहा जाय। किन्तु स्पष्टत: यह व्याख्या कांट को स्वीकार्य नहीं हो सकती। तब कांट का अभिप्राय क्या है ? इस सामने पड़ी पुस्तक को लें। इसमें 'पुस्तकत्व' विषय-बुद्धि-जन्य विकल्प है। इस विकल्प के अतिरिक्त एक विशिष्ट संस्थान शेष रहता है जो किसी भी प्रकार के विषयकरण से रहित है। इस अवस्था में यह वर्ण विलक्षण प्रस्तुति है। अब यदि यह विलक्षण प्रस्तुति अतीन्द्रिय (नॉन-सेंसीबिल) की ऐन्द्रिय निष्पत्ति (अथवा कहें निरुपाधिक की औपाधिक निष्पत्ति) है, जैसाकि हमने पीछे देखा कि यह किस प्रकार है, तो यह निष्पत्ति अपने विशिष्ट वर्ण और दैशिक-कालिक संस्थान के साथ है, उससे अलग नहीं।

---

11. क्रिटीक ऑफ प्योर रीजन, बी.-673

यहाँ यह द्रष्टव्य है कि कांट के अनुसार वस्तुसत्, जो इस प्रकार संवेदन में निष्पन्न* होता है, शुद्ध बुद्धिस्वरूप कर्तृत्व (ऑटोनोमस विल डिटर्मिड बाइ मॉरल लॉ) है जो इस औपाधिक विवर्त का उपादान या अधिष्ठान है; वह वैशेषिक सम्प्रदाय के परमाणु जैसी कोई सत्ता नहीं है, और न सांख्य की प्रकृति जैसी ही कोई सत्ता है। *किन्तु इस संबंध में हम विस्तार से आगे देखेंगे; यहां केवल इतना ही द्रष्टव्य है कि इस कर्तृस्वरूप बौद्धिक सत्ता को संवेद का आधार मानने पर भी संवेद और वस्तु-सत्ता का संबंध उत्प्रेक्षात्मक रूप से भी कारणता की पदावली में: मानो जैसे उससे उत्पन्न हो, उससे जनित हो: निरूप्य नहीं है। ऐसा नहीं है कि कांट में इसके प्रकटत: विपरीत प्रकार के प्रतिपादन नहीं मिलेंगे: **क्रिटीक ऑफ प्योर रीजन** के प्रथम अध्याय: ट्रांसेडेंटल एस्थेटिक (अतिक्रामी संवेदना) : के आरम्भ में हीं कांट कहता है "ज्ञान की कोई विधा जिस भी प्रकार से अथवा माध्यम से विषय (वस्तुसत्) से संबंधित हो, प्रत्यक्ष (इन्ट्यूशन) वह है जिसके माध्यम से यह (ज्ञान) उससे (वस्तुसत् से) अव्यवहित रूप से संबंधित होता है और जिसकी ओर सम्पूर्ण विचार (विषय-बोध) साधन के रूप में उन्मुख होता है। किन्तु प्रत्यक्ष (इन्ट्यूशन) केवल उस सीमा तक ही सम्भव है—कम से कम मनुष्य के लिए—जिस सीमा तक मनस् एक विशेष प्रकार से अफेक्टेड होता है।"[12]

इसकी पुष्टि कांट द्वारा प्रत्यक्ष के आनुभविक और शुद्ध या प्रागनुभविक दो प्रकार मानने से भी होती है। देश को प्रागनुभविक मानने के पक्ष में कांट की एक युक्ति यह है कि यदि इसे प्रागनुभविक नहीं मान कर वस्तु-संबद्ध माना जाय तो देश-संबंधी हमारी प्रतिज्ञप्तियाँ अनिवार्य नहीं होंगी, क्योंकि उस अवस्था में हम त्रिकोण के संबंध में यह नहीं कह सकेंगे कि इसके तीन कोण अनिवार्यत: दो समकोणों के बराबर होते हैं, बल्कि यही कह सकेंगे कि, जहाँ तक हमने देखा है वहाँ तक ऐसा है।[13] इसका अर्थ हुआ कि कांट के अनुसार संवेद वस्तु-सम्बद्ध हैं और केवल इसी कारण उनके संबंध में अनिवार्यात्मक : निरपेक्षत: निश्चयात्मक: प्रतिज्ञप्तियाँ नहीं की जा सकती हैं। ऐसी प्रतिज्ञप्तियाँ केवल उसके संबंध में ही की जा सकती हैं जिसका मूल स्वयं मन के स्वरूप में ही निहित है।

---

* यहां इसका अनुवाद 'निष्पन्न' किया जाय या 'प्रभावित' अथवा 'कारित' यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता।

* यहां यह स्वीकार करना आवश्यक है कि कांट ने कहीं स्पष्टत: ऐसा नहीं कहा है, बल्कि फिख्ते का उस पर यही आरोप है कि वह चित् से बाहर और उसको अगम्य एक अचित् सत्ता को स्वीकार करता है। किन्तु वास्तव में कांट में इसके बहुत प्रबल संकेत मिलते हैं कि वह द्वैतवादी नहीं है और उसकी स्वलक्षण वस्तु 'प्राकृतिक' या अचित्-सत् नहीं होकर चैतन्य स्वरूप ही है, किन्तु तब भी वह विषयितंत्र नहीं होकर वस्तु-तंत्र है।

12. वहीं, ए 20 = बी 34.
13. वहीं, ए 48-48 = बी 66.

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि कांट संवेदों को वस्तुसत् के मनस् पर प्रभाव से जनित ही मानता है, किन्तु क्योंकि 'कारणता' उसके अनुसार विषय-बुद्धि की प्रागनुभविक कोटि है, इसलिए यह इस बुद्धि से अतिक्रामी स्थिति का निर्धारण नहीं कर सकती, किन्तु है यह संबंध कारणता का ही, जो इस प्रसंग में अबोधगम्य :अकल्प्य: प्रकार का है ।[14]

वास्तव में यहाँ कठिनाई उतनी यह नहीं है कि इस प्रकार के कथनों का क्या अर्थ लगाया जाय, क्योंकि इसका समाधान बड़ी आसानी से यह कह कर किया जा सकता है कि ये वाक्य **क्रिटीक ऑफ प्योर रीजन** के आरम्भिक वाक्य हैं और यहाँ कांट गोचर जगत् के ज्ञान की साधारण वस्तुस्थिति को साधारण पदावली में प्रस्तुत कर रहा है और उसको यहाँ वास्तव में 'कारणता' अभिप्रेत नहीं है । यहाँ मुख्य कठिनाई यह है कि मनस् की अपनी सत्ता क्या मानी जाय ? क्या वस्तु-सत् और मनस् पृथक् वस्तु-सत्ताएं हैं जिनमें प्रथम दूसरी को "प्रभावित" करती है और दूसरी प्रथम को "प्रकाशित"? .

स्पष्टतः कांट को यह मान्य नहीं है, क्योंकि वह केवल उसी को सत् मानता है जो संवेद-ग्राही वस्तुबोधात्मक मनस् से अतिक्रामी है, और मनस् को केवल उपाधि मानता है । यद्यपि कांट ने वस्तुपरक पदावली का प्रयोग किया है जिससे अतिमानसिक और मानसिक का संबंध कारण-कार्य-रूप अथवा वस्तु और गुण-रूप प्रतीत होता है, और क्योंकि इनमें ऐसा संबंध हो नहीं सकता इसलिए उस संबंध को, इस संबंध का निषेध कर, उत्प्रेक्षात्मक ('मानो ऐसा है') की पदावली में व्यक्त किया है । किन्तु वास्तव में कांट का जो आशय है उसको व्यक्त करने के लिए वस्तुपरक पदावली का त्याग अनिवार्य है । वह पदावली संकल्प और सिद्धि की, भाव और भाव्य की, कर्म और लक्ष्य की, है । किन्तु इसके संबंध में हम आगे नीति-मीमांसा और सौन्दर्य-मीमांसा के प्रसंगों में विचार करेंगे ।

सांवेदनिक प्रत्यक्ष के स्वरूप के प्रश्न ने कांट का ध्यान उतना आकर्षित नहीं किया जितना उपर्युक्त विवेचन से अनुमान हो सकता है । **क्रिटीक ऑफ प्योर रीजन** में उसके सम्मुख प्रश्न गोचर जगत् के ज्ञान के स्वरूप का है, और उसके अनुसार ज्ञान वस्तु-तंत्र नहीं होकर मनस्तंत्र है: क्योंकि उसके अनुसार, ज्ञान के मनस्तंत्र होने के कारण ही यह सम्भव है कि हम विषय-जगत् को नियम और व्यवस्था के अन्तर्गत देखते हैं और इस जगत् के सम्बन्ध में केवल यह ही नहीं कह सकते कि "यह ऐसा है, इसलिए यह पूर्व में ऐसा था और आगे ऐसा रहेगा" बल्कि यह भी कि इस प्रतिज्ञप्ति का 'है' त्रिकाल के लिए सत्य है । उदाहरण के लिए, हम कह सकते हैं कि जितना भी गोचर-जगत् है उसके विषय देश में अवस्थित होंगे, जितना

---

14. यहां क्रिटीक ऑफ प्रैक्टिकल रीजन का V 52 द्रष्टव्य ।

भी आंतर जगत् है उसके (अन्तःकरण के) विषय काल में अवस्थित होंगे, जितने भी संवेद हैं वे देश या काल में विषयों के रूप में निर्धारित (डिटर्मिंड) होंगे, आदि। यह सब इसलिए निश्चित रूप से कहा जा सकता है क्योंकि यह मनस् की उपाधि में मूलित है और परिणामतः इसका स्वरूप हमें आद्यन्त और आर-पार अवगम्य है। यदि यह सब विषय-तंत्र हो तो हमारी कोई प्रतिज्ञप्ति निरपेक्ष और त्रैकालिक (कालातीत) नहीं हो सकती, क्योंकि तब यह वस्तु पर निर्भर करेगा कि वह हमारे ज्ञान का जैसे चाहे निर्धारण करे। तब भी ज्ञान में एक अंश है जो इसी प्रकार अनिर्धार्य है, यद्यपि वह मनौपाधिक ही है; किन्तु जैसाकि हमने पीछे देखा, वह संवेद-प्रदत्तः मनौपाधिकः होने पर भी मनस् का स्पन्दन है। अवश्य इसमें भी मन का अपना गुण रहता है—यह स्पन्दन इन्द्रिय विशेष के रूप के अनुसार ही गुण ग्रहण करता है : चक्षु के लिए वर्ण, श्रोत्र के लिए ध्वनि, और अन्तःकरण के लिए भय-क्रोध आदि, किन्तु यह गुण आत्म-नियामक नहीं है, वस्तुतंत्र है। कांट के शब्दों में—"देश एकमात्र ऐसा अपवाद है, जिसके अतिरिक्त कोई दूसरी बाह्यात्मक व्यक्तिनिष्ठ प्रस्तुति ऐसी नहीं है, जिसे विषयनिष्ठ और (तब भी) प्रागनुभविक कहा जा सके, क्योंकि दूसरी कोई ऐसी विषयिनिष्ठ प्रस्तुति नहीं है जिससे हम संश्लेषणात्मक प्रागनुभविक प्रतिज्ञप्तियों को व्युत्पादित (डिराइव) कर सकते हों। अधिक ठीक शब्दों में कहें तो, इन अन्य प्रस्तुतियों में कोई मनोमूलकता (आइडियालिटी) नहीं है यद्यपि ये देश की प्रस्तुति से इस बात में समान हैं कि ये हमारी संवेदना के विषयिनिष्ठ रचना-प्रकार से संबंधित हैं: उदाहरण लिए चक्षु, श्रोत्र और त्वक् द्वारा वर्ण, ध्वनि और उष्णता के ग्रहण में; और क्योंकि ये ग्रहण संवेद मात्र हैं, न कि प्रत्यक्ष (इंट्यूशंस्), इसलिए ये अपने-आप से विषय-ज्ञान के प्रदायक नहीं हैं, प्रागनुभविक ज्ञान के प्रदायक होना तो दूर की बात है।"[15] अर्थात्,

---

15. "With the sole exception of space there is no subjective representation, referring to something outer, which could be entitled (at once) objective and a *priori*. For there is no other subjective representation from which we can derive a *priori* synthetic propositions, as we can from intuition in space. Strictly speaking, therefore, these other representations have no ideality, although they agree with the representation of space in this respect, that they belong merely to the subjective constitution of our manner of sensibility, for instance of sight, hearing, touch, as in the case of the sensations of colour, sound and heat, which, since they are merely sensations and not intuitions, do not of themselves yield knowledge of any object, least of all any a priori knowledge.,' (A 28—B 44).

देश-काल सांवेदनिक होने पर भी मनस् की संवृतियां ही हैं, जिसका प्रमाण उनका प्रागनुभविक होना है, किन्तु इनके सांवेदनिक होने से इन संबंधी प्रतिज्ञप्तियां विश्लेषणात्मक नहीं होकर संश्लेषणात्मक होती हैं। इसके विपरीत ऐन्द्रिक संवेद मूल में मनस् की संवृतियां नहीं हैं, इसी से प्रागनुभविक भी नहीं हैं, किन्तु तब भी वे इन्द्रिय विशेष के अनुसार तो रूप लेते ही हैं और इस दृष्टि से उनमें भी सांवृतिकता का अंश रहता है: अर्थात् एक ही मूल संवेद श्रुति के अनुसार ध्वनि, चक्षु के अनुसार स्पर्श आदि का रूप लेता है।

यहाँ यह स्पष्टीकरण अनिवार्य है कि कांट का 'विषयनिष्ठ' और 'विषयिनिष्ठ' का प्रयोग भिन्न सन्दर्भों में भिन्नार्थक है। एक संदर्भ में 'विषयिनिष्ठ' मनस् की मूल उपाधि का वाचक है और दूसरे सन्दर्भ में देह की विशेष परिस्थितियों का। उदाहरण के लिए संवेद के चाक्षुष और श्रौत्र रूप उपाधिमूलक हैं जबकि वर्णविशेष अक्षि-पटल और किरण के गुणों पर निर्भर। इनमें प्रथम विषयिनिष्ठता वास्तव में ही विषयिनिष्ठता है, जबकि दूसरी विषयिनिष्ठता विषय की निर्धारक होने से है, यद्यपि विषयिमूलक नहीं है।

देश प्रथम प्रकार से विषयिनिष्ठ है : वह वस्तुसत्, या वस्तुसत् का घटक, या तन्मूलक नहीं होकर विषय का घटक है—विषय के होने में एक हेतु है, यह हमारे उस स्वरूप के कारण है जो विषय–जगत् का मूल है। कहा जा सकता है कि वर्ण और गन्ध भी हमारे विषय-सर्जक स्वरूप के कारण ही हैं, वर्ण-विशेष चाहे हमारे देह-विकार-विशेष के कारण ही हो। जैसाकि हमने ऊपर देखा, काँट यह स्वीकार करता है। किन्तु तब भी देश-काल और वर्ण-गन्ध आदि गुणों में एक मौलिक और महत्त्वपूर्ण अन्तर है। काँट के अनुसार, जबकि वर्ण-गन्ध आदि का मूल हमारी इन्द्रियों के स्वरूप में है और इस प्रकार अतिकामी है, यह स्वरूपसत् (स्वलक्षण वस्तु) का प्रातिभासिक रूपान्तरण है: यह रूपान्तरण चाहे इद्रियोपाधि के कारण ही हो; किन्तु देश और काल निरुपाधिक स्वरूपसत् के रूपान्तरण नहीं हैं, ये मनोमूलक संवृतियां मात्र हैं। अर्थात् देश और काल योग्यता या सम्भावना के रूप में तब भी होंगे यदि दैशिक और कालिक लक्षणों से युक्त कोई विषय नहीं हो। इसके लिए केवल चेतना का जगदुन्मुख वृत्ति में होना मात्र पर्याप्त है, यद्यपि इस योग्यता के क्रियान्वयन के लिए ऐन्द्रिक विषय की प्रस्तुति आवश्यक है।

इस प्रकार कांट देश और काल को प्रागनुभविक आकार कहता है। किन्तु उसके अनुसार इनका मूल हमारा ऐन्द्रिक स्वरूप है, ये हमारे अस्तित्व के संवेदनात्मक स्तर की उपाधियाँ हैं, बुद्धिस्तरीय उपाधियाँ नहीं। किन्तु कांट के अनुसार इनमें एक दूसरी विशेषता भी है—ये असंवेद्य प्रत्यक्ष भी हैं, मनुष्य में एक मात्र ऐसे प्रत्यक्ष जो संवेदनात्मक नहीं हैं। इसी से कांट इन्हें प्रागनुभविक प्रत्यक्ष कहता है। सामान्यतः कांट की व्यवस्था में 'असंवेद्य प्रत्यक्ष' वदतोव्याघाती पद होना चाहिए,

क्योंकि वह मनुष्य के ज्ञान को स्वरूपतः संवेदमूलक, अधिक सही शब्दों में कहें तो, जिसमें संवेद एक अनिवार्य घटक है ऐसा, मानता है; किन्तु इस विरोध का निवारण वह इस प्रकार करता है कि यह प्रत्यक्ष भी उसके अनुसार हमारी संवेदना की वृत्ति में ही मूलित है। कांट की व्यवस्था में इसका अर्थ है कि यह चेतना की अवगमन-क्रिया (एप्रीहेंशन) को प्रदत्त होता है, किंतु स्वयं में यह निष्क्रिय प्रस्तुति है। यह निष्क्रिय प्रस्तुति है, यह इससे आपादित होता है कि यह संवेदमूलक प्रत्यक्ष है, यह संवेदमूलक है, यह इससे आपादित होता है कि यह विमर्शात्मक (डिस्कर्सिव) नहीं है, और यह संवेदना (इट्यूशन) है, यह इससे सिद्ध है कि इसका ग्रहण विशिष्ट और अभिन्न प्रदत्त के रूप में होता है। कांट के शब्दों में "देश एक विमर्शात्मक, अथवा कहें वस्तुसामान्य के बीच सम्बन्धों की सामान्य अवधारणा, नहीं है, बल्कि शुद्ध (प्रागनुभविक) प्रत्यक्ष है। क्योंकि, प्रत्यक्ष में हम अपने को केवल एक ही देश प्रस्तुत कर सकते हैं, और जब हम विभिन्न देशों की बात करते हैं तब हमारा आशय एक ही अद्वितीय-विशिष्ट-देश के विभिन्न भागों से होता....।"[17] "देश एक असीम प्रदत्त विस्तार (मैग्नीट्यूड) के रूप में प्रस्तुत होता है। प्रत्येक प्रत्यय एक ऐसी प्रस्तुति के रूप में विचारित होता है जो असंख्य संभाव्य प्रस्तुतियों में (उनके सामान्य लक्षण के रूप में) सन्निहित रहता है और इस प्रकार जो इन्हें अपनी व्यापकता में 'समाविष्ट' (अंडर) रखता है, किन्तु कोई प्रत्यय अपने 'भीतर' (विदिन) असंख्य प्रस्तुतियों को सन्निहित रखता हुआ नहीं माना जा सकता। देश को दूसरे प्रकार से ही कल्पित किया जा सकता है, क्योंकि देश के सब भाग उसके असीम विस्तार में सह-अवस्थित रहते हैं। परिणामतः देश की मौलिक प्रस्तुति प्रागनुभविक संवेदना है, यह प्रत्यय नहीं है।"[18] किन्तु जो संवेदात्मक नहीं है वह प्रस्तुतप्रदतः कैसे हो सकता है? इसके दो विकल्प हो सकते हैं (1) असंवेदात्मक प्रदत्त संवेद का सहगामी होता है, अथवा (2) प्रदत्त के लिए यह आवश्यक नहीं है कि वह संवेदात्मक या संवेद से अनिवार्यतः सहगमित हो। अब कांट को कौन सा विकल्प स्वीकार होगा, यह कहना कठिन है, क्योंकि जबकि उपर्युक्त उद्धरण से ऐसा प्रतीत होता है कि वह देश को संवेदात्मक प्रस्तुतियों से पूर्वगामी (काल में नहीं भी, तो स्वरूप में) मानता है और इस प्रकार उसका ग्रहण किसी भी संवेद के घटित हुए बिना सम्भव मानता है, यह समझना कठिन है कि किसी बाह्य वस्तु के बिना एकांत बाह्यता कैसे प्रस्तुत हो सकती है। अवश्य कांट कहता है कि "हम अपने को देश का अभाव प्रस्तुत नहीं कर सकते जबकि हम देश को विषयों से खाली कल्पित (थिंक) कर सकते हैं,"[19] किन्तु 'कल्पित करना' और 'प्रत्यक्ष करना'

---

17. क्रि. प्यो. री. ए 25.
18. वही, B. 40.
19. वही, ए 24-B 39.

(इन्ट्यूट्) दो सर्वथा भिन्न बातें हैं। कांट सम्भवतः इसका उत्तर देगा कि यहां 'कल्पित करना' पद को बहुत महत्त्व देने की आवश्यकता नहीं है। जब हम आँख मूंद कर एक-चित्त से गणित या तर्क या काव्य का विचार कर रहे होते हैं तब संवेद्य वस्तुओं की प्रस्तुति नहीं रहती, किन्तु देश-बोध रहता है, कितना भी अस्फुट चाहे वह क्यों न हो। किन्तु इसका प्रतिवाद किया जा सकता है कि यह बोध भी वस्तु-शून्य देश का नहीं होता, यह व्यक्ति की अपनी स्थानितता का होता है, वास्तव में यह देश फैलता ही इस देह-केन्द्र से है, इसके बिना देश-बोध (देश-प्रत्यक्ष) सम्भव नहीं है। उदाहरणतः यदि हम वास्तव गणित-चिन्तन में एकचित्त हों तो देह-बोध भी नहीं रहेगा और तब देश-बोध भी नहीं रहेगा। मेरे विचार में यही स्थिति है और इसलिए कांट के 'कल्पना करना' प्रयोग को पूरी गम्भीरता से ही लेना होगा। उस अवस्था में यह कहना होगा कि यद्यपि देश वास्तव में कभी संवेद्य वस्तुओं से स्वतन्त्र ग्राह्य नहीं होता किन्तु उसका ग्रहण वस्तु-निर्भर नहीं है, बल्कि वस्तुओं का ग्रहण देश-निर्भर है।

किन्तु देश को 'संवेद' (इंट्यूशन) कहने पर एक और आपत्ति हो सकती है, और यदि यह आपत्ति हो सकती है तो यह अत्यन्त गम्भीर आपत्ति है : कि देश यदि प्रत्यक्ष है और इस प्रकार वह विशिष्ट और प्रस्तुत विषय है, तो उसका कोई वस्तुगत आधार भी होना चाहिए, क्योंकि कांट के अपने तर्क के अनुसार ही, प्रतीति के लिए कुछ होना चाहिए जो प्रतीत हो। किन्तु ऐसा हो नहीं सकता, क्योंकि तब देश प्रागनुभविक नहीं रहेगा; किन्तु यदि यह वस्तुसत्-मूलक नहीं है तो यह प्रत्यक्ष कैसे हो सकता है? एक और कठिनाई भी है, : कांट विषयों के विशिष्ट दैशिक आकारों को भी वस्तुसत्-मूलक मानता है। अब, यदि यह बात हो तो प्रत्येक विषय का अपना देश होना आवश्यक होगा, जैसे प्रत्येक विषय का अपना गुण है, तब यह वस्तु मनोमूलक देशाकार में अवस्थित नहीं हो सकती, जैसे इस गुलाब का यह वर्ण इन्द्रियमूलक वर्ण-सामान्य में अवस्थित नहीं है।

कांट इन प्रश्नों का क्या उत्तर देगा, यह मुझे बहुत स्पष्ट नहीं है। किन्तु यदि ये प्रश्न कांट की व्यवस्था के लिए नितांत निरर्थक नहीं हैं तो ये उसके लिए बहुत परेशान करने वाले हैं। वह जब विषयों के विशिष्ट वर्ण और संस्थान (पैटर्न) को वस्तु-सत्ता और व्यक्ति-चेतना के बीच विशिष्ट सम्पर्क से निर्धारित कहता है तब इस प्रकार के प्रश्न उत्पन्न होते हैं। किन्तु यदि केवल कर्तृ-चैतन्य को वस्तुसत् माना जाय, जैसाकि वह वास्तव में मानता है, तब प्रातीतिक और वास्तव का सम्बन्ध बहुत कुछ वैसा ही मानना होगा जैसा शंकर ब्रह्म और जगत् का मानता है, इस भेद के साथ कि कांट का 'ब्रह्म' बुद्धितंत्र कर्तृ-चैतन्य है।

जैसाकि हमने पीछे देखा, देश प्रागनुभविक प्रत्यक्ष होने के अतिरिक्त प्रागनुभविक आकार भी है। इसके दो अर्थ हैं, एक यह कि मूल में संवेद देश

(और इसी प्रकार काल) के लक्षणों से रहित है, दूसरा अर्थ है कि देश (और काल) के लक्षणों का निरूपण विषयों से स्वतन्त्र किया जा सकता है और यह निरूपण निर्बाध और इस प्रकार निर्विशिष्ट होता है। उदाहरण के लिए "त्रिकोण के तीन कोणों का आयतन दो समकोणों के बराबर होता है" कथन में किसी आकृति-विशेष का निरूपण नहीं है, बल्कि आकृतियाँ इस सामान्य लक्षण से लक्षित होती हैं और यह कि ये आकृतियाँ शुद्ध आकारात्मक नहीं होने से इस आकार-लक्षण को न्यूनाधिक ही व्यक्त करती हैं। किन्तु यह दैशिक आकार हमारी ऐन्द्रिक सत्ता, अथवा कहें इन्द्रियात्म* की उपाधि है और यह इस बात से सिद्ध है कि देश-सम्बन्धी हमारे निर्णय (जजमेंट्स) अनिवार्य होने पर भी विश्लेषणात्मक नहीं हैं, बल्कि संश्लेषणात्मक हैं। विश्लेषणात्मक एकत्व (एनेलिटिकल यूनिटी) केवल बुद्धि की उपाधि में, कांट की पदावली में कहें तो, अतिक्रामी आत्म (ट्रांसेंडेंटल सेलफ) में, ही उपलब्ध होता है। देश का ज्ञान संश्लेषणात्मक प्रागनुभविक है, यह इस प्रकार के उदाहरणों से देखा जा सकता है—'तीन कोणो वाली आकृति' पद में यह पूर्वगृहीत नहीं है कि इसके कोणों का आयतन दो समकोणों के बराबर होगा। कांट का उदाहरण हैं: 'दो बिन्दुओं के बीच छोटी से छोटी रेखा सरल रेखा ही हो सकती हैं।' कांट का मत है कि 'सरल रेखा' और 'दो बिन्दुओं के बीच छोटी से छोटी रेखा' इन दो पदों में से कोई एक पद दूसरे में अन्तर्निहित नहीं है, इन दोनों का ज्ञान हमें पृथक्-पृथक् होता है और इस प्रकार ये एक निर्णय में संश्लिष्ट होते हैं, किन्तु तब भी यह संश्लेषण प्रेक्षण या अनुभव से साधारणीकरण नहीं होता, यह अनिवार्य होता है। यही बात कांट के अनुसार संख्याओं के सम्बन्ध में भी है; उसके अनुसार '7+5=12' प्रतिज्ञप्ति में समीकरण-चिह्न से पहले और पीछे की संख्याओं में कोई एक दूसरे में निहित नहीं है, समीकरण की सत्यता का ज्ञान हमें केवल 7 से 12 तक अंगुलियों पर गिनकर और तब इस गणना-प्रक्रिया में स्पर्श की गई अंगुलियों को गिनकर ही हो सकता है। किन्तु तब भी यह प्रतिज्ञप्ति आनुभविक नहीं होकर प्रागनुभविक है, क्योंकि ऐसा नहीं है कि यह केवल इस '7+5=12' के लिए ही सत्य है, और आगे किसी गणना में असत्य हो सकती है।

इस प्रकार देश प्रत्यक्ष और आकार दोनों है और अवस्तुतंत्र ही नहीं, अविषयतन्त्र भी है, यद्यपि यह अनिवार्यतः विषय-निरूपक है, अर्थात् इसका अपना स्वतंत्र ज्ञान सम्भव है किन्तु विषय का ज्ञान इसके लक्षणों से युक्त हुए बिना सम्भव नहीं है। संवेद के विषय होने के लिए यह अनिवार्य है कि वह देश (या काल) से निरूपित हो : देश (या काल) तंत्र हो। वास्तव में देश और विषय के इस स्वरूप के

---

* जैसा कि हमने पीछे देखा, देश का मूल देहोपाधि को मानना चाहिए, किन्तु संभवतः कांट इन्द्रियोपाधि को मानता है।

कारण जगत् प्राभिासिक है, नाम-रूपात्मक है। यही युक्तियाँ काल के प्रागनुभविक आकार और प्रत्यक्ष होने के संबंध में भी हैं—केवल इस अन्तर के साथ कि देश जबकि त्रि-आयामात्मक है, काल एक-आयात्मक है।

कांट देश और काल को परस्पर सापेक्ष नहीं मानता। इस प्रकार उसके अनुसार देश और काल दो पृथक् प्रकारक आकार और प्रत्यक्ष हैं : एक संवेदों को बाह्य विषयों के रूप में तीन आयामों में धारण करता है और दूसरा आन्तर विषयों के रूप में एक आयाम में। इनमें एक दूसरा मौलिक भेद यह है कि देश से निरूपित विषय एक-दूसरे के संग में एक-साथ अवस्थित होते हैं जबकि काल में ये एक के बाद दूसरे के क्रम में। अब यदि देश और काल दो स्वतंत्र आकार हैं और दोनों संवेद को धारण करते हैं, तो यह सम्भव होना चाहिए कि कोई विषय काल से निरपेक्ष रूप में देश में धारण हो सके और देश के बिना काल में। और यदि ऐसा हो तो कांट का यह कथन कैसे युक्त है कि हम काल का अवधारण देश के बिना नहीं कर सकते ? इसके संबंध में कांट का उत्तर है कि हम काल को अपने सम्मुख स्वतंत्रत: प्रस्तुत नहीं कर सकते। इसके समर्थन में उसका तर्क है कि शुद्धत: काल में अवधारित विषय :घटनाएँ: परस्पर संबंधित नहीं की जा सकतीं, घटना घटित होते ही बीत जाती है। दो घटनाओं के एक क्रम में अवधारण के लिए पहली को दूसरी के साथ रखना आवश्यक होता है, और इस प्रकार उनका उपसंग में संस्थापन अनिवार्य होता है। इसीसे काल के आयाम को हम देश में रेखा खींचकर (एक-आयाम के रूप में) ही प्रस्तुत कर सकते हैं, जिसमें विभिन्न बिन्दु संस्थित रहते हैं। किन्तु कांट की यह बात युक्त प्रतीत नहीं होती, क्योंकि यह नहीं कहा जा सकता कि प्रातिभासिक अहं को, या इच्छा, सुख, दु:ख, क्रोध आदि को, देश में प्रतिष्ठित किया जा सकता है। काल-क्रम का बोध या प्रत्यक्ष काल-यापन के मूल अनुभव के रूप में तो होता ही है, विषयों का काल-संस्थापन भी स्मृति के रूप में होता है, न कि देश के माध्यम से। काल को रेखा के द्वारा प्रस्तुत करना अनिवार्य नहीं है, जिस प्रकार दो वृक्षों को अनुक्रम से प्रस्तुत करना अनिवार्य नहीं है। किन्तु यह अवश्य अनिवार्य है कि दैशिक विषय काल के आकार में भी निरूपित हों, क्योंकि कोई संवेद अहं (आत्म—सेल्फ) को प्रस्तुत हुए बिना विषय नहीं हो सकता और अहं का आकार काल है। वास्तव में कांट का यह कथन अत्यधिक विचित्र है कि काल को हम दैशिक रेखा के आश्रय के बिना प्रस्तुत नहीं कर सकते, क्योंकि इसका अर्थ हो जाता है कि अहं केवल वस्तुओं के माध्यम से ही ग्राह्य हो सकता है, जोकि वास्तव में कांट को अभिप्रेत नहीं होगा। यह सही है कि अहं, कांट के अनुसार, अहं-प्रत्ययरूप और इस प्रकार विषय-बुद्धिस्वरूप है[20] और यह अहं हमारे सब प्रत्यक्षों के साथ एक शुद्ध आकार के रूप में विद्यमान रहता है, किन्तु इसका ग्रहण

20. क्रि० प्यो० री०, बी–154.

(आनुभविक ग्रहण) केवल कालात्मक संयोजनों के माध्यम से ही हो सकता है, दैशिक विषयों के प्रसंग में यह शुद्ध आकार के रूप में ही रहता है। किन्तु यह द्रष्टव्य है कि कांट अहं को अवगम्य केवल विषयों के माध्यम से ही मानता है, और काल का ग्रहण देश-पूर्वक मानने के लिए यह एक हेतु हो सकता है।

कांट के अनुसार, संवेदन के आकारों के अतिरिक्त एक दूसरे प्रकार के आकार भी हैं, जिन्हें वह बुद्धि के आकार कहता है। बुद्धि के ये आकार सृजनात्मक (स्पांटेनियस—एक्टिव) हैं, अर्थात् इनमें चेतना ग्रहण-वृत्तिक नहीं होकर अपने आकारों को कल्पित करती है और इन आकारों के अनुसार संवेद के उपादान का आकलन और संयोजन करती है। किन्तु यह संवेद से बाधित या उससे अनिवार्यतः संबंधित भी नहीं है, परिणामतः उसकी सृजनात्मकता या स्वतंत्रता में सन्देह नहीं किया जा सकता। वास्तव में यह सहज प्रवृत्ति से ही संवेदन की सीमा का उल्लंघन करना चाहती है, जिस अतिक्रमण को कांट अनुचित मानता है : क्योंकि कांट के अनुसार यह बुद्धि विषय–वृत्तिक है और विषय-रचना के व्यापार के लिए संवेद का आश्रय अनिवार्य है। संवेदाश्रयी कल्पना विषय–जगत् का निर्माण करती है और संवेद को छोड़ने पर यह इस भ्रम में पड़ती है कि वह सत् की प्रापक है, विषय-कल्पक नहीं, और इस प्रकार वह न केवल ईश्वर, आत्मा आदि अविषयों का ही विषय–रूप में निर्धारण करती है, विषयों को भी, जोकि स्वरूपतः प्रातिभासिक हैं, सत् समझने के भ्रम में पड़ती है। इस बुद्धि की कल्पनाएँ : वर्गणाएँ (केटेगरीज) : मूलतः चार प्रकार की हैं—मात्रा (क्वांटिटी), गुण (क्वालिटी), संबंध (रिलेशन) और प्रकारता (मोडेलिटी), और इनके आगे प्रत्येक के तीन-तीन प्रकार हैं। ये कल्पनाएँ या आकार विषय के अतिक्रामी सर्जक हैं, अर्थात् ये न इन्द्रियगोचर हैं और न हमारी इच्छाओं से नियंत्रित, क्योंकि ये गोचर विषयों तथा इच्छा-विषयों के, वास्तव में हमारे विषयात्मक अस्तित्व के ही, मूल हैं। इन्हें सांख्य की आहंकारिक बुद्धि भी कह सकते हैं। इसका क्या अर्थ है ? इसका अर्थ है कि आप ह्यूम के समान विषयों और संबंधों को मात्र अभ्यास कहकर उनका निराकरण नहीं कर सकते, क्योंकि इस प्रकार के कथन में यह धारणा है कि या तो ये सत् हैं या फिर केवल आभ्यासिक संबंध, और क्योंकि ये सत् नहीं हैं इसलिए ये केवल आभ्यासिक संबंध हैं, जिन्हें हम वास्तव समझते हैं। किन्तु कांट के अनुसार न तो ये सत् हैं, क्योंकि ये संबंध जिन विषयों के बीच हैं वही सत् नहीं हैं, और न ये आभ्यासिक हैं, जिसका अर्थ होता है कि जिन विषयों के बीच ये संबंध देखे जा रहे हैं वे तो सत् हैं किन्तु इन विषयों के बीच के संबंध सत् नहीं हैं। कांट के अनुसार विषयों, घटनाओं और इनके बीच संबंधों की सत्ता एक ही प्रकार और स्तर की है, यह प्रातिभासिक सत्ता है। इस प्रातिभासिक सत्ता की सम्भावना के लिए अतिक्रामी वर्गणाओं का अपना मूल होना आवश्यक है, यह मूल कांट के अनुसार, आत्म के अतिक्रामी एकतत्व में है जो स्वरूपतः असम्बद्ध संवेदों का संयोजन करता है। उदाहरण के लिए, ह्यूम के

अनुसार कारण-कार्य संबंध वास्तव में अवस्तुमूलक हैं और केवल हम अभ्यासवश (एसोसियेशन ऑफ आइडियाज़ के द्वारा) दो घटनाओं को कारण-कार्य रूप में संबंधित देखते हैं। इसके विपरीत कांट के अनुसार यह संबंध मनस् की मूल वृत्ति है, मूल मुद्रा है और इस प्रकार स्वरूपगत, अनिवार्य और आदिम है, यह संवेदनाओं का नियामक और विषय-विधायक है। दूसरे शब्दों में, यह चेतना की जगद्भाव में प्रवृत्ति है, और जब चेतना इस भाव में प्रवृत्त होती है तब विषय-जगत् की सृष्टि होती है। इस प्रकार यह भाव और परिणामतः ये मूल कल्पनाएँ या मुद्राएँ जगत् से प्राक् हैं। कांट इन कल्पनाओं को शुद्ध विचार की क्रियाएँ (एक्टिविटीज़ ऑफ प्योर थॉट) भी कहता है[21]। निश्चय ही, शुद्ध विचार की ये क्रियाएँ "विचार-घटनाएँ" नहीं हैं : इन्हें विचार-घटनाएँ कहना आनुभविक वस्तुस्थिति का वर्णन करना होगा, जोकि वास्तव में यह नहीं है। पैटन के अनुसार, इसका अर्थ है : "शुद्ध प्रत्यय (कांसेप्ट) की अन्तर्वस्तु (कांटेंट) शुद्ध विचार की क्रियाएँ हैं : अथवा अधिक सम्यक् शब्दों में, शुद्ध प्रत्यय की अन्तर्वस्तु वह है जो शुद्ध विचार की क्रियाओं में सामान्य है, संक्षेप में, शुद्ध प्रत्यय विचार के आकारों के प्रत्यय हैं"[22] (प्योर कांसेप्ट्स आँर कांसेप्ट्स ऑफ दि फोर्म ऑफ थिंकिंग)। वास्तव में कांट यहाँ उस विचार-क्रिया (प्रत्ययन) की बात कर रहा है जो चैतन्य में जगन्मूलक नाम-रूप की वृत्ति का प्रवर्तन करती हैं। ये नाम-रूप जागतिक विषय नहीं हैं, ये वे आदिम कल्पनाएँ हैं जो विषय-विधायक हैं : दूसरे शब्दों में, वे जगत्, या कहें चैतन्य का जगद्भाव हैं, और शुद्ध विचार–क्रिया चैतन्य की इस भाव में प्रवृत्ति है।

यह जगद्भाव जिस नाम-रूप-कल्पना में प्रवर्तित होता है उसके कुछ निश्चित प्रकार हैं जिनकी संख्या कांट के अनुसार 12 है, जैसाकि हमने ऊपर देखा। इन्हें कांट वर्गणाएँ (केटेगरीज़) कहता है। 'केटेगरी' शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम अरस्तू ने किया था, किन्तु अरस्तू इन्हें सत्ता के रूप मानता था। उसके अनुसार आकार (फोर्म) और वस्तु (मैटर) सत्ता के ये दो पक्ष हैं, (वास्तव में वह दोनों को उपादान मानता है), और आकार की कुछ निश्चित वर्गणाएँ हैं। किन्तु जैसाकि पूर्वोक्त से स्पष्ट है, कांट इन वर्गणाओं को सत्ता की वर्गणाएँ नहीं मान कर जगद्भाव की वर्गणाएँ मानता है, जिनका उपादान संवेद है। कांट के अनुसार ये विषय-सामान्य के शुद्ध प्रत्यय हैं. इनका सत् से कोई संबंध नहीं है। इसके पीछे कांट की यह मान्यता है कि हम बुद्धि की कोटियों के बाहर कुछ नहीं जान सकते और सन्देहातीत अनिवार्यता से केवल उसी को जान सकते हैं जो हम स्वयं विषय में आक्षिप्त करते हैं[23]। इस प्रकार शुद्ध बुद्धि वस्तु की : सत्ता की : प्रापक नहीं है, विकल्प या सांवृतिक

---

21. द्रष्टव्य क्रि० प्यो० री० बी-81.
22. पैटन-कांट्स मैटाफिजि़क्स ऑफ एक्सपीरिएंस-पृ० 224.
23. द्रष्टव्य क्रि० प्यो० री०, बी-XII

की प्रापक है और वर्गणाएँ वस्तु-सामान्य के आकार नहीं हैं, विषय-सामान्य के आकार हैं। यह विषय-सामान्य क्या है ? यह संवेदों के अनिवार्य एकत्व में संश्लेषण का अतिक्रामी प्रारूप है। यह अनिवार्य, बौद्धिक, कल्पनामूलक, संश्लेषणात्मक एकत्व ही विषय का सामान्य और अनिवार्य धर्म निर्धारित करता है। संवेदात्मक उपादान कितना भी विविध हो सकता है किन्तु उसका विषय-धर्मः विषयत्वः अपरिवर्तित ही रहता है। इसलिए वर्गणा (केटेगरी) को अनुभव के प्रत्येक विषय में निरपेक्षतः विद्यमान अनिवार्य संश्लेषक :एकत्व-विधायकः कल्पना भी कह सकते हैं।[24]

इस प्रकार कांट ज्ञान के स्वरूप के अनुसधान में विषय की सत्ता की ओर अतिक्रमण नहीं कर ज्ञान के मूल की ओर अतिक्रमाण करता है। विषय–सत्ता की ओर अतिक्रमण का प्रयत्न ईश्वर, पुरुष अथवा प्रकृति आदि को तत्त्वमीमांसीय अभिकल्पनाओं के वास्तव आधारों के रूप में स्थापित करता है, जोकि कांट के अनुसार निरर्थक प्रयत्न है। यह विषयात्मक वर्गणाओं का अनधिकृत क्षेत्र में प्रयोग है। इसलिए ज्ञानके स्वरूप के अनुसंधान के लिए ज्ञान के अपने मूल की ओर अतिक्रमण ही उचित हो सकता है। यह अतिक्रमण उस अनिवार्य नियम को प्रकट करता है जो आत्ममूलक होने से असंदिग्ध और अव्यवहित है। किन्तु कांट के अनुसार यह आत्म स्वतन्त्र नहीं होकर विषय–तंत्र है, यह अपने को विषय के माध्यम से ही अधिगत करता है। **इस प्रकार कांट विषय का अतिक्रमण करने के प्रयत्न में उन्हीं सीमाओं के भीतर रहने को बाध्य है जिनका वह उल्लेख करना चाहता है : प्रत्यय के लिए यह अनिवार्य है कि वह विषय का प्रत्ययन करें और इसी प्रत्ययन में वह अपने को भी जाने। इस प्रकार ज्ञान के संदर्भ में ज्ञान का निरूपण निरन्तर अपनी ही परिधि पर आवर्तन करने को बाध्य है।**

किन्तु यह महत्त्वपूर्ण है कि यह परिधि या वृत्त अपनी सीमाओं का आलेखन कर सकता है। यह आलेखन संवेद और बुद्धि दोनों बिन्दुओं पर होता है और ये दो बिन्दु एक केन्द्र पर प्रातिभासिक जगत् का वृत्त बनाते हैं। प्रातिभासिक ज्ञान के लिए अनिवार्य है कि वह संवेदाश्रित हो, किन्तु संवेद के ज्ञान बनने के लिए यह अनिवार्य है कि वह किसी संवेदाकारः देश या कालः में निरूपित हो। देश-कालातीत संवेद ज्ञान–ग्राह्य नहीं है—वह केवल एक उद्ग्रहणात्मक कल्पना (एब्स्ट्रेक्शन) है। किन्तु ज्ञान के स्वरूप की व्याख्या के लिए यह कल्पना अनिवार्य है, क्योंकि संवेद को देश-काल-मूलक मानने पर इसे भी मनोजन्य मानना होगा जो विषय को उसके तन्त्र के एक अनिवार्य घटक से वंचित कर देगा। विषय के लिए अनिवार्य है कि उसका कम से कम एक घटक मनोबाह्य

24. क्रि० प्यो० री. ए 321=बी 377.

हो, अन्यथा विषय की वस्तुतंत्रता, परता, तत्-ता, समाप्त हो जाएगी; कांट के शब्दों में, "ऐसा मानना होगा कि विना कुछ के प्रतीतिगत हुए प्रतीति होती हैं।" इस प्रकार विषय-बोध की अपनी व्यवस्था ही विषय की सीमा का उल्लेख करती है। किन्तु विषय–बुद्धि (अंडरस्टैंडिंग) इस सीमा के बाहर विचार नहीं कर सकती, यद्यपि इस सीमा के बाहर जो कुछ भी है वह केवल विचारगम्य ही है, इसे कांट शुद्ध विचारगम्य (इंटेलिजिबल) कहता है। किन्तु विचार में कोई अपनी प्रत्यक्षीकरण शक्ति (इंट्यूशन) नहीं है, इसलिए वह इस मनोबाह्य :अप्रातिभासिक: का विषयकरण नहीं कर सकता, किन्तु विषयकरण की सीमाओं पर रह कर इसका प्रत्ययन कर सकता है। कांट में (बोधगम्य प्रत्येय) और ज्ञेय (नोएबल) नितांत भिन्न कोटियाँ हैं। ज्ञेय उसके लिए वे विषय ही हैं जो संवेद-समष्टि के बुद्धि द्वारा संयोजन से रचित होते हैं, जबकि बोधगम्य वह है जो शुद्ध प्रत्ययगम्य और अतएव अविषय है। यद्यपि उसे 'ऑब्जेक्ट ऑफ रीज़न' कहा जा सकता है, किन्तु वह केवल उपमात्मक रूप से ही। उदाहरणत: प्रातिभासिक बुद्धि (विषयोन्मुख बुद्धि) कारण-कार्य की वर्गणा के द्वारा संवेदों का काल में संयोजन करती है, किन्तु यह संयोजन काल-निरूपित संवेदों को व्यवस्था देकर भी व्यवस्था की दृष्टि से पूर्ण नहीं है। विषयमूलक व्यवस्था के सन्दर्भ में कारण-क्रम को, और इस प्रकार काल को, या तो अनंत मानना होगा या सान्त। किन्तु दोनों ही विकल्प युक्तिसंगत नहीं हैं और इस प्रकार ये ऐसे परस्पर विरोधी सिद्धान्तों (एंटीनोमीज़) को जन्म देते हैं जो एक साथ तर्क–सिद्ध प्रतीत होते हैं और जिनमें से किसी भी एक का स्वीकार यादृच्छिक मालूम होता है। इस विषम स्थिति से निकलने का केवल एक ही रास्ता है और वह यह कि, विषय-बुद्धि (अंडर्स्टैंडिंग) की सीमा का अतिक्रमण किया जाय, जो सम्भव नहीं है। सम्भव केवल यह है कि बुद्धि जिस व्यवस्था का सूत्रपात करती है उस व्यवस्था की सीमाओं को देखा जाय। इस प्रकार आप देख सकते हैं कि विषय-जगत् कारण-कार्य-व्यवस्था-मूलक है और जागतिक (फिनॉमिनल) कारण-कार्य-व्यवस्था अपनी पूर्णता के लिए जगद्बाह्य अधिष्ठान को पूर्वकल्पित करती है, क्योंकि अन्यथा यह व्यवस्था ही नहीं बनती: प्रत्येक घटना की कारण–घटना होगी और इस प्रकार अनन्त शृंखला होगी। अवश्य यह क्रम अनादि है, क्योंकि इस पर कहीं भी रोक लगाने के लिए जगद्व्यवस्था में कोई प्रावधान नहीं है। इसलिए इस व्यवस्था में रह कर रोक केवल मनमाने ही हो सकती है, जो वास्तव में इस कारण-कार्य-व्यवस्था के बाहर जाना ही होगा और व्यवस्थाहीनता भी होगी। व्यवस्थात्मक अतिक्रमण के लिए इस क्रम को वर्तुल बनाना होगा और इस वृत्त की सीमा पर रहकर, जो सीमा स्वयं हमारे प्रातिभासिक अस्तित्व का भी समावेश करती है, इसे देखने का असम्भव कर्म करना होगा। सो, कांट यह असम्भव कर्म जागतिक व्यवस्था की स्वरूपगत अपूर्णता

और पूर्णता के लिए जगद्बाह्य मूल के आक्षेप (पॉजिटिंग) की अनिवार्यता के द्वारा सम्पन्न करता है। यह आक्षेप एक अन्य वृत्त को पूर्ण करता है : **'संवेद का कारण मैं स्वयं नहीं हो सकता, क्योंकि प्रतीति का आधार प्रतीति-बाह्य होना आवश्यक है, न मैं विषय-कल्पना का आधार या कारण हो सकता हूं, क्योंकि यह कल्पना भी अपने आधार को अपने से बाहर आक्षिप्त करती है। इस प्रकार जागतिक सत्ता, जो मुझे भी सम्मिलित करती है, वर्तुल है और जगदोत्तर मूल में अधिष्ठित है; यह मूल संवेदातिक्रामी (विषय-बुद्धि का अतिक्रमण करने वाले) तत्त्व से घटित मण्डल से परिवेष्टित है।'**

जैसाकि हम पीछे देख चुके हैं, यह व्यवस्थापिका बुद्धि विषय–बुद्धि (अंडरस्टैंडिंग : विषयातिक्रामी आकार:) नहीं है, इसके "विषय" केवल उपमात्मक रूप से ही विषय हैं। किन्तु हममें एक भ्रामक प्रवृत्ति है, कि हम संवेदमूलक विषय-बुद्धि के विषयों के समान प्रत्ययमूलक या व्यवस्थामूलक बुद्धि के विषयों को भी अस्तित्ववान् मानने लगते हैं। विषय-बुद्धि संवेद-निर्धारक बुद्धि है—उन सामान्यात्मक निर्णयों में भी जो अन्ततः सम्भाव्य संवेदों का निर्देश करते हैं। उदाहरणतः "सब कुत्ते भौंकते हैं" जैसे वाक्यों में भी 'यह कुत्ता है, और जो कुत्ता है वह भौंकता है, इसलिए यह भौंकने वाला है" सामान्यात्मक निर्णय है, किन्तु यह निर्णय सम्भाव्य संवेदमूलक है। जहाँ तक यह सामान्यात्मक है वहाँ तक यह व्यवस्थापनात्मक भी है। किन्तु यह व्यवस्था विषय-व्यवस्था है जिसका क्षेत्र संवेद-निर्धारण है। किन्तु यह व्यवस्था विषय के विपरीत आत्म की ओर उत्क्रमण के क्रम में जिस मूल की ओर संकेत करती है वह विषयात्मक नहीं है, इसलिए उसके अनुरूप विषय की कल्पना वदतोव्याघात है। इस अतिक्रामी बुद्धि (ट्रांसेंडेंटल रीजन) के आकारों को कांट प्रत्यय (आइडियाज़्) कहता है। इनकी उपयोगिता यह है कि ये विषय-व्यवस्था का, ज्ञान-व्यवस्था का, निर्देशन (रेगुलेशन) करते हैं, विषयकारों (वर्गणाओं आदि) के समान विषय की रचना नहीं करते। ये व्यवस्थापक या निर्देशक प्रत्यय मुख्यतः तीन हैं -(1) देशगत विषय-व्यवस्था की परम व्यवस्था के प्रत्यय—ब्रह्माण्डीय प्रत्यय (कोस्मोलोजीकल आइडियाज़्), (2) काल-गत विषयों (आत्म :अहं: सहित) की परम व्यवस्था का प्रत्यय—अनिर्धारित आत्मा, तथा (3) सत्ता की व्यवस्था के परम आधार का प्रत्यय—ईश्वर। ये तीन प्रत्यय व्यवस्थात्मक प्रत्ययों (रेगुलेटिव आइडियाज़्) के रूप में नितांत उचित और उपयोगी हैं, किन्तु जब भ्रमवश इनको रचनात्मक (कांस्टीट्यूटिव) प्रत्ययों के रूप में कल्पित कर लिया जाता है और इनके अनुरूप विषय-कल्पना कर ली जाती है तब ये भ्रमक हो जाते हैं। दूसरे शब्दों में, कांट "ईश्वर है" या "आत्मा है" आदि प्रतिज्ञप्तियों को निरर्थक मानता है, जहाँ तक ये प्रतिज्ञप्तियाँ आत्मा, ईश्वर आदि को विषयों के रूप में कल्पित करती हैं। विषय-ज्ञान के सन्दर्भ में इनकी भूमिका केवल ऐसे प्रत्ययों के रूप में है जो विषय-जगत्

की व्यवस्था के ऊपर विचार के संदर्भ में इस व्यवस्था को तार्किक पूर्णता देने के रूप में लाये जाते हैं। इस प्रकार, 'अनिर्धार्य आत्मा' के साथ 'है' नहीं लगाया जा सकता, क्योंकि यह पद निर्धारण करता है, किन्तु 'ज्ञान' की वर्तुलता वृत्त के आधार की अपेक्षा करती है और इस आधार के रूप में निर्देशक प्रत्यय अनिवार्य है। किन्तु विषय-ज्ञान के संदर्भ में इससे अधिक इन प्रत्ययों का कुछ अर्थ नहीं है।

विषय की प्रातिभासिकता अविषयः अप्रातिभासिकः सत् की ओर संकेत करती है, यद्यपि यह उसे 'प्रदान' नहीं करती, क्योंकि वह इस प्रकार प्रदान किया ही नहीं जा सकता। अप्रातिभासिक सत् प्रतिभास के लिए केवल व्यवस्थात्मक प्रत्यय है। किन्तु यदि सत् केवल व्यवस्थात्मक प्रत्यय मात्र ही हो और उसकी कोई अपनी अन्तर्वस्तु नहीं हो, तो विषय की प्रातिभासिकता भी व्यवस्थात्मक प्रातिभासिकता ही हो जायगी और उसके अतिक्रमण का प्रयत्न केवल विषय को दूर से, और परिप्रेक्ष्य में, देखने का प्रयत्न मात्र रह जायगा। प्रतिभास की ऐसी कल्पना फिनॉमिनलॉजी संप्रदाय के सिद्धांत में मिलती है। इसके अनुसार चित् स्वरूपतः विषयापेक्षी (इंटेंशनल) है। इस प्रकार इसके अनुसार विषयातिक्रमण केवल विषयात्मकता के एक स्तर से दूसरे स्तर पर संक्रमण है। किन्तु कांट चित् को स्वरूपतः विषयापेक्षी नहीं मानता है, वह इसे निर्विषय (अप्रातिभासिक) सत् मानता है और इसकी अपनी अन्तर्वस्तु भी मानता है जिसका अवगमन हमें नैतिक कर्म में होता है।[25] नैतिक कर्म मनुष्य की, या कहें नैतिक कर्त्ता की, अप्रातिभासिक सत्ता को पूर्वकल्पित करता है; अथवा कहें, नैतिक अनुभव में कर्त्ता, ज्ञानात्मक अनुभव में ज्ञाता के विपरीत, अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित होता है, विषयों में निर्वासित नहीं रहता। विषयी आत्मा अनुभव की सम्भावना, विषयगत एकत्व का आकार, तथा निर्देशक सिद्धांत मात्र है, इस प्रकार इसका कोई अपना स्वरूप नहीं है,* किन्तु नैतिक कर्म का प्रवर्तन इस निर्देशक सिद्धांत की स्वायत्त सत्ता के बोध से ही होता है। विषय, और विषय-रूप में मैं भी, विषयमूलक नियम के अधीन हैं : 'ऐसा होगा, क्योंकि ऐसा हुआ,' 'मेज़ इस समय यहाँ है तो यह इस समय वहाँ नहीं हो सकता' आदिः किन्तु कर्म विषय की अनिवार्यता से प्रवर्तित नहीं हो सकता, यह नियम के प्रवर्त्तन की सामर्थ्य से ही प्रवर्तित हो सकता है : ऐसा होना चाहिए, इसलिए यह करणीय है। "मैं यह हूं, जो मुझे नहीं होना चाहिए. इसलिए

---

25. द्रष्टव्य क्रिटीक ऑफ प्रैक्टिकल रीजन. V 42.

* यहां सार्त्र के मत का उल्लेख प्रासंगिक है जिसके अनुसार चित् अपनी ओर उन्मुख नहीं हो सकता। सार्त्र का यह मत वास्तव में हुस्सर्ल के मत का ही तर्कोचित प्रतिफलन है। इस संबंध में द्रष्टव्य यशदेव शल्य-"विषय और आत्म" में अध्याय-9।

मैं अब अपने को इस प्रकार नियोजित करूंगा।" इस प्रकार-कारण-शृंखला का, अथवा कहें संस्कार-समुत्पाद का, अनादि-प्रवाह यहाँ उस आदि कारण में प्रतिष्ठित हो जाता है जो इससे बाहर है– अर्थात् जो न कार्य है और न कारण। इस प्रकार काँट के अनुसार, नैतिक कर्म आत्म-नियामक है। किन्तु यह आत्मनियामकता इच्छा-कामना की नियमाकता नहीं है, क्योंकि इच्छा आत्मनियामक हो ही नहीं सकती। इच्छा अपने से बाहर किसी लक्ष्य की सिद्धि के प्रयोजन से नियमित होती है, अधिक ठीक कहें तो, इच्छा अपने आन्तर पक्ष में मनोदैहिक कारण–नियमों से निर्धारित होती है और बाह्य पक्ष में विषय से। इस नियमन को कांट 'हाइपोथेटिकल इंपेरेटिव'—सापेक्ष कार्य–नियम (देशना)— कहता है। इसमें कर्म का नियमन लक्ष्य की सिद्धि के लिए उपयुक्त साधनों के नियोजन-कौशल से होता है। गीता के शब्दों में, यह सकाम कर्म है। इसके विपरीत आत्म-नियामक कर्म जगत् में साध्य सब लक्ष्यों से निरपेक्ष, निष्काम, स्वतंत्र, होता है। इसमें शुभ संकल्प उस नियम से बँधा होता है जिसका साध्य और साधन वह स्वयं है। इस नियम को कांट केटेगोरीकल इम्पेरेटिव : निरपेक्ष देशना : कहता है और इसे इस प्रकार व्यक्त करता है : "इस प्रकार कर्म करो कि तुम्हारे कर्म का नियामक सूत्र (मैग्ज़िम) तुम्हारे संकल्प के माध्यम से प्रकृति के निरपेक्ष नियम का रूप ले सकता हो।"[26] इस प्रकार यह कर्म प्रकृति में साध्य लक्ष्य के लिए उपयुक्त नियमों से निर्धारित नहीं होता बलिक यह प्रकृति से निरपेक्ष ऐसे नियमों की स्थापना करता है जो इस निरपेक्षता के कारण सार्वभौमिक भी हैं। इस प्रकार कांट का नीति-दर्शन फल-निरपेक्ष दर्शन है। कर्तृ-संकल्प का निर्धारण केवल उस नियम से ही हो सकता है जो स्वातंत्र्य का, और इस प्रकार निरपेक्ष कर्त्तव्य का, नियम है, फल की सिद्धि के नियम से नहीं, जोकि प्राकृतिक नियम है। वास्तव में क्रिया और उसका फल दोनों प्राकृतिक लोक में घटित होते हैं, केवल कर्म संकल्प-स्वातंत्र्य के लोक में घटित होता है : "मुझे असत्य नहीं बोलना चाहिए, क्योंकि असत्य-भाषण का सार्वभौमिक नियम के रूप में उपदेश नहीं किया जा सकता।" इतना हीं नही, असत्य कथन वास्तव में वदतोव्याघात है, क्योंकि असत्य कथन वह है जो वास्तव में कथन ही नहीं है—उसका कथन करने में ही उस कथन का बाध करना है। यह उस स्थिति का भंग करता है जो बुद्धि का सार है। इस सिद्धान्त का भंग किसी ऐसे प्रयोजन से नहीं किया जा सकता जो इसके अपने अन्तर्गत नहीं हो, फिर वह प्रयोजन चाहे कितना भी अभीष्ट क्यों नहीं हो। उदाहरण के लिए, सत्य-भाषण से क्या परिणाम निकलेंगे, यह देखना नैतिक कर्म की दृष्टि से इस भाषण से संगत नहीं है, तब भी नहीं यदि सत्य-भाषण से सदैव दुःखद और

---

26. Kant–Groundwork of the Metaphysics of Morals, Translated by H. J. Paton; Harper Torch Books, New York; P. 88.

असत्य भाषण से सदैव सुखद परिणाम निकलते हों। जैसाकि हमने पीछे देखा, इस फल-निरपेक्षवाद अथवा निष्काम कर्मवाद के आधार में सिद्धान्त यह है कि फल प्रतिभास के लोक में घटित होता है जबकि कर्म प्रतिभास से अतीत शुद्ध निःश्रेयस् के आत्म-लोक में। कांट की पदावली में—शुद्ध संकल्प ऐसे हेतु से कारित होता है जो स्वयं कारणोत्तर है, जो शुद्ध बुद्धि (रीज़न) के द्वारा विवेच्य, सब प्रकार के सांसारिक प्रयोजनों से स्वतंत्र तथा पूर्णतः आत्मतंत्र है।

जैसाकि हमने ऊपर कहा, कर्म की क्रिया भी प्रातिभासिक जगत् में ही घटित होती है, जिसके दो अर्थ होते हैं— प्रथम यह कि कर्म का निष्पादन-पक्ष कर्म के बोधगम्य (ईंटेलिलजिबल) पक्ष से भिन्न लोक में है और इस प्रकार कर्म, फल के समान ही, इसके निष्पादन से भी स्वतन्त्र है। किन्तु निष्पादन को कर्म से और फल को निष्पादन से एकदम पृथक् नहीं किया जा सकता, इनमें भेद होते हुए भी कोई नैरन्तर्य तो स्वीकार करना ही होगा। किन्तु यह नैरन्तर्य केवल जगत् को विशेष दृष्टिकोण से देखने पर ही स्थापित किया जा सकता है जिसके अनुसार जगत् प्राकृतिक या विषयात्मक नहीं होकर प्रयोजनात्मक है। इसके अनुसार, जगत् किसी प्रयोजन को व्यक्त करता है जिसका मूल संवेद नहीं होकर बोध है। संवेद-मूलक जगत् यांत्रिक नियमों से नियन्त्रित है इसलिए यह हमारे संकल्प से नियमित नहीं होता। हमारी इच्छाएं इसमें परिवर्तन घटित करती हैं किन्तु इच्छाएं भी, प्रातिभासिक पक्ष से देखने पर, कारण-कार्यात्मक हैं और इस प्रकार इनके द्वारा घटित परिवर्तन एक पत्थर द्वारा दूसरे पत्थर में घटित किये गए परिवर्तन के समान ही है। किन्तु इच्छाओं को कारण-कार्यात्मक से भिन्न प्रयोजनात्मक सन्दर्भ में भी देखा जा सकता है, जिसका अर्थ है कि एक अविद्यमान स्थिति घटनाओं का नियोजन करती है, और इस प्रकार उत्पन्न वस्तुस्थिति को कारण-कार्यात्मक प्रकार से नहीं समझा जा सकता बल्कि एक भिन्न व्यवस्था के अनुसार ही समझा जा सकता है, जिसे हम 'प्रयोजन' पद से व्यक्त करते हैं। प्राणियों द्वारा निर्मित घोंसला, बिल आदि, और उससे भी अधिक, मनुष्यकृत वस्तुएं और वस्तुस्थितियां: मेज, कुर्सी, संस्थाएं, समाज आदि : केवल प्रयोजन के सन्दर्भ में ही समझी जा सकती हैं। इतना ही नहीं, बहुत-सी स्वतोत्पन्न वस्तुएं भी केवल प्रयोजनात्मक प्रसंग में ही समझी जा सकतीं हैं, जैसे प्राणियों और वनस्पतियों के देह और उनके व्यवहार। ये सब कारण-कार्यात्मक, अथवा कहें यांत्रिक, अवधारणाओं द्वारा अवगम्य नहीं हैं। किन्तु ठीक इसी प्रकार जगत् अपनी समग्रता में भी यांत्रिक नियमों द्वारा अवगम्य नहीं है। विषय-बुद्धि-मूलक अवधारणाएं केवल देश-काल के आकार के माध्यम से संयोजित संवेदों का, या उन अवधारणाओं के आकार द्वारा अपेक्षित सम्भावित संवेदों का ही ग्रहण कर सकती हैं, एक ऐसे पूर्ण सिद्धांत का नहीं जो सब विषयों को एक नियम में समन्वित कर सके। इस प्रकार यह बुद्धि विशिष्ट वस्तुओं, घटनाओं और

इनके सम्बन्धों का आकलन करती है। किन्तु ये वस्तुएं, घटनाएं और सम्बन्ध भौतिक या अन्य प्रकार की व्यवस्थाओं—मनोवैज्ञानिक, शरीर--वैज्ञानिक आदि—में समन्वित होते हैं। यह समन्वय (समाकलन) विशेषों से साधारणीकरण के रूप में नहीं होता बलिक सीधे सामान्य के ग्रहण द्वारा होता है जिसके अन्तर्गत विशेष आकलित होते हैं। किन्तु यह द्रष्टव्य है कि प्रत्यय (शुद्ध बुद्धि के प्रत्यय) विज्ञान के, अथवा कहें जगत् के संदर्भ में केवल निर्देशात्मक हैं। किन्तु कर्म में ये एक सर्वथा दूसरे आयाम में प्रकट होते हैं, ये हमें सर्वथा दूसरे लोक में अवस्थित करते हैं। यदि विश्व में प्रयोजन सम्भव है तब विश्व पूर्वसिद्ध नहीं है, जैसाकि कारण-कार्य की वर्गणा (केटेगरी) इसे कल्पित करती है। बलिक यह साध्य और नियोज्य है, जैसाकि प्रयोजन (डिजाइन) की कोटि इसे कल्पित करती है। किन्तु वह प्रयोजन संवेद के संदर्भ में, सुख-दुःख मूलक इच्छा-पूर्ति के संदर्भ में, केवल प्रकट रूप से ही प्रयोजनात्मक कहा जा सकता है, क्योंकि इस संदर्भ में वस्तुएं केवल कारण-कार्यात्मक प्रकार की ही हो सकती हैं। प्रयोजनात्मक वास्तव में स्वतन्त्र कर्म के संदर्भ में ही सम्भव है, अथवा कहें, प्रयोजनात्मक के लिए यह अनिवार्य है कि कारण-श्रृंखला उस तत्त्व में निहित हो जो अ-कार्य है, जो केवल कारण ही हो सकता है, कार्य नहीं हो सकता।[27] किन्तु यहां एक समस्या है—अप्रातिभासिक प्रयोजन संवेद में अपने को चरितार्थ नहीं कर सकता, क्योंकि संवेद में अवतरित होने पर इसका कारण-कार्य क्रम-बद्ध हो जाना अनिवार्य है: यदि मैं किसी कर्म का निर्धारण करते हुए उसका सुख-सिद्धि से अनुकूलन करना चाहता हूं तो कर्म का स्वातन्त्र्य सम्भव नहीं हो सकता। यह कर्म सापेक्ष और सम्भाव्य-संवेदमूलक होगा। इसके विपरीत प्रयोजनात्मकता प्रत्यय का संवेद के माध्यम से क्रियान्वयन है। इस प्रकार इसकी प्रतिष्ठा असांवेदनिक में होना अनिवार्य है। किन्तु मनुष्य में उसके सत्त्व (बींग) के द्विविध होने से यह सम्भव नहीं है, यह (प्रयोजनात्मकता) कर्म का स्वातन्त्र्य केवल उस सीमा तक ही प्राप्त कर सकती है जिस सीमा तक वह संवेद का निषेध कर सकती है। इसी से कांट के अनुसार, यदि मैं अपने मित्र की सहायता करता हूं तो इसमें स्वतन्त्र कर्म की सिद्धि नहीं है, यह सिद्धि तभी लक्षित होती है जब मैं अप्रिय व्यक्ति की सहायता करता हूं।[28] इस प्रकार वास्तविक प्रयोजनात्मकता केवल वहीं सम्भव है जहाँ स्वातन्त्र्य पूर्ण हो, दूसरे शब्दों में, जहां सांवेदनिक स्वतन्त्रता के अधीन हो, और यह वहीं सम्भव है जहां संवेद अस्तित्ववान् नहीं हो—भस्मीकृत कामदेव के समान। इस प्रकार केवल ऐसा संकल्प ही, जो संवेद से पूर्णतः अबाधित है, सप्रयोजन सर्जन कर सकता है। किन्तु ऐसे संकल्प के लिए प्रयोजन की बात करने का कोई अर्थ नहीं रह जाता, क्योंकि इसके पूर्णतः बुद्धि—

---

27. द्रष्टव्य-क्रिटीक ऑफ प्रैक्टिकल रीजन V 42, V 64।
28. ग्राउंडवर्क ऑफ दि मैटाफिजिक्स ऑफ मॉरल्स, पृ० 66-67.

स्वरूप होने के कारण इसके लिए साध्य और सिद्ध युगपद् रहते हैं। इसलिए प्रयोजनात्मक के लिए सत्ता (बींग) का द्वैत अनिवार्य है और यह द्वैत बौद्धिक और और सांवेदनिक दो सत्ताओं का नहीं है बल्कि सत्त्व (बींग) की असत्त्व-गर्भितता का, सत्त्व के आत्मबाधित होने का है।[29] वास्तव प्रयोज्य इस द्वैत की समाप्ति :सत्त्व द्वारा आत्म–बाधा के निवारण का प्रयत्न: ही है। सम्भवतः यह स्थिति असामरस्य की, विसंगति की, है जिसमें संगति केवल संवेद्य को पूर्णतः संकल्प के अधीन करके ही स्थापित की जा सकती है: काम को अनंग रूप में रहने की अनुमति देने के समान। किन्तु यह स्थिति मनुष्य को सुलभ नहीं हो सकती, क्योंकि मनुष्य अनिवार्यतः दो लोकों का प्राणी है; किन्तु उसमें संवेद-बाधा के अतिक्रमण का प्रयत्न और सत्त्व द्वारा असत्त्व के निवारण की अभीप्सा से उस स्थिति का संकेत मिलता है जिसमें यह बाधा अतिक्रमित रहता है। वास्तव में ऐसी स्थिति में अनिवार्य आस्था ही मनुष्य की इस अभीप्सा का, मूल्य-बोध का, धर्म का और मोक्षाकांक्षा का, मूल है। यह स्थिति उसकी ईश्वरीय स्थिति है, यह सत्त्व (बींग) की परिपूर्णता है, इसमें संवेद बुद्धि के अधीन रहता है, बुद्धि से विसंगत रूप में नहीं। केयर्ड के शब्दों में ''जब हम यह प्रश्न करते हैं कि किन हेतुओं या स्थितियों के आधार पर हम परमार्थ अथवा निरपेक्ष नैतिक देशना (सत्-शिव आनन्द—सम्मम बोनम) की, श्रेयस् और सुख के समन्वय की, अवधारणा कर सकते हैं, तब हमारे सम्मुख एक दोहरी कठिनाई उपस्थित होती है : प्रथम, मनुष्य के अपूर्ण सत्त्व में पूर्ण श्रेयस् की स्थिति का चरितार्थन और दूसरे, श्रेयस् के साथ सुख के संयोग की सिद्धि। जहां तक इन कठिनाइयों में से प्रथम का सम्बन्ध है, निरपेक्ष नैतिक देशना में यह तर्कतः आपादित है कि श्रेयस् की पूर्ण सिद्धि सम्भाव्य है, क्योंकि असम्भव की साधना का आदेश वदतोव्याघत होगा। दूसरी ओर, क्योंकि हमारा सत्त्व सांवेदनिक भी है इसलिए उतने अंश में यह असम्भव है कि शुद्ध बुद्धिमूलक नियम हमारा एकमात्र प्रयोजन हो और इच्छा का उसमें लेश भी नहीं हो। इस कठिनाई का समाधान केवल ''अनन्त प्रगति'' के प्रत्यय में ही सम्भव है जिसके अनुसार हम निरपेक्ष नैतिक नियम के साथ अपने सांवेदनिक स्वभाव का आनुकूल्य स्थापित करने के आदर्श को क्रमशः अधिक सिद्ध करते हैं किन्तु कभी भी उससे तादात्म्य प्राप्त नहीं कर पाते, क्योंकि बुद्धि-संयुत किन्तु अपूर्ण सत्त्व (बींग) के लिए नैतिक पूर्णता के निम्नतर स्तर से उच्चतर स्तर की ओर प्रगति का एक अनंत क्रम ही सम्भव हो सकता है, उसके साथ तादात्म्य सम्भव नहीं हो सकता। किन्तु संवेद से पूर्णतः अबाधित शुद्ध आत्म-तत्त्व :ईश्वरः के दृष्टिकोण से इस अनन्त क्रम को स्वतःपूर्ण माना जा सकता है: ''असीम सत्त्व, जिसके लिए काल की बाधा नहीं है, नैतिक नियम से आनुकूल्य के अनंत क्रम को एक पूरित समग्र के रूप में देखता

29. इस प्रश्न पर वास्तव में युक्तिसंगत विचार सांख्य और वेदांत दर्शनों में हुआ है।

है और बौद्धिक सत्त्व (रैशनल बींग) के सम्पूर्ण अस्तित्व को एक ही बौद्धिक प्रत्यक्ष द्वारा ग्रहण कर वह उस पूर्ण शिवत्व (होलीनेस) को प्राप्त होता है जो कि उसकी देशना की अनिवार्य पूर्वापेक्षा है। किन्तु यह बौद्धिक प्रत्यक्ष (इंटलेक्चुअल इन्ट्यूशन) किसी सीमित सत्त्व (संवेद-बाधित—अहंकारोपहित) को सम्प्रेषित नहीं किया जा सकता, हमारे लिए ईश्वरीय ज्ञान से आनूकूल्य केवल निरन्तर प्रगति में आस्था का होना ही है।"[30]

अब, जैसा कि हमने पीछे कहा, इस परमार्थ स्थिति में, जिसमें कि सुख श्रेयस् का अनिवार्यतः अनुगामी होता है, प्रकृति विषय :प्रातिभासिकः नहीं रह कर बुद्धि के अधीन लक्ष्योन्मुख हो जाती है। दूसरे शब्दों में, प्रकृति इस संदर्भ में एक लक्ष्यानुसारी, प्रयोजनात्मक व्यवस्था हो जाती है जिसके चरम लक्ष्य का निर्धारण उसी कर्म-बुद्धि से होता है जो बुद्धि मनुष्य के नैतिक कर्मों का लक्ष्य निर्धारित करती है। इस प्रकार, विषय-बुद्धि के लिए प्रयोजन (डिजाइन) का निर्देशात्मक प्रत्यय (रेगुलेटिव आइडिया) परमार्थ स्थिति में लक्ष्यविषयक :लक्ष्य-मूलकः होता है, यद्यपि यह लक्ष्य उसके लिए ज्ञान का विषय नहीं होकर विश्वास का विषय होता है। किन्तु तब इस स्तर पर प्रकृति की व्यवस्था कारणमूलक रूप में नहीं समझी जा सकती बल्कि लक्ष्यमूलक रूप में ही समझी जा सकती है, यह लक्ष्य चाहे उसके बाहर ही क्यों नहीं हो—बहुत कुछ सांख्य के ही समान, जिसके अनुसार पुरुष प्रकृति से पृथक् होने पर भी प्रकृति आत्मपूर्ण सत्ता नहीं है बल्कि पुरुष—लक्षी (परार्थ) है। इस प्रकार, कांट-दर्शन में, विषयबुद्धि-मीमांसा (क्रिटीक ऑफ प्योर रीज़न) ने ज्ञान की सीमा का उल्लेख कर जिस क्षेत्र को अनुल्लेख्य छोड़ दिया था, कर्म-मीमांसा ने उस क्षेत्र का निरूपण कर विषय-बुद्धि के निरूप्य क्षेत्र की सीमा को भी व्यापकतर बना दिया।[31]

यह मीमांसा एक और अर्थ को भी व्यंजित करती है—विषयबुद्धि-मीमांसा और कर्मबुद्धि-मीमांसा दोनों चित् को सत् और विषय (अचित्) को असत् रूप में निरूपित करती हैं, और विषय को चित् की वृत्ति मानने हुए भी चित् के लिए विषय को अनिवार्य नहीं मानतीं। विषय-बुद्धि-मीमांसा विषय के निरूपण से आरंभ करती है और विषयत्व की परिधि खींच कर सत् को उस परिधि से बाहर और इस बुद्धि के लिए अगम्य पाती है और कर्म-बुद्धि-मीमांसा इस सत्स्वरूप का अवगाहन कर इसे निर्विषय पाती है, और दूसरी ओर विषय को भी इसके प्रतिबिंब (Ectype) के रूप में तथा इसके द्वारा प्रवर्तित (अस्तित्व में लाया गया हुआ)

---

30. केयर्ड-क्रिटिकल फिलासफी ऑफ इम्मेनुअल कांट, खण्ड-2, पृ० 272 (ग्लासगो, जेम्स मैक्ले हाउस एंड सन्स, 1909) तथा काट-क्रिटीक ऑफ प्रैक्टिकल रीज़न, V 123-24 भी द्रष्टव्य।

31. क्रि० प्रै० री०, V. 121.

देखती है,[32] क्योंकि विषय इस प्रकार प्रर्वातत होकर ही प्रयोजन-सिद्धि का माध्यम (टेलीयोलोजीकल) हो सकता है। किन्तु यह द्रष्टव्य है कि प्रयोजन-सिद्धि का माध्यम विषय वास्तव में विषय नहीं होता—चित्रकार के लिए चित्र विषय नहीं होता, यह उस अर्थ से अनुप्रविष्ट होता है जिसे व्यक्त करने के लिए उसकी सब रेखाएँ और उनके भंग और वर्ण (प्रातिभासिक अस्तित्व) उन्मुख होते हैं। इस प्रकार अर्थ-साधन के प्रसंग में अवधारित यह प्रातिभासिक प्रकृति स्वातन्त्र्य की अनुवर्ती हो जाती है। यह उस अर्थ की वाहक और माध्यम बनती है जो स्वरूप-सिद्ध और पूर्ण है।[33] किन्तु यहां प्रश्न होगा कि यह सिद्ध अर्थ इस विदेशी और विरोधी माध्यम को उत्पन्न कर अपने को पुनः सिद्ध करने के क्रम में क्यों प्रवृत्त होता है? इसका उत्तर होगा कि --पूर्ण (परमात्मा) इस क्रम में कभी नहीं पड़ता। हमारे लिए जो क्रम-शृंखला है उसके लिए वह अनादितः सिद्ध है, केवल इस अन्तर के साथ कि इस माध्यम की रचना, जो माध्यम कि उसके लिए वास्तव में विदेशी भी नहीं है क्योंकि उस (परमात्मा) के लिए संवेद कभी घटित होता ही नहीं, उसे अर्थ की विपुलता देती है: इसे ऐसे भी कह सकते हैं कि अद्वय और स्वरूपविश्रान्त सत् विभक्त होकर आत्म-दर्शन करता है: अद्वय-अखण्ड तत्त्व में आत्म-युगपद्भाव घटित होता है। यह बहुत कुछ त्रिलोकाधिपति, सर्वशक्तिमान् कृष्ण द्वारा चोरी माखन खाने जैसा, या जगदीश राम के सीता के विरह में रुदन जैसा है। राम की कोई कथा नहीं हो सकती, क्योंकि सब कुछ पूर्व सिद्ध है, कुरुक्षेत्र का युद्ध भी नहीं हो सकता, क्योंकि सब योद्धा पहले से ही कृष्ण के मुँह में हैं, किंतु तब भी राम उत्पन्न होते हैं और राम-कथा घटित होती है, कुरुक्षेत्र का युद्ध होता है और वह भी अर्जुन द्वारा सबको कृष्ण के मुँह में देख लेने के बाद। वास्तव में कलाकृति की रचना में भी आत्मा का यही स्वभाव प्रकट होता है—चित्रकार जिस अर्थ को रंग-रेखाओं के माध्यम से सिद्ध करने का प्रयत्न करता है वह अहंकार से अनवच्छिन्न भाव--लोक में पूर्वसिद्ध ही होता है, रंग-रेखाओं के माध्यम से वह केवल अपना पुनरधिगमन करता है। ईश्वर से चित्रकार का भेद यह है कि चित्रकार अनिवार्यतः दो स्तरों में विभक्त है—उसकी सत्ता अनिवार्यतः आत्मबाधित है, उसका अपना अर्थ संवेद के स्तर पर न्यूनाधिक ही सिद्धि पाता है, किन्तु ईश्वर के लिए यह संवेदजगत् उसके आत्मयौगपद्य का माध्यम बनता है। वास्तव में चित्रकार द्वारा रेखाओं में अपने अर्थ के अनुवाद का प्रयत्न ईश्वरीय यौगपद्य का ही एक रूप है।

इस यौगपद्य को स्फुटतम रूप में सुन्दर विषय में उदाहृत देखा जा सकता है: प्रयोजनमूलक वस्तुओं :वनस्पतियों, प्राणियों: के गठन में उनके अंग किसी लक्ष्य

32. क्रि० प्रै० री० V 42.

33. क्रिटीक ऑफ जज्मेंट, अनुवादकीय परिचय, पृ XXXIII: निम्नतर से उच्चतर धरातलो की ओर अनंत प्रगति केवल सीमित सत्त्वों के लिए ही संभव है, असीम सत् के लिए, जो कि कालोपाधि से अतीत है, यह अनंत क्रम-शृंखला एक समग्र है। क्रि० प्रै० री० V 124.

की सिद्धि के अनुसार व्यवस्थापित होते हैं और इस (प्रयोजन) के विना उस व्यवस्था को नहीं समझा जा सकता। यही बात सौन्दर्यात्मक गठन में भी है। किन्तु सौन्दर्यात्मक व्यवस्था की विशेषता यह है कि इसका लक्ष्य अलक्षित रहता है, यह लक्ष्यरहित लक्ष्योन्मुखता (पर्पज़िवनेस विदाउट पर्पज)है,[34] इसे लक्ष्य-स्वातन्त्र्य भी कह सकते हैं, अर्थात् उसकी व्यवस्था निष्प्रयोजन है। यह प्रत्यय की आत्मपूर्णता है जो अपने को निरालम्ब धारण करती है। इसमें आवयविक समष्टित्व एवं सामरस्य है किन्तु अपने को ही लक्षित किये हुए, किसी अन्य लक्ष्य की सिद्धि के लिए नहीं। अपनी इसी निरालम्बता के कारण यह हमें निष्काम और वासनाशून्य सौख्य की, आनन्द की, अनुभूति कराता है। यह निष्कामता विषय के बन्धन से मुक्ति, निरुपाधिकता और निरहंकारता का ही दूसरा नाम है : सवेद–विषय हमारी वासनाओं का उद्दीपन कर हमारी निष्क्रियता*(Passivity)में हमें निबद्ध करता है। इस वृत्ति में रहते हुए हमारी रुचि उसके अस्तित्व में, उसके भोग में, रहती है। श्रेयोमय विषय भी साध्य के रूप में या लक्ष्य-साधन के रूप में हमें बांधता है। किन्तु सुन्दर विषय न हमारी वासना का उद्दीपन करता है और न साध्य के रूप में हमें अपनी साधना के लिए बाध्य करता है। सन्तुलित भंगिमामय रेखा इसका एक उत्कृष्ट उदाहरण हो सकती है। ठीक इसी भाव में अवस्थित होने पर हम पुष्प या मानवाकृति में सौन्दर्य का भावन कर सकते हैं। यहां यह द्रष्टव्य है कि सौंदर्य-बोध का माध्यम वही कल्पना है जो विषय-बोध के आयाम में संवेद और विषय-बुद्धि की प्रागनुभविक वर्गणाओं के बीच सम्बन्ध-सूत्र का कार्य करती है।[35] किन्तु सौन्दर्य-बोध के संदर्भ में इनके सम्बन्ध का क्रम बदल जाता है। यहां कल्पना विषयोन्मुख बुद्धि के लिए संवेद को पुनः प्रस्तुत नहीं करती बल्कि संवेद को विषयता से मुक्त कर बुद्धि को निर्बन्ध करती है। कांट जब सौन्दर्य-बोध को 'कल्पना की निर्बन्ध क्रीड़ा' कहता है तब उसका यही आशय है। सुन्दर पुष्प वस्तुत्व से मुक्त होकर उस बोध में प्रतिष्ठा पाता है जिसमें संवेद देश-काल के आकारों से और बुद्धि

---

34. क्रिटीक ऑफ जजमेंट, अनुच्छेद 236.

* कांट-दर्शन में क्रिया केवल स्वतंत्र चेतना में ही संभव है। संवेद या संवेदन-वृत्ति पूर्णतः बाह्य कारणाधीन है, इसलिए वह स्वयं में निष्क्रिय है।

35. कांट की व्यवस्था में विषय-बुद्धि (अंडर्स्टेंडिंग) और संवेद प्राय: उसी प्रकार पृथक् हैं जिस प्रकार डेकार्ट की व्यवस्था में मनस् और प्रकृति। इस प्रकार शुद्ध विषय-बुद्धि या वर्गणाओं एवं अतिप्रत्यक्ष (अप्पर्सेप्शन) में तथा संवेद में संबंध एक समस्या है। इस समस्या के समाधान के लिए कांट व्यवस्थात्मक कल्पना (स्केमैटिक इमेजीनेशन) का अध्याहार करता है, जो संवेद और विषय-बुद्धि की मध्यवर्ती कड़ी है। यहां यह द्रष्टव्य है कि यह कल्पना बिबात्मक साधारण कल्पना नहीं है, क्योंकि साधारण कल्पना तो प्रातिभासिक विषय की ही प्रतिच्छवि है, स्केमैटिक कल्पना आकारात्मक है, इसी से कांट इसे कल्पना के बजाय स्कीमेटा भी कहता है। द्रष्टव्य क्रिटीक ऑफ प्योर रीज़न, पुस्तक 2, अ० 1।

विषयत्व के बन्धन से मुक्त होता है। संवेद की देश-काल के बन्धन से मुक्ति का अभिप्राय है अतिक्रामी आकरों के रूप में उनसे मुक्ति। सौन्दर्यबोध के प्रसंग में देश और काल इस बोध (सौन्दर्य-बोध) से ही निर्धारित होते हैं, विषय से, या विषय-बुद्धि से(चित् की विषय-वृत्तिकता से) नहीं। उदाहरण के लिए, चित्रित पुष्प का देश इस कुर्सी के दायें और इस मेज के बायें नहीं है, यह देश सौष्ठव और सामरस्य की आन्तर अनिवार्यता से निर्धारित होता है और इस प्रकार यह अतिक्रामी : विषय-वृत्तिक: संवेदाकार नहीं होकर आत्मवृत्तिक :प्रत्ययमूलक: संवेदाकार होता है। यह देश पुष्प-सौन्दर्य की रचना के आन्तर छन्द से सर्जित होता है। यही बात गीत के लिए है, इसमें काल अतिक्रामी संवेदकार नहीं होकर गीत के प्रत्यय द्वारा कल्पित होता है। अथवा कहें, अतिक्रामी आकार यहां प्रत्यय के स्वतन्त्र : आत्मतन्त्र: उपयोग के लिए प्रस्तुत होते हैं।[36]

× × × ×

कांट का दर्शन मनुष्य के स्वरूप को उसकी समग्रता में समझने का प्रयत्न कहा जा सकता है, इसी से यह दर्शन अपने को अनुभव के विवेचन तक ही सीमित रखता है और उसके विभिन्न रूपों का एक-दूसरे में अन्तर्भाव किये बिना इनमें एक-सूत्रता खोजने का प्रयत्न करता है। किन्तु अनुभव का विवेचन निरन्तर अनुभवोत्तर की ओर संकेत करता है और कांट इन संकेतों का अनुसरण कर अनुभव की सीमाओं का अतिक्रमण करता है, किन्तु वह अनुभव की सीमाओं को छोड़ने को तैयार नही है। मनुष्य के ज्ञानात्मक अनुभव का विवेचन करते हुए वह पाता है कि इसकी संरचना में एक अनिवार्यता है: संवेद की नियमहीनता और अनिर्धार्यता सांवेदनिक आकारों और बौद्धिक कोटियों के अनिवार्य नियमों के अधीन है और इस प्रकार वस्तुएं, भाव, और विचार, यहां तक कि मेरा लौकिक अस्तित्व मात्र, अपने रूप और रचना में अनिवार्य और बुद्धिगम्य है किन्तु अपने होने और अपनी प्रकारता में यह आगन्तुक है।[37] इसलिए यह मेरा स्वरूप नहीं हो सकता, और जब यह स्वरूप नहीं है—किसी का भी, क्योंकि मेरा नहीं—तब यह एष्य :साध्य: भी नहीं हो सकता, यह केवल निरास्य, विवेच्य : विवेक द्वारा निवार्य: ही हो सकता है। कांट में इस दृष्टि के संकेत मिलते हैं जब वह नैतिक अनुभव में उत्कर्ष की अनन्त सम्भावना देखता है और इस उत्कर्ष को ईश्वर-पार्यन्तिक देखता है।[38] ईश्वर

---

36. द्रष्टव्य-यशदेव शल्य, विषय और आत्म पृ० 20-23. (अखिल भारतीय दर्शन परिषद, 1972)

37. कांट स्पष्टत: कहते हैं कि सांवेदनिक आकारों: देश-काल: का हमें उपलब्ध प्रकार मानवीय वैशिष्ट्य है। यह आवश्यक नहीं है कि अन्य जीवों के संवेदाकारों का भी यही प्रकार हो। और न मानवीय चेतना के लिए ही यह अनिवार्य है कि इसके सांवेदनिक आकारों का प्रकार वही होता जो वास्तव में है।

38. क्रिटीक ऑफ प्रैक्टिकल रीजन, पूर्वोद्धृत।

मेरे लिए इतर सत्ता नहीं है, वह मेरे स्वरूप का ही उच्चतम शिखर है। इसके विपरीत जगत् : इहलोक: मेरा ही इतरत्व है। यही कारण है कि तारकित नभ जबकि अपनी देश-कालगत विराट्ता से मेरे में एक आह्लादक विस्मय का भाव और मेरी क्षुद्रता का बोध उत्पन्न करता है, ईश्वरीय विराट्ता आत्मगौरव का भाव देती है : "दो स्थितियाँ मन को नित्य नवीन समादर और विस्मय (आॅ) से अभिभूत करती हैं : ऊपर तारकित नभ का अपार विस्तार और अन्तर में स्फुट नैतिक नियम। मैं इन्हें केवल अनुमान से इस प्रकार नहीं टटोलता हूं जैसे मानो अन्धकाराच्छन्न बीहड़ में अथवा ज्ञानागम्य (ट्रांसेंडेंट) क्षेत्र में; मैं इन्हें अपने सामने देखता हूं और इन्हें अपने अस्तित्व से प्रत्यक्ष सम्बन्धित पाता हूं। इनमें पहला उस स्थान से आरम्भ होता है जो स्थान मैं संवेद के बाह्य जगत् में अध्युषित किये हूं, और यह उस परिदृश्य को व्यापक बनाता है जिसमें कि मैं संसारों के आगे संसारों की, ब्रह्माण्डों के बाद ब्रह्माण्डों की असीम विराट्ता के बीच खड़ा हूं और आदि-अन्तहीन काल-प्रवाह में इनको नियत गति से आवर्तन करते देखता हूं। दूसरा क्षेत्र मेरे अगोचर आत्म की देहली से, मेरे व्यक्तित्व की सीमा-रेखा पर से, आरम्भ होता है और मुझे ऐसे संसार में प्रतिष्ठित करना है जो वास्तव में ही सीमा-हीन है किन्तु जो केवल बुद्धि के लिए गम्य है—ऐसा संसार जिसके साथ मैं अपने को निरपेक्ष तथा अनिवार्य सम्पर्क में देखता हूं (केवल आगंतुक सम्बन्ध में नहीं, जैसाकि पहले में)। प्रथम में असंख्य संसारों का यह दर्शन प्राणी के रूप में मेरे अभिमान को नष्ट कर देता है, जो इस भूमण्डल को (जो ब्रह्माण्ड में केवल एक कण के समान है) इसका उपादान-तत्त्व लौटाने के लिए आवश्यक है, जो तत्त्व कि कुछ समय के लिए प्राण-तत्त्व से युक्त होता है जिसके कारण और प्रयोजन के सम्बन्ध में हम कुछ नहीं जानते। इसके विपरीत दूसरा एक बुद्धिमान प्राणी के रूप में मेरे व्यक्तित्व (पर्सनेलिटी) के द्वारा मेरे महत्त्व को असीम रूप से बढ़ाता है, जिसके द्वारा कि नैतिक नियम ऐसे जीवन का उद्घाटन करता है जो सम्पूर्ण पशुता से, बल्कि कहें सम्पूर्ण गोचर संसार से, मुझे मुक्त करता है।"[39]

किन्तु हमारा ज्ञान इस लौकिक अस्तित्व की अपारमार्थिकता प्रदर्शित करके भी इसकी सीमाओं को छोड़ने में असमर्थ है। नैतिक अनुभव हमें पारलौकिक सत्ता में प्रतिष्ठा देता हैं किन्तु यह अतर्क्य रूप से हमारे लौकिक अस्तित्व की आगन्तुकता को भी एक अनिवार्यता में बदल देता है, क्योंकि वह लौकिक अस्तित्व का अति-क्रमण करके भी निरन्तर उस पर लौटने को बाध्य है : नैतिक नियम निरुपाधिक है किन्तु उसकी सार्थकता केवल सोपाधिक (मनुष्य) के लिए ही हो सकती है। निरुपाधिक सत्त्व के लिए कोई देशना नहीं हो सकती, और तब उसके लिए अपने सत्स्वरूप की प्रतिष्ठा भी नहीं हो सकती, क्योंकि सत्स्वरूप की प्रतिष्ठा

39. क्रिटीक ऑफ प्रैक्टिकल रीजन, V 163।

प्रातिभासिक के निषेध द्वारा ही सम्भव है। हम अपने सत्त्व में स्वरूपतः बुद्ध हैं, किन्तु तब भी अनिवार्यतः अबोधगम्य (अन-इंटलिजीबल) से बाधित भी हैं, यही हममें और शुद्ध-बुद्ध या चित् (होली) में अन्तर है। अवश्य साध्य स्वयं आत्मा ही है, जो इस कथन से प्रमाणित है कि 'श्रेयस् केवल शिव-संकल्प है'', किन्तु इस शिव के प्रकाश के लिए अशिव का निषेध अनिवार्य है; यही वास्तव में प्रातिभासिक आविर्भाव के लिए युक्ति भी है।[40] किन्तु कांट इन प्रश्नों पर विचार नहीं करता। किंतु यह प्रश्न कांट के दर्शन में सहज ही उत्पन्न होता है कि यदि जगत् प्रातिभासिक है, अर्थात् विकल्प का व्यापार है, और सत् संकल्पस्वरूप है, तब क्या इस जगद्भाव में चैतन्य की प्रवृत्ति को भी चैतन्य का संकल्प मानना युक्त नहीं होगा ? इसकी पुष्टि इस बात से और होती है कि कांट प्रातिभासिकता से पूर्ण मुक्ति सम्भव मानता है।[41] किन्तु वास्तविकता यह है कि वह इस सम्भावना पर विचार नहीं करता। यही कारण है कि कांट में व्यक्तित्व के अतिक्रमण के लिए भी कोई सम्भावना नहीं है, निरुपाधिक अपनी साधना के लिए ही नहीं, सिद्धि में भी उपाधि (व्यक्तित्व) को अनिवार्यतः पूर्वकल्पित करता है : नैतिक कर्म को यदि 'स्वरूप-प्रतिष्ठा के प्रयत्न' के रूप में ही कल्पित किया जाय तो यह मानना अनिवार्य हो जाता है कि नैतिक कर्म केवल अनात्म-बाधित (मनुष्य) की स्थिति में ही सम्भव है, और इस प्रकार व्यक्तित्वोपहित मनुष्य ही नैतिक कर्म का कर्त्ता हो सकता है, पशु या ईश्वर नहीं। किन्तु तब नैतिक कर्म का साध्य इस उपाधि का पूर्ण अतिक्रमण :ईश्वरत्वः होना चाहिए, जो कांट के अनुसार है भी, किन्तु तब भी कांट व्यक्तित्व के अतिक्रमण या लय की न केवल चर्चा नहीं करता बल्कि उसके उपाधि होने की भी चर्चा नहीं करता। 'ईश्वरत्व' उसके अनुसार मनुष्य की पारमार्थिक सत्ता नहीं है : वास्तव में ऐसा कांट के दर्शन में कहा ही नहीं जा सकता : वह केवल नैतिक संधान की पार्यन्तिकता है। इस प्रकार ईश्वर की स्थापना कांट के दर्शन में मानवीय अनुभव के अन्तर्गत ही की गई है।

---

40. इस प्रसंग में द्रष्टव्य हमारा एक लेख-निर्विषय ज्ञान, दार्शनिक त्रैमासिक, 1974 तथा लेखनाधीन पुस्तक "सत्ता विषयक अन्वीक्षा" के प्रथम तीन अध्याय।

41. यहां यह स्पष्टीकरण आवश्यक होगा कि कांट के अनुसार मनुष्य के लिए वास्तव में मुक्ति संभव नहीं है, उसके लिए पूर्ण मुक्ति केवल पार्यन्तिकता है, किन्तु ईश्वर या होली (Holy) के पार्यन्तिकता होने का यह भी अर्थ है कि ईश्वर मनुष्य ही का परम स्वरूप है, केवल उसकी अनात्म-बाधित (प्रतिभास से उपहित) स्थिति के लिए वह क्रम की अनन्तता का चरम बिन्दु है। कांट के शब्दों में—''नैतिक नियम आदर्श रूप में हमें ऐसे स्वरूप में रूपान्तरित करता है जिसमें बोध उच्चतम शिवत्व को अस्तित्व में ला सकता है, यदि वह पर्याप्त भौतिक बल से भी सम्पन्न हो, और यह हमारे संकल्प का इस प्रकार निर्धारण करता है कि वह प्रातिभासिक जगत् को बुद्धि-सम्पन्न (विवेक-युक्त) सत्त्वों के अनुसार व्यवस्था दे सके। हमारी स्थिति पर थोड़ा भी विचार यह प्रदर्शित करता है कि यह प्रत्यय हमारे संकल्प के निर्धारण के लिए एक आदर्श रूप है। (क्रि० प्रै० री० V 42।)

किन्तु अनुभव की सीमाओं में रहने का प्रयत्न एक दुर्निवार समस्या उत्पन्न करता है— यह संकल्प और संवेद के बीच, सत् और प्रतिभास के बीच, की खाई को पाटने में असमर्थ है : मनुष्य स्वरूपत: एक संकल्प है, किन्तु वह अपने को संवेद से प्रतिरुद्ध पाता है। वास्तव में कांट की व्यवस्था में यह एक विचित्र स्थिति को जन्म देता है—मनुष्य निरन्तर दो अवस्थाओं में विभक्त रहता है; वह कर्म के बोध में स्वतन्त्र रहता है किन्तु उसके निष्पादन में परतन्त्र, और कर्म के इस दूसरे आयाम (निष्पादन) पर उसका कोई वश नहीं है। इतना ही नहीं, वह अपने सत्त्व और ज्ञान में, अपने स्वरूप और इसके निरूपण में, मूलत: विभक्त है और इन दो स्थितियों के बीच कोई सेतु सम्भव नहीं है : "हमारे स्वयं के ज्ञान के लिए उस विचार-कर्म (एक्ट ऑफ थॉट) की आवश्यकता है जो प्रत्येक सम्भव संवेदनात्मक बहुत्व को अहंप्रत्यय (अतिप्रत्यक्ष) के एकत्व में, जोकि संवेदना की निर्धारक विधा (डिटर्मिनेट मोड) है, संयोजित करता है जिसके द्वारा यह बहुत्व (विषय रूप में) प्रदत्त होता है। इससे यह आपादित होता है कि यद्यपि मेरा प्रातिभासिक अस्तित्व वास्तव में प्रतीति मात्र नहीं है (भ्रान्तिरूप होना तो दूर की बात है) किन्तु इस अस्तित्व का निर्धारण आन्तर संवेदन के आकार (काल) के माध्यम से और उसके अनुरूप ही, घटित हो सकता है, जो आन्तर संवेदना कि वह विशिष्ट संवृति है जिसके विषयकरण के लिए वह संवेद–बहुत्व प्रस्तुतत होता है जिसका विधान मैं करता हूं। इससे मुझे अपने तात्त्विक स्वरूप का ज्ञान नहीं हो सकता, केवल अपने उस रूप का ही ज्ञान हो सकता है जो मुझे प्रस्तुत होता है। इस प्रकार आत्म की चेतना (कांश्यसनेस ऑफ दि सेलफ) आत्म के ज्ञान (नॉलेज) से सर्वथा भिन्न है, उन सब कोटियों के बावजूद जोकि एक अतिप्रत्यक्ष (अप्पर्सेप्शन) में संवेद-बहुत्व के संयोजन द्वारा विषय-सामान्य के विचार की घटक बनती है। जिस प्रकार मुझे अपने से पृथक् विषय के ज्ञान के लिए उसके सामान्य विचार (धारणा) के अतिरिक्त अपने भीतर संवेद-बहुत्व की आवश्यकता होती है जिसके द्वारा कि मैं अवधारणा को निर्धारित करता हूं, उसी प्रकार मुझे अपने ज्ञान के लिए अपनी चेतना के अतिरिक्त अपने भीतर संवेदना की आवश्यकता होती है जिसके द्वारा मैं अवधारणा को निर्धारित करता हूं। मेरा (तात्त्विक) अस्तित्व उस बुद्धि-तत्त्व के रूप में है जो केवल मात्र संवेद-संयोजन की अपनी शक्ति के प्रति चेतन हैं, किन्तु संयोज्य संवेद-बहुत्व के प्रसंग में मैं तत्परतन्त्र हूं क्योंकि वह बहुत्व कालात्मक सम्बन्धों के अनुसार ही, बोध-मूलक प्रत्ययों या कोटियों के क्षेत्र से बाहर ही, संवेद्य हो सकता है। इस प्रकार का बुद्धि-तत्त्व केवल अपनी बुद्धि-बाह्य संवेदनाओं के माध्यम से प्रातिभासिक रूप में ही जान सकता है, उस प्रकार से नहीं (जिस

प्रकार से वह तब जान पाता) यदि उसकी संवेदना (प्रत्यक्ष—इन्ट्यूशन) बौद्धिक होती ।[42]

यहां दो प्रश्न प्रासंगिक हैं प्रातिभासिक का मेरे से क्या सम्बन्ध है? मैं अपना ग्रहण प्रातिभासिक के माध्यम से करता हूं, किन्तु वह मैं हूं नहीं; इतना ही नहीं, उसमें मेरा कर्त्तृत्व भी फलित नहीं होता, क्योंकि मैं इसका (प्रतिभास का) कारण नहीं हो सकता हूं ।[43] तब डेकार्ट के समान इसे भौतिक और बौद्धिक का द्वैत कहने के बजाय सांवेदनिक और बौद्धिक का द्वैत क्यों न कहा जाय? फ़िख्ते इसका समाधान करता है कि भौतिक प्रकृति चैतन्य के लिए नितान्त अगम्य है जबकि संवेद चैतन्य की ही प्राकृतिक वृत्ति है और इस प्रकार वास्तव में यह संवेद चैतन्य द्वारा भौतिक प्रकृति के अवगमन के प्रयत्न के क्रम में प्रतिस्थापित है ।

किन्तु यह व्याख्या सही मालूम नहीं देती, क्योंकि जैसाकि हम पीछे देख आये हैं, कांट भौतिक को स्वरूपवान् तत्त्व नहीं मानता है, वह इसे केवल प्रातिभासिक मानता है । कांट की व्यवस्था में भौतिक की स्वायत्त सत्ता कल्पनीय ही नहीं है, क्योंकि स्वरूप सत् केवल निराविल (शुद्ध) चित् (संकल्प) ही हो सकता है । इसे डेकार्ट के साथ तुलना के द्वारा समझना सरल होगा : डेकार्ट के अनुसार, मैं जब पत्थर उठाने की इच्छा करता हूं तब हाथ उठता है और उससे पत्थर उठता है, किन्तु इच्छा, और हाथ तथा पत्थर का उठना, दो पृथक् लोकों में असंबद्ध रूप से घटित होते हैं । इसके विपरीत कांट के अनुसार, मेरी पत्थर उठाने की इच्छा, और हाथ तथा पत्थर का उठना, एक ही लोक में घटित होते हैं और इस प्रकार मैं प्राकृतिक घटनाओं का कारण हूं, किन्तु वह इसलिए क्योंकि यह कारणभूत मैं और मेरी इच्छा प्रकृति ही हैं । किन्तु तब यह सब क्रिया-व्यापार संकल्प नहीं है—मेरा कर्त्तृत्व नहीं है । कर्त्ता रूप में मैं इस प्रकृति में कुछ घटित नहीं कर सकता ।' यह बहुत कुछ सांख्य की सी परिस्थिति है। सांख्य के अनुसार प्रतिभास विषयोन्मुखता है और इस विषयोन्मुखता का और विषय का, जोकि एक ही बात है, पुरुष से कोई सम्बन्ध नहीं है । किन्तु कांट सांख्य के समान अपने सिद्धान्त के सम्बन्ध में निश्चित नहीं है । जैसाकि उपर्युक्त (क्रि0 प्यो0 री0, बी0 157-59) में देखा जा सकता है, इसके अनुसार विषयकरण-व्यापार मेरे स्वरूप

42. क्रि० प्यो. री०, बी० 157-59.

43. "किन्तु निमित्त कारण (एफीशियेंट कॉज़) की स्वायत्तता की संभावना का भी अवगमन संभव नहीं हो सकता, विशेषत: संवेद के जगत् में: हम वास्तव में सौभाग्यशाली होंगे यदि इसके असंभव होने के लिए कोई प्रमाण नहीं हो और हम नैतिक नियम द्वारा इसकी (स्वायत्ततामूलक निमित्त कारण की) सत्ता स्वाकार करने के लिए अधिकृत हों ।" क्रि० प्रे० री० V 931 ।

के अन्तर्गत है, केवल विषयकृत उपादान (संवेद) मेरे से परे है, जिसे फिख्ते मेरे अन्तर्गत ही देखता है। फिख्ते मेरे स्वरूप और संवेद में यह अन्तर देखता है कि संवेद, उसके अनुसार, अतिवैयक्तिक चैतन्य द्वारा आक्षिप्त प्राकृनिक उपादान है और अतएव समझा जाकर: विवेकोपरांत: व्यक्ति-चैतन्य द्वारा नियम्य है। किन्तु जैसाकि क्रि0 प्यो0 री0, बी 157-159 से तथा कांट की कर्म-मीमांसा से स्पष्ट हैं, फिख्ते की यह व्याख्या समुचित नहीं है। किन्तु दूसरी ओर, न केवल कांट की सौन्दर्यमीमांसा से परोक्षत: ही यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि संवेद नितांत इतर नहीं है, उसके ईश्वर-विषयक अभ्युपगम में यह स्पष्टत: प्रतिपादित भी है। वह कहता है –"हम ऐसी 'परा सत्ता को अभ्युपगमित कर सकते हैं जो यद्यपि प्रकृति से नितांत भिन्न है किन्तु साथ ही उसका कारण भी है, और जिसमें परम श्रेयस् और परम प्रेयस् का समन्वय सिद्ध है।"[44] यहां यह द्रष्टव्य है कि यद्यपि मानवीय सत्त्व के लिए यह सम्भव नहीं है कि वह प्रकृनि का नियामक हो सके किन्तु यह नियामकता का अभ्युपगम उसी का है और इस प्रकार यह उसी की अपने सत्त्व के अतिक्रमण की सिद्धि है। यहां पुन: डेकार्ट से तुलना उपयोगी हो सकती है—उसके दर्शन में भी ईश्वर और मनुष्य में भेद यही है कि ईश्वर, मनुष्य से भिन्न, प्रकृति का कर्त्ता है, किन्तु उसमें यह स्पष्ट नहीं है कि किस प्रकार चित्तत्त्व भौतिक तत्त्व का सर्जक हो सकता है। दूसरे, डेकार्ट में ईश्वर स्वतन्त्र द्रव्य है: आत्मा और प्रकृति के साथ, किन्तु कांट में प्रकृति, आत्मा और ईश्वर एक ही चित्तत्त्व या सत्तत्त्व के विभिन्न आयाम हैं: प्रकृति मेरा ही इतरत्व और ईश्वर मेरा ही साध्य स्वरूप है। किन्तु ये आयाम भिन्न-भिन्न स्तरों पर भिन्न-भिन्न प्रकार से उपलब्ध होते हैं: प्रकृति के स्तर से चित्तत्त्व या सत् संभाव्य तो है, किन्तु अवगम्य नहीं है, ईश्वर वहां केवल एक निर्देशक प्रत्यय (रेगुलेटिव आइडिया) है, किन्तु संकल्प-बुद्धि या कर्म-बोध के स्तर पर प्रकृति अनात्म: मेरा ही इतरत्व: हैं और ईश्वर मेरी ही पार्यन्तिकता। इसी प्रकार, ज्ञानात्मिका या विषय-बुद्धि के लिए स्वातन्त्र्य केवल जगत्-व्यवस्था की व्यवस्थात्मक पूर्णता के लिए प्रकल्पित अभ्युपगम है किन्तु कर्म-बोध के लिए वह अव्यवहिततत्व या आत्म-साक्षात्कार है जबकि प्रकृति उसके लिए अनात्म :आत्म-इतरत्व, आत्म-प्रवास: है और ईश्वर उसकी अपनी ही पार्यन्तिकता या पराकाष्ठा है। किन्तु तब भी यह मेरे से मूलत: भिन्न है, क्योंकि मैं ईश्वरत्व के निकटतम तो हो सकता हूं किन्तु ईश्वर नहीं हो सकता हूं, मैं अनिवार्यत: अनात्म से बाधित हूं—ज्ञान में भी और कर्म में भी। किन्तु पहले दो क्रिटीकों में उत्पन्न यह अनिवार्य विरोध तीसरे क्रिटीक में सामरस्य में लय हो जाता है : क्रि. प्र. री. में बुद्धि अपने को संकल्प में स्वतन्त्र पाकर भी विवेक के क्रियान्वयन में अपने को संवेद : अपने इतरत्व: से प्रतिरुद्ध पाती है, संकल्प और

44. क्रि० प्रै० री०, V 125।

क्रिया परस्पर असम्बद्ध ही नहीं विरुद्ध भी रहते हैं, यद्यपि वहां इस आस्था (फेथ) के लिए आधार है कि प्रकृति का चित् में, सांवेदनिक प्रत्यक्ष का बौद्धिक प्रत्यक्ष में, रूपान्तरण सम्भव है। किन्तू प्रयोजनात्मिका बुद्धि (टीलियोलोजीकल जज्मेंट में) प्रकृति को स्वातन्त्र्य के अधीन वास्तव में रूपांतरित पाती है, क्योंकि प्रकृति में साधनों का साध्य की सिद्धि के लिए अनुकूलन स्वातन्त्र्य और प्रकृति के बीच की खाई को पाट देता है।

यहां कांट को दो प्रकार से देखा जा सकता है, एक दृष्टिकोण यह हो सकता है कि "क्रिटीक ऑफ प्योर रीज़न" में कांट का उद्देश्य हमारे जगत् विषयक ज्ञान की व्याख्या करना था और उस सन्दर्भ में उसने चित् और प्रकृति को परस्पर विपरीत दो तत्त्वों के रूप में देखा, जो किसी प्रकार एक मध्यवर्ती प्रातिभासिक जगत् की रचना में संयुक्त होते हैं। फ़िख्ते ने कांट को इसी रूप में देखा और जिल्सों ने भी इसको कांट का मूल मत मानकर क्रिटीक ऑफ प्रैक्टिकल रीज़न में उसके ईश्वर और आत्मा संबंधी प्रतिपादनों को असंगत प्रयत्नों के रूप से देखा।[45] किन्तु जैसा कि हम पीछे देख चुके हैं, यह युक्ति युक्त नहीं है। कांट **क्रिटीक ऑफ प्योर रीज़न** में भी निरंतर उच्चतर भूमि की ओर संकेत करता है जिसके परिप्रेक्ष्य में ही जगत् को समझा जा सकता है। चित् और प्रकृति के अतिक्रामी मूल को **क्रिटीक ऑफ प्रैक्टिकल रीज़न** में वह स्पष्टत: एक ही देखता है, किन्तु **प्योर रीजन** में भी उसने इन्हें कभी दो नहीं देखा। बल्कि वह स्पष्ट रूप से कहता है कि "दोनों प्रकार के विषय: अहं-प्रत्यय और वस्तु प्रत्यय: आंतरिक रूप से परस्पर भिन्न नहीं हैं बल्कि केवल इस रूप में ही भिन्न हैं कि ये एक–दूसरे के बाहर प्रतीत होते हैं, संभव है कि प्रातिभासिक उपादान (फिनोमिनल मैटर—संवेद-प्रदत्त) के मूल में अन्तर्निहित वस्तुसत् भी वैसा परायत्त विषय-निबद्ध (हिटरोनोमस) : नहीं हो जैसा हमें प्रतीत होता है।"[46] प्रथम क्रिटीक में मूल तत्त्व की एकता और चिन्मयता का जो सिद्धांत केवल एक संभावना के रूप में प्रतिपादित है **क्रिटीक ऑफ जज्मेंट** में वह एक वस्तुस्थिति के रूप में प्रस्तुत है। कांट के अनुसार "स्वातन्त्र्य की अवधारणा प्रातिभासिक जगत् में अपने नियमों के अनुसार प्रयोजन की सिद्धि करना चाहती है, परिणामत: प्रकृति को इस प्रकार कल्पित करना आवश्यक है कि इसके नियम कम से कम आकारत: इसमें (प्रकृति में) उन प्रयोजनों की सिद्धि के अनुकूल हों जो स्वातंत्र्य के नियमों में अन्तर्निहित हैं। इसलिए यह आवश्यक है कि प्रकृति के आधार में निहित वस्तुसत् की उस तत्त्व से एकता हो जो नीतिमूलक स्वातंत्र्य का मूल है।[47] अर्थात्

45. Gilson, E.-Unity of Philosophical Experience, London: Sheed and Ward, 1938, PP. 243-48.
46. क्रि० प्यो० री०, डाइलेक्टिक, पुस्तक 2, अध्याय 1, अंतिम अनुच्छेद।
47. क्रिटीक ऑफ जज्मेंट, प्रवेश, पृ० 12.

उसके अनुसार जैव जगत् तथा प्रकृति की प्रयोजनात्मक को समझने के लिए यह आवश्यक है कि प्रकृति और स्वातंत्र्य को विरुद्ध या पृथक् रूप में नहीं देखा जाय बल्कि प्रकृति को स्वातंत्र्य की सिद्धि के माध्यम के रूप में देखा जाय। अर्थात् प्रकृति में योजना और अनुकूलन (एडेप्टेशन) की अवधारणा प्रकृति को अनिवार्यतः स्वातंत्र्य के अधीन स्थापित कर देती हैं, और यद्यपि हम दोनों के इन्द्रियातीत मूल को जान नहीं सकते किन्तु यह मानना अनिवार्य हो जाता है कि ऐसा मूल है। इसी निष्कर्ष पर वह **क्रिटीक ऑफ टीलियालोजीकल जज्मेंट** में पहुंचता है। वहाँ वह बताता है कि प्रकृति के यांत्रिक और प्रयोजनात्मक (मेकेनिकल-टीलियीलोजीकल) रूपों में भेद हमारी विषय-ज्ञानात्मिका बुद्धि के स्वरूप के कारण है। जब हम किसी समग्र को जानना चाहते हैं तब हम पहले उसके भागों को जानते हैं और तब क्रमशः उसके द्वारा संपूर्ण को जानते हैं। किन्तु जैव विषयों में ऐसा संभव नहीं है। यहां हम भागों को केवल संपूर्ण के माध्यम से ही समझ सकते हैं। अब यदि यह संभव हो सकता कि हम समग्र को भागों से पूर्व देख सकते तब हम भागों को समग्र से निगमित कर सकते थे और उस अवस्था में जैव शरीर भी ज्ञान-विषय हो सकता था। किन्तु हमारी ज्ञान-बुद्धि में यह सामर्थ्य नहीं है और इसकी यह असमर्थता हमें ऐसी ज्ञान-बुद्धि को अभ्युपगमित करने के लिए प्रेरित करती है जो हमारी बुद्धि के समान विमर्शात्मक नहीं होकर प्रत्यक्षात्मक (इंट्यूटिव) है, जिसके लिए समग्र का ज्ञान अंशों के ज्ञान से पूर्वगामी है।"[48] यह कम से कम संभव है कि ऐन्द्रिय जगत् को केवल प्रतिभास के रूप में ही कल्पित किया जाय और इसके आधार को अप्रातिभासिक वस्तुसत् के रूप में कल्पित किया जाय, और इस वस्तुसत् के अनुरूप प्रत्यक्ष की सम्भावना स्वीकार की जाय। इस प्रकार प्रकृति के आधार में एक ऐसी अतीन्द्रिय सत्ता मानी जा सकती है जो यद्यपि हमारे ज्ञान के लिए अगम्य है किन्तु जो हमारा भी स्वरूप-सत् है। यहाँ दो बातें द्रष्टव्य हैं—पहली यह कि कांट 'ज्ञान' शब्द का प्रयोग एक नितांत पारिभाषिक अर्थ में कर रहा है, **क्रिटीक ऑफ प्रैक्टिकल रीजन** में "फेथ" का अर्थ 'विश्वास' नहीं होकर 'अव्यहितत्व' मानना चाहिए जो केवल स्वरूप का ही हो सकता है। किन्तु प्रतिभास और स्वरूप-सत् के बीच एक ऐसी खाई रह जाती है जो पाटनी आवश्यक है किन्तु जो नैतिक बोध के स्तर पर पाटी नहीं जा सकती। किन्तु इस खाई का रह जाना स्वयं नैतिक संकल्प की सिद्धि को समस्यात्मक बना देता है। इस खाई को प्रकृति की प्रयोजनात्मक अवधारणा से पाटा गया है किन्तु ज्ञानात्मिकता या विषय-बुद्धि के लिए स्वयं यह अवधारणा भी समस्यात्मक है क्योंकि इसका विषयभूत मूल-समग्र इसके लिए गम्य नहीं है और केवल

---

48. क्रि० ऑफ जज्मेंट, अनु. 77.

अंशों की व्यवस्था के रूप में ही गम्य है। यहाँ पुनः यह समझ लेना आवश्यक है कि यह अगम्यता वास्तविक अगम्यता नहीं है, केवल विषय-बुद्धि के लिए अगम्यता है। अवश्य कांट ने जिस प्रकार अपनी बात प्रस्तुत की है उससे प्रयोजनात्मक (टीलियोजीकल जज्मेंट) समस्यात्मक हो जाता है, किन्तु वास्तव में ऐसा होने की आवश्यकता नहीं है। ऊपर **क्रिटीक ऑफ़ जज्मेंट** (77) से जो उद्धरण दिया गया है उसमें स्वरूपसत् को सम्भावना के रूप में ही प्रस्तुत किया गया है, किन्तु यह ध्यान रखने की बात है कि ऐसा केवल इस कारण है क्योंकि यहां प्रस्थान-बिन्दु बुद्धि है। अन्यथा प्रयोजनात्मिका बुद्धि प्रकृति और स्वातंत्र्य के बीच सेतु बन कर उस परम आत्मभाव के लिए मार्ग प्रशस्त करती है जो सौंदर्य-बोध में प्रकाशित होता है। सौंदर्य-बोध निबद्ध नहीं है, यहां आत्मा न नैतिक नियम से अनुशासित है और न अंश समग्र के प्रयोजन की सिद्धि में नियुक्त है; यहाँ प्रयोजन पूर्ण स्वातंत्र्य को समर्पित होकर आनन्द की सृष्टि करता है और अनात्म आत्म की स्वरूप-सिद्धि में उपकरण बनता है। सौन्दर्य–विषय में सप्रयोजनता का ऐसा आकार है जो प्रयोजन से अनुपहित रहता है। उदाहरण के लिए किसी प्राणी के सुगठित अंगो को हम उसकी आत्म–रक्षा के प्रयोजन से गठित देख सकते हैं, और उसी गठन को एक समरस समग्र के रूप में किसी प्रयोजन से निरपेक्ष भी देख सकते हैं। चित्र में वर्णों और रेखाओं का सामरस्य और गीत में स्वरों का सामरस्य इसी प्रकार प्रयोजनातीत समग्रता को प्रस्तुत करते हैं। इसमें प्रकृति अबाध स्वातंत्र्य को समर्पित हो जाती है। गोएथे के शब्दों में "कांट ने अपनी दर्शन-व्यवस्था में मानो एक व्यंग्य का ताना तन लिया है। क्योंकि जबकि वह एक समय हमारे ज्ञान के करणों (फैक़ल्टीज़) को संकुचिततम सीमाओं में बाँधता प्रतीत होता है दूसरे समय में वह मानो अनुषंगतः ही, उन सीमाओं से परे संकेत कर देता है जो सीमाएं उसने स्वयं स्थापित की थीं"[49] गोएथे ने ये शब्द कांट की आलोचना में कहे हैं, किन्तु मुझे ऐसा लगता है कि कांट के ध्यान में निरंतर पूरा क्षेत्र है, अस्फुट रूप में ही चाहे वह हो, और वह निरंतर क्षेत्र के विस्तार और अनुभव की सीमाओं के बीच सामंजस्य खोजने में प्रयत्नशील है।

सारांश में, कांट जगत् और आत्मा के, ज्ञानात्मक, शिवात्मक तथा सौन्दर्यात्मक अनुभव के, स्वरूप और संबंध की एक ऐसी व्यवस्था प्रस्तुत करने का प्रयत्न करता है जिसका केन्द्र मनुष्य है, और वह इस केन्द्र पर रहकर दूर से दूर देखने को तैयार है, बल्कि सुदर उड़ानें लेने को भी तैयार है, किन्तु तब भी उस सीमा में ही जिससे वह लौटकर सांझ को जहाज पर आ सके, क्योंकि वह इस केन्द्र को पूरी तरह छोड़कर कहीं जाने को तैयार नहीं है। इसी प्रकार, वह एक तर्कतः समंजस व्यवस्था देना चाहता है। तर्कतः समंजस व्यवस्था अनिवार्यतः एक मूल

---

49. केअर्ड–क्रिटिकल फिलासफी ऑफ कांट, खण्ड-2 पृ० 592 से उद्धृत।

सिद्धांत की खोज करती है और उसके लिए अनुभव के यथार्थ का किसी भी सीमा तक बलिदान करने को तत्पर रहती है: किन्तु कांट व्यवस्था के आकर्षण को संयम के साथ ही स्वीकार करता है और नाक-कान काटकर मुँह को गोल बनाने का प्रयत्न नहीं करता। वह क्षुद्र कलाकारों के समान लाघव के प्रोक्रेस्टीय आदर्श का अनुसरण कर रंग और रेखा की कोमलता से आकर्षण उत्पन्न करने में प्रवृत्त नहीं होता, बल्कि सब वैषम्यों और ऊबड़-खाबड़ का तथा भद्दे-काले रंगों का समावेश कर उनका अन्तर्गत सामंजस्य प्रकट करना चाहता है।

अब तक हमने मुख्यत: कांट के विचार का ही प्रस्ताव किया, यद्यपि जैसाकि हमने आरम्भ में ही कहा, हमने अपने को उससे बांधा नहीं है। यहाँ अब हम उसके प्रेक्षक की भूमिका पर से, यद्यपि भीतरी प्रेक्षक की भूमिका पर से ही, थोड़ा विचार करने का प्रयत्न करेंगे।

कांट ने संवेदाकारों के रूप में देश और काल का और विषयाकारों के रूप में कोटियों का निरूपण इस प्रकार किया है मानो ये मानवीय चेतना के आदिम और अनिवार्य आकार हों, जबकि वास्तव में ऐसा नहीं है।* जैसा कि हम जानते ही हैं, लाइब्निज़ और आईंस्टाइन ने देश-काल की सर्वथा भिन्न प्रकार से कल्पना की है। किन्तु कांट की ओर से उसका उत्तर हो सकता है कि ये कल्पनाएँ सहज वस्तुज्ञान-मूलक आकार नहीं होकर प्रयोजन-विशेष मूलक या सैद्धान्तिक रचनाएँ हैं। कांट के समर्थन में यह युक्ति उचित है, जहां तक लाइब्निज़ीय और आईंस्टाइनीय देश-काल का संबंध है—किन्तु जब हम मिथकीय (माइथोलोजीकल) जगत् के स्वरूप पर दृष्टिपात करते हैं तब पाते हैं कि उसमें देश और काल का रूप उससे सर्वथा भिन्न है जैसा कांट ने उसको देखा है। मिथकीय जगद्बोध में देश सरल रेखात्मक और स्थिर नहीं होकर गत्यात्मक और अतएव तिर्यक् होता है और काल का ग्रहण देशाश्रित नहीं होकर देश का ग्रहण कालाश्रित होता है। देश इस चेतना में लक्ष्य-बोध और दूरवर्ती लक्ष्य के नियंत्रण की इच्छा का माध्यम बनता है। इस प्रकार यहाँ काल के अवगमन के लिए स्थिर रेखा माध्यम नहीं बनती बल्कि देश का आविर्भाव काल के भीतरी तनाव के द्वारा होता है। स्पेंग्लर ने कांट के देश-काल के सिद्धान्त पर आपत्ति की है कि यह सिद्धान्त ऐतिहासिक बोध का, जैव, प्रयोजनात्मक और कलात्मक का, आकलन नहीं कर यांत्रिकीय और सैद्धान्तिक का ही आकलन करता है, और उसने कांट की इस व्यवस्था के अनुसार देश और काल

---

* यह ध्यान रखना आवश्यक है कि कांट ने इन आकारों को मानवीय चेतना के लिए ही अनिवार्य और आदिम माना है, मूल चित् के लिए नहीं; चित् के लिए इन आकारों को कांट भी आगन्तुक ही मानता है, जैसा कि हम पीछे देख आये हैं।

के बाह्य-मनुष्य और आन्तर-मनुष्य के भेद को व्यक्त करने के लिए क्रमशः रेखा और गणितीय अंक के स्थान पर इतिहास-बोध के अनुरूप गणितीय अंक और आनुक्रमिक अंक (क्रोनोलोजीकल नम्बर) को उचित निदर्श (मॉडल) स्वीकार किया है ।[49] किन्तु मिथकीय देश और काल के ग्रहण के लिए उचित निदर्श तिर्यक् रेखा हो सकती है जो देश का मूल आन्तर तनाव में प्रकट करती है । इसी प्रकार कांट ने देश और काल को इंट्यूशन (संवेदना) सिद्ध करने के लिए तर्क दिया है कि इनका अखण्ड ग्रहण होता है और कोई भी देश या काल--खण्ड इस अखण्ड के भाग के रूप में ही देखा जाता है । किन्तु वास्तव में चित्र-लिखित देश और गीत-रचित काल इस देश या काल में स्थापित ही नहीं होता, वह आत्मपूर्ण और स्वायत्त होता है । मिथकीय देश-काल और चित्र तथा गीत-रचित देश-काल यह भी प्रदर्शित करते हैं कि सहज प्रत्यक्ष में भी इनके आकार एक और अनिवार्य नहीं होते ।

इसी प्रकार वर्गणाओं के संबंध में भी । कारण-कार्य-संबंध की वर्गणा, जिसे कांट ने सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण माना है, आधुनिक भौतिकी में प्रयुक्त नहीं है; आधुनिक भौतिकी इसे सर्वजीववादी (एनीमिस्टिक) मानती है । अवश्य इस आपत्ति का निराकरण इस युक्ति से किया जा सकता है कि आधुनिक भौतिकी इस वर्गणा का वास्तव में निराकरण नहीं करती, वह केवल जटिल परिभाषाओं के द्वारा ऐसा भ्रम उत्पन्न करती है । किन्तु प्रथम तो यही ठीक नहीं है; दूसरे यह नहीं दिखाया जा सकता है कि जो वर्गणाएँ कांट ने स्वीकार की हैं वे उस भाषा-रचना की सापेक्ष नहीं हैं जिसका प्रयोग हम करते हैं; क्योंकि अन्य भाषा-परिवारों में अन्य वर्गणाएँ हैं ।[50] ऐसी अवस्था में यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि तब क्या कांट-प्रतिपादित सांवेदनिक और बौद्धिक आकार प्रागनुभविक और आदिम नहीं होकर आनुभविक और आगन्तुक हैं ? किन्तु यदि ऐसा हो तो कांट की व्यवस्था के संबंध में एक गम्भीर कठिनाई प्रस्तुत होगी और वह यह कि कांट ने संकल्प-स्वातंत्र्य को इस आधार पर सिद्ध किया है कि कारण की वर्गणा केवल प्रातिभासिक है, अर्थात् प्रातिभासिक स्तर पर हम इसलिए अस्वतंत्र या निबद्ध हैं क्योंकि इस स्तर पर हम अपना आकलन कारण-कार्य शृंखला के अधीन करने को बाध्य हैं ।[51] जिसका अर्थ है कि यदि यह वर्गणा प्रातिभासिक स्तर पर भी वास्तव में विधायक नहीं हो तो हम इस स्तर पर भी निबद्ध नहीं होंगे ।

इन आपत्तियों के विरुद्ध काँट का उत्तर होगा कि इनमें जो सिद्ध किया जा

---

49. ओस्वाल्ड स्पैंग्लर- डिक्लाईन ऑफ दि वेस्ट, एल्फ्र ड ए० नोफ: न्यूयार्क, 1926 पृ० 6.
50. द्रष्टव्य-यशदेव शल्य-संस्कृति: मानव-कर्त्तृत्व की व्याख्या, अ० 3 तथा, 4, तथा ली व्होर, लेंग्वेज, थॉट एण्ड रियालिटी ।
51. द्रष्टव्य भगवती-कांट: निर्बन्ध आत्म का कल्पना-बन्धन, दार्शनिक त्रैमासिक, जुलाई 1975.

रहा है उसका पहले ध्यान रखकर ही तो यह कहा गया है कि संवेदाकार और विषयाकार (या वर्गणाएं) प्रागनुभविक हैं, दूसरे शब्दों में, इन आकारों को प्रतिभास के अप्रातिभासिक आधारों के रूप में नहीं देखा जा रहा है बल्कि उसकी प्रातिभासिक अभिव्यक्तियों के स्तर पर ही देखा जा रहा है, अप्रातिभासिक आकार पराबुद्धि (महत्) है। वास्तव में कांट ने आकारों के इन दो स्तरों में भेद नहीं किया है, और यदि वह यह भेद करता तो उसने वर्गणाओं की वह संख्या, जो उसने दी है, 'चेतना के आदिम रचना-व्यापार के हमारे भाषा-परिवार में व्यक्त आकारों' के रूप में दी होती और इसी प्रकार यूक्लिडीय देश और गणितांक-निरूपित काल का विवेचन मानवीय चेतना की आदिम संवृतियों के रूप में नहीं कर हमारे वैज्ञानिक अनुभव द्वारा कल्पित (प्राग्रचित) देश-काल के रूप में किया होता। किन्तु इस दोष से कांट की दृष्टि का महत्त्व कम नहीं होता, उसकी मूल दृष्टि प्रतिभास का मूल चेतना के प्रागनुभविक :अप्रातिभासिक: रचना-व्यापार में देखने में ही थी। और क्योंकि यह रचना-व्यापार चेतना का मूल धर्म नहीं है, उसका मूल धर्म स्वतंत्र संकल्प है, इसलिए यह कहना कांट की दृष्टि से पूर्णतः संगत होगा कि प्रतिभास में फलित चेतना का रचना-व्यापार उसके स्वतंत्र संकल्प से ही है, जिसमे प्रवृत्ति एषणाओं के अनुसंधान में और निवृत्ति कर्त्तव्यानुसरण में लक्षित होती है। वास्तव में वैज्ञानिक अनुभव भी चेतना द्वारा अपने मूल की ओर लौटने का प्रयत्न ही है, क्योंकि यह चेतना विषय-मूलक व्यवस्था से बुद्धि-मूलक व्यवस्था की ओर प्रत्यङ्मुख होती है जो अन्ततः निरुपाधिक की ओर संकेत करती है।[52] किन्तु जैसाकि हमने पीछे देखा, वैज्ञानिक चेतना औपाधिक का अतिक्रमण नहीं कर सकती।

यहाँ अत्यधिक महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह होगा कि, तब क्या नैतिक चेतना यह अतिक्रमण कर सकती है? इस प्रश्न पर हम पीछे विचार कर चुके हैं और देख चुके हैं कि वास्तव में कांट की कल्पना यही है। वास्तव में कांट की नीति-मीमांसा पर जो फार्मेलिज्म (आकारवाद=बुद्धिवाद) का आरोप है उसका निराकरण इसी से हो सकता है कि वह अपनी नीति-मीमांसा में आचरण के नियमों की स्थापना नहीं कर रहा है बल्कि उस आधार का अन्वेषण कर रहा है जो सत् और शिव दोनों है, अथवा कहें, जो सत् होने से ही शिव है और शिव होने से ही सत् है, और अतएव निरुपाधिक है, क्योंकि सत् का किसी भी प्रकार से निर्धारण सम्भव नहीं है।

---

52. द्रष्टव्य क्रिटीक ऑफ प्योर रीजन, बी० 673

9

जोहेन गॉतलीब फिख्ते*

(1762–1814)

फिख्ते कांट का कनिष्ठ समकालीन जर्मन दार्शनिक था, जो उसके दर्शन से गम्भीर रूप से प्रभावित हुआ और जिसने अपनी मान्यता के अनुसार, कांट की दृष्टि को पूर्ण दार्शनिक व्यवस्था के रूप में पुष्पित-पल्लवित किया। फिख्ते के अनुसार 'दार्शनिक व्यवस्था' का अर्थ था ज्ञान और सत् विषयक सब प्रतिज्ञप्तियों को निगमनात्मक रूप से एक आधार प्रतिज्ञा (प्रिंसिपल) में प्रतिष्ठित दिखाना। फिख्ते की निम्न पुस्तकें प्रकाशित हुईं, जिनके अंग्रेजी में नाम निम्न प्रकार हैं—

1. दि साईंस ऑफ नोलेज, 2. न्यू एक्स्पोजीशन ऑफ दि साईंस ऑफ नोलेज, 3. दि साईंस ऑफ राइट्स, 4. दि साईंस ऑफ एथिक्स, 5. पापुलर वर्क्स, 6, एड्रस्सेज टू दि जर्मन नेशन।

पीछे कांट-दर्शन के विवेचन के प्रसंग में हम जिन निष्कर्षों पर पहुंचे थे वे निष्कर्ष उस दर्शन के सम्बन्ध में साधारण-प्रचलित धारणाओं से बहुत भिन्न प्रकार

---

* यह लेख मुख्यत: सहायक ग्रंथों के आधार पर ही लिखा गया है, क्योंकि मुझे फिख्ते के केवल दो ही ग्रंथ उपलब्ध हो सके, एक "फिख्तेज पापुलर वर्क्स," अंग्रेजी में डब्लू. स्मिथ द्वारा अनूदित. और दूसरा "दि साइंस ऑफ राइट्स," अंग्रेजी में ए.इ.क्रूजर द्वारा अनूदित। किन्तु लेख लिखते समय इनमें से भी एक—प्रथम—पुस्तकालय से गायब हो गया, शायद सदा के लिए। इसलिए उसका उपयोग सहायक ग्रंथों को समझने में तो रहा, किन्तु उद्धरण देने में नहीं। जिन सहायक ग्रंथों से सहायता मिली वे निम्नलिखित हैं :

1. Breheir, E., History of Philosophy, Vol. 6.
2. Copleston, F., A History of Philosophy, Vol. 7, Part 1.
3. Erdmann, J. E., A History of Philosophy, Part II.
4. Falkenberg, R., History of Modern Philorophy.
5. Hegel, G. W. F. Lectures on the History of Philosophy, Vol. 3.

के थे। साधारण प्रचलित धारणा के अनुसार कांट प्रत्ययवाद और वस्तुवाद की अतियों के बीच एक सन्तुलित व्यवस्था देना चाहता था। इसके विपरीत हमारा निष्कर्ष था कि कांट जबकि अपने दर्शन की भूमिका इसी प्रकार प्रस्तुत करता है, वह इस भूमिका को केवल तैयारी के रूप में ही प्रस्तुत करता है, और उसकी सन्तुलित व्यवस्था वस्तुवाद को केवल इस सीमा तक ही स्वीकार करती है कि देश-कालात्मक जगत के हमारे ग्रहण में उस जगत् की हमारे ग्रहण से स्वतन्त्र सत्ता की जो हमारी धारणा है, उसका यह दर्शन-व्यवस्था में हमारे ग्रहण में ही पूरी तरह अपचय करने (घटाने) का प्रयत्न नहीं करती। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि कांट जगत की सत्ता को, थिंग इन-इट्सेल्फ को, जड़ द्रव्य मानता था। किन्तु तब भी यह स्वीकार करना होगा कि उसके दर्शन में यह एक अव्याख्यायित : अव्यवस्थित : अवधारणा है। फिख्ते ने भी कांट-दर्शन को इसी प्रकार देखा था। कांट-दर्शन विषयक इस निष्कर्ष पर मैं फिख्ते के, अथवा अन्य किसी के, अध्ययन से नहीं पहुंचा था, बल्कि स्वयं कांट ही के अध्ययन से पहुंचा था, जैसा कि कांट विषयक पिछले लेख में स्पष्ट देखा जा सकता है। इसी से पीछे फिख्ते को पढ़ते हुए मुझे, इस दृष्टि से, विशेष सन्तोष का अनुभव हुआ। किन्तु फिख्ते कांट-दर्शन का केवल व्याख्याकार मात्र नहीं है, वह कांटीय दृष्टि से प्रेरणा लेकर उस दिशा में बहुत आगे जाता है जिसे कांट प्रत्ययवादी अतिचार मानता था और इस प्रकार जिससे वह बचना चाहता था। किन्तु इस दृष्टि से कांट की स्थिति बहुत कुछ बुद्ध की सी थी, जो अनुभव से परे की बातों के बारे में मौन रहते थे और जिस मौन का अर्थ कुछ लोग "अवांछनीय कल्पना* होने से अविचार्यता का क्षेत्र" मानते हैं, किन्तु दूसरे "अनुभवातीत परमार्थ सत् होने से अनभिलाप्यता (अवाच्यता) का क्षेत्र" मानते हैं।

फिख्ते ने कांट की अन्तर्दृष्टि को और उसके कोपर्निकीय क्रान्ति के कार्यक्रम को उनकी तार्किक पर्यन्तता की ओर आगे बढ़ाया। कांट का कहना था कि विषय आकार और वस्तु का संयुक्त प्रतिफल है और वस्तु संवेद के माध्यम से आकार की क्रिया के लिए प्रस्तुत होती है। किन्तु आकार का उत्स क्या है और संवेद के परे असंवेद्य और निराकार : स्वलक्षण वस्तु : की संवेदन और आकार के लिए कैसे अनिवार्य अपेक्षा है, यह सब उसने नहीं कहा। जहां तक स्वलक्षण वस्तु का प्रश्न है, फिख्ते का कहना था कि यह उतना ही विषयी का प्रत्यय या आक्षेप है जितना आकार विषयि-मूलक है; इसलिए उसके अनुसार, दर्शन के लिए यह आवश्यक है कि वह विषय के समग्रत: चैतन्य में से उद्भूत होने का विवरण

---

* 'अवांछनीय' इसलिए क्योंकि बौद्धों के अनुसार ये आत्मा, परमात्मा या ब्रह्म् आदि पद-वाच्य पदार्थों के प्रति आसक्ति उत्पन्न करती हैं। बौद्धों का नैरात्म्य का सिद्धान्त पूर्ण 'अनासक्ति को भी पुष्ट के लिए था।

दे। फिख्ते ने अपनी पुस्तकों "ज्ञान की तार्किक व्यवस्था" तथा "नीति की तार्किक व्यवस्था" में यही देने का प्रयत्न किया।

किन्तु इसके लिए क्या युक्ति है? यह किस आधार पर कहा जा सकता है कि यह विवरण सही है? फिख्ते का विचार था कि दर्शन उचित रूप से प्रतिज्ञप्तियों की एक ऐसी तर्कात्मक व्यवस्था है जिसमें प्रत्येक प्रतिज्ञप्ति का तार्किक क्रम में एक निश्चित स्थान होता है। यह व्यवस्था एक आधार-प्रतिज्ञा पर प्रतिष्ठित होती हैं। और यह आधार-प्रतिज्ञा केवल एक ही हो सकती है जिससे शेष प्रतिज्ञप्तियां निगमित होती हैं, क्योंकि एक से अधिक आधार-प्रतिज्ञाएं होने का अर्थ है एक से अधिक व्यवस्थाएं (विज्ञान) होना, जो कि दर्शन के लिए एक अस्वीकार्य स्थिति है।

किन्तु तब उस आधार-प्रतिज्ञा के लिए क्या औचित्य हो सकता है? स्वभावत: आधार-प्रतिज्ञा के लिए तार्किक औचित्य की मांग का अर्थ होगा इस प्रतिज्ञा को आधार-प्रतिज्ञा नहीं मानना। इसलिए फिख्ते को स्वीकार करना पड़ा कि आधार-प्रतिज्ञा दार्शनिक के व्यक्तित्व से, उसकी मूल्य-व्यवस्था से, निर्धारित होती है।

आध्यात्मिक या नैतिक अनुभव के प्रति संवेदनशील व्यक्ति की आधार-प्रतिज्ञा चैतन्यमूलक : प्रत्ययमूलक: होगी और एक व्यावहारिक, बाह्योन्मुख स्वभाव के व्यक्ति की आधार-प्रतिज्ञा भौतिकवादी-प्रकृतिवादी होगी। किन्तु तब क्या इन आधार-प्रतिज्ञाओं में चुनाव के लिए कोई कसौटी हो ही नहीं सकती? यद्यपि फिख्ते प्रकट रूप से इसके लिये कोई कसौटी स्वीकार नहीं करता, किन्तु उसका अपना चयन निश्चित रूप से उस प्रतिज्ञा की वरणीयता को युक्तियुक्त मानकर ही अग्रसर होता है। उदाहरण के लिए, वह प्रत्ययवाद को इसलिए मानकर नहीं चलता कि यह उसके मन के अनुकूल है, बल्कि इसलिए मानता है कि 'चित्' को 'अचित्' से निगमित नहीं किया जा सकता; वस्तुवाचक पदावली में कहें तो, अचिद्-द्रव्य चिद्-द्रव्य का कारण नहीं हो सकता। अथवा कांटीय स्वलक्षण वस्तु के सम्बन्ध में उसकी स्थापना को लें—कि यह स्वयं एक प्रत्यय ही है। उसकी यह स्थापना उसकी मूल प्रतिज्ञा की अंग है, किन्तु यह केवल रुचिमूलक वरण के रूप में, अपनी मन-पसन्द के रूप में, प्रस्तुत नहीं की गई है। प्रत्ययवाद को वह इसलिए स्वीकार करता है क्योंकि उसके अनुसार यह एकमात्र युक्त सिद्धान्त है। इसकी युक्तता के लिए उसका तर्क यह है कि दर्शन के सामने दूसरा विकल्प केवल जड़वाद का है, जो इसलिए स्वीकार नहीं किया जा सकता क्योंकि वह वास्तव में ही युक्त विकल्प नहीं है, और वह युक्त विकल्प इसलिए नहीं है क्योंकि न इसकी मूल प्रतिज्ञा का अवगमन सम्भव है और न उससे संगत रूप से कोई अवगमनीय प्रतिज्ञप्ति ही निगमित की जा सकती है; इसकी मूल प्रतिज्ञा को

स्वीकार कर लेने के बाद उससे एक तर्कसंगत विचार-व्यवस्था अवश्य बनायी जा सकती है।

किन्तु थोड़ा गहराई से देखें तो हम पायेंगे कि दार्शनिक सिद्धान्त के रूप में वस्तुवाद की प्रस्थापना असम्भव है, क्योंकि वस्तुवाद के दार्शनिक प्रतिपादन के लिए वस्तु-प्रत्यय का विवेचन अपेक्षित है, और इस प्रकार यह सिद्धान्त अवस्तु से आरम्भ करने को बाध्य है।

फिख्ते के अनुसार, वस्तु :अथवा सत्: * प्रत्यय की ही आत्म-पराङ्मुखता है। यहाँ मान लें कि प्रत्यय वस्तु का केवल एक उपलक्षण है। किन्तु तब यह प्रश्न सम्भव नहीं है कि वस्तु क्या है, और उससे भी अधिक, वस्तुवाद (अर्थात् वह प्रत्यय-व्यवस्था जो प्रत्यय को वस्तु-मूलक देखती है) कैसे युक्त है। क्योंकि वस्तु या सत् से वस्तु या सत् ही उत्पन्न हो सकता है, वस्तु-प्रत्यय का जनन उससे नहीं हो सकता ! जबकि 'वस्तु क्या है', और पुन: 'यह प्रश्न क्या है', और उसके भी आगे, 'यह प्रश्न कैसे एक युक्त प्रश्न है' ये सब प्रश्न क्रमशः वस्तु से विपरीत दिशा में, प्रत्यय की अपनी ओर, संक्रमण हैं।

इसका अर्थ यह नहीं है कि प्रत्यय सदैव आत्मोन्मुख ही रहता है। वास्तव में प्रत्यय की आत्मोन्मुखता पर्याप्त दुर्लभ स्थिति है और स्पष्ट रूप में यह केवल दर्शन में ही उपलब्ध होती है। किन्तु इस स्थिति में जब प्रत्यय की दूसरी स्थिति—वस्तून्मुख : विषयोन्मुख : स्थिति—के स्वरूप पर विचार होता है, तब प्रकट होता है इस स्थिति में जो वस्तु-रूप में प्रकट है वह वास्तव में वस्तु-प्रत्यय ही है, प्रत्यय से इतर कोई वस्तु या सत् नहीं है। इस पर आपत्ति हो सकती है कि जिस प्रकार वस्तु प्रत्यय की जनक नहीं हो सकती उसी प्रकार प्रत्यय भी वस्तु का जनक नहीं हो सकता। किन्तु फिख्ते के अनुसार, यह आपत्ति सही नहीं है, क्योंकि प्रत्यय चित् के साथ सत् भी है, यह ज्ञान के साथ-साथ ज्ञात भी है। आत्मप्रकाशन, यह प्रत्यय का स्वभाव है।

प्रत्ययः प्रत्ययधर्मी चित्: में दो मौलिक धर्म हैं—एक प्रकाश और दूसरा उन्मुखता। प्रकाश-रूप में यह अपने में प्रकाशित होता है और उन्मुखता में यह विषयकरण करता है। इसका अर्थ यह नहीं है कि ये दो धर्म पृथक्-पृथक् क्रियान्वित होते हैं, बल्कि इनमें एक अनिवार्य युगपद्भाव रहता है, अर्थात् प्रत्यय उन्मुखता में

* यहां 'सत्' शब्द का प्रयोग अंग्रेजी के 'बीइंग' के पर्याय के रूप में किया जा रहा है। इसके लिए 'भाव' शब्द का प्रयोग भी किया जा सकता है। वैसे चैतन्य या प्रत्यय का भी भाव या सत्ता है, किन्तु कभी-कभी भाव का चैतन्य के विपरीतार्थ के रूप में भी प्रयोग किया जाता है। फिख्ते ने भी ऐसा ही किया है। द्रष्टव्य-साइंस ऑफ राइट्स, रुटलज एण्ड केगन पॉल, लंदन, 1970. (मूल 1890) पृ. 46 "दि ईगो इज व्हाट इट इज इन एक्टिंग, दि ऑब्जेक्ट इज व्हाट इट इज इन बीइंग।"

उन्मुखता के लक्ष्य को प्रकाशित करता है और साथ ही स्वयं में भी प्रकाशित होता है। इस आत्मप्रकाशन को फिख्ते 'इंटलेक्चुअल इंट्यूशन' कहता है। इस पद का अर्थ कांट के इस पद के अर्थ से भिन्न है: कांट के लिए इंटलेक्चुअल इंट्यूशन (बौद्धिक प्रातिभ) केवल उस ईश्वर में सम्भव है जिसका अस्तित्व असम्भव है, क्योंकि उसके अनुसार यह विचार के द्वारा वस्तु की ऐसी उत्पत्ति का वाचक है जिसका आकार, अन्तर्वस्तुभूत संवेद, और स्वलक्षण तत्त्व, तीनों एक साथ विचार ही हैं; और ऐसा प्रातिभ कांट की व्यवस्था में अग्राह्य है। इसके विपरीत फिख्ते के लिए 'इंटलेक्चुअल इंट्यूशन' प्रत्यय का स्वप्रकाशन है जो प्रत्येक उन्मुख : आत्मोन्मुख या परोन्मुख : क्रियान्वयन में युगपद् रूप से घटित होता है। उन्मुखता प्रत्यय का क्रियान्वयन है, डेकार्ट के शब्दों में 'विचारना है,' और इस क्रिया में प्रत्यय स्वप्रकाशित भी होता है। इस सीमा तक फिख्ते को डेकार्टानुयायी भी कहा जा सकता है।[1] डेकार्ट से यहां उसमें यह अन्तर है कि डेकार्ट सन्देह को आधार बनाकर प्रत्यय के आत्म-प्रकाशन को आत्मोन्मुख वृत्ति (रीफ्लेक्टिव एक्ट) का सहगामी बना देता है, जबकि फिख्ते इसे उतना ही बाह्योन्मुख वृत्ति के साथ भी सहगामी देखता है जितना आत्मोन्मुख वृत्ति के साथ। यहां यह स्पष्टीकरण आवश्यक है कि डेकार्ट "सन्देहभाव में आत्मप्रकाशित हूं" (आई डाउट देअरफोर आई एम) नहीं कह कर "विचार-क्रिया में आत्मप्रकाशित हूँ" कहता है, किन्तु यह क्रिया अनिवार्यत: आत्मोन्मुख विचार की ही क्रिया है, बहिरुन्मुख विचार की नहीं। इसी से डेकार्ट में "मैं देखता हूं" और "मैं चलता हूं" "(इसलिए) मैं हूं" यह नहीं कहा जा सकता, जोकि फिख्ते वास्तव में कहता है।

डेकार्ट से फिख्ते के इस अन्तर का कारण महत्त्वपूर्ण है और वह यह कि डेकार्ट में जबकि उन्मुखता अनिवार्य रूप से चैतन्य का आत्म-निर्वासन है और इस आत्म-निर्वासन में वह जिस सत् का प्रत्यक्ष करता है वह मौलिक रूप से भिन्न तत्त्व (द्रव्य) है, जिसके सम्बन्ध में वह कुछ नहीं जान सकता, फिख्ते में उन्मुखता आत्म का सृजन-व्यापार है, वह उसकी अनिवार्य और पुरस्कारक (आत्म-तोषक) निष्पत्ति है : आत्म या चैतन्य बाह्योन्मुखता में जगत्सर्जन में प्रतिफलित होता है और आत्मोन्मुखता में आत्म-सर्जन में।

इन उन्मुखताओं में प्रवर्तित चित् स्वरूपत: इनसे प्राक् है और इसे फिख्ते शुद्ध आत्म (प्योर इगो) या आधार चित् (ग्राउंडिंग कांश्यसनेस) कहता है। यह

1, यह साम्य हेगल ने भी देखा है। उसके अनुसार, "इस प्रकार फिख्ते डेकार्ट के अनुरूप ही "मैं विचारता हूं (इसलिए) मैं हूं" के साथ ही आरम्भ करता है और वह इस प्रतिज्ञप्ति का स्पष्टत: उल्लेख भी करता है।" द्रष्टव्य हेगल–दि हिस्ट्री आफ फिलासफी, अनु.इ.एस. हाल्डेन तथा एफ. एच. सिम्सन, खंड 3, पृ. सं. 485, रुतलज एण्ड केगन पॉल, लंदन, 1896.

शुद्ध आत्म न अस्मितात्मक : अहंकारात्मक : आत्म* है और न विषय; वह ऐसी शुद्ध क्रिया है जो आत्म और विषय के द्वैत में प्रतिफलित होती है। अपनी पुस्तक "ज्ञान की तार्किक व्यवस्था" (दि साईंस आफ नोलेज) केदूसरे सस्करण की भूमिका में फिख्ते लिखता है कि वह आत्म, जिसकी चर्चा हमने अपनी मूल प्रस्थापनाओं में की है और जो बौद्धिक प्रातिभ (इंटलेक्चुअल इंट्यूशन) का विषय तथा सम्पूर्ण सत्ता का आधार है, वैयक्तिक आत्म नहीं है, बल्कि ऐसा आत्मत्व (ईगोनेस) है जो जगत्-प्रतिभास के प्रवर्तक के रूप में पूर्वगृहीत (प्री-सपोज्ड) होता है और विषय-विषयि-द्वन्द्व से रहित है, जो सब व्यक्तियों के लिए समान और सबमें अभिन्न रूप से विद्यमान है, जो सब चेतना-क्रिया (थिंकिंग) में और उसके आधार में स्थित है, जिसके प्रसंग में व्यक्ति-भेद आगन्तुक हैं और जिसके लिए व्यक्ति उपकरण मात्र हैं तथा जो बौद्धिक आकार मात्र है, जिसकी सामान्यता में वैयक्तिक उपाधि (अहंकार वृत्ति) अपने को विसर्जित करती है।

जैसाकि स्पष्ट है, चैतन्य की इस अवस्था को 'आत्म' या 'आत्मत्व' पद से अभिहित करना भ्रामक है, क्योंकि 'आत्म' अभिधा या तो अहं-प्रत्यय के लिए प्रयुक्त होनी चाहिए, अथवा यदि इस प्रत्यय के भी परे जाना अभिप्रेत हो, जैसा कांट में, या न्याय दर्शन में, तथा डेकार्ट और सार्त्र में है, तो भी उसका वैयक्तिक होना आवश्यक है। यह कठिनाई तब और बढ़ जाती है जब फिख्ते शुद्ध आत्म को प्रातिभगम्य कहता है। यह प्रातिभग्रहण, उसके अनुसार, किसी भी विषयग्रहण के आधार में रहता है। जब मैं कहता हूं, "मैं लिख रहा हूँ" तब मैं अपनी एक क्रिया का विषयकरण करता हूं, अर्थात् विषयी के लिए विषय प्रस्तुत करता हूँ। किन्तु यह विषय-विषयिभाव मौलिक नहीं है, यह उस शुद्ध आत्म से उद्भूत होता है जो विषयी—विषय दोनों भावों से परे मात्र क्रिया है। यही आदिम क्रिया स्वयं को प्रातिभ-ग्राह्य होती है। इस आदिम क्रिया को ही फिख्ते शुद्ध आत्म या आत्मत्व (आई-नैस) कहता है। किन्तु चलना या लिखना केवल वैयक्तिक क्रियाएँ ही हो सकती हैं, इसलिए यदि हम इनमें से ग्राह्य-ग्राहक-भाव को पूर्णतः हटा भी दें तो भी जिस आदिम चित् पर हम पहुँचते हैं वह वैयक्तिक ही रहता है, चाहे उसमें व्यक्ति-बोध नहीं भी हो। ज्याँ पॉल सार्त्र भी अस्मिता-बोध-शून्य आदिम चित्तत्व की बात करता है, और इस चित् में ही उसके अनुसार, यह बोध आविर्भूत होता है। किन्तु सार्त्र का यह प्रतिपादन मनोविज्ञानमूलक :वास्तविक विकास का विवरणः प्रतीत होता है। इसके विपरीत फिख्ते तार्किक व्यवस्था-क्रम दे रहा है और इस क्रम में व्यक्ति इस बोध के द्वारा ही अस्तित्व में आता है, और इस बोध में उतना ही आधारभूत व्यक्ति का स्व होता हैं जितना स्व का व्यावर्त्तक इतर होता है। दूसरे

* यह द्रष्टव्य है कि फिख्ते निरहंकार चैतन्य और साहंकार चेतना दोनों के लिए 'इगो' शब्द का ही प्रयोग करता है और दोनों में प्रथम अक्षर 'e' भी समान हैं—दोनों प्रयोगों में छोटा।

शब्दों में, स्व पर-व्यावृत्त-पर-व्यावर्त्तक-भाव है। इस प्रकार इतर के बिना अहं और अहं के बिना इतर असम्भव हैं, दोनों परस्पर-पूरक हैं और इस प्रकार सापेक्ष आक्षेप (पॉजिटिंग) हैं, ये चित् में मौलिक नहीं हैं। इसलिए स्पष्टता के लिए आदिम चैतन्य को आत्म (इगो) कहना उपयुक्त नहीं है, यह चैतन्य निरात्म है। इस सम्बन्ध में अपनी स्थिति स्पष्ट करते हुए फिख्ते कहता है कि साधारणत: मेरे ज्ञान-विषयक सिद्धान्त के बारे में यह (भ्रामक रूप से) समझा जाता है कि मैंने इसमें आदिम चित् को वैयक्तिक माना है, किन्तु यह सही नहीं है। इस चित् को मैं वास्तविक विषय-जगत् का जनक भी कहता हूं। यह जनन व्यक्ति-मूलक कैसे माना जा सकता है ? इसलिए मेरे सिद्धान्त के सम्बन्ध में यह समझना भ्रामक है। यह चित्-तत्त्व व्यक्तिमूलक नहीं है बलिक एक अखंड चैतन्य (स्पिरिचुअल लाईफ) है, जो कि जगत्-प्रतिभास (फिनोमिना) का, जिसमें व्यक्ति-प्रतिभास भी सम्मिलित है, जनक है।

स्पष्टत: यह चैतन्य प्रातिभ-ग्राह्य नहीं हो सकता। वास्तव में चैतन्य का आत्म-प्रातिभ आत्मोन्मुख वृत्ति है। किन्तु प्रश्न है कि यह आत्मोन्मुख वृत्ति पर-बाधित (इतर-व्यावृत्त) आत्म का आत्मोन्मुख प्रवर्तन है याकि आत्म-पर-भाव से अतिक्रामी चैतन्य का अपने से अव्यवहितत्व है ?

फिख्ते के अनुसार, आत्मोन्मुखता चैतन्य में मूल स्वभावगत नहीं है। स्वभावत: चैतन्य बाह्योन्मुख अनन्त क्रिया है। आत्मोन्मुखता इस क्रिया के बाधित होने से उत्पन्न होती है। फिख्ते के अनुसार, "सहज प्रवृत्ति में चैतन्य प्रकाशात्म भी नहीं होता, इसलिए अस्तित्ववान् भी नहीं होता। अपने लिए वह आत्म के रूप में अस्तित्व में बौद्धिक प्रातिभ के द्वारा ही आता है जो कि उसका अपनी मूल क्रिया की ओर लौटकर उस क्रिया का अतिक्रामी रूप में* ग्रहण करना है। यह चैतन्य की चेतना-क्रिया द्वारा अपनी उस आधार-क्रिया का साक्षात्करण है जो चेतना से प्राक्तन है। इस प्रकार, फिख्ते के अनुसार, बौद्धिक प्रातिभ में चैतन्य अपने लिए अपने को आक्षिप्त करता है।...."आत्म का अस्तित्व" और "आत्म द्वारा अपना आक्षेप" ये दोनों एक ही बात हैं। **दि साईस आफ राईट्स** में फिख्ते बौद्धिक सत्त्व (रैशनल बींग) को इस प्रकार परिभाषित करता है: "अपनी ओर निवर्तमान क्रिया [अहंता, विषयिता] यह बौद्धिक सत्त्व का लक्षण है। अपने को आक्षिप्त करना, अपने सम्बन्ध में मनन (रीफ्लेक्ट) करना, यह बौद्धिक सत्त्व (रैशनल बींग) की इस क्रिया का एक कार्य है। इस आत्मोन्मुख क्रिया को हम ए संज्ञा दें। बौद्धिक सत्त्व इस प्रकार की क्रिया द्वारा अपना आक्षेप करता है। सब मनन [रीफ्लेक्शन] विषयकरण है, मनन के इस विषय को हम इ संज्ञा दे दें। अब, यह मनन-विषय इ मनन-क्रिया ए का किस प्रकार का विषय है ? ए में बौद्धिक सत्त्व अपना आक्षेप करता है, अपने को अपना

* अर्थात् विषय-रचना के विकल्पों (कैटेगरीज) के रूप में।

विषय होता है, किन्तु इसका स्वरूप अपनी ओर निवर्तमान क्रियाशीलता है। इसलिए इसका अन्तिम उच्चतम विषय भी अपनी ओर निवर्तमान क्रिया ही हो सकती है, क्योंकि अन्यथा वह अपने को बौद्धिक सत्त्व के रूप में आक्षिप्त करता नहीं कहा जा सकता; और यदि वह अपने को बौद्धिक सत्त्व के रूप में आक्षिप्त नहीं करता तो वह अपने को अक्षिप्त ही नहीं कर सकता।"[2]

इससे दो निष्कर्ष निकलते हैं—प्रथम, कि आत्म आत्मोन्मुख विषयकरण का कार्य है और यह कार्य : विषय : बाह्य विषय से भिन्न, स्वयं भी क्रियात्मक है; और दूसरे, कि यह आक्षेपक क्रिया ए आक्षिप्त क्रिया इ के द्वारा ही आत्मजनन और आत्मावगमन करती है। तब कहा जा सकता है कि चित्-क्रिया बाह्य विषय का जनन बिना इस आत्म-विषयक जनन के करती है और इस प्रकार उस क्रिया में वह इस विषय के माध्यम से आत्मावभासन [आत्म-प्रातिभग्रहण] करती है। किन्तु फिख्ते के अनुसार, बाह्य विषय का आक्षेप भी आत्म-रूप विषय के आक्षेप के साथ युगपत होता है और ये दोनों एक-दूसरे के सापेक्ष और परिणामतः परस्पर अनिवार्य होते हैं : "यह बौद्धिक सत्त्व एक सीमित सत्त्व है, किन्तु सीमित बौद्धिक सत्त्व वही हो सकता है जो केवल सीमित पर ही मनन कर सकता है। इसलिए आत्मोन्मुख क्रिया इ अनिवार्यतः सीमित क्रिया ही हो सकती है, अर्थात् इस सीमित क्रिया इ के अतिरिक्त एक उ को भी अवश्य होना चाहिए, जो कि यह आत्मोन्मुख निवर्तमान क्रिया नहीं है, बल्कि इसके विपरीत है।"[3]

किन्तु जैसाकि इस सबसे स्पष्ट होना चाहिए, आत्म और जगत् दोनों एक शुद्ध चैतन्य में अधिष्ठित होने अनिवार्य हैं, जो कि न सीमित है, न आत्मोन्मुख या परोन्मुख है, किन्तु जो इन दोनों विधाओं में प्रवर्तित होता है और इन्हें अपने में आधृत करता है। इस प्रकार उसके अनुसार, दर्शन की पहली प्रतिज्ञप्ति है कि, "आत्म है, जोकि आत्मोन्मुख चैतन्य के आत्माक्षेप का ज्ञापक है।" दूसरी प्रतिज्ञप्ति है—"आत्म के विरुद्ध और उसका प्रतिरोधक एक अनात्म है, किन्तु यह अनात्म आत्म का ही आक्षेप है।" यह अनात्म या विषय, जोकि चैतन्य में ही उद्भूत होता है, उसी प्रकार आत्म से मर्यादित होता है जिस प्रकार यह आत्म को मर्यादित करता है। इस प्रकार उसकी तीसरी प्रतिज्ञप्ति है : "चैतन्य अपने भीतर एक सीमित आत्म और सीमित अनात्म को परस्पर प्रतिरोधकों :व्यावर्तकों: के रूप में आक्षिप्त करता है।" यह प्रतिरोधक अनात्म आत्म के स्वप्रकाशन :आत्म चेतना: के लिए भी अनिवार्य है। इस प्रतिरोध के बिना आत्म अपनी क्रिया में निर्बाध होने से अपनी ओर नहीं लौट सकता था, और यदि अनात्म अपने अनात्म—भाव में आत्म से अबा-

---

2 दि साईंस आफ राइट्स, पृ. 34.

3 वही।

धित रहता तो संपूर्ण सत्ता अनात्म से ही आपूर्ण रहती, आत्मभाव का कहीं उदय ही नहीं हो सकता था। दूसरे शब्दों में, चैतन्य न मात्र आत्मभाव में आत्मचेतन हो सकता था और न मात्र अनात्म-भाव में, यद्यपि यह कल्पनीय है कि वह इनमें से किसी एक ही भाव में रहता, जिसे तब न आत्मभाव कहा जा सकता था और न अनात्मभाव। इस प्रकार चेतना के आविर्भाव के लिए यह अनिवार्य है कि आत्म और अनात्म परस्पर को बाधित करें।

इसका यह अर्थ नहीं है कि फिख्ते चैतन्य को मूल में इन दो में से किसी एक भाव में, अथवा इन दोनों से इतर भाव में, वस्तुत: अवस्थित मानता है, जिससे कि ये दो भाव आविर्भूत होते हैं। लौकिक वस्तुस्थिति में परस्पर निर्धारक और व्यावर्त्तक तथा परस्पर विरुद्ध आत्मभाव और अनात्मभाव चैतन्य में शाश्वत रूप से हैं और इस प्रकार व्यावृत्त-व्यावर्तक, अथवा कहें प्रतिरुद्ध-प्रतिरोधक द्वन्द्व-युक्त सीमित चेतना ही मौलिक वस्तुस्थिति है; यह केवल दार्शनिक है जो मननशील वृत्ति में इस वस्तुस्थिति के तार्किक : अलौकिक : मूल की ओर लौटकर इसके प्रवर्तन के स्वरूप को इस प्रकार देखता है जैसे मानो यह कालक्रम में घटित हुआ हो।

किन्तु यदि चैतन्य स्वरूपत: एक क्रिया है जो इस प्रकार प्रवृत्त है: जो स्व-प्रकाशन के लिए विषयि-विषय भाव में और इस प्रकार सीमित चेतना के रूप में घटित होती है, तो प्रश्न है कि क्या यह इसके लिए अनिवार्य है कि वह इसी प्रकार प्रवर्तित हो या कि उसका इस प्रकार घटित होना केवल आगन्तुक है, यद्यपि वस्तुत: यह इसी प्रकार घटित है। अर्थात्, जबकि चैतन्य के **आत्मचेतन होने के लिए यह अनिवार्य है*** कि उसकी आदिम और सहज क्रिया अपने से विरुद्ध और स्वतंत्र एक अस्तित्व का आक्षेप करे और उस बाधा से अपनी ओर लौटने के द्वारा वह अपने को जाने, क्या यह भी अनिवार्य है कि वह आत्मचेतन होने के प्रयोजन से वास्तव में प्रवर्तित हो ही और इस प्रकार अनिवार्यत: विषय का आक्षेप करे? फिख्ते का उत्तर है कि चैतन्य का इस प्रकार: जगद्भाव में: प्रवर्तन केवल आगंतुक है। उसके अनुसार "बुद्धिधर्मी सत्त्व जगद्-अवलोकन-क्रिया में निबद्ध और अस्वतंत्र है: यदि आकार की दृष्टि से, अर्थात् घटित होने में (That it occurs at all), नहीं भी तो, कम से कम अपनी अन्तर्वस्तु में, अर्थात् **यदि यह घटित होता है** तो यह अनिवार्य रूप से इसी प्रकार घटित हो सकता है। हमारे लिए यह अनिवार्य है कि हम विषयों को इसी प्रकार प्रस्तुत करें जैसे वे हमारी अवधारणा में हैं—अर्थात् हमारे से निरपेक्ष, मानो हमारी उनकी प्रस्तुतियां [रीप्रिजेंटेशंस्] उनके अस्तित्व से निर्धारित होती हैं।

---

* 'चैतन्य' और 'चेतना' शब्दों का प्रयोग हम भिन्न अर्थों में कर रहे हैं। 'चैतन्य' चेतना से प्राक् उसका आधार तत्त्व है, जो चेतन नहीं है, चेतना उसमें प्रतिफलित अभिव्यक्ति है। (द्रष्टव्य-कोपलस्टन, ए हिस्ट्री ऑफ फिलासफी, भाग 7, खंड 1, पृ. 65, इमेज-बुक्स, 1965.

इस क्रिया की विपरीत क्रिया, केवल इसी कारण से कि उसे इसके विपरीत होना है, अपनी अन्तर्वस्तु में : अपनी घटना में : स्वतंत्र होने को बाध्य है, अर्थात् उसमें यह सामर्थ्य होना अनिवार्य है कि वह एक प्रकार से क्रिया-प्रवृत्त हो अथवा उससे भिन्न प्रकार से।"[4] दूसरे शब्दों में, शुद्ध चैतन्य का जगद्भाव में प्रवर्तित होना: जगद्-रूप में आविर्भूत होना: अनिवार्य नहीं है, यद्यपि यदि वह इस प्रकार प्रवर्तित होती है तो यह अनिवार्य है कि जगत् निरपेक्ष परता के रूप में ही प्रस्तुत हो और इसके द्वारा चैतन्य आत्मचेतना और स्वतंत्रता को प्राप्त करे :

"किन्तु तब, इस स्वतंत्र क्रिया को विषयाक्षेपण-क्रिया से अवच्छिन्न :परि-सीमित: होना चाहिए, अर्थात् जगद्-अवलोकन [कटेम्प्लेशन ऑफ दि वर्ल्ड] में प्रवृत्त यह क्रिया स्वयं एक स्वतंत्र क्रिया है, यद्यपि यह अवच्छिन्नता की अवस्था में है। यही बात इसकी विपरीत अवस्था के बारे में भी कही जा सकती है, कि यह स्वतंत्र क्रिया ही तब जगद्-अवधारण की वह क्रिया है जिसकी अवच्छिन्नता निरस्त हो गई है। दूसरे शब्दों मे, विषय उसी सीमा तक और इसी कारण से विषय है कि वह इस स्वतंत्र क्रिया के द्वारा अस्तित्व में नहीं आता, और इस प्रकार विषय के होने के लिए यह अनिवार्य है कि यह स्वतंत्र क्रिया निरुद्ध हो। क्योंकि स्वतंत्र क्रिया उसी सीमा तक इन्हें :विषयों को: निरस्त करने की ओर प्रवृत्त होती है जिस सीमा तक ये उसे निरुद्ध करते हैं। इस प्रकार स्वतंत्र क्रिया विषय पर कारणता का अधिकार है और विषय अवरुद्ध कारणता है, जिसका अवरोध बौद्धिक सत्त्व द्वारा स्वेच्छया किया गया है।[5] यहाँ "बौद्धिक सत्त्व द्वारा स्वेच्छया" पद बहुत भ्रामक हो सकता है, यदि 'बौदिक सत्त्व' का अर्थ 'मानव व्यक्ति' और 'स्वेच्छया' का अर्थ 'इस व्यक्ति की जैसी भी इच्छा हो' यह समझा जाय। किन्तु ऐसा नहीं है, यहाँ बौद्धिक सत्त्व से तात्पर्य वास्तव में 'आत्मोन्मुख चित्तत्व' से है जो व्यक्तित्व को : इतर विषयी से व्यावृत्ति को: पूर्वकल्पित करता है, और 'इच्छा' इस चित्त की 'अतिक्रामी प्रवृत्ति' का वाचक है।[6]

फिख्ते आगे कहता है "अब हमने क्रिया इ (बौदिक सत्त्व द्वारा आत्मोन्मुख प्रवर्तन में अपने को आत्मोन्मुख प्रवृत्ति के लक्ष्य :विषयः के रूप में आक्षिप्त करने

---

4 वही, पृ. 33.

5 वही, पृ. 33–34.

6 यहां यह द्रष्टव्य है कि फिख्ते 'कारणता' पद का प्रयोग कांट से सर्वथा भिन्न अर्थ में कर रहा है। यहां 'कारणता' पद 'स्वतंत्र क्रियासामर्थ्य' या 'परिवर्तन घटित करने की योग्यता' का वाचक है, जबकि कांट में यह क्षेत्र कारणता से अतिक्रामी है और इसीसे स्वतंत्र हैं; क्योकि कारणता कांट में प्रातिभासिक जगत् की एक विकल्प-मूलक वर्गणा (केटेगरी) है। किन्तु यहां यह भी उल्लेखनीय है कि कांट ने क्रिटीक ऑफ प्रैक्टीकल रीजन में 'कारणता' का प्रयोग इस अर्थ में भी किया है। इसे वह 'काजा नाउमिना' कहता है। द्रष्टव्य–क्रिटीक ऑफ प्रेक्टिकल रीजन, v.56, v.6ϟ, v.93.

की क्रिया) के उस स्वभाव का वर्णन किया जो जगदवलोकन में, तथा स्वयं जगत् के साथ सम्बन्ध के रूप में, अभिव्यक्त होता है। किन्तु यह बौद्धिक सत्त्व का अपने में लौटना है। इसलिए बौद्धिक सत्त्व के अपने से सम्बन्ध में यह क्रिया अपने को स्वतंत्रता पूर्वक कार्य-समर्थ के रूप में निर्धारित करती है। केवल जहाँ तक यह क्रिया विषयों की ओर उन्मुख होती है वहाँ तक यह अपनी अन्तर्वस्तु में निर्धारित होती है। किन्तु मूलतः और स्वभावतः यह इस प्रकार निर्धारित नहीं है। इस प्रकार इसे अपने द्वारा अपना निर्धारक होना चाहिए—अर्थात् इसे एक साथ निर्धारित और निर्धारक होना चाहिए। इस प्रकार यह वास्तव में अपने में निवर्तमान क्रिया है।"[7]

इस प्रकार फिख्ते विषयी और विषय दोनों को, अपनी सब विधाओं में और संपूर्णतः निर्विषयी–निर्विषय चैतन्य में से उद्भूत मानता है और कांट के समान विषय के घटक संवेद को इतर-कृत :बाह्योत्पन्नः नहीं मानता। चैतन्य उसके लिए सत् या वस्तु नहीं होकर क्रिया है, स्वयं में एक निर्बाध, लक्ष्य-शून्य, क्रिया, जो आत्म-चेतन होने के लिए अपने में इतर का आक्षेप करती है और तब इस इतर से व्यवहित होकर अपने को जानती है: अथवा कहें इतर-व्यवहित आत्मचेतन-क्रिया, जोकि मानव-रूप में हम वस्तुतः हैं, दार्शनिक मनन-वृत्ति में अपने मूल की ओर लौटती हुई अपने मूल की निरवच्छिन्नता :निरुपाधिकताः का साक्षात् करती है और तब पुनः इतर की ओर लौटती हुई इसकी इतरता को आत्म के आत्म-प्रत्ययन के प्रयोजन से उसमें से आविर्भूत होते हुए देखती है। इस प्रकार इतर-व्यवहितता, इतर, इतर-अवच्छिन्नता, यद्यपि चैतन्य की प्राप्त स्थिति है, किन्तु इसे मूल से आविर्भाव के क्रम में देखते हुए, यह एक अस्तित्वतः अनिवार्य स्थिति नहीं होकर आगन्तुक स्थिति है।

किन्तु तब पहली से दूसरी प्रतिज्ञप्ति निगमित कैसे की जा सकती है? इसके सम्बन्ध में फिख्ते का उत्तर है कि इसमें शुद्ध तार्किक निगमन सम्भव नहीं है, इसे समझने के लिए नैतिक निगमन का सहारा लेना आवश्यक है। अर्थात् शुद्ध चैतन्य आत्मश्रेयस् की साधना के माध्यम से स्वातंत्र्य को क्रियान्वित करता है। अनात्म का आपेक्ष इस स्वातंत्र्य-साधना के लिए अनिवार्य साधन है। अवश्य निरपेक्ष चैतन्य अपनी सहज क्रिया में किसी लक्ष्य के प्रति चेतन नहीं होता, किन्तु दार्शनिक आत्मोन्मुख प्रत्यावर्तन में इसके रचना-सूत्रों का अनुसंधान करते हुए इसकी अलक्षित लक्ष्योन्मुखता का अवगमन करता है। इस क्रम के आदि और अन्त दोनों स्थितियों में चैतन्य निर्वैयक्तिक या निरहंकार होता है—आदि में इस कारण क्योंकि यह अहंकार से प्राग्वर्ती और उसका अतिक्रामी अधिष्ठान है, और अन्त में इस कारण क्योंकि अब वह आत्म और पर को अद्वय स्थिति में से उद्भिन्न सापेक्षताओं के रूप

---

7 फिख्ते, वही, प. 34.

में देखता है और इस प्रकार अपनी संकुचितता को जानकर नैतिक स्वातंत्र्य में उसका अतिक्रमण करता है ।

इस प्रकार संक्षेप में, फिख्ते की सत्तामीसांसा की तीन मौलिक प्रतिज्ञप्तियाँ हैं, अथवा कहें एक मौलिक प्रतिज्ञप्ति के तीन भाग हैं—प्रथम, शुद्ध आत्म (शुद्ध चैतन्य) अपने को निरपेक्षतः प्रतिष्ठापित [पॉजिट] करता है । द्वितीय, निरपेक्ष आत्म के विरुद्ध एक निरपेक्ष अनात्म है । ये दो तात्त्विक स्थितियाँ संयुक्त होकर इस तीसरी तात्त्विक स्थिति को जन्म देती हैं कि, निरपेक्ष आत्म अपने भीतर परस्पर अवच्छेदक और व्यावर्त्तक आत्म और अनात्म को प्रतिष्ठापित करता है। फिख्ते इन तात्त्विक स्थितियों से विचार के तीन मूल नियमों [लॉज आफ थॉट]—अर्थात् आत्मैक्य [आइडेंटिटी], वैपरीत्य [अप्पोजीशन] तथा पर्याप्त हेतुता [सफिशियेंट रीजन]--को, तथा गुण [क्वालिटी] की तीन वर्गणाओं-यथार्थता [रियालिटी], निषेध [निगेशन] तथा अवच्छिन्नता [लिमिटेशन] को निगमित करता है । इस प्रकार 'अ=अ', 'न – अ न=अ (NNF=a) विचार के मूलाधार को अभिव्यक्त करते हैं । अब, 'अ अ है', अर्थात् वस्तु का अपने से अभेद अथवा आत्मैक्य है, यह विचार का मूल नियम अथवा पूर्वमान्यता है । इसमें न तो किसी अन्तर्वस्तु [कांटेंट] की अपेक्षा है और न यही अपेक्षा है कि अ का अस्तित्व हो ही । यदि अ का अस्तित्व नहीं भी हो तो भी 'अ=अ' प्रतिज्ञप्ति सत्य है । इस प्रकार यह सिद्धान्त आत्म के अपने अस्तित्व को निर्धारित रूप से प्रतिष्ठापित करने की क्रिया पर आधारित है । इसी प्रकार तर्क का दूसरा नियम: "कोई वस्तु अपने विपरीत से अभिन्न नहीं हो सकती" : भी आत्म की अपनी प्रतिष्ठापना और साथ ही अनात्म की निरपेक्ष [एब्सोल्यूट] प्रतिष्ठापना पर आधारित है । यदि आत्म अनात्म से बाधित नहीं हो तो 'न-अ' प्रतिज्ञप्ति सम्भव नहीं है, किन्तु 'न-अ' 'अ' को पूर्वकल्पित करती है और साथ ही न-अ के निरपेक्ष अस्तित्व को स्थापित करती है । तीसरा नियम इन दो के संश्लेषण से बनता है, अर्थात् आत्म और अनात्म दोनों आत्म के अन्तर्गत हैं और इस प्रकार अ अंशतः न-अ है और न-अ अंशतः अ है । दूसरे शब्दों में, आत्म अपने भीतर सीमित अनात्म को आत्म से अवच्छिन्न :परिसीमितः करता है । इनमें प्रथम दो नियम जबकि अन्तर्वस्तु और अस्तित्व से निरपेक्ष हैं, तीसरा दोनों के सहित है: आत्म अपना ग्रहण करता है, इसलिए अनात्म का ग्रहण भी करता है, इसलिए अपने को अनात्म से और अनात्म को अपने से परिसीमित करता है, और यह परिस्थिति दोनों को वास्तविकता देती है ।

दूसरी महत्त्वपूर्ण बात यह है कि यह एक ही क्रिया है जो तीन चरणों में क्रियान्वित होती है और इसका प्रथम चरण वास्तव में अन्तिम चरण में अपने के चरितार्थ पाता है । प्रथम चरण असीम तथा निर्बाध कारणता है जो अपने कार्य के रूप में विषय-सापेक्ष विषयी का आक्षेप करती है । इस दूसरे चरण में आत्म अपने

असीम कार्य-समर्थ स्वरूप से अवगत रहते हुए अपने को बाह्यतः कारित पाता है। किन्तु तीसरे चरण में वह विषय से साम्मुख्य के परिणामस्वरूप अपनी ओर लौटता है और इस क्रम में इस बोध से मंडित होता है कि बाह्य कारण वास्तव में उसके अपने ही द्वारा अपनी कारणता के नियमन का परिणाम है। यह बोध ही नैतिक चेतना का आधार है।

किन्तु ऐसा नहीं है कि प्रथम दो चरण इस बोध से असंबद्ध हैं। वास्तव में इस तीसरे चरण में केवल वह अवगम्य होता है जो प्रथम दो में अनवगत रूप से क्रियान्वित रहता है। किन्तु इस क्रिया की इस तीसरे चरण के विना कोई सार्थकता नहीं है, और इस सार्थकता पर मनन से, निर्वतित आत्मोन्मुख चिन्तन से, अनुमान होता है कि शेष क्रिया, अर्थात् जगत्-कल्पना में चैतन्य की प्रवृत्ति, वास्तव में इसी प्रयोजन से प्रवर्तित होती है। नहीं तो यह पूर्णतः आगंतुक बात होगी कि चैतन्य जगद्भाव में प्रवर्तित हुआ और जगद्भाव विषय-विषयिभाव के रूप में प्रवर्तित हुआ, और यह भाव अहंकार-मूलक विषय-विषयिभाव में या आत्मोन्मुख मनन के रूप में अपने और जगत् के नैतिक प्रयोजन के अनुसंधान के रूप में पुनः प्रवर्तित हुआ। इस प्रकार फिख्ते, कांट के विरुद्ध, नैतिक चेतना को आवेग [इमोशन], संवेद और सहज प्रवृत्ति के साथ सातत्य में देखता हैं, कांट के समान वह एक को प्रतिभास और अनैतिक तथा दूसरे को सत् और साध्य नहीं मानता। वास्तव में जैसाकि हम पीछे कांट विषयक लेख में देख आये हैं, स्वलक्षण वस्तु कांट की दार्शनिक व्यवस्था में समंजस नहीं है। उसके नीति-चिंतन में इससे एक और कठिनाई उत्पन्न होती है, और वह यह कि यदि संवेद स्वयं में स्वलक्षण वस्तुमूलक हैं तब चेतना के संवेदात्मक पक्ष में नीति-विरुद्ध क्या है? अपने आप में यह पक्ष तो सत् का प्रापक ही होगा, जैसाकि वैभाषिक बौद्धों में है, चाहे वह प्रापण परोक्ष ही क्यों न हो। नैतिक चेतना या स्वातंत्र्य से विरोध तो विकल्प-बुद्धि का ही हो सकता है, जोकि चेतना को कारणता की कल्पित उपाधि के द्वारा अपने स्वरूप से वियुक्त रखती है, न कि संवेद का, जोकि चेतना के सत्ता से संपर्क का द्वार है। दूसरे, कांट की व्यवस्था में यह प्रावधान कहीं नहीं है कि चेतना बाह्य सत् से साम्मुख्य-सम्बन्ध में अपनी इच्छा या वरण से आती है; संवेद चैतन्य की प्राक्-चेतन अवस्था है जोकि बाह्यतः प्रवर्तित होती है। इसलिए, यदि वह अवाँछनीय होगी, जोकि काँट की व्यवस्था में वह किसी युक्ति से हो नहीं सकती, तो भी चेतना उससे अपने प्रयत्न से बच नहीं सकती, क्योंकि संवेद का सत् से साम्मुख्य में आना या नहीं आना, चेतना की अपनी इच्छा के अधीन नहीं है—तब भी नहीं जब चेतना अपने स्वरूप के सम्बन्ध में जागरूक हो कर अपनी उन्मुखता को नियंत्रित कर सकती हो, क्योंकि कांट की व्यवस्था में सत् से साम्मुख्य चैतन्य की बाह्योन्मुख वृत्ति-जन्य नहीं है, क्योंकि यह वृत्ति :संवेद और संवेदाकारः इस उन्मुखता से प्राक्तन हैं। कहा जा सकता है कि, यह चेतना की निष्क्रिय स्थिति हैं इसलिए अवांछनीय है, और स्वातंत्र्य चेतना की सक्रिय स्थिति

है, और यही स्थिति उसका स्वरूप है और अतएव वांछनीय भी है, और सक्रिय स्थिति निष्क्रिय से बाधित होती है। किन्तु यह उत्तर भी सही नहीं है, क्योंकि यह सब कांट की व्यवस्था के अन्तर्गत नहीं है—यद्यपि जैसाकि हमने अपने कांट-विषयक लेख में दिखाया है, कांट अपनी व्यवस्था के इस दोष से निरन्तर उद्विग्न है और उस व्यवस्था की ओर निरन्तर आकृष्ट दिखायी देता है जिसमें चैतन्य निर्बन्ध संकल्प-स्वरूप है और अपने ही संकल्प से सवेद, बाह्य वस्तु और विकल्प [अंडरस्टैंडिंग] का आक्षेप करता है और उस आक्षेप से अपना तादात्म्य कर अपनी कारकता :कार्य-सामर्थ्य, सर्जकता और विधायकता: से अनवगत और इस प्रकार पर-तंत्र रहता है। किन्तु तब कहना होगा कि यहाँ कांट उस व्यवस्था का अनुयायी हो जाता है जिसका प्रतिदान उसके बाद फिख्ते ने किया।[8] यहाँ यह विशेष उल्लेखनीय है कि, यद्यपि काँट को यह निष्कर्ष स्वीकार्य नहीं होगा किन्तु उसकी कोपर्निकीय दृष्टि की यह परिणति अनिवार्य है : कोपर्निकीय क्रांति ज्ञान को विषय-मूलकता से हटाकर विषय को ज्ञान-मूलक देखने में थी। फिर वह यहाँ तक भी नहीं रुका, उसने इस ज्ञान को प्रातिभासिक [फिनामिनल] भी कहा, जिसका अधिष्ठान स्वयं चैतन्य में है, जो चैतन्य स्वरूपतः स्वतंत्र है। तब इस चैतन्य को प्रतिभास के सर्जन में स्वतंत्रतः प्रवृत्त नहीं देखना अपनी व्यवस्था के तर्क के अन्त तक नहीं जाना ही है। इस प्रकार फिख्ते ने केवल कांट के कार्यक्रम को पूरा ही किया। फिख्ते ने चैतन्य के इस सहज और निर्बन्ध सर्जन-व्यापार को ही, जोकि उसका स्वरूप है, मौलिक :आद्य: नैतिक कर्म के रूप में देखा। किन्तु यह आदिम कर्म मनुष्य में नैतिक कर्म का रूप उसकी आत्मोन्मुख चेतना के रूप में प्राप्त करता है।

मनुष्य में नैतिक कर्म का क्या स्वरूप है? फिख्ते के अनुसार, मनुष्य में यह एक सहज प्रवृत्ति है कि वह कुछ कर्म बिना किसी बाह्य प्रयोजन के ही करता है, और अन्य कुछ कर्मों से बिना किसी बाह्य प्रयोजन के विरत रहता है। उसकी यह निष्प्रयोजन प्रवृत्ति और निष्प्रयोजन प्रवृत्ति-निरोध ही, जहाँ तक इनका स्रोत उसके अपने भीतर होता है, उसकी नैतिक प्रकृति है। यहाँ 'बाह्य प्रयोजन' 'आत्म द्वारा आक्षिप्त अनात्म से नियंत्रित होने' का वाचक है। इच्छाओं और वासनाओं की सन्तुष्टि की ओर प्रवृत्ति भी यह अनात्म से नियन्त्रण ही है। इससे चैतन्य तब स्वतन्त्र होता है जब वह विषयी के रूप में आत्मस्थ होकर अपने को विषय का नियामक बनाता है। इस 'विषय' के अर्थ में विषयभूत आत्म, अथवा शंकर के शब्दों में "प्रत्ययगोचर आत्म" भी सम्मिलित है। यह विचार शुद्ध रूप से कांटीय है। किन्तु इसके आगे फिख्ते का मत है कि, क्रिया या कर्म में आन्तर-बाह्य का यह

8 यहां एटीने जिल्सों की पुस्तक यूनिटी ऑफ फिलासफीकल एक्स्पीरियेंस में "राइज एंड फाल ऑफ कैंशियन एक्सपेरीमेंट" अध्याय द्रष्टव्य। यद्यपि मैं इस पुस्तक में जिल्सों की कांट की आलोचना से सहमत नहीं हूं, किन्तु तब भी उपयुक्त प्रसंग में उसमें बहुत रोचक विवेचन है।

भेद आत्यन्तिक नहीं है, पारमार्थिक दृष्टि से ये दोनों प्रकार वास्तव में एक ही हैं, इनमें भेद केवल प्रकटतः ही है, वस्तुतः नहीं। फिख्ते यहाँ उदाहरण रूप में कहता है कि हमें भूख इसलिए नहीं लगती कि भोजन जगत् में विद्यमान है, बल्कि, क्योंकि हमें भूख लगती है इसलिए कोई वस्तु भोजन का रूप लेती है - भोज्य बनती है। इस प्रकार हमारी देह भूख के रूप में आत्म-प्रवर्तन करती है, जो उसका स्वातंत्र्य एक दूसरे स्तर पर आत्मचेतन होकर मानवीय नैतिक बोध बनता है। किन्तु इन दो प्रकारो में कोई तात्त्विक भेद नहीं है। फिख्ते के अनुसार, आत्मचेतना चित् के इतिहास में एक नया विकास अथवा आयाम है जो आवेग (इमोशन) को मनन और विवेक की सामर्थ्य देता है, किन्तु यह मूलतः एक ही क्रियापरता है: प्राकृतिक जीव के रूप में मेरी आवेगात्मकता और शुद्ध आध्यात्मिकता के रूप में प्रवृत्ति, क्या ये दो भिन्न आवेग हैं? फिख्ते का उत्तर है कि नहीं, अतिक्रामी दृष्टि से ये दोनों एक ही मूल आवेग है, इनमें भेद केवल इन्हें देखने के दो दृष्टिकोणों के कारण है। अर्थात् मैं विषयि-विषय हूं और यह अविभाज्यता ही मेरा स्वरूप है। यदि मैं अपने को पूर्णतः संवेद–प्रदत्त और अध्यवसायात्मक चिन्तन के नियमों से निर्धारित विषय के रूप में कल्पित करता हूं तब जो वास्तव में मेरा ही एक आवेग है वह मेरे लिए प्राकृतिक आवेग का रूप ले लेता है और इस दृष्टिकोण से मैं प्रकृति हो जाता हूं। और यदि मैं अपने को विषयी के रूप में कल्पित करता हूं, तब वही आवेग मेरे लिए एक आत्म-शासित आध्यात्मिक आवेग का रूप लेता है। आत्मपरक संपूर्ण सर्जन इन दो आवेगों (इमोशंस्) की पारस्परिकता पर ही निर्भर करता है और यह वास्तव में एक ही आवेग का अपने आप से पारस्परिकता का सम्बन्ध है।

आवेगात्मक चैतन्य के रूप में मनुष्य के दो पक्षों की एकता के इस सिद्धान्त के कारण फिख्ते आकारिक तथा वास्तविक स्वतंत्रता को एक ही आधार पर पृथक् कर सका। उसके अनुसार, आकारिक स्वतन्त्रता चेतन होने मात्र में ही (सही शब्दों में कहें तो, साक्षित्व मात्र में ही) निहित है, फिर चाहे वह व्यक्ति ऐन्द्रिक सुखों का ही अनुसरण कर रहा हो। इसके विपरीत वास्तविक स्वतन्त्रता आत्म की पूर्ण स्वतन्त्रताः ऐन्द्रिक से पूर्ण मुक्ति : से प्राप्त होती है। यह स्वतन्त्रता ही नैतिक सिद्धि है। किन्तु इसमे कठिनाई स्पष्ट है, जो कि वही है जो कांट की व्यवस्था में भी है, कि यह पूर्ण स्वतन्त्रता अनिर्धारित और अमूर्त है, क्योंकि यह किसी विषय से सम्बन्धित नहीं होती। इसका समाधान फिख्ते पारस्परिकता की अवधारणा के द्वारा करता है। किन्तु इस पारस्परिकता में बाह्य विषय आत्म के निर्धारक के रूप में नहीं बल्कि आत्म से आक्षिप्त और उससे निर्धारित रूप में देखा जाना चाहिए।

जहां विषय चेतना का निर्धारक होता है वह सन्दर्भ ज्ञान का है, और जहां चेतना विषय की निर्धारक होती है वह सन्दर्भ नीति का है। इसके अनुसार फिख्ते नैतिक विवेक : कर्त्तव्याकर्त्तव्य-निर्णय : का आधार "अन्तःकरण-प्रवृत्ति" : अन्तरात्मा की आवाज : को, एक सहज अनुभूति या बोध को, बनाता है जो कि अध्यवसायात्मक (जज्मेंटल) नहीं है। यह विचार कांट के "शुभ संकल्प के अनुसार कार्य करने" का स्मरण दिलाता है। किन्तु फिख्ते की इस परिभाषा में कुछ कठिनाई है, क्योंकि यह तो कर्ममात्र का ही स्वरूप है कि वह विषय का निर्धारक होता है। उदाहरणतः कला-कर्म, अथवा उपयोग–परक कर्म में भी चेतना ही विषय की निर्धारक होती है, क्योंकि इन सन्दर्भों में विषय अपने प्रस्तुत रूप में नहीं देखा जाता बल्कि काम्य रूप में कल्पित किया जाता है। अवश्य यह कल्पना प्रस्तुत विषय को पूर्वकल्पित करती है, किन्तु यह प्रस्तुत विषय कर्म के लिए वास्तव विषय के रूप में निरस्त रहता हैं और इस नवीन विषय में रूपान्‌ रित होने के लिए सामग्री बनता हैं। किन्तु कांट ने उपयोगात्मक सन्दर्भ को हाइपोथेटिकल इंपेरेटिव (अर्थात् विषयगत परिस्थिति से निर्धारित आदेश) कहा है और नैतिक सन्दर्भ को केटेगोरीकल इंपेरेटिव : आत्मनिर्धारित आदेशः कहा हैं। इस प्रकार, उसके अनुसार, प्रथम में विषय निर्धारक और आत्म निर्धार्य होता हैं, द्वितीय में आत्म विषय से निरपेक्ष अपने से अपना निर्धारक होता हैं। उदाहरणतः, किसी कर्म का फल अपेक्षा के विपरीत होने पर भी उस कर्म के नीत्यनुसार अथवा अनीत्यनुसार होने में कोई अंतर नहीं पड़ेगा। कोई कर्म नीत्यनुसार है या नहीं, इसकी कसौटी यही है कि कर्त्ता की प्रवृत्ति उसमें क्या हैं। इसके विपरीत उपयोगात्मक कर्म की देशना प्रयोजन की सफलता के विषयगत नियम होते हैं और सफलता ही उस कर्म के औचित्य : युक्तता : की निर्णायक होती है। किन्तु यहां द्रष्टव्य है कि इससे किसी भी कर्म के दो आयाम हो सकते हैं, और वास्तव में होते हैं : हम किसी भी नैतिक कर्म का संकल्प करते हुए साथ ही उसकी सफलता की योजना भी करते हैं। किन्तु ऐसा स्वायत्त कर्म भी हो सकता है जो विषय से निर्धारित नहीं होता बल्कि विषय का स्वतंत्र सर्जन करता है, यद्यपि साथ ही उसके निर्वाह की सफलता-असफलता भी महत्त्व रखती है। उदाहरणतः कलात्मक सर्जन इस वर्ग में रखा जा सकता है। इसमें कर्त्ता आध्यात्मिक रूप से पूर्णतः स्वतंत्र होता है—अर्थात् वह आत्मोन्मुख भाव में विषय-कल्पना करता है, बाह्य प्रस्तुत विषय से निर्धारित नहीं होता। किन्तु यह भाव अपनी सिद्धि अपने आविर्भाव मात्र में नहीं पाता, बल्कि सृष्ट विषय के रूप में इस भाव के अवतरण की : क्रियान्वयन या अभिव्यक्ति की : सम्यक्ता से पाता है। यदि इस पक्ष को छोड़ भी दें तो भी कर्म की स्वातन्त्र्य-मूलकता नीति और कला दोनों में है। तब नैतिक कर्म का विच्छेदक गुण क्या है ? फिख्ते के अनुसार, "ज्ञान-स्वरूप चैतन्य का यह अनिवार्य प्रत्यय है

कि उसे अपनी स्वतन्त्रता का निर्धारण पूर्णतः अपनी स्वायत्तता के अनुसार करना चाहिए ।" किन्तु जैसाकि हमने कहा, कला का, और वास्तव में सभी सर्जनाओं का भी, स्रोत ज्ञान-स्वरूप चैतन्य की स्वायत्तता ही है । इसका उत्तर हो सकता है कि कला में स्वायत्त क्रिया का उद्देश्य विषय ही होता है, यद्यपि यह विषय लौकिक विषयों के समान अनिवार्य नहीं होकर स्वातंत्र्यमूलक होता है, जबकि नैतिक कर्म में उद्देश्य आत्म स्वयं होता है ।

इस स्वातंत्र्य को फिख्ते ने, कांट के समान ही, नियम :स्वगत नियम : (लॉ) से परिभाषित किया है । उसके अनुसार, जब आप अपने को स्वतंत्र रूप में कल्पित करते हैं तब आप साथ ही इस स्वातंत्र्य को नियम के अधीन भी कल्पित करते हैं, और जब आप इस नियम को कल्पित करते (विचारते) हैं तब आप स्वयं को अनिवार्यतः स्वतन्त्र भी कल्पित करते हैं । स्वातन्त्र्य का प्रत्यय नियम के प्रत्यय से आपादित नहीं होता, ये प्रत्यय दो प्रत्यय ही नहीं हैं कि एक को दूसरे का अनुषंगी माना जाय, वास्तव में ये एक ही प्रत्यय के वाचक दो पद, अथवा कहें एक ही प्रत्यय को देखने के दो पक्ष, हैं ।

जैसाकि स्पष्ट है, फिख्ते यहां कांट से अभिन्न है । वास्तव में कांट से उसका भेद केवल इस बात में है कि जबकि कांट संवेद और जगद्--रचना के नियमों (सेंसेशन एंड केटेगरीज ऑफ अंडरस्टैंडिंग) को स्वातन्त्र्यमूलक : आत्म के निर्बाध स्वातंत्र्य का क्रियान्वयन : नहीं मानकर उसकी ऐसी सीमा मानता है जो कि उससे स्वतन्त्र रूप से अस्तित्व में है, फिख्ते आत्म की स्वतन्त्रता को निर्बाध मानता है और इस प्रकार स्वयं संवेद और जगद्-रचना के नियमों को उस स्वातन्त्र्य का ही क्रियान्वयन देखता है : "स्वयं आत्म ही, अपनी क्रिया के द्वारा, विषय का निर्माण करता है । विषय क्रिया का आकार ही है और दूसरा कुछ विषय नहीं है । क्रिया का वह प्रकार जोकि विषयरूप में निष्पन्न होता है, वही आत्म है, आत्म अन्य कुछ नहीं है सिवाय उस क्रिया--प्रकार के जोकि विषय-रूप में परिणत होता है । यदि वह अपनी संपूर्ण शक्ति के साथ क्रिया-प्रवृत्त होता है तब वह अपने लिए स्वयं विषय होता है, किन्तु यदि वह केवल अंशतः ही आत्म-क्रियाप्रवृत्त होता है, तब वह उस पर क्रिया करता है जो उससे बाह्य है । .... वह इस बाह्य-गोचर जगत् का आक्षेप करता है । केवल पूर्णतः आत्मक्रियावान्, अथवा कर्मात्मक (संकल्पमय) ही विषयी के रूप में आक्षिप्त होता है और इसके परिसीमन से ही आत्म : विषयी : परिसीमित होता है । आत्म के लिए यह अनिवार्य है कि वह बाह्य जगत् का आक्षेप करे, क्योंकि यह आत्म चेतना में अपना आक्षेप केवल नैतिक क्रिया के रूप में ही कर सकता है, और क्योंकि यह केवल सीमित का ही आक्षेप कर सकता है इसलिए इसके लिए अपनी नैतिक चेतना (क्रियाशीलता) पर भी सीमा लगाना अनिवार्य है ।"[9] इस प्रकार वास्तव में फिख्ते के अनुसार बाह्य जगद्-रूप

9. फिख्ते—वही, पृ० 42.

में आत्मव्यावर्तन भी शुद्ध चैतन्य का अपनी स्वतंत्रता का ही प्रयोग है : सोऽकामयत :वह स्वतन्त्र कामना है। किन्तु यह क्रिया या कामना नैतिक नहीं है, यद्यपि स्वतन्त्र है, क्योंकि क्रिया के नैतिक होने के लिए स्वातन्त्र्य का बाहर से बाधित होकर अपनी ओर उन्मुख होना और इस प्रकार अपने को जानना है। किन्तु यदि ऐसा है, तब स्वातन्त्र्य और नियम (जोकि कांट और फिख्ते में नैतिक चेतना का पर्याय है) एकार्थक नहीं हो सकते, आत्मोन्मुख स्वातन्त्र्य और नियम ही एकार्थक हो सकते हैं। दूसरे शब्दों में, केवल व्यक्तिपरक चेतना ही, जोकि अन्य व्यक्तियों और विषयों से अवच्छिन्नता और व्यावर्तन को पूर्वापेक्षित करती है, नैतिक हो सकती है, यद्यपि इस अवच्छिन्नता का अभिभव या क्षय, उसका निवारण और अतिक्रमण, नैतिक चेतना का साध्य है।

नैतिक चेतना आत्म की असीम कार्य-सामर्थ्य है, किन्तु कार्य-सामर्थ्य के लिए यह आवश्यक है कि वह किसी अन्य पर क्रिया करे, यह क्रिया-विषय इस सामर्थ्य का प्रतिरोधक है, वास्तव में इसी से वह विषय है। ये दोनों परस्पर अनिवार्य हैं— एक दूसरे के बिना नहीं हो सकता।

किन्तु अन्य व्यक्तियों का अस्तित्व क्यों है ? क्या इसलिए कि चेतना नैतिक हो सके ? फिख्ते के अनुसार, "एक सीमित बौद्धिक चैतन्य इन्द्रिय-विषयों के जगत् में अपने को तब तक स्वतंत्र कार्य-समर्थ के रूप में ग्रहण नहीं कर सकता जब तक कि वह अन्य ऐसे सत्त्वों का भी आपेक्ष नहीं करे जो कि उसके समान ही कार्य-समर्थ हैं।"[10] दूसरे शब्दों में, कार्य-सामर्थ्य के लिए जिस प्रकार आत्म का विषयी के रूप में विषय से प्रतिरुद्ध होना आवश्यक है उसी प्रकार अन्य विषयियों से मर्यादित होना भी आवश्यक है। अथवा कहें, चैतन्य के कार्य-समर्थ और आत्म-चेतन होने के लिए यह अनिवार्य है कि वह विषय से प्रतिरुद्ध हो और साथ ही अन्य विषयियों से अवच्छिन्न भी हो। किन्तु इन्द्रियगोचर विषयों में से कुछ प्राकृतिक हैं और कुछ अन्य विषयी : बुद्धिमान् सत्त्व : हैं, यह कैसे कहा जा सकता है ? इन दो के स्वरूपों में क्या अन्तर है ? फिख्ते का समाधान है कि, बौद्धिक सत्त्व के प्रभाव या क्रिया की कसौटी यह होगी : कि "यह प्रभाव केवल उसके प्रयोजन का ज्ञान होने पर ही सम्भव हो सकता है। अब, ऐसा कुछ नहीं है जो केवल प्राकृतिक के बल से ही घटित नहीं हो सकता हो और केवल अवगति के द्वारा ही सम्भव हो, सिवाय स्वयं अवगति ही के। इसलिए, जब प्रयोजन : और यहाँ उसमें उसका लक्ष्य भी सम्मिलित है : केवल अवगति उत्पन्न करने के लिए ही हो, तब प्रभाव का कारक कोई बौद्धिक सत्त्व ही होना चाहिए।[11] इसे स्पष्ट करने के लिए फिख्ते कहता है कि

10. वही, पृ० 48.
11. वही, पृ० 59.

हम कभी–कभी ऐसा कहते हैं कि "प्रकृति हमें पाठ पढ़ाना चाहती है।" किन्तु स्पष्टतः यह एक लाक्षणिक कथन–प्रकार है। "इसके विपरीत एक दूसरी क्रिया हम पर होती हैं जिसका कारण प्रयोजनात्मक होता है, और यह प्रयोजन दूसरा कुछ नहीं होता सिवाय इसके कि हम इसको इस प्रकार ग्रहण करें : इसे इस रूप में जानें। इसलिए हमारे लिए अनिवार्य है कि हम इस प्रभाव : क्रिया : का कारण बौद्धिक सत्त्व को : विषयी को : मानें। "[12]

फिख्ते की यह युक्ति बहुत दुर्बल ही नहीं, बल्कि सदोष भी हैं। दो प्रभावों में यह भेद कि एक हमें प्रभावित करने के उद्देश्य से ही घटित होता हैं और दूसरा निरुद्दिष्ट और निरपेक्ष रूप से, यह क्रिया के स्रोतों में भेद की पूर्वमान्यता के बिना सम्भव नहीं हैं, जिसे कि फिख्ते तर्क से सिद्ध करना चाहता है। किन्तु यदि यह मान भी लिया जाय तब भी इससे वह निष्कर्ष नहीं निकलता जो वह दिखाना चाहता है। वह कहता है : "हमने अब वह प्रमाणित कर दिया, जो हम प्रमाणित करना चाहते थे, कि बौद्धिक सत्त्व इस रूप में अपना आक्षेप तब तक नहीं कर सकता जब तक कि कोई अन्य उससे स्वतंत्र क्रिया की अपेक्षा नहीं करता। जब स्वतंत्र आत्मनिर्धारण की ऐसी अपेक्षा उसे सम्बोधित की जाती है तब यह अनिवार्य है कि वह अपने से बाहर किसी बौद्धिक सत्त्व का, उसके कारक के रूप में, आक्षेप करे और इस प्रकार सामान्य रूप से वह अपने से इतर सत्त्व ; विषयी : का आक्षेप करे। "[13] अर्थात् कोई बौद्धिक सत्त्व केवल तभी अपना बौद्धिक और स्वतंत्र सत्त्व के रूप में ग्रहण कर सकता है जब वह अन्य बौद्धिक स्वतंत्र सत्त्वों द्वारा इस रूप में : बौद्धिक सत्त्व के रूप में : ग्रहण किया जाता है।

अब, अन्य स्वतंत्र कार्यसमर्थ विषयों : विषयियों : की उपस्थिति एक अनिवार्य वैकल्पिक स्थिति उत्पन्न करती है, कि या तो वे अपने कार्यों को स्वतंत्रतया इस प्रकार नियोजित करें कि वे अन्यों के स्वतंत्र कार्यों के साथ सामंजस्य में घटित हो सकें, अथवा निरन्तर संघर्ष की स्थिति में रहें। किन्तु यदि वे बौद्धिक सत्त्व हैं तब स्वभावतः वे प्रथम विकल्प का ही वरण करेंगे। यही अधिकारों (राइट्स) की अवधारणा और उसके लिए अपेक्षित राजनीतिक संस्था का आधार है।

फिख्ते अधिकार की अवधारणा को नैतिक अवधारणा से पृथक् करता है। उसके अनुसार, जबकि कर्तव्य की अवधारणा में यह अनिवार्य है कि व्यक्ति उसका संपादन करे : इसमें उसके सम्मुख कोई विकल्प नहीं है, अधिकार की अवधारणा में यह अनिवार्य नहीं है कि अधिकृत व्यक्ति उसका उपयोग करे ही। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि "अधिकार" का "नीति" से कोई सम्बन्ध ही नहीं है। "अधिकार" की अवधारणा में 'दूसरों के अधिकारों का आदर' भी निहित है, जो

---

12. वही, पृ० 59–60
13. वही, पृ० 60

आदर कि 'कर्तव्य' है : "मुझे अन्य की सम्पत्ति नहीं छीननी चाहिये", "अन्य की सम्पत्ति में अनुराग भी नहीं रखना चाहिए" ये नैतिक नियम हैं, जबकि अपनी सम्पत्ति में अधिकार होता है। अधिकार में, फिख्ते के अनुसार, एक सामाजिक संहति की, बल्कि कहें संहत संकल्प की, मौलिकता भी पूर्वकल्पित होती है, जिसमें व्यक्ति अंगभूत होता है, और इस प्रकार उसमें अपनी स्थिति के अनुसार अधिकार-सम्पन्न होता है। इस प्रकार अधिकार की अवधारणा में एक द्विमुखता है : एक ओर व्यक्ति अन्य व्यक्तियों के बीच अपने अर्थ की पूर्ति की आकांक्षा करता है और दूसरों से यह अपेक्षा करता है कि वे उसकी इस आकांक्षा का आदर करें, और इस अपेक्षा की पूर्ति के लिए वह अन्यों की इसी प्रकार की आकांक्षा की वैधता स्वीकार करता है, किन्तु दूसरी ओर व्यक्ति समाज-मनस् के अंतर्गत एक अवच्छेद है और इस सामान्य मनस् के संकल्प के अनुसार स्थापित व्यवस्था का एक अंग है।

संहत संकल्प या मनस् की यह अवधारणा स्वभावत: रूसो का स्मरण कराती है, किन्तु वास्तव में फिख्ते में यह स्वतंत्र संकल्प के आत्मचरितार्थन का ही एक उपकरण है, क्योंकि स्वतंत्र बौद्धिक व्यक्ति ही अन्य व्यक्ति का अपेक्षी है और यह अन्य व्यक्ति भी स्वतंत्र और बौद्धिक होना आवश्यक है। ये अनेक व्यक्ति परस्पर अनिवार्यत: अपेक्षी होने से एक दृष्टि से एक संहित मनस् के घटक हैं और दूसरी दृष्टि से संघ में एकत्र व्यक्ति। किन्तु दोनों ही दृष्टियों से संघ स्वातंत्र्य की एक व्यवस्था है और व्यक्ति-स्वातंत्र्य को धारण करने वाला है। राज्य इस संहति के अन्तर्गत अधिकारों की व्यवस्था है और इस प्रकार बौद्धिक सत्त्वों द्वारा अन्यों के अधिकारों के सामरस्य में अपने अधिकार को सुरक्षित रखने का उपकरण है।

जैसाकि स्पष्ट है, फिख्ते की इस तत्त्वमीमांसा में ईश्वर के लिए कोई स्थान नहीं है, क्योंकि मूल तत्त्व ऐसी क्रियात्मक चिति है जो असीम और आत्म-अचेतन : अ-स्वप्रकाशक : है। स्वप्रकाशक केवल ऐसा चैतन्य है जो एक ओर विषय-जगत् से और दूसरी ओर अन्य स्वप्रकाशक सत्त्वों से अवच्छिन्न है और इस प्रकार सीमित व्यक्ति हैं। किन्तु ईश्वर न आत्मप्रकाशन से रहित पर–प्रकाशक असीम क्रिया मात्र हो सकता है और न सीमित व्यक्ति ही, वह असीम आत्मचेतन चैतन्य ही होना चाहिए। किन्तु यह फिख्ते की व्यवस्था में असंभव स्थिति हैं। किन्तु फिख्ते अनीश्वरवादी भी नहीं होना चाहता। तब उसकी व्यवस्था में इसके लिए एक मार्ग हैं, और वह हैं नैतिक अवधारणा में। मौलिक चैतन्य-क्रिया के लिए जगत् एक ऐसी व्यवस्था है जो व्यावर्त्तक के रूप में उसे दो में से एक भाव में प्राप्त होती है। एक भाव ज्ञानात्मकता का हैं जिसमें जगत् क्रिया-समर्थ रूप में चेतना को निष्क्रिय भाव में प्राप्त करता है, और दूसरा भाव नैतिकता का हैं जिसमें चेतना क्रियासमर्थ भाव में जकत् को उस क्रिया के उपकरण के रूप में प्राप्त करती हैं। यह स्वातन्त्र्य-भाव ही अपनी पूर्ण निरपेक्षता में ईश्वर हैं।

यह द्रष्टव्य है कि जो चैतन्य-क्रिया विषयि-विषय रूप में विभक्त होकर जगद्-रूप में अभिव्यक्त होती है, वही चैतन्य-क्रिया आत्मचेतन वृत्ति में नैतिक कर्म के रूप में आत्मचरितार्थन की व्यवस्था बनती है, जिसमें व्यक्तिभाव का अतिक्रमण और समग्र भाव में लय साध्य होता है। यह समग्रता ही ईश्वर है।

ऊपर हमने फिख्ते के दर्शन का संक्षिप्त विवरण देने का प्रयत्न किया। इससे जैसाकि स्पष्ट है, यह कांट की दृष्टि की एक तार्किक परिणति है। फिख्ते ने कांट के दर्शन को एक तार्किक-निगमनात्मक व्यवस्था के रूप में प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया, यद्यपि वह इसमें बहुत दूर तक सफल हुआ, ऐसा नहीं कहा जा सकता। जैसाकि हमने पीछे देखा, उसकी प्रथम प्रतिज्ञप्ति – "अ=अ" से दूसरी प्रतिज्ञप्ति "आत्म अपना प्रतिरोधी उत्पन्न करता है" निगमित नहीं होती, यह अवश्य दूसरा चरण है, किन्तु यह पहले से निगमित नहीं होता। नैतिक सन्दर्भ में यह परिस्थिति और भी कठिन हो जाती है। निरपेक्षत: स्वतन्त्र क्रिया, जो कि चैतन्य की स्वाभाविक स्थिति हैं, स्वयं में कर्तव्य और श्रेयस् के भाव से शून्य है। यह भाव केवल इतरबाधित चेतना में ही आविर्भूत होता है। किन्तु यह केवल उस सीमा तक ही सिद्धि पाता है जिस सीमा तक यह बाधा को बाधा के रूप में नहीं देखकर स्वातन्त्र्य के अधीन देखता है। किन्तु यह स्वातन्त्र्य बाधा को पूर्वकल्पित करता है, जो कि नैतिक चेतना के अनुभव का सन्दर्भ नहीं होकर ज्ञानात्मक चेतना का सन्दर्भ है। दूसरी और बड़ी कठिनाई यह है कि, इसके अनुसार नैतिक कर्त्तव्य यद्यपि स्वातन्त्र्य का अनुसरण है, किन्तु यह स्पष्ट है यह स्वातन्त्र्य स्वयं में कर्त्तव्य के बोध का आधार नहीं हो सकता, क्योंकि इस रूप में यह केवल निषेधक विषय का निषेध, अथवा प्रतिरोधक का प्रतिरोध मात्र हो जाता है।

इस प्रकार नीति के क्षेत्र में फिख्ते का दर्शन हमें काँट से आगे नहीं ले जाता, बल्कि यह अधिक समस्याओं को जन्म देता है। किन्तु ज्ञानात्मक क्षेत्र में अवश्य फिख्ते का दर्शन कांट के दर्शन का अगला चरण है।

10

फ्रीड्रीख विल्हैल्म जोसेफ शैल्लिंग

1775—1854

शैल्लिग फिख्ते से आयु में 13 वर्ष छोटा था। उसका जन्म जर्मनी के लिओनबर्ग नगर में 1775 में हुआ। उसके लेख और ग्रन्थ उसकी आयु के 17 वें वर्ष से ही प्रकाशित होने प्रारम्भ हो गए थे और 22वें से 24 वें वर्षों (1797-99) में उसके 6 ग्रन्थ प्रकाशित हुए जो उसके प्रमुखतम ग्रन्थ कहे जा सकते हैं। इन ग्रंथों में उसने प्रकृति विषयक दर्शन का प्रतिपादन किया, जो जर्मनी की अध्यात्म-वादी–आदर्शवादी (स्पिरिच्युअलिस्टिक–आइडियलिस्टिक) परम्परा में उसका बहुत महत्त्वपूर्ण योगदान कहा जा सकता है और जो आगे हेगेल के दर्शन के लिए एक प्रेरणा-स्रोत बना। उसके प्रकृति-विषयक विचार यद्यपि एकदम नवीन नहीं थे, उनकी परम्परा प्लेटों के टीमियस और पार्मेनिडीज, प्लोटाइनस, स्पिनोजा और लाइब्नीज में देखी जा सकती है, किन्तु शैल्लिग ने इस परम्परा में फिख्ते के इससे अत्यन्त विपरीत विचारों को संपुटित कर इसे एक दूसरा आयाम दे दिया। आगे चलकर "ऑफ ह्यूमन फ्रीडम" पुस्तक में शैल्लिग ने प्रकृति की अवधारणा को एक और नया रूप दिया। जिसमें तैत्तिरीय उपनिषद् के "असद्वा इदमग्र आसीत्, ततो वैसदजायत" का संकेत-ग्रहण और उसके साथ मिथक (पुराण) और ईसाई धर्म में कल्पित देव-आसुर (गुड-इविल) शक्तियों के संघर्ष की अवधारणा का सामंजस्य मिलता है। तैत्तिरीय उपनिषद् का संकेत-ग्रहण कहने से यह तात्पर्य नहीं है कि यह संकेत उसने प्रत्यक्षतः ही लिया होगा, किन्तु शैल्लिग की इस पुस्तक को पढ़ते हुए तैत्तिरीय तथा ऐतरेय उपनिषदों का ध्यान बरबस आता है, जिनसे वह शायद अपरिचित नहीं होगा।

जैसाकि हमने कहा, शैल्लिग की प्रकृति की अवधारणा यूरोप की अध्यात्मवादी परम्परा में उसका मुख्य योगदान है। उसके लिए प्रस्थान-विन्दु फिख्ते की चैतन्य की अवधारणा ही है, जो चैतन्य एक अमर्यादित क्रिया है और जो अपनी इस क्रिया को मर्यादित करने के प्रयत्न के रूप में अस्मिता और प्रकृति की पराकाष्ठा में ईश्वर है, जो प्रकृति का आक्षेप अपने दिव्य भाव (नैतिक नियम)

की अभिव्यक्ति के लिए करता है। शैलिंग प्रकृति की इस उपकरणात्मक अवधारणा को एक बिलकुल नया रूप देता है। उसके अनुसार प्रकृति गोचर आत्मतत्त्व (विजिबल स्पिरिट) है और आत्मतत्त्व अगोचर प्रकृति (इन्विजिबल नेचर)। प्रकृति उसके अनुसार यांत्रिक गतिमय भौतिक कणों के घात-प्रतिघातों का क्षेत्र या व्यवस्था नहीं होकर आदर्श से आविष्ट ऊर्ध्वोन्मुख अभिनिवेश है जो जड़ से संवेदात्मक, वेदनात्मक से कल्पना-प्रवण, कल्पना-प्रवण से विचार-समर्थ, और विचार-समर्थ से स्वोन्मुख के क्रम से अपना रूपान्तरण घटित करती है।

किन्तु प्रकृति की इस कल्पना का तार्किक औचित्य क्या है? यह औचित्य शैलिंग अखण्ड पूर्ण (एब्सोल्यूट) की तत्त्वमीमांसा के द्वारा प्रस्तुत करता है। उसके अनुसार एक ही अखंडभाव प्रत्ययात्मक (आइडियल) और वास्तविक (रीयल) व्यवस्थाओं में (जो स्वतः भी पूर्णताएं ही हैं क्योंकि पूर्ण ही के दो आयाम या दो अवधारण हैं) * क्रियान्वित होता है। विषयि और विषय-भाव की यह पूर्ण एकता ही पुनः स्वोन्मुख चैतन्य (रिफ्लेक्टिव कांश्यसनेस), अर्थात् मनुष्य, के माध्यम से प्रकृति और उसके ज्ञान के परस्पर अनुप्रवेश के रूप में दृष्टिगत होती हैं। मानव-चेतना वास्तव में अन्तर्विभक्त चेतना है, केवल इसी के स्तर पर विषय और विषयी का द्वैत उत्पन्न होता है: किन्तु अखंड अद्वय-भाव में यह दरार वास्तव में मूल अद्वयभाव की एक दूसरे स्तर पर सिद्धि में साधन बनती है। अखंड में इस दरार के अनंतर जिस अखंड भाव की पुनः सिद्धि होती है वह पूर्ण प्रकाशात्म या पूर्ण चैतन्य स्वरूपता की अवस्था है, जबकि प्रथम अवस्था प्रकाश-राहित्य या लय की अवस्था हैं जिसे शैलिंग अंधकार-तत्त्व (प्रिंसिपल आफ डार्कनेस) भी कहता है। इन अवस्थाओं को वेदांत की शब्दावली में सत्-चित् और आनन्द की अवस्थाएं भी कहा जा सकता है। स्वयं में पूर्णतत्त्व एक और सनातन ज्ञान-क्रिया (इटर्नल एक्ट ऑफ नोलेज) है जिसमें कोई काल-क्रम नहीं हो सकता, किन्तु तब भी इस एक क्रिया या कर्म में तीन चरण या पक्ष देखे जा सकते हैं जो विश्लेष्य (डिस्टिंग्विशेबल) तो हैं किन्तु विभाज्य (सेपेरेबल) नहीं हैं। प्रथम चरण में पूर्ण अपने को जड़ प्रकृति या विषय के रूप में घटित करता है, दूसरे चरण में वह विषयी के रूप में घटित होता है, तीसरा चरण संश्लेष का हैं जिसमें वे दो पूर्णताएं (पूर्ण विषयता और पूर्ण विषयिता) पुनः एक पूर्णता में समाविष्ट हो जाती हैं। **ऑफ ह्यूमन फ्रीडम** में इसके सम्बन्ध में वह कहता है: "क्योंकि ईश्वर के पूर्व अथवा बाहर कुछ भी नहीं है, इसलिए यह अनिवार्य है कि उसके अस्तित्व का आधार भी उसी में निहित हो। यह बात सब दर्शन कहते हैं, किन्तु वे इस आधार को मात्र एक अवधारणा के रूप में ही देखते हैं, और **इसे वास्तविक या यथार्थ रूप** में नहीं देखते। अस्तित्व का आधार, जिसको ईश्वर

* तुलना के लिए द्रष्टव्य.ओं पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदुच्यते, पूर्णात्पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते। ईशावास्योपनिषद्, प्रथम मंत्र।

अपने भीतर धारण करता है, स्वयं ईश्वर नहीं है—जहाँ तक कि वह ईश्वर पूर्णता में अवस्थित है, अर्थात् जहां तक कि वह अस्तित्ववान् है। क्योंकि यह (आधार) उसमें केवल उसके अस्तित्व का आधार है। यह प्रकृति है, जोकि यद्यपि उससे अविभाज्य है किन्तु तब भी जो पृथक्तः अवधारणीय है।………………… इसलिए सामान्यतः प्रकृति वह सब कुछ है जो पूर्ण सत्त्व की पूर्ण अखंडता (आइडेंटिटी) के परे स्थिति है। 'जहां तक इस पूर्वता का प्रश्न है, इसे न कालात्मक मानना अभीष्ट है और न तत्त्वात्मक (ऑफ एस्सेंस)। इस वृत्त में, जिसमें से कि सब सत्त्वों का आविर्भाव होता है, यह कहने में कोई अन्तर्विरोध नहीं है कि जो जिसका कारण हैं वही उसका कार्य भी है।'[1]

ऊपर रेखांकित शब्द द्रष्टव्य हैं जो उसे फिख्ते से पृथक् करते हैं और स्पिनोजा तथा लाइब्नीज के समीप लाते हैं। किन्तु मूल तत्त्व को ऐसी अमर्यादित क्रिया के रूप में देखना जो स्वतः चिदचिद्–विलक्षण है और अपने को जानने के क्रम में अपने विपरीत भाव का आक्षेप कर उससे अपने को मर्यादित करती है, शैलिंग को फिख्ते की परम्परा में ही रखता है। किन्तु इन दो प्रवृत्तियों (स्पिनोजाई वस्तुवाद और फिख्तेई आदर्शवाद-प्रत्ययवाद) में समन्वय के द्वारा वह एक ओर भौतिक और जैविक प्रकृति का विज्ञान देने का प्रयत्न कर सका और दूसरी ओर प्रकृति के इन दोनों आयामों को एक ऐसी व्यवस्था के अंग के रूप में देख सका जिसमें आध्यात्मिक (स्पिरिचुअल) को भी सम्मिलित किया जा सकता है और इन तीनों को एक ही क्रम में रखा जा सकता है। इस व्यवस्था में प्रकृति विषयिभाव का बहिरंगत्व (एक्स्टर्नेलिटी) हैं और आत्मतत्त्व विषयभाव का अंतरंगत्व। इसे दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है, प्रकृति अध्यात्म-तत्त्व का देश-काल में प्रति–बिम्ब है और आत्म तत्त्व विषयभाव का चिद्भाव में स्वरूप-दर्शन। ये उपर्युक्त तीनों क्रम तीन आयामों के रूप में वास्तविक हैं। इस प्रकार, उसके अनुसार, जिस प्रकार आदिम तत्त्व, अपनी अमर्यादित और अनाम-रूप क्रिया में अवरोध के द्वारा अपने को अस्तित्व :नाम-रूप और ज्ञप्ति (ज्ञान-रूपता) देता है उसी प्रकार ज्ञान के आयाम में संवेद सृजनात्मक प्रतिभा (प्रोडक्टिव इन्ट्यूशन), स्वोन्मुखता या मनन (रिफ्लेक्शन) तथा अध्यवसाय (जज्मेंट) के क्रम में अपने अनाम-रूप अखंड-भाव को उद्भिन्न और विमृश्य बनाकर एक उच्चतम धरातल पर पुनः अपनी अखंडता को प्राप्त करता है। यही क्रम प्रकृति में चुम्बकत्व, विद्युत् रासायनिकता और जीव-काय (आर्गेनिज्म) में देखा जा सकता है। भौतिक प्रकृति में विकास का यह क्रम मूलतः चेतन तत्त्व में परिलक्षित विकास-क्रम के समरूप है, क्योंकि ये दोनों

---

1 शैलिंग-आफ ह्यूमन फीडम, पृ० 23. अनु. जेम्स गुरमान, दि ओपन कोर्ट पब्लिशिंग, कंपनी, शिकागो। (उद्धरण में रेखांकन मेरे द्वारा)।

एक ही परमार्थ के दो व्यंग्यार्थ * हैं। भौतिक पदार्थ की निष्क्रिय शक्तियां चेतन तत्त्व की सक्रिय शक्तियों से स्वरूपतः अभिन्न हैं। विकास का यही क्रम चेतना के अस्मिता-बोध के : मानव-चेतना के: स्तर पर भी देखा जा सकता है—इतिहास एक साथ स्वातंत्र्य की अभिव्यक्ति और ईश्वर का क्रमिक आत्मोद्घाटन है। ईश्वर अस्तिता नहीं है, यदि अस्तिता से यह अभिप्रेत हो कि वह विषय-जगत् में अभिव्यक्त (मैनीफैस्ट) है, यदि वह इस प्रकार होता तो वह होता ही नहीं: उसका सत्त्व या भाव (बीइंग) ऐतिहासिक क्रम में उद्घाटित होने में ही है। मनुष्य अपने इतिहास के द्वारा ईश्वर की सत्ता के लिए एक प्रमाण बनता है, किन्तु ऐसा प्रमाण जो इतिहास की समग्रता में अपनी पूर्णता को सिद्ध करता है।

ऊपर हमने प्रकृति को दो प्रकार से निरूपित देखा, एक पूर्ण के बहिरंगभाव के रूप में और दूसरा ऐसे अंधकार तत्त्व, निषेध अथवा असत्तत्त्व के रूप में जो पूर्ण के अंतर्गत, उसमें प्रेम की अभिव्यक्ति के लिए घृणाभाव@ के रूप में उसका आधार बनता है और इस प्रेम तत्त्व के द्वारा निरुद्ध होकर उसके जगद्-रूप आत्म-प्रकाशन का प्रेरक बनता है। प्रकृति के प्रथम प्रकारक निरूपण के क्रम में शैल्लिंग ने भौतिक विज्ञान की तत्त्व मीमांसा का विकास किया और द्वितीय प्रकारक निरूपण उसकी धर्ममीमांसा और कला-दर्शन के रूप में विकसित हुआ। उसके अनुसार भौतिक विज्ञान का दार्शनिक निरूपण उचित रूप में प्रकृति का प्रत्ययात्मक सर्जन (आइडियल कन्स्ट्रक्शन) ही हो सकता है। उसके मत में शुद्ध रूप से प्रयोगात्मक भौतिकी को विज्ञान की संज्ञा देना उचित भी नहीं है, क्योंकि यह देखे गए तथ्यों का विवरण मात्र ही हो सकता है। इसके अतिरिक्त, भौतिकी का यह रूप प्रकृति-विषयक अनुभववादी दर्शन के पूर्वाग्रह पर आधारित है और इस प्रकार शुद्ध रूप से व्यावहारिक (प्रयोग-परीक्षा की) सुविधा की दृष्टि से स्वीकृत मर्यादा नहीं है। शैल्लिंग का मत है कि भौतिक विज्ञान का कार्य भौतिक पदार्थ (मैटर) का प्रत्ययात्मक निगमन तथा मूलभूत अजैव तथा जैव पिंडों (बॉडीज) के उद्भव के नियम का अनुसंधान करना है। यह दार्शनिक भौतिकी शैल्लिग के अनुसार, चुम्बकत्व आदि शक्तियों (फोर्सिज) को पूर्वमान्य या प्रदत्त मानकर अग्रसर नहीं होती, बल्कि इनको आधारभूत नियमों (प्रिंसीपल्स) से निगमित करती हैं। यह

---

* यहां 'व्यंग्यार्थ' शब्द का प्रयोग भाषागत अर्थ के एक प्रकार के रूप में नहीं किया गया हैं बल्कि परमार्थ तत्त्व की वास्तविक अभिव्यक्ति के लिए किया गया है, जो दो रूपों में होती है, किन्तु जो उसे प्रत्यक्षतः प्रकट नहीं करके उसे अन्यथा रूप से संकेतित करती है।

@ 'घृणा-भाव' शब्द के प्रयोग पर डा० दयाकृष्ण की आपत्ति है कि यह निषेधात्मक पद नहीं ह, प्रेम के सामने मन की भावात्मक अवस्था ही है। किन्तु शैल्लिंग को यहां मनोवैज्ञानिक दृष्टि से अभावात्मक अवस्था का कथन करना अभिप्रेत नहीं है, नीतिमूलक तत्त्वमीमांसीय दृष्टि से अभावात्मक स्थिति का कथन करना अभिप्रेत है। उदाहरण के लिए इस दृष्टि से देव जबकि चित् की अथवा परमार्थ की भावावस्था का वाचक है, असुर अभावास्था का।

निगमन विशिष्ट वस्तुओं और घटनाओं के गोचर लोक (नेचूरा नेचुराटा) को उसके धारक तत्त्व, उसके प्रत्यय (नेचुरा नेचुरान) में से उद्भूत होते देखना है।

यह धारक तत्त्व असीम क्रिया-शक्ति या कामना (विलिंग) है जो प्रकृति-रूप में अपना विषयकरण करती है। किन्तु किसी प्रकार की विषय-व्यवस्था के होने के लिए यह आवश्यक है कि यह क्रिया बाधित हो। अर्थात् निर्बन्ध क्रिया-शक्ति के साथ-साथ प्रतिबन्धक शक्ति का होना भी अनिवार्य है। इन दो शक्तियों का घात-प्रतिघात प्रथम स्तर पर भौतिक मात्रा (मास) या पिंडों की सामान्य व्यवस्था के रूप में प्रकट होता है। इसके बाद निर्बन्ध शक्ति पुनः उद्वेलित होती और प्रतिरुद्ध होती है और यह घात-प्रतिघात विकास के दूसरे उच्चतर चरण को जन्म देता है जिस पर प्रकाश तथा पिंडों के गति-तत्त्व का आविर्भाव होता है। पहले स्तर पर हम आकर्षण और विकर्षण की शक्तियों का भौतिक मात्रा (मास) के स्तर पर आविर्भाव देखते हैं और दूसरे स्तर पर चुम्बकता, विद्युत् तथा पिंडों के रासायनिक गुणों का आविर्भाव देखते हैं।

तीसरे स्तर पर जैव पिंडों या जीवधारियों का आविर्भाव होता है। इस स्तर पर वही शक्तियां या ऊर्जाएं संवेद (सेंसीबिलिटी), उद्दीपनशीलता (इरिटेबिलिटी) तथा जननात्मकता के रूप में क्रियान्वित होती है।.इस स्तर में पुनः स्तर-भेद हैं और इनका उच्चतम बिन्दु मानव-तन में उपलब्ध होता है जहां विषयिभाव का आविर्भाव होता है और प्रकृति पराङ्.मुखता से प्रत्यङ्.मुखता में संक्रमण करती है।

स्पष्टतः शैल्लिग प्रकृति का उस अर्थ में वैज्ञानिक विवेचन प्रस्तुत कर नहीं रहा है जिस अर्थ में हम 'विज्ञान' शब्द का आज प्रयोग करते हैं। किन्तु यह विज्ञान अपने आधारों को, और प्रकृति के उन आयामों को जो उसकी स्वीकृत व्यवस्था में समायोजित नहीं होते, अनालोचित ही छोड़ देता है। किन्तु दार्शनिक के लिए यह तब तक सम्भव नहीं है जब तक कि वह अपनी दृष्टि प्रायोगिक विज्ञानी को ही नहीं सौंप दे : शैल्लिग ने यह नहीं किया और न कोई भी ऐसा अन्य चिन्तक यह कर सकता है जो जगत् की व्यवस्थात्मकता और सावयवता को निराग्रह भाव से देखता है। विज्ञान द्वारा स्वकृति सीमाएं यादृच्छिक हैं, मनमानी हैं, यह कांट के **क्रिटीक ऑफ जज्मेंट** के उस अन्तर्द्वन्द्व से स्पष्ट है जो उसके द्वारा जगत के उन आयाओं को, जो भौतिकीय दृष्टि में समायोजित नहीं होते "मानो ऐसा है………" की विधि से विवेचित करने के प्रयत्नों में दिखायी देता है। शैल्लिग वैज्ञानिक दृष्टि की इन यादृच्छिक सीमाओं को स्वतःसिद्ध मानने को तैयार नहीं है, वह भौतिक पिण्ड से आत्मचेतना तक के सम्पूर्ण विस्तार को एक ही स्तर-क्रम के रूप में व्याख्यायित करने को उत्सुक है।

किन्तु उपर्युक्त स्तर-क्रम से यह अभिप्रेत नहीं है कि यह विकास काल में होता है। पूर्ण और सनातन तत्त्व काल से प्राक् है और इस प्रकार जो कुछ है वह सब

एक साथ और एकस्थ है । इस कारण उसमें चित् और अचित् भी केवल सीमित चेतना द्वारा असीमित को देखने की दो सापेक्ष दृष्टियां मात्र हैं । इसी से शैलिंग जबकि अपने प्रकृति-दर्शन-विषयक ग्रंथों में भौतिक पिण्डों से आरम्भ कर आत्मोन्मुख मानव-चेतना में उसकी परिणति देखता है, जो चेतना उस स्वातन्त्र्य और व्यक्तित्व से मंडित है जो ईश्वरीय चैतन्य को लक्षित करता है, दूसरी ओर वह अपने ग्रंथ "सिस्टम आफ ट्रोंसेंडेंटल आइडियलिज्म' में आत्मतत्त्व (इगो) से आरम्भ करता है और आत्म-चेतना के इतिहास का विवरण देता है । इससे कुछ लोग यह अर्थ लेते हैं कि शैलिंग यहां फिख्ते की ओर पुनः लौटा है और अपने प्रकृति-दर्शन से विसंगत बात कह रहा है । किन्तु शैलिंग के मत में अतिक्रामी प्रत्ययवाद (टांसेंडेंल आइडियलिज्म) उसके प्रकृति-दर्शन का एक अनिवार्य पूरक है । उसके अनुसार मूल तत्त्व या परमार्थ पूर्ण अभिन्नता की स्थिति है और इस प्रकार उसमें विषयभाव और विषयिभाव अतिक्रांत अद्वयभाव में समाविष्ट रहते हैं । अब यदि हम इस अद्वयता की व्याख्या करना चाहते हैं तो हमें उसको विस्मृत करना होगा और तब हमारे सामने समान रूप से स्वीकार्य, अथवा तुल्य-बल, दो विकल्प प्रस्तुत होंगे : तब हम चाहें तो विषय तत्त्व से आरम्भ कर विषयितत्त्व की ओर अग्रसर हो सकते हैं, जिसमें प्रश्न होगा कि किस प्रकार अचेतन प्रकृति में विषयिभाव का आविर्भाव होता है और वह अपने को जानती है, अथवा हम विषयिभाव से आरम्भ कर सकते हैं और प्रश्न कर सकते हैं कि इस विषयी के लिए विषय का आविर्भाव कहाँ से होता है ? प्रथम विकल्प में हम प्रकृति-दर्शन का विकास करते हैं और दूसरे में अतिक्रामी प्रत्ययवाद का । ये दो मार्ग परस्पर विपरीत नहीं हैं, बल्कि एक ही गंतव्यः पूर्ण (एब्सोल्यूट) : पर दो दिशाओं से पहुँचने के दो मार्ग हैं ।

जैसाकि स्पष्ट है, यह दृष्टि फिख्ते के लिए पूर्णतः अस्वीकार्य है, किन्तु शैलिंग के लिए यह केवल उच्चतर प्रतिज्ञा (थीसिस) के लिए एक प्रतिप्रतिज्ञा (एंटीथीसिस) हैं । इन दो प्रतिज्ञाओं से सिद्ध उच्चतर संश्लेष (सिंथीसिस) को वह फिख्ते और स्पिनोजा में समन्वय के द्वारा प्राप्त करता हैं तथा दैवी और आसुरी तत्त्वों की ईश्वर में अविरुद्ध भाव से अवस्थिति के द्वारा प्रदर्शित करता है ।

जैसाकि हमने पीछे कहा, शैलिंग प्रकृति को दो सन्दर्भों में दो पृथक् रूपों में देखता है—विषय-भाव के रूप में, जिसमें विषयिभाव अव्यक्तावस्था में रहता है और तब क्रमशः व्यक्त होकर आत्म दर्शन करता है : और दूसरा असत्, दोष, अनात्म (डार्क बेसिस, ईविल, नाँनबींग) के रूप में, जो क्रमशः ईश्वर के व्यक्तित्व-धारण के लिए उपकरण बनता है और इतिहास के माध्यम से क्रमशः ईश्वर के दिव्यभाव से विजित होकर उसकी समग्रता में पहचान लिये गए असत् के रूप में स्थान पाता है ।

यद्यपि प्रकृति के ये दो रूप परस्पर भिन्न प्रतीत होते हैं, और वास्तव में ये शैलिंग के विकास के दो पृथक् कालों से संबन्धित हैं, किन्तु इन दों रूपों में एक

आधारभूत एकता या तारम्तय है। शैलिंग के दार्शनिक चिंतन के द्वितीय चरण में भी,[2] जब वह फिख्ते के प्रभाव से निकल चुका था और प्रकृति-दर्शन को अतिक्रामी भौतिकी (ट्रांसेंडेंटल फिजिक्स) के रूप में प्रस्तुत कर रहा था, प्रकृति उसके लिए विस्तारात्मक द्रव्य नहीं होकर कालात्मक, क्रियात्मक, आदर्शोन्मुख व्यवस्था थी जिसकी परिणति अपने को विषय रूप में ग्रहण करने वाले विषयिभाव में होती है। इस प्रकार परिणत प्रकृति अपने ही विषय-पक्ष का अपने अभिप्राय और अपेक्षा के अनुसार रूपान्तरण करने की ओर अग्रसर होती है। दूसरे शब्दों में, प्रकृति में स्वातंत्र्य का अविर्भाव होता है। किन्तु विषयी तब तक अपने स्वातंत्र्य की चरमता को उपलब्ध नहीं कर सकता जब तक वह विषय को लक्षित करता है, क्योंकि विषय स्वरूपतः आगन्तुक और अबोधगम्य है। अथवा कहें, जहां तक विषय अनिवार्य और बोधगम्य है वहां तक वह विषयि-तत्त्व से अनुप्रविष्ट स्वतन्त्र्य के अधीन होता है। इसलिए प्रकृति में आविर्भूत यह विषयिभाव आत्म-निर्धारण की पूर्ण स्वतन्त्रता तभी सिद्ध कर पाता है जब वह निर्धारक के रूप में स्वयं अपने को बोध-विषय बनाता है।

यह निष्कर्ष पूर्णतः कांट के अनुसार है। किन्तु शैलिंग इस बोध को, आत्मनिर्धारक नियम को, ठोस कर्म के क्षेत्र में ही साध्य मानता है। इस कार्य के लिए क्षेत्र के रूप में शैलिंग अधिकारों (राइट्स) की व्यवस्था और राज्य (स्टेट) को निगमित करता है जिसकी उच्चतम परिणति "राज्यों का राज्य" या अन्तर्राष्ट्रीय राज्य (यूनीवर्सल स्टेट) है। अब यदि यह आदर्श साध्य है तो इसकी सिद्धि वास्तव में इतिहास होनी चाहिए। किन्तु इतिहास में इसकी सिद्धि का अर्थ है कि मानव-इतिहास, और अंततः ब्रह्मांड का ही इतिहास, इस लक्ष्य की ओर अग्रसर है। किन्तु यह "इतिहास" आनुभविक इतिहास नहीं हो सकता जो आगन्तुकता और अबोधगम्यता का क्षेत्र है। शैलिंग के अनुसार वास्तविक या तात्त्विक इतिहास ईश्वर-तत्त्व के आत्म-विकासन की प्रक्रिया है।

इस ि ष्कर्ष के साथ हम शैलिंग की दार्शनिक यात्रा के तीसरे पड़ाव पर पहुँच जाते हैं जिसमें वह मनुष्य को दिव्य तत्त्व के इस आत्म-विकासन का ऐसा चरण मानता है जिसमें स्वयं ईश्वर अवतरित होकर इतिहास का उन्नयन करता है। उसके शब्दों में "क्या अघ का, आसुरी तत्त्व का, आत्यन्तिक क्षय होता है, या कि नहीं

---

2. शैलिंग ने स्वयं अपने दर्शन को दो भागों में बांटा है, प्रथम भाग को वह निषेधात्मक दर्शन कहता है और दूसरे को सकारात्मक (पॉजिटिव) दर्शन। निषेधात्मक से उसका तात्पर्य है जिसमें प्रकृति प्रत्यय मात्र के रूप में गृहीत होती है, जैसे फिख्ते के दर्शन में, और सकारात्मक से उसका तात्पर्य है जिसमें चित् और सत्, ईश्वर और प्रकृति और जगत् सब की यथार्थता स्वीकृत है। किन्तु उसके व्याख्याकारों ने उसके दर्शन को दो, तीन, चार या पांच भी चरणों में विभाक्त किया। द्रष्टव्य कोपलस्टन, ए हिस्ट्री आफ फिलासफी जिल्द 7 खंड 2 E 125

होता है ? क्या सृष्टि का कोई उद्देश्य है ? और यदि है तो वह उद्देश्य आरम्भ से ही अव्यवहित-सिद्ध क्यों नहीं रहता, पूर्णता आरम्भ से ही क्यों अस्तित्व प्राप्त नहीं करती ? इसका कोई उत्तर नहीं है, सिवाय इसके कि ईश्वर जीवन है, मात्र सत् (बींग) नहीं। सब जीवन नियत साध्योन्मुख रहता है (हैज ए डेस्टिनी) और भोगः क्लेषः (सफरिंग) तथा विकास का विषय बनता है। ईश्वर ने आरम्भ से ही अपने लिए भी यह नियम स्वेच्छया स्वीकार किया जब उसने व्यक्ति होने के लिए प्रकाश तथा अन्धकार के जगत को परस्पर पृथक् किया। क्योंकि भाव (बींग) केवल भाव्य (बिकमिंग) होकर ही आत्मचेतन हो सकता है। निश्चय ही, भाव में भाव्यता नहीं है, बल्कि भाव्य में भाव शाश्वत विद्यमानता के रूप में अन्तर्हित रहता है। किन्तु क्रियान्वयन में भाव अनिवार्यतः भाव्य बनता है। इतिहास (का अर्थ) ईश्वर के मानुषावतार लेकर दुःख भोगने की (ईसाई) अवधारणा के बिना आग्रह्य ही रहता है।"[3] इस प्रकार शैल्लिग के लिए इतिहास अखंड पूर्णता का सतत आत्म-क्रियान्वयन है। किन्तु तब इतिहास का कोई अन्त है या नहीं ? दूसरे शब्दों में, क्या पूर्ण तत्त्व की आत्म-क्रियान्वयन की प्रक्रिया कभी पूर्ण होती है या नहीं ? इसका समाधान है कि सीमित के दृष्टिकोण से यह अनन्त क्रम है जबकि पूर्ण के दृष्टिकोण से यह एक और अखण्ड भाव है। मनुष्य का 'पतन' (फाल) दिव्य के लोकावतरण की प्रक्रिया (थियोगोनिक प्रासेस) या इतिहास का सूत्रपात करता है जोकि उसके ईश्वर में लौटने का महाकाव्य है। इस प्रकार ब्रह्मांड ईश्वर की आत्माभिव्यक्ति या आत्म-विकासन है। ईश्वर में उसके अस्तित्व का आधार (जोकि प्रकाश के विरुद्ध अन्धकार, प्रेम के विरुद्ध घृणा, भाव के विरुद्ध अभाव है)* उसके अस्तित्व से अव्यवहित रूप से निबद्ध रहता है; किन्तु उससे भिन्न अस्तित्व (मनुष्य और जगत्) में वह व्यवहित रूप से अपने को विकसित करता है; यही इतिहास है। अथवा कहें, किसी भाव (बींग) में विकास या प्रक्रिया इस प्रकार परिलक्षित होती है क्योंकि उसकी घटक शक्तियां (फोर्सेज) अपनी प्रकृत स्थिति में अवस्थित नहीं होतीं और परिणामतः उनको वहां से हटाकर अपनी प्रकृत स्थिति में स्थापित करना आवश्यक होता है। इस प्रकार जिस तत्त्व को अनभिव्यक्त अवस्था में रहना चाहिए वह अभिव्यक्तावस्था में रहता है और

3. आफ ह्यूमन फ्रीडम, पृ. 84.

* कोष्ठक हमारे द्वारा जोड़ा गया। है यह द्रष्टव्य है कि यह अवधारणा भारतीय वैष्णवधर्म में भी बहुत समृद्ध रूप में उपलब्ध होती है। रामचरित मानस के राम में तो इसका रूप बहुत ही निखरा है।

भावी अभिव्यक्तास्था * दबी पड़ी रहती है।

दूसरे शब्दों में, अभाव, अघ, या अंधकार तत्त्व, जिसका प्रयोजन केवल भाव, दिव्य या प्रकाश को क्रियाविन्त करना होता है, स्वयं सक्रिय रहता है और दिव्य तत्त्व को बाधित रखता है। इतिहास इस बाधित तत्त्व के इस बाधा से मुक्ति का क्रम है। किन्तु दूसरी ओर ईश्वर में यह स्थिति शाश्वत रूप से सिद्ध रहती है "अघ की सामान्य सम्भावना इस तथ्य में निहित है कि मनुष्य अपने अहंकार (सैल्फहुड) को आधार या उपकरण के रूप में रखने के बजाय एक सार्वभौम और नियामक संकल्प के स्तर पर प्रतिष्ठित कर देता है और अपने में निहित प्रकाश तत्त्व को उपकरण बना लेता है।[4] यदि मनुष्य में अहंकार और स्वार्थ का तत्त्व प्रकाश से पूर्णतः अन्तःप्रविष्ट रहता है और इससे अभिन्न हो जाता है तब ईश्वर शाश्वत प्रेम के रूप में अथवा वास्तव अस्तित्व के रूप में उसमें निहित शक्तियों की व्यवस्था बनता है। किन्तु यदि दो तत्त्व (अन्धकार और प्रकाश) संघर्ष में रहते हैं तब अन्य सत्व@ (बींग) उस स्थान पर प्रतिष्ठित हो जाता है जिस पर कि ईश्वर को होना चाहिए। यह ईश्वर का विपरीत भाव है, ऐसा सत्व जो कि ईश्वर के आत्मोद्घाटन के क्रम में आविर्भूत हुआ किन्तु जो (वास्तव में) कभी अव्यक्तावस्था से व्यक्तावस्था को प्राप्त नहीं हो सकता—ऐसा सत्त्व जिसका वास्तव में अस्तित्व नहीं है किन्तु जिसमें सदैव अस्तित्व प्राप्त करने की आकांक्षा रहती है, तथा जो प्राचीनों% के 'भौतिक तत्त्व' के समान कभी (वास्तव) के रूप में ग्राह्य नहीं हो सकता, केवल भ्रांत कल्पना में ही ग्राह्य होता है, और जो कि वस्तुतः अघ है।"[5]............"सृष्टि का प्रथमारम्भ 'एक' के द्वारा आत्मजनन की कामना (एकोऽहं बहुस्याम) से होता है, अथवा कहें, अतल (आधार : आदि असत्ः) में

---

* "भावी अभिव्यक्तावस्था" प्रयोग, उपरितः थोड़ा विचित्र प्रतीत होता है। किन्तु शैल्लिग इतिहास को अखंड द्वारा खंड के माध्यम से पुनः आत्मसिद्धि के क्रम के रूप में देखता है, इसलिए वास्तव में खंड के लिए जो अनभिव्यक्त और परिणामतः भावी है, वह उसी के साध्य किन्तु तत्त्वतः सदा सिद्ध भाव के रूप में सदा अभिव्यक्त रहता है। इतिहास सीमित द्वारा अपने असीमित साध्य की पर्येषणा के कार्यान्वियन का क्रम होने से इसमें भावी अवस्था वस्तुतः भाव (बींग) में गुरुतर होती है। इसके अतिरिक्त, मूल्य-पर्येषणा में भाव ही पर्येषक के लिए व्यवधान के कारण भाव्य होता है, जो पर्येषक को आकृष्ट करता है। इसके विपरीत सदोष स्थिति सिद्ध या प्राप्त होने पर भी अभाव-सहित और अवांछनीय होती है।

4. वहीं, पृ. 72.

@ 'बींग' शब्द के लिए हमने 'भाव' पर्याय का प्रयोग अस्तित्व से अतिक्रांत सत् के लिए किया है, 'सत्त्व' शब्द का प्रयोग अस्तित्व में अवतरित या निबद्ध (क्रमशः ईश्वर और मनुष्य) के लिए।

% प्लेटो—टीमियस संवाद (स्वयं शैल्लिग द्वारा उल्लिखित)

5. वहीं, पृ. 68.

प्रकट वासना के स्पन्दन से होता है। दूसरा आरम्भ प्रेम के संकल्प से होता है जिसके द्वारा प्रकृति में शब्द ब्रह्म (वर्ड) का विस्फोट होता है और ईश्वर अपने को व्यक्तित्व देता है।"6............"और एक-अद्वय सत् ही प्रकृति (माया) के अंध गह्वर में और शाश्वत प्रकाश में व्याप्त है, एक ही सत् वस्तुओं की कठोरता और एकाकीपन को और उनके सम्मिलन और स्नेह को व्याप्त करता है, एक ही सत् शुभ में प्रेम के संकल्प के और रूप में अघ में क्रोध के रुप में व्यक्त होता है। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं समझना चाहिए कि अद्वय तत्व वस्तुतः ही अपने को द्विधा विभक्त करता है।"7 इस प्रकार इतिहास, शैल्लिग के अनुसार, ब्रह्मांड का इतिहास है और मानव-इतिहास उसका अंग है, और यह सम्पूर्ण इतिहास उस चित् तत्त्व की अभिव्यक्ति, अपने को देखने के लिए अपने प्रतिबिम्ब का आक्षेप, है जो तत्व अनादि, अनन्त और सनातन है।

यह सनातन तत्त्व अपने अभिव्यक्ति या सृष्टि-क्रिया में स्वतन्त्र है या कि नियमाधीन है? इस प्रश्न पर विचार करते हुए शैल्लिग ईश्वर की सृष्टि क्रिया या जगद्-रचना को उसका नैतिक कर्म कहता है, जिसमें स्वातन्त्र्य और अनिवार्यता एकत्र रहते हैं। किन्तु स्वातन्त्र्य और अनिवार्यता की यह पूर्ण एकता केवल पूर्णतः नैतिक तत्त्व में ही सम्भव है—"ईश्वर की आत्माभिव्यक्ति एक निर्धारित और यादृच्छिक क्रिया नहीं है, बल्कि एक नैतिक रूप से अनिवार्य कर्म है जिसमें कि प्रेम तथा शिवत्व (उन्मीलन की आकांक्षा निमीलन की आकांक्षा के ऊपर)* विजयी होते हैं।"8 किन्तु शैल्लिग संसार को फिख्ते के समान एक नैतिक व्यवस्था और ईश्वर को इस व्यवस्था से अभिन्न नहीं देखता। वह ईश्वर को व्यक्तित्व-युक्त देखता है और संसार को उसको एक वास्तव कृति के रूप में। ईश्वर जबकि प्रकृति की उचित शक्ति को, जिसे शैल्लिग असत् भी कहता है, आधार बना कर अपने को अस्तित्व में प्रतिष्ठापित करता है, वह इस अचित् तत्त्व को अभिभूत भी करता है और इसे चेतना के प्रकाश से रंजित करता है। अचित् और चित् यह समन्वय, अथवा कहें अचित् का चित् द्वारा अभिभव, जिसमें अचित् फिख्ते के समान आक्षेप नहीं होकर अभिभूत वस्तुसत् है, एक दूसरे स्तर के प्रातिभ में ही ग्राह्य हो सकता है। यह प्रातिभ कला में लक्षित होता है। मनुष्य के कला-कर्म में अचित् के अतल गह्वरों का अंधकार, तथा व्यवस्था और निर्देश-विहीन शक्तियों का आलोड़न चित्

6. वही. पृ. 74
7. वही, पृ. 90
* 'इन्वर्डनेस' (अन्तस्थता-निमीलितता), 'बेसिस' (आधार,) 'ग्राउन्ड' आदि पद शैल्लिग के पारिभाषिक प्रयोग हैं जिनका अर्थ सत् की अभिव्यच्ति से पूर्व असत्, अंधकार-तत्त्व, अघ, शिव की अभिव्यच्ति का उपकरण भूत अशिव, है।
8. वहीं पृ. 83

के प्रकाश तथा व्यवस्था के अधीन शिव तथा सौंदर्य का सर्जन करता है। इस प्रकार कलात्मक सौंदर्य विद्रूप शक्तियों के रूप में नियम के अधीन अनुशासित करने की साधना है। यही बात प्राकृतिक सौंदर्य, अथवा कहें सम्पूर्ण सृष्टि-रचना में भी है। शतदल कमल का वर्ण-वैभव और आकारिक सामरस्य प्रकाश-भक्षक कालिमा पर प्रकाश की तथा अ क र और संगति-विहीन पुद्गल पर अनुपात और संगति के शासन की विजय की सिद्धि है, जो सिद्धि निरन्तर अन्ध शक्तियों से पुनः ग्रसित हो जाने की निरन्तर सम्भावना को निरुद्ध करके स्थित रहती है। कलात्मक प्रातिभ (एस्थेटिक इन्ट्यूशन) इसी विजय का साक्षात्कार है। इस सिद्धांत की स्थापना शैलिंग ने **सिस्टम ऑफ ट्रांसेंडेंटल आइडियलिज्म** में की है। इसके अनुसार, विषय-जगत् आम-तत्त्व (स्पिरिट) की अचेतन काव्य-कृति है। यहां शैलिंग कुछ भिन्न पदावली में वही बात कहता प्रतीत होता है जो फिख्ते ने कही है, क्योंकि फिख्ते भी प्रकृति को चिन्मय आत्म-तत्त्व द्वारा आक्षेप के रूप में ही देखता है, जो आक्षेप आत्म-चेतन और विचारित नहीं होकर अविचारित और आत्म-चेतन है। किन्तु फिख्ते के अनुसार यह आत्मतत्व निर्बन्ध, अस्मिता और अतएव व्यक्तित्व की सीमा से भी रहित है। इसके विपरीत शैलिंग इस आत्मतत्त्व को निस्सीम व्यक्ति के रूप में देखता है जो अपनी पूर्णता में विजित अचित् और विजयी चित् का समावेश करता है।

किन्तु ईश्वर के व्यक्तितत्व में समन्वित यह द्वित्व स्वयं परमता नहीं है, क्योंकि प्रकृति शैलिंग के अनुसार ईश्वर के अन्तर्गत नहीं है। परमता विषयी और विषय तथा ईश्वर और प्रकृति के द्वैत का भिन्नता (इंडिफरेंस) में अतिक्रमण है। जगत्सृष्टि इस अभेद से चित् और अचित् (आइडियल एण्ड रीयल) के आविर्भाव के रुप में होती है; जो सर्जन अस्मिता-बोध-शून्य चित् का व्यापार है, वही व्यापार कलाकार द्वारा अस्मिता-बोध-पूर्वक कला-सर्जन का रूप लेता है।

किन्तु अपनी पुस्तक "धर्म-दर्शन" में वह इस निरपेक्ष पूर्णता या अभेद की व्याख्या करते हुए कहता है कि इसे अभेद कहने का यह अभिप्राय नहीं है कि यह आकार-हीन पुद्गल (स्टफ) है जिसमें कि चिदचिद् जगत् की सब वस्तुएं अपना नाम—रूप खोकर सपुंजित हो जाती हैं। न इसका यह तात्पर्य ही है कि यह शून्यतामात्र है। बल्कि यह पूर्णतः एक सरल निस्सीमता (सिम्पिल इन्फिनिटो) और इस प्रकार एक-साथ चित् और सत् है। इस कारण हम विकलपात्मक चिन्तन में इसका ग्रहण नहीं कर सकते और केवल सीमित वस्तुओं के निरूपणों के निषेध द्वारा : नेति—नेति द्वारा : उसका संकेत ही कर सकते हैं। दूसरे शब्दों में, इसका ग्रहण केवल प्रातिभ से ही हो सकता है। यह निस्सीम सरलता ज्ञान (आइडियल) के रूप में अपने को अव्यवहिततया शाश्वत प्रत्ययों में व्यक्त करती है। ये प्रत्यय वास्तव में अन्ततः एक ही प्रत्यय के अन्तर्गत हैं। प्रत्ययों की अनेकता वास्तव में प्रकृति-रूप में सत् का वैविध्य है जो कि ज्ञान की अखंड सरलता में एकाकारता

पाती है : इस एक प्रत्यय को दिव्य का आत्म-प्रकाशन अथवा आत्म-प्रत्यायन कह सकते हैं ।

किन्तु अपनी इस स्थापना में वह आदर्शवादी भारतीय दार्शनिकों : उपनिषद्, अद्वैत वेदांत, माध्यमिक और विज्ञानवादी बौद्धों तथा सांख्य : के समान पूर्णतः स्पष्ट नहीं है । ज्ञानगत अखंड भाव या पूर्ण और सरल प्रत्यय को प्रस्तुत प्रकृति अखंड माया-रूप*(नेचुरा नेचुरान्) है, नाम रूपात्मक जगत् (नेचुरा-नेचुराटा) नहीं । किन्तु अब अखंड माया से नाम–रूपात्मक जगत् का आविर्भाव कैसे होता है ? शैलिंग इस प्रसंग में स्पिनोजा के पर्याय (मोड्स) सिद्धान्त की अन्यों से भिन्न व्याख्या देते हुए कहता है—"ईश्वर स्वरूपविश्रांत और निरपेक्षतः अवधार्य सत् है, जबकि सीमित अनिवार्यतः अन्याश्रित सत् और केवल इस सत् की अपेक्षा से अवधार्य है ।@ परिणामतः वस्तुएं ईश्वर से केवल मात्रात्मक रूप से अथवा सीमितता के कारण ही भिन्न नहीं हैं········बल्कि मूलतः ही भिन्न हैं ।"[9] किन्तु यह मौलिक भिन्नता केवल इस आधार पर ही है कि ईश्वर जबकि निरपेक्ष स्वरूप-विश्रांत सत् है, वस्तुएं पराश्रित सत् हैं । वास्तव में उसके पूर्ण अभेद या अद्वैत (एब्सोल्यूट आइडेंटिटी) के सिद्धांत में इनमें और कोई भेद हो भी नहींसकता । यहीं आगे जब वह कहता है कि दिव्य और आसुर (गुड एण्ड इविल) उपादानतः (मैटीरियली) अभिन्न हैं, उनमें भेद केवल नामरुपात्मक (फार्मल) है, तब वह वास्तव में निहित रूप से मूलाविद्या और नामरूपात्मक जगत् में भी, और अंततः इनमें और ईश्वर में भी यह अभेद स्थापित करता है ।

शैलिंग की स्वातन्त्र्य की अवधारणा में भी उसके सिद्धांत के शेष अभिनिवेश के समान ही प्रत्ययवाद और वस्तुवाद, अथवा कहें चित्-सत् और लोक-सत् (व्यवहार-सत्) के बीच एक तारतम्य है । कांट के समान वह भी स्वातन्त्र्य का स्रोत मनुष्य के उस कालोत्तर चिन्मय स्वरूप को मानता है जो स्वतः-प्रवृत्त और लोक में सब क्रियाओं का प्रवर्त्तक है, और जो न भौतिक नियमाधीन है और न अपने मनोमय अस्तित्व से परिचालित होता है । किन्तु यह चिन्मय तत्त्व मानवता-सामान्यपरक नहीं होकर विशिष्ट व्यक्तिपरक है । अवश्य कांट में भी यही मान्यता है, जैसाकि हमने पीछे अपने कांट विषयक लेख में दिखाया है, किन्तु कांट ने न ऐसा स्पष्टतः कहा है और न उसके सिद्धांत में इसके लिए कोई व्यवस्था है,

---

* यह द्रष्टव्य है कि शैलिंग की व्यवस्था में 'नेचुरान' को सांख्यीय प्रकृति नहीं कहा जा सकता, क्योंकि उसकी पृथक सत्ता नहीं है. इसका स्वरूप मूलाविद्या या मूल माया के समान है ।

@ सांख्यकारिका पुरुष को आत्म-विश्रांत और प्रकृति को "परार्थ" रूप में कल्पित करती है । उसके अनुसार, इनमें यह मौलिक भेद है । द्रष्टव्य सा. का. 17.

9. वही, पृ. 12.

जबकि शैल्लिग में यह है, यहां तक कि उसमें ईश्वर भी व्यक्ति है, जैसाकि हम पीछे देख आये हैं।

अब, क्योंकि चिन्मय सत्त्व का प्रत्येक कर्म उसके स्वरूप का प्रवर्त्तन है इस लिए वह पूर्णतः स्वतन्त्र है, किन्तु वह स्वरूपगत होने से अनिवार्य भी है, अन्यथा वह स्वभावमूलक नहीं होकर आंगतुक होगा। किन्तु इसी से यह अनिवार्यता स्वातन्त्र्य-मूलक है जिस प्रकार स्वातन्त्र्य अनिवार्यता-मूलक। पुनः, यह स्वरूप भी सर्वप्रथम होने से, और कर्म-संकल्पमय होने से, इस कर्म का ही फल है।[10]

स्पष्टतः शैल्लिग यहां फिख्ते की पदावली में बोल रहा है, और जैसा कि हमने कांट को समझा, वह उससे भी भिन्न बात नहीं कह रहा है। किन्तु वह यहां फिख्ते का उल्लेख करते हुए कहता है कि उसके अनुसार चैतन्य अपना आक्षेप करता है: अपने अस्तित्व की स्थापना करता है, "किन्तु यह चैतन्य, जहां तक कि यह आत्म (इगो) का मात्र आत्म-बोध है, प्रथम प्रतिष्ठा या मूलाधार भी नहीं है, और अन्य सब प्रकार के ज्ञानों के अनुरूप किसी वास्तव 'सत्' (अस्तित्व) को पूर्वकल्पित करता है। किन्तु वह सत् जो ज्ञान से प्राक् है, सत् नहीं हो सकता, यद्यपि वह ज्ञान भी नहीं हो सकता, वह वास्तविक आत्म-प्रतिष्ठापन है, एक ऐसी मौलिक और आदिम संकल्प-क्रिया है जो कि स्वयं अपने को निरुपित करती है और स्वभाव मात्र (ऑल एस्सेस) का आधार है।[11]

इस प्रकार व्यक्ति जो है वैसा वह स्वतन्त्र रुप से है, क्योंकि उसका प्रत्येक कर्म और उस कर्म का निर्धारक उसका अंतःकरण अथवा स्वभाव स्वयं उसके अपने स्वतन्त्र निर्णय और चयन के परिणाम हैं। इसका अर्थ है कि शुभ-अशुभ जो भी कर्म हम करते हैं, वे हमारे स्वातन्त्र्य की ही अभिव्यक्ति होते हैं। इस प्रकार, यदि कहा जाय कि दुष्कर्म हम वासनाओं के अधीन करते हैं, तो भी हम उत्तरदायित्व से मुक्त नहीं होते, क्योंकि हमारे व्यक्तित्व में वासनाओं का यह शासन, अथवा कहें विवेक पर वासनाओं की यह प्रबलता, हमारे अपने स्वतन्त्र वरण से होता है, क्योंकि यह मेरा निर्णय है कि मेरा स्वभाव यह हो। "कि जुडास ने क्राइस्ट (ईसा) को धोखा दिया, (यह होना अनिवार्य ही था), इसे न स्वयं जुडास टाल सकता था और न कोई अन्य; किन्तु तब भी उसने ईसा को धोखा बाध्यतावश नहीं दिया, बल्कि स्वेच्छा से और पूर्ण स्वतन्त्रतापूर्वक दिया।........ "यह स्वतन्त्र कर्म जो कि अनिवार्यता रूपांतरित हो जाता है, चेतना में घटित नहीं हो सकता, जहां तक कि यह चेतना केवल अस्मिता और प्रत्ययात्मकता (आइडियल कांश्यसनेस) है, क्योंकि कर्म इसके पूर्व है, जैसे कि यह अस्तित्व के भी पूर्व है, जिसको कि यह उत्पन्न करती है।[12]

10. द्रष्टव्य वही, पृ.सं. 61.
11. वही पृ. 63.
12. वही पृ. 64.

यहां शैल्लिग का कांट और फिख्ते से भेद स्पष्ट है। कांट में वासनाधीन कर्म स्वतन्त्र कर्म नहीं है, क्योंकि वासनाधीनता स्वयं स्वतन्त्र कर्म के चयन का फल नहीं है। किन्तु निश्चय ही शैल्लिग यहाँ एक अत्यन्त जटिल प्रश्न से जूझ रहा है—यदि हम केवल तभी स्वतन्त्र हैं जब किसी वासना के अधीन नहीं हैं, तब केवल कुछ अपवाद ही होंगे जो कभी अपवादात्मक परिस्थितियों में ही स्वतन्त्र्य से कर्म कर पाते होंगे। इसके विपरीत, हम अपने प्रत्येक कर्म में यह अनुभव करते हैं कि हम स्वतन्त्र हैं—सिवाय किन्हीं ऐसी अपवाद-स्वरूप परिस्थितियों के जब हम किसी बाह्य उत्तेजना से क्रोध आदि भीषण आवेगों के अधीन कार्य करते हैं। इस प्रकार शैल्लिग हमारे साधारण अनुभव के अधिक निकट है। इसके अतिरिक्त, यदि हम अपने स्वभाव के स्वयं प्रवर्त्तक नहीं हैं तो फिर उसके लिए उत्तरदायी कैसे हो सकते हैं और उसे परिवर्तित कैसे कर सकते हैं? उसके लिए उत्तरदायी होने के लिए यह आवश्यक है कि हम स्वरूपतः उसके प्राक् हों, उसके प्रवर्त्तक हों।

किन्तु वास्तव में समस्या इतनी सरल प्रतीत नहीं होती। कांट को यह पता नहीं हो कि हम पुण्य और पाप दोनों प्रकार के कर्म करते हुए यह अनुभव करते हैं कि "यह कार्य स्वेच्छा से कर रहा हूं, किसी बाध्यतावश नहीं", ऐसा सम्भव नहीं है। किन्तु तब भी उसका इसे स्वतन्त्रता नहीं कह कर परतंत्रता कहना, इस समस्या को और गहरे जाकर देखने के लिए बाध्य करता है। गीता में कृष्ण की अर्जुन को यह प्रताड़ना कि "तू अचिंतनीय बातों पर चिंता कर रहा है और तब भी अपने को ज्ञानी समझ रहा है" समस्या के इसी गहरे स्तर का संकेत है। यदि यह बात नहीं हो, यदि सब कर्म हम स्वातंत्र्य से ही करते हों, तब किंकर्त्तव्यविमूढ़ता की परिस्थिति: कर्म के नैतिक औचित्य के निर्णय की समस्याः उत्पन्न नहीं हो सकती। ज्ञान में दोष हमारी आखों के कारण हो या ज्ञेय विषय के जटिल होने से उसके कुछ पक्षों के अनुपलब्ध रहने के कारण, हमारा अंधेरे में कुर्सी से टकरा जाना, या न्यूटन का आईंस्टाइनीय सापेक्षता-सिद्धान्त को नहीं खोज पाना, इसी प्रकार के दोष हैं। किन्तु अर्जुन का युद्ध नहीं करने का निर्णय, उसका निर्वेद, विषयगत परिस्थति-मूलक नहीं हैं, वहाँ दोष का कारण उसके स्व के उस स्थिति के अधीन होने में है जो उसके स्व से भिन्न है। जैसाकि हमने पीछे देखा, शैल्लिंग भी मनोमय को "स्व" पर उपाधि, बाह्यारोप, कहता है, और इस प्रकार इस बात को स्वीकार करता है कि हम स्वातंत्र्य के सब अनुभवों में वास्तव में स्वतत्र नहीं होते। तब उसका इससे क्या अभिप्राय है कि जुडास द्वारा ईसा को धोखा देना उसका स्वतंत्र निर्णय था? इसका वास्तव में अर्थ यह है कि, यद्यपि उसका धोखा देना सदोष मनःस्थितिजन्य है और इस प्रकार स्वतंत्र नहीं है, किन्तु यह मनःस्थिति मेरी हो, यह जुडास का ही निर्णय है, जो स्वतंत्र है। इस प्रकार शैल्लिंग स्वातंत्र्य के मनोवैज्ञानिक अनुभव की बात नहीं कर रहा है। किन्तु यदि यह निर्णय कर्त्ता

का है, तब यह कहना कि जुडास द्वारा ईसा को धोखा देना अनिवार्य था, संगत नहीं कहा जा सकता, क्योंकि वह अपने स्वभाव और उसके विशिष्ट क्रियान्वयन दोनों को रोक सकता था। यह बात अनुचित कर्म के अनंतर उस पर पश्चात्ताप से सिद्ध होती है। वास्तव में नैतिक पश्चात्ताप ही स्व के तंत्र की अतिक्रांतता का प्रमाण है।[13] किन्तु इससे यह भी सिद्ध होता है कि अनैतिक कर्म स्व की पराधीनतावश हुआ जोकि होना अनिवार्य नहीं था। वास्तव में स्वयं शैल्लिंग ने मनुष्य का ईश्वर से भेद इस आधार पर किया है कि मनुष्य में तमस् और प्रकाश, दिव्य और आसुर, विभक्तऔर संघर्षरत रहते हैं, जबकि ईश्वर में तमस् विजित रूप में: प्रकाशानुविद्धः रहता है।[14]

किन्तु यहाँ प्रश्न हो सकता है कि क्या ज्ञानात्मक निर्णय में दोष नैतिक दोष नहीं है? अथवा क्या इन दोषों में परस्पर कोई संबंध नहीं है? इसका उत्तर आपकी तत्त्वमीमांसा पर निर्भर करता है। शैल्लिंग द्वारा इसके उत्तर पर विचार से पहले हम कर्म के ज्ञानात्मक सन्दर्भ पर, और ज्ञान की अपूर्णताजन्य परिणाम के नैतिक पक्ष पर विचार करेंगे। उदाहरणार्थ एक न्यायाधीश को लें जो सब ज्ञात साक्ष्यों के आधार पर किसी को हत्या का दोषी निश्चित कर मृत्यु-दण्ड दे देता है। अब मानलें कि पीछे उसे किसी अन्य साक्ष्य के आधार पर ज्ञात होता है कि वह व्यक्ति पूर्णतः निर्दोष था, तो न्यायाधीश को निश्चित रूप से नैतिक दोष का दोषी नहीं माना जा सकता, किन्तु तब भी वह अपने कर्म के लिए खेद से मुक्त नहीं हो सकता। कहा जा सकता है कि उसका यह खेद नैतिक आधार पर नहीं है, यह केवल सहानुभूति-मूलक है। किन्तु वास्तव में ऐसा नहीं है, यहां एक प्रबुद्ध मनुष्य मानव-ज्ञान की सीमितता-जन्य परिस्थिति के प्रति खिन्न हुए बिना नहीं रह सकता। गीता में इसका समाधान भगवत्समर्पण की अवधारणा द्वारा किया गया है, जिसका एक अर्थ अपने को पूर्ण ज्ञानवान् के अधीन कर देना है। "गतासून-गत.सूंश्च" का अभेद केवल त्रिकालदर्शी ईश्वर ही देख सकता है और यह देखे बिना निर्दोष-हत्या की संभावना से बचना असंभव है। इसके अतिरिक्त, ज्ञान की सीमितता यदि अनिवार्य नहीं है तो इसकी विद्यमानता स्वयं दोष है जिसके निवारण का प्रयत्न सीमित का नैतिक कर्त्तव्य है। भारत के आदर्शवादी दर्शनों में इसी से अहंकार को, जोकि अस्तित्व की मूल उपाधि है, अविद्यामूलक माना गया है, और यही दृष्टि हम कुछ अन्तर के साथ पश्चिम के आदर्शवादी दार्शनिकों में भी पाते हैं। जैसा कि हमने पीछे फिख्ते विषयक लेख में देखा, अनीति का मूल उसके लिए भी मानवीय अस्तित्व की सीमितता ही है। शैल्लिंग जगत्-सृष्टि को ईश्वर का नैतिक कर्म कहता है और तब इस प्रसंग में उसके कर्म की स्वतंत्रता और चुनाव की परिस्थिति पर विचार करते हुए वह चुनाव की इस अवधारणा को अयुक्तिसंगत बताता है कि ईश्वर जैसी चाहे जगत्-रचना कर सकता था, यद्यपि यह जगत् उसकी सर्वश्रेष्ठ रचना है। उसके

13. द्रष्टव्य "यशदेव-शल्य-संस्कृतिः मानव-कर्त्तृत्व की व्याख्या" में नैतिक मूल्य अध्याय।
14. वही, पृ० सं० 68 (पूर्वोद्धृत)

अनुसार "क्योंकि ईश्वर एक है, इसलिए जगत् भी संभाव्यतः और वस्तुतः एक ही हो सकता था।" [15] किन्तु मनुष्य के सामने संभावनाएं हैं क्योंकि वह सीमित है। किसी भी अस्तित्व के लिए यह अनिवार्य है कि वह उपहित (कंडीशंड) हो, क्योंकि तभी वह वास्तव, अर्थात् वैयक्तिक हो सकता है। स्वयं ईश्वर का अस्तित्व भी वैयक्तिक नहीं हो सकता था, यदि वह उपहित नहीं होता। किन्तु ईश्वर में अन्यों से यह अन्तर है कि उसमें उपाधि का हेतु स्वयं उसके अन्तर्गत है, उसके बाहर नहीं ....मनुष्य उपाधियों के ऊपर कभी नियंत्रण स्थापित नहीं कर पाता, ... ये उस पर बाह्यारोपित रहती हैं। इसलिए उसका व्यक्तित्व और आत्म कभी भी अस्तित्व की पूर्णता प्राप्त नहीं कर सकते। यही दुःख का कारण है, जो कि सब सीमित अस्तित्व का अनिवार्य भाग्य है। और जहां तक ईश्वर में भी उपाधि, कम से कम अंशतः, स्वतंत्र होती है उस सीमा तक उसमें भी दुःख का हेतु विद्यमान रहता है। किन्तु यह हेतु कभी वास्तवता की अवस्था प्राप्त नहीं करता, यह केवल विजय के शाश्वत आनंद का उपकारक बनता है।" [16] यहां यह प्रश्न हो सकता है कि शैल्लिंग की व्यवस्था में, कांट के समान ही, मनुष्य इस दोष से कभी पूर्णतः मुक्त नहीं हो सकता, जैसा कि फिख्ते की और भारतीय दर्शनों की व्यवस्था में हो सकता है, और तब अहंकारोपाधि को उसका अपना आक्षेप, आत्म-निर्णय, भी नहीं कहा जा सकता। किन्तु यहां हम इस प्रश्न पर आगे विचार नहीं कर पायेंगे।

शैल्लिंग के दर्शन की उपर्युक्त रूपरेखा में उसके दर्शन की दो विशेषताओं का पूर्ण आंकलन नहीं हो पाया है, जो इतनी संक्षिप्त रूपरेखा में होना कठिन भी है। एक विशेषता उसकी शैली की है और दूसरी एक वर्तुल व्यवस्था के अभाव की। शैल्लिंग का लेखन बहुत कुछ काव्यात्मक और प्रेरणात्मक है; युक्ति, तर्क और परिभाषा परक नहीं। दूसरे, यद्यपि उसका चिन्तन व्यवस्थित है और इस रूप में उसमें एक विकास-क्रम है कि एक काल विशेष में प्रतिपादित सिद्धान्त पर विचार से उत्पन्न प्रश्न उसे कुछ भिन्न दिशा की ओर ले जाते हैं जिसका विकास हमें उसके लेखन के अगले चरण में मिलता है, किन्तु इसी कारण दर्शन एक उसका खुली व्यवस्था है, वर्तुल या पुर्ण (कंप्लीट) व्यवस्था नहीं।

———

15. वही पृ० 78.
16. वही पृ० 79. यहां अद्वैतवेदान्त की ईश्वर की अवधारणा तुलनीय है। इसके अनुसार ईश्वर मायोपहित होने पर भी उसके अधीन नहीं होकर उसका अधिपति है।

11

हेगेल

दर्शन के इतिहास की शृंखला में किसी दार्शनिक का परिचय दिया जाय, इसके लिए जहां एक ओर दर्शन की सूझ की अपेक्षा है, वहां दूसरी ओर इतिहास बोध की भी। हेगेल के दर्शन में इन अपेक्षाओं की अवहेलना करना उसके दर्शन को समझने से इन्कार करना है। हेगेल की दृष्टि में ये शर्तें न केवल आवश्यक हैं अपितु एक दूसरे की पूरक भी हैं। विचार का तत्व तथा विचार की प्रक्रिया अथवा उसकी गत्यात्मकता परस्पर अभिन्न हैं।

'दर्शन' से हेगेल ने अपने पूर्ववर्ती दार्शनिकों की तुलना में अधिक व्यापक अर्थ लिया है (इन पूर्ववर्ती दार्शनिकों में प्लेटो को अपवाद रूप माना जा सकता है)। यह 'गाइस्ट' (चित) शब्द के प्रयोग से स्पष्ट हो जाता है, जो हेगेल के दर्शन में आधारभूत है और जिसकी व्यंजना अत्यन्त व्यापक है।[1] 'गाइस्ट' केवल सीमित मनस्तत्व अथवा संकुचित आत्म को ही निर्दिष्ट नहीं करता। अपितु उससे, विहंगम रूप में, संस्कृति (विशिष्टतया मानवीय कृति के रूप में) के उस अत्यन्त व्यापक क्षितिज का भी बोध होता है जिसकी पृष्ठभूमि में मनुष्य की उच्चतम उपलब्धियों—परिवार, समाज तथा सम्बन्धित संस्थाएं, राज्य, नैतिकता, कला, धर्म तथा विज्ञान

---

1. क्वेन्टिन लॉयर ने अपनी पुस्तक हेगेल्स आइडिया ऑव फिलॉसोफि (हेगेल की दर्शन की अवधारणा) में 'गाइस्ट' के पांच प्रयोगों की ओर निर्देश किया है :
   1. परम–आत्म, समष्ट्यात्मक रूप में जो चिन्तन के इतिहास में, उसके सभी रूपों में क्रमशः उद्घाटित होता है। अपने असीम रूप के कारण तथा असीम–आत्म से भिन्न होने के कारण इस परम-आत्म तथा ईश्वर में भेद करना कठिन प्रतीत होता है, परन्तु दोनों को एक कहना भी निरापद नहीं होगा।
   2. प्रत्येक वह व्यक्ति या मानव जो अपने तत्व को चरितार्थ कर लेता है।
   3. लोक अथवा युग की आत्मा जो सामूहिक क्रिया-कलापों का आधार है।
   4. 'गाइस्ट' अथवा 'चित्' का सामान्य के रूप में प्रयोग, अन्य प्रयोग जिसके उदाहरण रूप माने जा सकते हैं।
   5. वे प्रयोग जहां प्रथम चारों प्रयोगों मिले जुले रूप में आ गये हों।

   —देखिए पृष्ठ 4. पाद टिप्पण 2 (फोर्डहम युनिवर्सिटी प्रेस, न्यूयार्क, 1971

एवं स्वयं आत्म प्रबुद्ध चैतन्य को समझा जा सकता है। तत्काल यह प्रश्न उपस्थित होता है कि दर्शन के (परम्परया) जो केन्द्रीय प्रश्न समझे जाते हैं उन्हें इतने व्यापक धरातल से कैसे जोड़ा जा सकता है? इस प्रश्न का उत्तर हेगेल के समस्त दर्शन के पर्यवेक्षण की अपेक्षा रखता है।

जहां तक इतिहास–बोध का प्रश्न है, वहां घटना-क्रम की दृष्टि से कारणता की अवधारणा प्रमुख होती है। इसके विपरीत जहां विचार-क्रम का प्रश्न है, वहां कारणता से अधिक अवधारणात्मक तथा तार्किक सम्बन्ध अधिक महत्वपूर्ण होते हैं। कभी-कभी इतिहास की समझ के हित में कारणता के सम्बन्ध को गौण स्थान मिलता है तथा अवधारणात्मक सम्बन्ध अधिक महत्वपूर्ण हो जाते हैं। हेगेल के दर्शन में लगभग यही स्थिति है। हेगेल का विचार था कि दार्शनिक चिन्तन केवल तभी आरम्भ होता है, जब बौद्धिक जगत् पहले ही विद्यमान हो। इस बौद्धिक परम्परा को आत्मसात् करना, हेगेल की दृष्टि में, उस परम्परा का रूपान्तरण भी है।[2] इसका अर्थ है: एक ओर दार्शनिक अपने सामयिक विचारबोध के धरातल पर खड़ा होता है, तो दूसरी ओर उसके सम्मुख एक वृहत् वैचारिक परिप्रेक्ष्य होता है जिसकी जड़ें उसे सुदूर अतीत की ओर ले जाती हैं। अतः किसी काल बिन्दु पर दर्शन के स्वरूप को समझना इन दोनों स्थितियों की परस्पर क्रिया-प्रतिक्रिया को समझना है। इस स्थिति में भी, विचार तत्व के प्रधान होने के कारण, अवधारणात्मक संबंध कालिक सम्बन्धों का अतिक्रमण कर सकते हैं।[3]

ऐरिस्टॉट्ल ने अपने से पहले के दार्शनिकों को एक प्रकार से तुतलाता ऐरिस्टॉट्ल ही समझा था। उसी प्रकार हेगेल का भी ख्याल था कि उससे पहले दार्शनिक जो कह रहे थे उसका मर्म तथा उत्कर्ष अपनी सफल अभिव्यक्ति के लिए हेगेल के दर्शन की प्रतिक्षा में था।[4] यह स्थिति वस्तुतः सही थी या नहीं, यह बात अधिक महत्व की नहीं है। महत्व की बात यह है कि पहले के दार्शनिकों के प्रयासों को हेगेल अपने दर्शन के सन्दर्भ में प्रासंगिक मानता है। फलतः जहाँ एक ओर यह कहा जा सकता है कि उसका दर्शन उससे पहले के दार्शनिकों के विचारों

---

2. हेगेल, लैक्चर्स ऑन द हिस्ट्री ऑव फिलॉसोफि, खण्ड 1, पृष्ठ 3-4, खण्ड 2, पृष्ठ 13 (अनुवादक : ई. एस. हाल्डेन, लन्दन- 1892–95)

3. इस तथ्य को हृदयंगम नहीं करने पर ही हेगेल की द्रष्टि के विरूद्ध कालिक दृष्टि से आपत्तियां उठाई गई हैं। जब यह कहा जाता है कि हेगेल विचारों से इतना अभिभूत था कि उसने भविष्य के आयाम की पूरी अवहेलना की, उसने यह नहीं देखा कि विचार की जिस गत्यात्मकता को उसने विचार का जीवन माना था वह उसकी परम की अवधारणा में घुटकर रह जाती है, तब विचार क्रम पर कालक्रम को आरोपित किया गया होता है–यह हेगेल की दृष्टि के ठीक उलटा है।

4. व्हाट इज लिविंग एण्ड व्हाट इज डैड इन हेगेल्स फिलासोफि, क्रोचे, पृ. 110

पर आश्रित है, वहां दूसरी ओर यह भी कहा जा सकता है कि हेगेल का दर्शन पूर्ववर्ती दर्शन का इस प्रकार आत्मसात् किया गया रूप है जो साथ ही उसका रूपान्तरण भी है । स्वयं हेगेल ने यह माना है कि दार्शनिक का कार्य अतीत की धरोहर का केवल पर्यवेक्षण ही नहीं है अपितु उस पर विचार करना तथा उसे समृद्ध करना भी है । इस सम्बन्ध में दर्शन के इतिहास पर उसके व्याख्यान दृष्टव्य हैं ।

जैसा कुछ पंक्तियों पहले कहा गया है, किसी दार्शनिक की दर्शन के इतिहास में क्या स्थिति है यह देखने के लिए एक ओर यह देखना आवश्यक है कि वह किस परम्परा के शीर्ष पर है, तो दूसरी ओर उस दृष्टि को समझना भी अपेक्षित है जिससे वह इस परम्परा का अवलोकन करता है अथवा उसे अपनाता है । अतः अगले कुछ पृष्ठों में हम यह देखने का प्रयास करेंगे कि वे घटक कौन से हैं जिनसे हेगेल की विचार दिशा को तथा उसकी दृष्टि को समझा जा सकता है । इस सम्बन्ध में हेगेल की आरम्भिक कृतियों की ओर निर्देश करना सुवधाजनक होगा ।

इन आरम्भिक कृतियों[5] से पता चलता है कि किशोर और युवा हेगेल के चिन्तन के प्रमुख विषय धर्म तथा धर्म का इतिहास थे । जिस परिवेश में यह चिंतन पल्लीवत हो रहा था वह जर्मन संस्कृति में प्रबोध-काल (आउफक्लैरूंग) के अवसान और रूमानियों के उद्भव का सन्धिकाल था ।[6] जहाँ विश्वविद्यालयों में अभी भी प्रबोधयुग का प्रभाव अक्षुण्ण बना हुआ था, वहां बाह्य बौद्धिक परिवेश सृजनात्मक कल्पना तथा भावना पक्ष से अभिभूत था । जैसा क्रमशः स्पष्ट होगा हेगेल की आरम्भिक कृतियाँ धर्म के स्वरूप तथा उसके इतिहास की समीक्षा, धर्म का तत्व मनुष्य के आदर्श, एवं ईश्वर और मनुष्यों के सम्बन्ध की आधारभूत समस्याओं से अनुप्राणित थीं । इस आरम्भिक वैचारिक यात्रा में पहले यूनानियों के एहिक-लौकिक धर्म का प्रभाव आता है तथा उसके विरोध में ईसाई मत आलोचना का भाजन बनता है, बाद में कांट के प्रभाव में ईसा तथा ईसाई मत की नितान्त मौलिक व्याख्या का प्रयास उल्लेखनीय है तथा अन्ततः कान्ट के प्रभाव से क्रमिक मुक्ति एवं रूमानी वृत्ति का प्रभाव मुखर होता है ।

---

5. अंगरेजी में दो संकलन प्राप्त हैं जिनमे हेगेल की कुछ आरम्भिक कृतियां जो धर्म एवं राजनीति से सम्बन्धित है, अनुदित रूप में उपलब्ध हैं । ऑन क्रिस्चियानिटि, अर्लि थियलॉजिकल राइटिंग्स अनु. टी. एम. नॉक्स तथा आर. क्रोनर (हार्पर टॉर्चबुक्स) हेगेल्स पोलिटिकल राईटिंग्स: जेड. पेलिसंस्की (ऑक्सफोर्ड) 1964

6. प्रबोधकाल, आउफक्लैरूंग अथवा एन्लाइटन्मेन्ट यूरोपीय संस्कृति के इतिहास में सत्रहवीं व अठारहवीं शताब्दियों में जो दृष्टि पनपी, उस दृष्टि का परिचायक है, जिसमें बुद्धि को आधारभूत तथा ज्ञान के क्षेत्र में सर्व समर्थ माना गया । दूसरी ओर यूरोपीय संस्कृति के इतिहास में ही उन्नीसवीं शताब्दी में बुद्धि के विरुद्ध अनुभूति, कल्पना तथा सर्जनशीलता पर बल दिया गया । रूमानियत अथवा रोमान्टिसिज्म के अन्तर्गत इन्हीं प्रवृत्तियों को लिया जाता है ।

हर्डर (Herder) के विचार में, ग्रन्थ-ग्राश्रित ईसाई मत के स्थान पर हेगेल यूनानी लोकधर्म से अभिभूत हो जाता है। उसके लिए वह सृजन-कल्पना तथा उत्साह से परिपूर्ण था। सत्रह वर्ष की ग्रवस्था में 'यूनानियों तथा रोमनों के धर्म पर' लिखते हुए हेगेल यूनानियों के इस विश्वास की चर्चा करता है कि देव ने प्रत्येक मनुष्य को उसके ग्रानन्द की दृष्टि से उपयुक्त शक्ति तथा क्षमता से युक्त किया है। जिस जगत में मनुष्य रहता है उसमें सभी कुछ इस प्रकार नियोजित है कि ज्ञान प्राप्ति तथा सदाचरण के द्वारा मनुष्य सच्चा ग्रानन्द प्राप्त कर सकता है।[7]

यूनानियों का लोक-धर्म रूढ़ियों, ग्रन्धविशवसों तथा किताबी शीलाचार से हटकर एक ऐसी जीवन्त शक्ति से परिपूर्ण था, जो राष्ट्र के जीवन के ग्रंग-ग्रंग में व्याप्त थीं—लोगों के दिलोदिमाग, उनकी कल्पना तथा कर्मों में, उनकी ग्रादतों, ग्रादर्शों, रीतियों तथा व्यवहार सभी में जिसकी छटा प्रकाशित होती थी। यह धर्म किसी विशिष्ट चर्च के साथ जुड़ा हुग्रा नहीं था, ग्रौर न ही वह राजनैतिक संगठन से ग्रलग-थलग था। वह जीवन का सहवर्ती था ग्रतः उसके किसी विशिष्ट पक्ष से ग्रसम्बन्धित नहीं था। वह निराशा, दुःख तथा बलि का प्रतीक नहीं, ग्रपितु ग्रानन्द तथा ऐहिक जीवन की समृद्धि की ग्रोर निर्देश करता है। वह मनुष्य की सहज भावनाग्रों तथा संवेदन को, न कि बुद्धि को, प्रभावित करता है। वह किसी ग्रमूर्त विचार की नहीं ग्रपितु सुन्दर की ग्रनुभूति को ग्राबद्ध करता है।

हेगेल ही नहीं, ग्रन्य प्रबुद्ध जर्मन भी यूनानी संस्कृति से सम्मोहित थे। इनमें हेगेल के साथी शैलिंग तथा कवि हैल्डरलिन के नाम उल्लेखनीय हैं। इनकी दृष्टि में यूनानी सभ्यता ने उस उत्कर्ष को प्राप्त कर लिया था जिसका ग्राधार राजनैतिक स्वतन्त्रता, दार्शनिक ज्ञान तथा कलात्मक सम्पूर्णता थीं।

ग्रागे चलकर जब हेगेल ने नीति एव कर्म के सम्बन्ध में कान्ट के **क्रिटीक ग्रॉव प्रेक्टिकल रीजन**[8] नामक ग्रन्थ का ग्रध्ययन किया तो उसके विचारों पर कान्ट के नैतिक दर्शन का गहरा प्रभाव पड़ा ग्रौर इस प्रभाव के फलस्वरूप हेगेल को लगा की यूनानी धर्म में नैतिक गहराई नहीं थी। दूसरी ग्रोर हेगेल ईसाई मत से भी सन्तुष्ट नहीं था। उसका ख्याल था कि संस्थात्मक तथा विधिपरक पक्ष के कारण ईसाई मत में मानवीय तत्व की ग्रवहेलना हुई है। यूनानी तथा ईसाई धर्मों के ग्रतिरिक्त क्या कोई ग्रौर विकल्प हो सकता है? समाधान के रूप में मनुष्य के स्वायत्त विवेक पर ग्राधारित धर्म का विचार हेगेल को ग्राकर्षक लगा। ईसा के जीवन के विषय में लिखते हुए हेगेल ईसा से कहलवाता है, "मानवों को नैतिकता के शाश्वत नियम तथा ईश्वर को मानना चाहिए", "जिसके पवित्र संकल्प पर

---

7. थियलॉजिकल राइटिंग्स,....पृ. 1।
8. व्यावहारिक बुद्धि की मीमांसा।

नियम के अतिरिक्त और किसी का प्रभाव नहीं पड़ता", "तुम्हें आदेश दिया गया था, अपने मित्रों तथा अपनी जाति को प्यार करो। परन्तु अपने शत्रुओं से तुम घृणा कर सकते थे। परन्तु मैं तुमसे सदा यह कहता हूं समस्त मानव जाति का आदर करो, उसी नियम के अनुकूल कर्म करो, जिसे तुम सभी के लिए सार्वभौमिक नियम मान सको। यह नैतिकता का आधारभूत नियम है, यह समस्त नियम–सर्जन तथा सभी जातियों के पवित्र ग्रन्थों का सारतत्व है।"[9] स्पष्ट है कि हेगेल ने ईसा को कान्ट के मत की अभिव्यक्ति का माध्यम बनाया है। यद्यपि यहां यह भी स्मरणीय है कि स्वयं अपनी नैतिक अनुभूति के लिए कान्ट दस आदेशों में से कम से कम एक का ऋणी था।

ईसा को कान्ट के नैतिक सिद्धान्त के परिप्रेक्ष्य में रखकर देखने से हेगेल के सम्मुख एक और अधिक महत्वपूर्ण प्रश्न उभरा, जिस पर 'दि पॉजिटिविटि ऑव क्रिश्चियन रिलीजन' में विचार हुआ।[10] यदि ईसा की शिक्षा विवेक की स्वायत्ता पर तथा मनुष्य को साध्य मानने पर आधारित है तो ईसाई धर्म में आप्तता, दैवी अनुकम्पा एवं संस्थात्मकता के विध्यात्मक तथा ऐतिहासिक तत्व किस प्रकार उद्भूत हुए? बुद्धि तथा श्रद्धा के बीच की खाई को कैसे पाटा जाय? विध्यात्मक तत्व के उद्भूत होने के सम्बन्ध में हेगेल ने जो सम्भावित समाधान रखे हैं, वे हमारे उतने प्रसंग के नहीं हैं, जितना कि यह विचार कि हेगेल, धर्म के तत्व की दृष्टि से, इस विद्यात्मक तत्व को बाह्य तथा इतिहास सापेक्ष मानता है। अपने समय के प्रभाव में हेगेल प्रोटेस्टेंट ईसाईयत को ही प्रधानता देता है, कारण कि प्रोटेस्टेन्ट मतावलम्बी स्वयं को धर्म की किसी अपरिवर्तनीय स्थिर लीक से नहीं बांधता। वह इस संदर्भ में किसी बाहरी दबाव या अधिकार का विरोध करता है।[11]

यूनानी लौकिक धर्म के प्रभाव में हेगेल धर्म में किसी ऐसे तत्व को स्वीकार करना नहीं चाहता जो जीवन को अवरूद्ध करता है अथवा व्यक्तित्व को कुण्ठित करता है, परन्तु कान्ट के प्रभाव के कारण वह नैतिकता के सर्वोच्च नियम के सम्मोहन से भी नहीं बच पाता। दूसरी ओर क्रमशः उसे लगता है कि ईसा के उपदेश नियम के प्रति आदर नहीं, उसे बाध्यता के रूप में स्वीकार करने के स्थान पर उसके अतिक्रम की शिक्षा देते हैं।[12] इन उपदेशों में न्याय अन्याय के सामान्य स्तर से प्रेम के द्वारा ऊपर उठने का आह्वान है। प्रेम में अधिकार का प्रश्न नहीं उठता, न शत्रु के प्रति घृणा तथा उससे असमानता का प्रश्न उठता है।[13]

---

9. ये सभी उद्धरण···थियलॉजिकल राइटिंग्स····पृष्ठ 4–5 से लिये गये हैं।
10. वही।
11. वही, पृष्ठ 128
12. वही, पृ. 212
13. वही, पृ. 218

आगे 'द स्पिरिट ऑव क्रिस्च्यानिटि' में हेगेल ने गॉस्पेल[14] को एक नई दृष्टि से समझा है। गॉस्पेल का नैतिक सिद्धान्त करुणा अथवा प्रेम है, प्रेम हृदय का सौन्दर्य है। प्रेम के इस आध्यात्मिक सौन्दर्य में हेगेल यूनानी धर्म के सौन्दर्य तथा कान्ट के नैतिक विवेक का समन्वय देखता है। ये धारणा हेगेल को उस समय की प्रधान प्रवृत्ति अर्थात् रोमान्टिसिज्म के निकट ले आती हैं, तथा प्रबोध-युग से मुक्त कर देती हैं। इस नई दृष्टि के फलस्वरूप हेगेल की आलोचना का विषय ईसाई मत के स्थान पर यहूदी धर्म हो जाता है। अन्य लोगों से अपने को अलग समझना तथा ईश्वर के प्रति दासवृत्ति अपनाना, अपनी तथा अपने धर्म की ईर्षालु रूप में रक्षा-करना इजरायलियों की इन बातों के लिए हेगेल उनकी प्रताड़ना करता है। यूनानियों से उनकी तुलना करते हुए उसे लगता है कि यूनानी धर्म की आत्मा एकत्व तथा एकता लाने वाली है, इज़रायलियों की वृत्ति विघटनकारी है। यूनानी प्रकृति के प्रति मित्रवत् हैं, तो इज़रायली उसके प्रति शत्रुवत्। क्योंकि ईसा ने बाइबिल पर आधारित धर्म में यूनानी तत्व को प्रविष्ट किया इसलिए यह कहा जा सकता है कि ईसा ने **ओल्ड टेस्टामेन्ट** के सिद्धान्त तथा यूनानी दृष्टि को मिलाने की कोशिश की। यद्यपि हेगेल यहूदीमत की आलोचना करता है, वह उसमें निहित नैतिक नियमों की अवहेलना नहीं करता। यहूदीमत में वह केवल उस संकोच तथा एकाकी वृत्ति को ही अस्वीकार करता है जो उसे एक संकुचित समुदाय में बान्ध देती है। कान्ट ने प्रवृत्ति तथा कर्त्तव्य के बीच जो भेद माना वह हेगेल को स्वीकार्य नहीं था। शिलर, हौल्डरलिन आदि अन्य रोमान्टिक विचारकों की भांति हेगेल को कान्ट द्वारा बताए भेद और द्वैत मानवीय तत्व की अखण्डता के विरोधी लगे। कान्ट ने नैतिकता के रूप में मनुष्य को स्वायत्त माना। परन्तु कठिनाई यह है कि जहां वह स्वामी है वहां वह सेवक भी है। तभी तो स्वयं को अंकुश में रखने का प्रश्न उठता है। हेगेल का मत था कि मनूष्य के तत्व में निहित इस खाई को प्रेम की नैतिकता के द्वारा पाटा जा सकता है। प्रेम केवल एक मनुष्य को अन्य मनुष्य के निकट ही नहीं लाता है, अपितु वह स्वयं उसकी मौलिक अखण्डता को भी आधार देता है। और इसी में ईसा की शिक्षा का सार निहित है। ईसा का आदेश केवल अपने बाह्य रूप की दृष्टि से ही आदेश लगते हैं, अपने अन्तस्तल में उनका अर्थ आदेशात्मक नहीं है। आदेश का बाह्यय रूप आत्मा के आन्तरिक जीवन से मेल नहीं खाता। जीवन तो पूर्ण और अखण्ड है। आदेश सैद्धान्तिक स्वामी-सेवक तथा चाहिए-है के भेद पर टिका है। इसलिए निरपेक्ष आदेश से आध्यात्मिक प्रवृत्ति कहीं अधिक सशक्त है, क्योंकि वह सहज रूप से ही नियम के अनुकूल होती है, और यही प्रवृत्ति प्रेम है। प्रेम ही मनुष्य के दैवीकाल का सूचक है। मानवीय मनस के परस्पर विरोधी लगने वाले पक्ष-मनोनिष्ठता तथा वस्तुनिष्ठता, साधारण जैववृत्ति तथा विवेकशीलता, व्यक्तित्व तथा सार्वभौमिकता, प्रेरणा तथा नियम, यथार्थवादिता तथा आदर्शवादिता,

---

14. वही।

तथा कर्म सम्बन्धित एवं बौद्धिक इसी प्रेम में मूलतः एकाकार हो जाते हैं। महत्व-पूर्ण बात यह हैं कि दिव्य या आध्यात्मिक का अनुभव दिव्य या आध्यात्मिक के द्वारा ही सम्भव है, भेद-बुद्धि के वैंचारिक सांचे उसके लिए नितान्त अनुपयुक्त हैं ।[15]

धर्म के तत्व के सम्बन्ध में हेगेल के विचार उसके आरम्भिक चिन्तनकाल में निरन्तर बदलते रहे हैं, परन्तु जैसा उपर्युक्त संक्षिप्त वर्णन में भी देखा जा सकता है कुछ बातें ऐसी लगती हैं जो इस परिवर्तनशीलता के पिछे एक आत्मसंगत दृष्टि का परिचय देती हैं : यूनानी लौकिक धर्म, यहूदी धर्म, ईसा की शिक्षाएं, कान्ट के नैतिक दर्शन, इन सभी के मन्थन के पीछे एक ऐसे आध्यात्मिक तत्व की खोज को परिलक्षित किया जा सकता है जो मनुष्य की पूर्णता का आधार बन सकता है। इस खोज के आधार में सूक्ष्म विचार एक ऐसी एकता तथा अखण्डता का विचार है जो या तो विरोधों को पीछे छोड़ देता है, या उनका संहार कर देता है या उनका समाहार कर देता है। इसी सूक्ष्म अनुभूति में हेगेल के परिपक्व दर्शन का पूर्वाभास देखा जा सकता है।

इस अनुभूति को एक संगठित तन्त्र में अभिव्यक्त करने का प्रयास हेगेल के एक लेख में मिलता है जो उसने 1800 में लिखा।[16] जिस पूर्णता तथा एकता की चर्चा हेगेल ने पहले की है, हेगेल उसे जैव, आंगिक अथवा सावयवी ईकाई के रूप में देखता है। अंगी तथा उसके अंगों का परस्पर सम्बन्ध इस समस्या को उजागर करता है कि कैसे विरोध उत्पन्न होते है तथा कैसे उनका समाहार होता है। जिस प्रकार के तत्वमीमांसीय विरोधों के विषय में हेगेल अब विचार करता है उनमें पूर्ण और खण्ड, समष्टि, और विशिष्ट वस्तुएँ, असीम तथा ससीम, अपरिमित तथा परिमित आदि आते हैं। जैसा हम आगे देखेंगे दर्शन के पूर्ववर्ती इतिहास का स्वरूप एक दृष्टि से ऐसे ही विरोधों में उलझा हुआ है, और हेगेल अपने चिन्तन की सामाग्री को अपनी मौलिक समस्या तथा ऐतिहासिक विरासत दोनों को एक साथ निर्धारित पाता है। वह अपने समकालिन विचारकों की अनुभूतियों से जूझता है और इस वैंचारिक तथा आध्यात्मिक संघर्ष के परिणाम स्वरूप अपने चिन्तन की दिशा को एक विलक्षण रूप में निर्धारित करता है।

जैसा क्रोनर (Kroner) का कथन हैं हेगेल के युवाकाल की कृतियां उसकी मेधा के ओज तथा उसके हृदय के मन्थन को व्यक्त करती हैं। उसके जीवन का संघर्ष एक ऐसी आन्तरिक शक्ति की खोज की ओर निर्देश करता है जो एक अत्यन्त विशाल तत्वमीमांसीय अवधारणा के द्वारा बुद्धि तथा आत्मा दोनों की प्यास का शमन कर सके।[17]

15. वही, पृ, 225
16. वही, पृ. 309-320
17. वही, पृ. 14

श्लोमों आविनेरी का मत है कि हेगेल के ईसाई धर्म सम्बन्धी निबन्ध केवल धर्म की समस्या से ही सम्बन्धित नहीं हैं। आविनेरी की द्रष्टि से उनका परिवेश व्यापक है तथा उसमें राज्य तथा समाज सम्बन्धी चिन्ताओं का भी समावेश है। यहां यह भी स्मरणीय है कि यह लगभग वही समय था जब युरोप के प्रबुद्ध विचारक फ्रान्सीसी क्रांति सेभी अत्यधिक प्रभावित थे। हेगेल इस प्रभाव से मुक्त नहीं था। परन्तु जहां हेगेल फ्रान्सीस क्रांति को मूल मानवीय अधिकारों के उद्घोष के रूप में देखता है, वहां साथ ही उससे संलग्न आतंक के प्रति भी वह चिन्तित था। प्रश्न यह था कि ऐसी कौनसी व्यवस्था हो सकती है, जिसमें व्यक्ति की आत्मगरिमा तथा उससे सम्बन्धित मूल अधिकार भी सुरक्षित रहें तथा सामाजिक विघटन से भी रक्षा हो सके। हेगेल के राजनैतिक विचारों पर लिखने वालों ने इस ओर विशेष ध्यान दिलाया है कि हेगेल अपने समय की राजनैति स्थिति के प्रति कितना जागरूक था तथा व्यक्ति तथा समाज के परस्पर ऐक्य की मूलचिन्ता पर सोचते हुए, वह कैसे उसे तत्वमीमांसीय सन्दर्भ में ही समाधेय मानता है।[18]

निकट पूर्ववर्त्तियों में कान्ट के अतिरिक्त हेगेल पर फिश्टे तथा शैलिग का भी प्रभाव था। परन्तु जिस प्रकार हेगेल कान्ट के प्रभाव से मुक्त हो कान्ट के दर्शन को अपनी मौलिक दृष्टि से आंकता है, वैसे ही कालान्तर में वह फिश्टे तथा शैलिग के दर्शन का भी अतिक्रमण करता है। जिस बौद्धिक सांस्कृतिक परिवेश में फिश्टे तथा शैलिग का चिन्तन चल रहा था वह रूमानियत का युग समझा जाता है फिश्टे के विचारों में प्रबोध-काल तथा रूमानियत दोनों का प्रभाव परिलक्षित किया जाता है। उसके शिष्य शैलिग में रूमानियत[19] का चरम रूप व्यक्त होता ह। जहां तक एक समष्ट्यात्मक एकात्मकता की खोज का प्रश्न है, हेगेल को रूमानियत से

---

18. इस सम्बन्ध में निम्नलिखित पुस्तकें द्रष्टव्य हैं :
आइडियलिज्म, पॉलिटिक्स एण्ड हिस्ट्री, जी. ए. कैली, (केम्ब्रिज) 1969
हेगेल्स पोलीटिकल फिलॉसोफि, जेड. पोलिस्की, (केम्ब्रिज), 1971)
हेगेल्स थ्योरी ऑव मार्डन स्टेट, श. आविनेरी
हेगेल, रेमन्ड प्लान्ट, (अन्विन बुक्स. 1973)

19. रूमानियत के दृष्टिकोण से जीवन तथा विचार के क्षेत्रों के बीच जो रेखा खींची जाती है, उससे उसकी अवहेलना होती है, उसके अनुसार कविता तथा दर्शन के क्षेत्र एक दूसरे से अलग नहीं हैं, कल्पना तथा यथार्थ के बीच भेद करना मुश्किल है, कर्त्ता तथा दृष्टा, दैवी तथा मानवीय, स्वप्न तथा जागृत के क्षेत्रों को रूमानी दृष्टि यदि अभिन्न नहीं तो भिन्न भी नहीं मानती। रूमानियत को मानने वाला इन सभी क्षेत्रों के आधार में एक ही आधारभूत एकता के सिद्धान्त को मानता है। वह एक ऐसे सार्वभौमिक विज्ञान की कल्पना करता है जो विज्ञान, धर्म, मनोविज्ञान, भौतिक सभी को एक आंगिक रूप में समाहित करेगा। कुछ लोगों ने इस लक्ष्य की पूर्ति के निमित्त प्रकृति की काव्यमयी व्याख्या की तो कुछ ने नीति को भौतिकी के अनुकूल लिया और कुछ अन्यों ने धर्म को कविता के अनुकल लिया।
—देखिए•••थियलोजिकल राइटिंग्स, पृ. 15

प्रभावित माना जा सकता है, परन्तु उसकी पूर्ति वह रूमानियत से हटकर ही करता है। रूमानियत से प्रभावित विचारक जीवन सम्बन्धी विभिन्न पक्षों में अन्तिम अलगाव को अस्वीकार करते हैं, परन्तु इस अनुभूति की अभिव्यक्ति के लिए वे बिम्बात्मक तथा काव्यमयी भाषा का एवं विरोधाभासी उक्तियों का आश्रय लेते है। इसके विपरीत हेगेल यह दिखाने का प्रयास करता है कि भेद तथा अलगाव तार्किक विश्लेषण के सामने भी नहीं ठहरते। अपने प्रथम परिपक्व ग्रन्थ[20] की भूमिका में ही उसने रूमानियत की सीमा का भी दिग्दर्शन करा दिया है तथा वहीं शैलिग से उसका मतभेद भी स्पष्ट हो जाता है। रूमानी कवियों के प्रभाव में शैलिंग ने अपने प्रकृति दर्शन के चरम को प्रत्ययनात्मक (स्पैक्यूलेटिव) सौन्दर्यशास्त्र में। देखा परन्तु हेगेल ने सौन्दर्य को केवल कलात्मक अथवा सर्जन के परिप्रेक्ष्य में ही नहीं अपितु नैतिक तथा धार्मिक सिद्धान्त के रूप में ग्रहण किया। प्रश्न यह उठता है कि सौन्दर्य अथवा प्रेम को बौद्धिक स्तर पर किस प्रकार ग्रहण किया जाय ? जैसा हम आगे देखेगे जिस रूप में याकोबी तथा शैलिंग अनुभूति 'को स्वीकार करते हैं, उस रूप में हेगेल उसे स्वीकार नहीं करता। साथ ही वह विश्लेशणात्मक बुद्धि के एक ऐसे स्तर की कल्पना करता है जहां विश्लेषणात्मक बुद्धि का अतिक्रमण भी होता है विरोधाभास का संहार होता हैं तथा जहां विचार तथा सत् की अखण्डता तथा अभिन्नता का निरूपण होता है।

शैलिंग का विचार था कि समग्र सत्ता अहं तथा प्रकृति के बीच विभक्त जान पड़ती है, फलतः समस्या उनके समन्वय की है। शैलिंग का विश्वास था कि यह समन्वय विश्लेषणात्मक बुद्धि के स्तर पर सम्भव नहीं है। इस स्तर पर बुद्धि अनिवार्यतया असमाधेय विरोधाभासों में फंस जाती है। उसे लगा कि यहां केवल सहजानुभूति का ही आश्रय लिया जा सकता है। परन्तु शैलिंग इस सहजानुभूति को बौद्धिक भी कहता है। हेगेल समस्या तथा समाधान दोनों को भिन्न रूप में देखता है। समस्या वस्तुतः दिव्य तथा मानवीय, आत्मा तथा मनस् के समन्वय की नहीं है। समाधान बुद्धि और सहजानुभूति के किसी समन्वयात्मक रूप से नहीं अपितु स्वयं बुद्धि के अतिक्रमित रूप से ही प्राप्त हो सकता है। इस परिप्रेक्ष्य में हेगेल को फिश्टे का यह मानना अधिक सौम्य लगता है कि वांछित समन्वय संभव नहीं है। फिश्टे ने अहं को प्रकृति से ऊपर माना। उसके मत में अहं को विषय या वस्तु के रूप में नहीं, अपितु परमहं के रूप में देखना चाहिए। यद्यपि अहं को विषयिता स्वयं उसके तथा विषयता के बीच समन्वय का माध्यम बन सकती हैं परन्तु इस बिन्दु को फिश्टे उसकी चरम तक नहीं ले जाता, फलतः अहं तथा अनहं द्वैत बना रहता है। परन्तु हेगेल अपरिहार्य द्वैत की उस स्थिति को स्वीकार नहीं कर पाता, न ही शैलिंग की अभेद की अवधारणा उसे आकर्षक लगती है। हेगेल

20. फिनॉमिनॉलोजि ऑव माइन्ड : अनु. जे. बी. बेली, (संशोधित संस्करण लन्दन, 1931)

कान्ट की भांति फिश्टे के असीम अहं के विषय में कोई निपरूण देने को तैयार नहीं है। फिश्टे कि भाँति हेगेल द्वैत की वास्तविकता को तो मानता है तथा ससीम अहं के इस द्वैत के परिहार के सतत प्रयास के महत्व को भी स्वीकार करता है, परन्तु उसकी दृष्टि में असीम अहं बोध से नितान्त परे नहीं है। दूसरी और शैलिंग के साथ वह समन्वय की आधारभुत एकता के सिद्धान्त को भी मानता है, परन्तु वह इस सिद्धान्त को बोध के भिन्न रूप में ग्रहण करता हैं। "यदि हम विचार में केवल आकारिक तत्व पर ही सोचें तथा ज्ञान के समन्वय से मात्र विश्षलेषणात्मक रूप में चिपके रहें, तब विरोधोक्ति आतमघाती व्याघात ही सत्य एवं ज्ञान की सर्वोच्च आकरिक अभिव्यक्ति होगी।"[21]

सामान्य रूप में यदि यह कहा जाय कि कान्ट के बाद से जर्मन प्रत्ययवाद का विकास बुद्धि के क्रमिक प्रगतिशिल आत्मान्वीक्षण की विभिन्न अवस्थाओं की अभिव्यक्ति के रूप में हुआ तो कदाचित् अधिक गलत नहीं होगा। जिस रूप में कान्ट ने बुद्धि को स्वीकारा वह उसका विश्लेषणात्मक पक्ष ही था, परन्तु यह भी स्मरण रखना होगा कि व्यावहारिक बुद्धि को उसने अधिक महत्व दिया। यदि कान्ट के दर्शन के विषय में, बाद की चिन्तन धारा के सन्दर्भ को अलग रखकर तथा उसके तीनों प्रमुख ग्रन्थों को ध्यान में रखकर सोचें, तब यह कहना ठीक नहीं नहीं होगा कि कान्ट ने बुद्धि को केवल विश्लेषणात्मक रूप में ही स्वीकारा है। तीनों ही क्रिटिकों में बुद्धि के लिए 'फेर्नू न्फट्' (Vernunft) शब्द का प्रयोग हुआ है, जो विश्लेषणात्मक बुद्धि से, जिसे 'फेश्टान्ड' कहा गया है, भिन्न है। शुद्ध बुद्धि मीमांसा में बुद्धि की एकता' की सतत मांग तथा आदर्श प्रत्ययों (रेग्यूलेटिव आईडीयाज) की अवधारणा बुद्धि के संश्लेषणात्मक पक्ष की परिचायक है। इस पर भी कान्ट के फेर्नू न्फट तथा हेगेल के 'फेर्नू न्फट' को एक कहीं कहा जा सकता कान्ट तथा हेगेल का बुद्धि शब्द का प्रयोग ज्ञान की अलग-अलग अवधारणा के कारण अलग अलग हो जाता है। फिश्टे के सिद्धान्त में व्यावहारिक पक्ष विषयिता के परम सिद्धान्त के रूप में परिणत हुआ। शैलिंग व्यावहारिक तथा रसात्मक के महत्व को स्वीकार करते हुए भी, फिश्टे के विरुद्ध प्रकृति को एक ऐसे रूप में ग्रहण करता है जिससे आत्मा की अभिव्यक्ति होती है। हेगेल इन सभी पक्षों को ग्रहण करता है और परम के एक ऐसे दर्शन को प्रस्तुत करता है जिसमें विषयीनिष्ठ तथा विषयनिष्ठ, संवेदन तथा बुद्धि, सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक, सभी को परस्पर विरोधी होते हुए भी अनिवार्य रूप में लिया गया है, जो सम्पूर्ण की गत्यात्मकता, मूर्तता तथा उसकी प्राणवत्ता में योगदान करते हैं।

स्वयं बुद्धि का अन्वीक्षण करना, तत्वमीमांसा के युक्ति-युक्त आधार की खोज करना, उन सिद्धान्तों का निगमन जो अनुभव की सम्भावना का आधार है, कान्ट

---

21. थियलॉजिकल राइटिंग्स, में पृष्ठ 27 पर उद्धृत

के समीक्षात्मक दर्शन के महत्पूर्ण बिन्दु हैं। परन्तु हेगेल की दृष्टि से, कान्ट का अन्वीक्षण इस दृष्टि से असफल रहा कि वह बुद्धि की आंगिक इकाई को परिलक्षित नहीं कर पाया। "कान्ट के दर्शन का दोष यह है कि परम प्रत्यय (आइडिया) के विभिन्न पक्ष इसमें बिखर जाते हैं।"[22] फलतः बुद्धि केवल विश्लेषण तक सीमित रहती है, तथा नितान्त आकारगत सिद्धान्त होने के कारण विषय-शून्य होती हें। फिश्टे ने एक ऐसे सिद्धान्त को खोजने का प्रयास किया जिससे अनुभव तथा बुद्धि की विभिन्न अवस्थाओं को निगमित किया जा सके, परन्तु इस सिद्धान्त की सक्रियता के रूप में अहं तथा अनहं के बीच जो द्वैत उत्पन्न होता है वह अपरिहार्य रहता है तथा परमहं का स्वरूप अन्ततः अनुभव के परे रहता है।[23] शैलिंग विषय, अनहं अथवा प्रकृति को उपयुक्त स्थान देता है परन्तु जिस रूप में वह एकता को स्वीकार करता है उस रूप में व्यक्तित्व अथवा व्यक्तियों के बीच भेद के लिए कोई स्थान नहीं रहता। फलतः दोनों के सिद्धान्त एकांगी रहते हैं। फलतः हेगेल के सम्मुख जो समस्या थी वह असीम के रूप में एक ऐसी समग्रता को प्राप्त करना था जिसमें बुद्धि का उदात्तीकरण, शैलिंग के भेदरहित अभेद या तादात्म्य, फिश्टे की एकांगी विषयिता आदि के लिए उपयुक्त स्थान का निदेश हो सके तथा उनमें निहित तत्व की अभिव्यक्ति संभव हो।[24]

यहाँ यह ध्यातव्य है कि उपर्युक्त निरूपण उसी रूप में दिया गया है, जिस रूप में वह स्वयं हेगेल को ग्राह्य है। यहां पर यह आपत्ति अप्रासंगिक होगी कि हेगेल की इन विचारकों की समझ किस सीमा तक सही थी। प्रश्न यह है कि अपने पूर्ववर्तियों को हेगेल किस रूप में ग्रहण करता है तथा इससे किस प्रकार उसकी अपनी समस्या तथा उसके समाधान पर प्रकाश पड़ता है।

हेगेल कान्ट के इस प्रश्न को पुनः उठाता है कि दर्शन को किस सीमा तक ज्ञान (सायन्स) कहा जा सकता है। ज्ञान से हेगेल का अर्थ सत्य की खोज नहीं अपितु स्वयं सत्य था। **फेनामेनोलोजि** में हेगेल ने कहा है "दर्शन को ज्ञान के रूप के निकट लाना उस स्थिति में जहां वह ज्ञान के प्रति लगाव (लव) न रहकर स्वयं वस्तुतः ज्ञान हो-यह मेरा लक्ष्य है।"[25] उसके लिए दर्शन एक ऐसे व्यवस्थित ज्ञान का रूप रखता है जिसका अन्तर्विषय सामंजस्यपूर्ण तथा सामान्य रूप में विकसित होता है, जिसमें समग्र अन्यत्व तथा विशिष्टत्व का संहार हो जाता है तथा जो पूर्ण आत्मोत्कर्ष के रूप में अपने चरम पर पहुंच जाता है। इस विकास की अनिवार्यता संबोध की उस प्रकृति में निहित है जो ज्ञान का अन्तस्थल है। इस अनिवार्य विकास

22. हिस्ट्री ऑव फिलॉसोफि, खण्ड तीन, पृ. 478
23. वही।
24. वही, पृ 516
25. ····फिनॉमिनॉलोजि····पृष्ठ 70

में प्रत्येक अनुवर्ती अवस्था पुर्ववर्ती अवस्था का परिणाम है : न केवल वह पूर्ववर्ती अवस्था का अतिक्रम है, अपितु साथ ही उसका संहार एवं संरक्षण भी है। एक बहुत उद्धृत वाक्य में हेगेल ने कहा है कि इस आभ्यान्तरिक विकास की अन्तर्वस्तु अपने को आत्मचेतना में अभिव्यक्त करती है।[26] अन्तिम सत्य को केवल द्रव्य नहीं अपितु विषयी के रूप में देखना चाहिए। अन्य शब्दों में परमसत् जड़वत्, मृत अथवा निष्क्रिय न होकर असीमजीवन तथा आध्यात्मिकता से युक्त है।

उपर्युक्त आभ्यान्तरिक विकास को हेगेल ने दर्शन के स्वरूप की अवधारणा के रूप में भी ग्रहण किया है और तब उसे आभ्यान्तरिक चिन्तन कहा है। इस रूप में इस चिन्तन को बाह्य चिन्तन से अलग रखना चाहिए।[27] अर्थात यह ऐरिस्टॉट्ल के शब्दों में अपने विषय में चिन्तन करता हुआ चिन्तन' कहा जा सकता जों किसी अन्य के द्वारा नहीं किया गया है, परन्तु ऐरिस्टॉट्ल के मत से हेगेल का मत इस अर्थ में भिन्न है कि हेगेल ने चिन्तन को एक परा-सत के रूप में न देख कर उसे अन्तर्वस्तु के रूप में देखने का प्रयास किया है। किसी व्यक्ति विशेष के द्वारा किया गया चिन्तन, काल-क्रम में घटने वाले प्रकृति तथा इतिहास के क्रम-इनको भी आभ्यान्तरिक चिन्तन से अलग मानना चाहिए। इसमें कोई सन्देह नहीं है कि समग्र डायलैक्टिक अथवा चित् (गाइस्ट) के अन्तर्विषय का उद्घाटन अँशत: मानवीय चेतना की वैचारिक कोटियों का नियमवत् विशेषीकरण है (तर्क), अंशत: प्राकृतिक विज्ञानों की व्याख्या है (प्रकृति), तथा अंशत: समग्र संस्कृति का नियमवत् (गाइस्ट-चित्) निरूपण है।

आभ्यान्तरिक चिन्तन क्रम में तथा कालक्रम में घटित घटना क्रम में आद्योपान्त समकक्ष सम्बन्ध देखना ठीक नहीं होगा। तब इस सम्बन्ध को किस प्रकार देखा जाय यह हेगेल-दर्शन के विद्यार्थी के लिये एक विकट समस्या है। इस सन्दर्भ में निम्नलिखित बातों पर ध्यान देना आवश्यक लगता है :

1. **देश** तथा **काल** प्रकृति के अन्तर्गत आने वाली दो आरम्भिक कोटियों के सूचक हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि इन कोटियों के पूर्व आने वाला डायलैक्टिक का अंश देशकाल के सम्बन्धों से अलग मानना होगा। दूसरे देश-काल की कोटियों के बाद का डायलैक्टिक का अंश देश-काल के सन्दर्भ से प्रभावित नहीं माना जा सकता। परन्तु इस सन्दर्भ में शेष कोटियों को किस रूप में ग्रहण किया जाय यह निश्चय करना कठिन है।
2. विषय-चित् (आब्जेक्टिव स्पिरिट) की अन्तिम अवस्था के रूप में विश्व-इतिहास की कोटि आती है। इनसाइक्लोपीडिया में इस कोटि

---

26. ···हिस्ट्री ऑव फिलॉसोफि, खण्ड एक, पृ. 25
27. द सायंस. ऑव लौजिक, अनु. डब्ल्य एच. जॉन्स्टन तथा एल. जी. स्ट्रूथर्स, खण्ड एक पृष्ठ 36 (लन्दन 1929)

के सन्दर्भ में हेगेल इतिहास के कालिक सन्दर्भ को तो स्वीकार करता है, परन्तु वहां वह काल में घटी घटनाओं पर ठीक उसी प्रकार ब्योरेवार विचार नहीं करता जिस प्रकार इतिहास के दर्शन पर दिये गये अपने व्याख्यानों में। इतिहास के सम्बन्ध में दार्शनिक दृष्टि की चर्चा करते हुए दो महत्वपूर्ण विन्दुओं का उल्लेख हुआ है। प्रथम तो यह कि इतिहास के क्रम को एक ऐसे अनिवार्य क्रम में देखा जाना चाहिए जिसमें बुद्धि की यौक्तिकता व्यक्त होती हो, तथा दूसरे इतिहास के लक्ष्य के रूप में यह स्पष्ट होना चाहिए कि वह अन्ततः स्वाधीनता की ही आत्मकथा है।

3, दर्शन के इतिहास पर व्याख्यान देते समय हेगेल ने ऐसे अवसरों को स्वीकार किया है जब प्रकृति की आकस्मिकताओं तथा किन्हीं विशिष्ट घटनाओं के कारण यह लगे की बुद्धि अपने राजमार्ग से हट गई हो।

इन बातों को ध्यान में रखते हुए यह मानना अधिक युक्तियुक्त लगता है कि डायलैक्टिक चेतना, प्रकृति, इतिहास, संस्कृति आदि से केवल उसी सीमा में सम्बद्ध है जिस सीमा में वे चित् अथवा बुद्धि की संयोजना के अन्तर्गत ग्रहीत है। क्योंकि अर्थ तथा महत्व की कोटियाँ संयोजना-सापेक्ष हैं, अतः चित्त के आत्मोत्कर्ष को आदर्श की उस आत्मकथा के रूप में ग्रहण किया जा सकता है जो यथार्थ या वास्तविकता का चित्र प्रस्तुत करती हो।

हेगेल के लिए यह एक आधारभूत मान्यता है कि परिणाम तथा प्रक्रिया सिद्धान्त-तन्त्र तथा व्यवहार पक्ष एक हीं सिक्के के दो पक्ष है.-जो वास्तविक विषय है उसकी इतिश्री उसके उद्देश्य में ही नहीं अपितु उसकी अन्तर्वस्तु की अभिव्यक्ति में होती है "....उद्देश्य मात्र अपने में निष्प्राण सामान्य है वैसे हीं जैसै कोई अनिर्धारित वेग किसी ऐसी दिशा में होने वाली क्रिया मात्र हो, जो मूर्त रूप में चरितार्थ न हो पाई हो। मात्र परिणाम तन्त्र के उस शव के समान है, जिसको अनुप्राणित करने वाली प्रेरणा उससे अलग पीछे छूट गई हो।"[28]

"क्योंकि आकार तत्व के लिए उसी प्रकार आवश्यक है जैसै तत्व उसके (आकार के) लिए परम सत् को केवल तत्व के रूप में न तो सोचना चाहिए और न ही व्यक्त करना चाहिए।"[29] "किसी विषय का इतिहास उस विषय के सम्प्रत्यय से अनिवार्यता घनिष्ठ रूप में सम्बद्ध होता है।"[30] यदि परम-आत्म अथवा परम प्रत्यय की कल्पना उसके विकास से अलग करके की जाय तो वह एकांगी होगी।

28. द फिनॉमेनॉलोजि....पृ 69
29. वही पृष्ठ 81
30. हिस्ट्री ऑव फिलोसोफि, खण्ड 1. पृ. X V.

दोनों को ही ग्रहण करने से चित् का स्वरूप ठीक प्रकार ग्रहण किया जा सकता है। चित् के विकास की समझ चित् के ग्रन्तर्विषय की समझ हैं ।[31] वस्तुतः हेगेल का बल प्रक्रिया पर ग्रधिक है क्योंकि उसकी दृष्टि में परिणाम, तन्त्र की समग्र प्रक्रिया के ग्रतिरिक्त ग्रौर कुछ नहीं है ।[32]

इन दोनों पक्षों की पुर्णता को नहीं देख पाने के कारण कान्ट बुद्धि के ग्राकारवाद से ग्रागे नहीं जा सका। ज्ञान की सावयवी विशेषता पर उसका ध्यान नहीं गया। हेगेल के मत में, कान्ट तथा फिश्टे की विचार स्थिति केवल विषयी-चिन्तन ग्रथवा ग्रमूर्त सामान्यत्व की थी। निषेध तथा ग्रन्य को समाहित न करने के कारण उनका विचार तन्त्र निष्प्राण रहा। दूसरी ग्रौर स्पिनोजा ने ग्रात्म-चेतना को द्रव्यत्व की कल्पना पर बलि चढ़ा दिया, परन्तु ग्रात्म-चेतना से शून्य, द्रव्य की कल्पना एक निष्प्राण धारणा थी। शैलिंग ने इन दोनों पक्षों को एक सम्पुर्ण के रूप में ग्रहण करने का प्रयास किया, परन्तु वह विचार के उपयुक्त स्तर तक नहीं पहुँच सका। क्योंकि उसने विचार तथा सहजानुभूति में भेद नहीं किया। सहजानुभूति तो ग्रव्यवहित स्थिति का प्रथम चरण है, उसये ग्रात्मचिन्तन का क्षण ग्रभी ग्रप्रकट है।

हेगेल का विचार था कि उसका विचार-तन्त्र इत दोनों दोषों से मुक्त है। वह ऐसा सावयवी सम्पूर्ण है जिसमें प्रत्येक ग्रंग का ग्रावश्यक स्थान है। सत, सत्य ग्रथवा ग्रात्मा एक समष्टि है, तथा प्रत्येक विचार-निर्धारण (डेकबेस्टिमुंग) ग्रथवा कोटी उस परम की ग्रात्म-परिभाषा है ।[33] इन विचार कोटियों को विश्लेषणात्मक (फेर्शटाण्ड) स्तर पर गृहण करने के प्रयास में ग्रर्थात् उन्हें पूर्ण से ग्रलग तथा परस्पर ग्रलग करके देखने के प्रयास में बुद्धि पहेलियों तथा विरोधाभासों में फंस जाती है। सत ग्रथवा यथार्थ का सही बोध प्राप्त करने के लिए यह ग्रावश्यक है कि बुद्धि के संश्लेषणात्मक (फेर्न्यूनफट) स्तर को ग्रपनाया जाय ।[34] ग्रौर ऐसा प्रतीत होता है कि बुद्धि के विश्लेषणात्मक स्तर तथा उसके संश्लेषणात्मक स्तर का भेद दृष्टि का भेद है। हेगेल की दृष्टि में सत्य का सम्पूर्ण के रूप में बोध तथा बुद्धि का संलेषणात्मक स्तर परस्पर सम्बद्ध हैं। फलतः यदि यह जिज्ञासा की जाय कि बुद्धि में संश्लेषणात्मक स्तर को विश्लेषणात्मक स्तर से कैसे ग्रलग किया जाय तो कदाचित् यही कहना होगा कि संश्लेषणात्मक सत्य का स्वरूप एक विशेष रूप में प्रकट होता है।

---

31. वही, पृ. 4
32. द लॉजिक ग्रॉव हेगेल, ग्रनु. डब्ल्यू, वॉलेस, परिच्छेद 237
33. द सायंस ग्रॉव लौजिक, खण्ड एक, पृ. 61
34. द फिनोमेनॉलोजि.···पृ. 81

जो अव्यक्त है उसकी पूर्ण अभिव्यक्ति तथा जो शक्य है उसके पूर्णतया फलित के रूप में उद्घाटित होने के अतिरिक्त सम्पूर्ण और कुछ नहीं है। फलतः किसी संप्रत्यय के सत्य का मानदण्ड उस संप्रत्यय की स्व-संगति में सन्निहित है, न कि उस संप्रत्यय की किसी बाह्य अनुरूपता में। अतः ज्ञान प्राकृतः तन्त्रात्मक है। क्योंकि सत्य सम्पूर्ण है और तन्त्रवत् है, इसलिए केवल सम्पूर्ण का अध्ययन ही हमें तन्त्र की प्रत्येक अवस्था अथवा पक्ष का औचित्य प्रदान कर सकता है। इसका एक परिणाम यह भी है कि परम-आत्म के अपने विकास के अन्तिम चरण में पहुंचने के पूर्व उसके अथवा उसकें विकास की किसी अवस्था के विषय में कोई भी कथन सत्य की दृष्टि से तात्कालिक तथा सापेक्ष रूप में ही वैध होगा।

पहले यह कहा गया हैं कि परम-आत्म का तत्व तथा उसका विकास एक ही सिक्के के दो पक्ष है। इसके साथ ही यह भी ध्यातव्य हैं कि परम-आत्म अपने विकास के पूर्व भी है। अपनी पूर्ण शुद्धता में वह निज में पहले ही था। यहां जो आपाततः विरोध दीखता हैं वह दूर हो जाता है यदि यह ध्यान रखा जाय कि ये दो स्थितियां भिन्न दृष्टियों से सम्बद्ध हैं। तर्कतः आत्म अपने विकास के पूर्व है परन्तु वास्तविकता की दृष्टि से वह विकास से अभिन्न तथा उसके चरम पर पूर्णतया अभिव्यक्त होता है। कान्ट तथा फिश्टे की आलोचना करते हुए हेगेल कहता है कि सत् केवल कुछ ऐसा नहीं हैं जो केवल 'होना चाहिए। वह तो वस्तुतः है। यहां यह प्रश्न उठ सकता हैं, कि 'होना चाहिए' का फिर क्या कोई महत्व नहीं हैं? यदि है, तो उसे कैसे समझा जाय? इसका समाधान यह समझने पर मिल जाता है यदि सत् को उसकी मूर्त अवस्था में न लेकर उसके अमूर्त तथा अप्रकट रूप को ही ध्यान में रखें तो 'होना चाहिए' एक सार्थक मांग है। सत् की मूर्त तथा प्रकट अवस्था की दृष्टि से 'होना चाहिए' का स्पष्टतः कोई औचित्य नहीं ठहरता। इसके अतिरिक्त डायलैक्टिक की गति तब तक संभव नहीं होगी जब तक जो सत् अथवा यथार्थ है उसे पहले ही अवस्थित न माना जाय। जैसा मैक्टागर्ट ने कहा हैं, हेगेल की डायलैक्टिक को एक ऐसे अभिनव आन्दोलन के रूप में नहीं देखना चाहिए. जिसका पहले कोई आधार नहीं हो। अपितु उसे स्वयं बुद्धि के द्वारा बुद्धि के अन्तर्विषय की पुनः रचना के रूप में देखना चाहिए।[35]

पाठक लक्ष्य करेंगे की पूर्ववर्ती विचारकों से हेगेल का अन्तर मूलतः हेगेल की डायलैक्टिक के आधार पर किया जा सकता है। डायलैक्टिक का स्वरूप समझने के लिए हेगेल के कुछ कथन लें :

"सच्ची वास्तविकता आत्मभिन्नता को पुनः स्थापित करने की प्रक्रिया मात्र है, (वह) कोई मौलिक आद्य अथवा अव्यवहित एकत्व नहीं है।"[36]

---

35. स्टडीज इन हेगेलियन डायलैक्टिक, परिच्छेद 3 (द्वितीय संस्करण, कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी, 1922)
36. द फिनॉमेनॉलोजि, पृष्ठ 80–1

"वह जगत् का अन्तर-सत् है, जो तत्वतः है....वह वस्तुनिष्ठ तथा विशिष्ट रूप ग्रहण करता है तथा स्वयं से सम्बन्ध स्थापित करता है—(इस रूप में) वह बाह्यता (अन्यत्व) है तथा स्वयं के लिए है, परन्तु, इस विशेषीकरण में भी, तथा अपने अन्यत्व में भी वह स्वयं से एकात्म है—वह स्वयं में, एवं स्वयं के लिए तथा स्वतः पूर्ण दोनों एक साथ है। वह स्व-स्थित....प्राकृत अपने में (आनजिश) अव्यक्त है, आध्यात्मिक द्रव्य है। उसे अपने लिए (फ्युरजिश) तथा अपने ही कारण स्व-निष्ठ होना है। उसे आत्मा का ज्ञान होना चाहिए तथा स्वयं के लिए विषयरूप में उपस्थित होना चाहिए, परन्तु साथ ही उसे उस विषयनिष्ठ रूप का परिहार तथा अतिक्रमण करना है....इस प्रकार अपने अस्तित्व में इसे उस विषयरूप में अपना बोध है, जिसमें वह स्वयं ही प्रतिबिम्बित है। जब इस प्रकार विकसित रूप में चित् स्वयं को चित् के रूप में जान लेता है तब वह ज्ञान होता है। ज्ञान उसका चरितार्थ होना है, और जो राज्य वह स्वयं के लिए स्थापित करता है वह उसका सहजात तत्व है।"[37]

"यह समझने के लिए कि विकास क्या है, दो अवस्थाओं में अन्तर करना आवश्यक है। प्रथम को शक्यता, शक्ति के नाम से जाना जाता है, जिसे मैं स्वरूप-निष्ठ-सत् (पोटेन्शिया,डायनेमिस) कहता हूँ, दूसरा सिद्धान्त है स्वयं के लिए—सत्, वास्तविकता (ऐक्टस, इर्नजिया)। उदाहरणतः यदि हम कहें कि मनुष्य प्राकृतः प्रबुद्ध है, तो हमारा अर्थ होगा कि बुद्धि उसमें आभ्यान्तरिक रूप में है,अथवा भ्रूण रूप में है, इस अर्थ में बुद्धि, समझ, कल्पना तथा संकल्प का मनुष्य में होना जन्म से, या कहिए मां के गर्भ से ही माना जा सकता है। परन्तु बच्चे में क्षमताओं का होना अथवा बुद्धि की वास्तविकता की संभावना का होना, ऐसा ही है जैसे उसमें बुद्धि का नहीं होना। वह कोई बुद्धियुक्त कार्य नहीं कर सकता इसलिए उसमें बुद्धि नहीं है····।"[38]

इन उद्धरणों से एक ओर तो सत् तथा उसकी गत्यात्मकता की अभिन्नता का बोध होता है, तो दूसरी ओर गत्यात्मकता के स्वरूप का प्रकाशन भी होता है, जैसे किसी तने हुए तार को छेड़ने पर उसमें आन्दोलन होते हैं, वह अनेक स्थितियाँ ग्रहण करते हुए प्रतीत होता है तथा अन्ततः अपनी मूल स्थिति में पुनः स्थिर हो जाता है, वैसे ही आत्मा में मानो आन्दोलन होता है और उसे मानो, उसकी स्थिर स्थिति से अन्य स्थितियों में आन्दोलन होने के लिए बाध्य करता है तथा अन्ततः वह अपनी स्थिति में पुनः प्रत्यावर्तन करता है। अपनी आन्दोलनात्मक स्थिति में मानो वह अपने से कुछ और हो जाता है, अन्य का रूप धारण कर लेता है, स्वयं के जैसे बाहर चला जाता है—यह उसकी विषयरूप स्थिति है। स्पष्ट है कि यह स्थिति उसके जीवन की अवस्थाओं में अनिवार्य स्थान रखते हुए भी स्थायी ठहराव

---

37. वही, पृष्ठ 86
38. ····हिस्ट्री ऑव फिलोसोफि. खण्ड एक, पष्ठ 20–21. पृष्ठ 22-23 भी देखिए।

नहीं है। प्रवास से वापसी भी उतनी ही अनिवार्य है। अन्ततः वह अपने को पुनः पा जाता है। इन विभिन्न अधस्थाओं को स्थूल रूप में तीन क्षणों के रुप में लिया जा सकता है। हेगेल स्वीकार करता है कि वे कान्ट की कोटियों में अव्यक्त रुप में विद्यमान है।[39] परन्तु उन्हें सुनिश्चित व्यक्त रुप में–पक्ष प्रतिपक्ष तथा संपक्ष के रुप में, फिश्टे ने रखा और बाद में शैलिंग ने भी इन्हें अपने प्रकृति दर्शन में अपनाया।

सत् अथवा यथार्थ अथवा परम को आत्म-निरुपण अथवा इन तीन अवस्थाओं से गुजरना पड़ता है। सर्वप्रथम वह स्वयं को मात्र अभिन्नता के रुप में प्रतिष्ठित करता है–इस अवस्था में वह अव्यवहित तथा निरुपण से नितान्त शून्य होता है, अभी कुछ न होने के कारण तथा कुछ होने की प्रतीक्षा में होने के कारण वह अव्यक्त स्वरुप है। इस अवस्था को हेगेल ने स्वरुपनिष्ठ सत् कहा है। परन्तु परम इसी बिन्दु पर स्थिर नहीं रहता। वह, मानो, स्वयं को छोड़ देता है, विषय अथवा बाह्यता के रुप में अपना ही विरोध करता है। इस रुप में आत्मा का अन्तर्विषय स्वयं को समृद्ध करता है, वह मूर्तमान होता जाता है। परन्तु यह अन्तिम अवस्था नहीं है। जो भेद इस अवस्था में स्थिर तथा कठोर दीखते हैं, वे फिर शिथिल होने लगते हैं। तीसरे तथा अन्तिम चरण में ये भेद अतिक्रमित हो जाते हैं तथा अतिक्रमित अवस्था में समवेत रहते हैं, इस अवस्था में समस्त अन्यत्व का संहार हो जाता है। स्वरूपनिष्ठ सत् बाह्य विषय में अपनी ही विभिन्न अवस्थाओं को देखता है, तथा इस प्रकार स्वयं को आत्मनिरुपित पाकर अपने को चरितार्थ करता है। इस प्रकार बाह्यता अथवा अन्य से मध्यस्थता कर चित् या आत्मचेतना अपने पूर्ण मूर्त रूप को प्राप्त करता है। यहाँ सामान्य विशेष से मध्यस्थता कर व्यक्ति के रुप में, मूर्त सामान्य के रुप में, भेदों का अतिक्रमण कर जाता है। इस प्रकार चित् का विकास आत्म-चिन्तन अथवा आत्मजय में सन्निहित है।[40]

अभी जिन तीन अवस्थाओं की चर्चा की गई है इसी गिनती में बार-बार आती हैं। पक्ष तथा प्रतिपक्ष का विरोध जब संपक्ष में अतिक्रमित तथा समवेत हो जाता है, तब संपक्ष पुनः आरम्भिक तथा सरल स्थिति ग्रहण कर लेता है। ऐसा इसलिय होता है कि संपक्ष तथा पूर्ण के बीच की दूरी अभी पूरी तरह समाप्त नहीं हुई। हेगेल के शब्दों में "परम-चित् जो समग्र सत् का मूर्त साकार अन्तिम तथा परम सत्य है, वह अपने उत्कर्ष के अन्त में स्वच्छन्द रुप में अपना अतिक्रमण कर जाता है तथा अव्यवहित सत् का रूप अपना लेता है, वह उस जगत् की सृष्टि के लिए कृतसंकल्प होता है जिसमें अन्त तक पहुँचने के पूर्व ही समस्त विषय विद्यमान

39. द फिनॉमिनॉलोजि···पृष्ठ 107
40 वही, पृष्ठ 96

हों, और वह सब इस अनुलोम स्थिति के कारण, अपने आरम्भ सहित किसी ऐसी अवस्था में परिणित हो जाता है जो साध्य पर आश्रित है, क्योंकि साध्य ही तो सिद्धान्त है। ज्ञान के लिए केवल वह ही आवश्यक नहीं है कि मात्र अव्यवहित होना ही आरम्भ हो, अपितु यह भी आवश्यक है कि ज्ञान अपनी समग्रता में एक ऐसा वृत हो जो स्वयं अपनी आरम्भिक स्थिति में प्रत्यावर्तन करे, जहां प्रथम अन्तिम हो तथा अन्तिम प्रथम हो।"[41] इस प्रकार आरम्भ अन्त है तथा अन्त आरम्भ। यह प्रक्रिया स्वयं से ही आरम्भ होकर स्वयं से सुसंवादित होते हुए अनन्त रूप में चलती रहती है।

इन तीनों अवस्थाओं के अनुक्रम के रूप में डायलैक्टिक की प्रक्रिया की गत्यात्मकता का आधार वह निषेधात्मकता है, जो चित् के सत् का मर्म है।[42] "चित् मृत्यु से बचने का प्रयास नहीं करता, न ही वह विध्वंस से बचकर चलता है, मृत्यु उसका जीवन है और उसी में वह अपने को बनाए रखता है।"[43] विचार का उद्यम अपने निषेध, तथा पुनः इस निषेध के निषेध में सन्निहित है, परन्तु यह प्रक्रिया साधरण भौतिक मृत्यु से बहुत अलग बात हैं। अतः हेगेल के कथन को रूपकात्मक रूप में ग्रहण करना ही ठीक होगा। स्पष्ट हैं कि हेगेल की दृष्टि से निषेध संबोध (नोशन) के उत्क्रम या विकास के लिए आवश्यक है। नोशन अथवा संबोध से, इस सन्दर्भ में, अपनी परम अवस्था की ओर उन्मुख चित्, यह आशय लेना चाहिए। परन्तु निषेध को इस उत्क्रम से अलग करके देखना ठीक नहीं हैं। सम्पूर्ण से अलग कर लेने पर, निषेध मिथ्या एवं अशिव के रूप में प्रकट होता हैं। यदि ज्ञान अपने प्रत्यय के अनुरूप नहीं है, तो वह ज्ञान नहीं अज्ञान होगा। परन्तु ज्ञा न की समष्टि मूलक प्रक्रिया में यह अनुरूपता भी एक आंशिक स्थान रखती है। जैसा पहले कहा जा चुका हैं चित् में स्वयं भेद विद्यमान हैं जिसे विसंवादिता के रूप में देखा जा सकता है। इसीके कारण चित् में आन्दोलन होता हैं तथा सुसंवाद्‌य रूप में मूर्तिमान होने की उत्कण्ठा उत्पन्न होती हैं। फलतः मिथ्यात्व मिथ्या के रूप में सत्य का अंग नहीं रहता।"[44] कदाचित् हेगेल का आशय यह हैं कि मिथ्यात्व, मिथ्यात्व के रूप

---

41. द सायंस ऑव लॉजिक, खण्ड एक पृष्ठ 83
42. मार्टिन हाइडैगर ने असतता (नथिंग्नैस) तथा उसकीं निषेधात्मकता को पुनः केन्द्रीय स्थान दिया है। ये दोनों ही अवधारणाए अन्तिम सत् की ओर निर्देश करती हैं, परन्तु दोनों में भेद है। हाइडैगर की दृष्टि में अन्तिम यथार्थ अथवा शून्य का साक्षात्कार आंग्स्ट की मनोदशा में होता है। यह न तो संवेगात्मक अवस्था है, और न ही किसी विशिष्ट विषय का भय। परन्तु किसी रूप में, विशेषकर बुद्धि से पृथक माना जाने के कारण यह रागात्मक रूप रखता प्रतीत होता है। हेगेल में, इसके अतिरिक्त निशेधात्मकता की अवधारणा मूलतः प्रत्ययात्मक संक्रिया (फंकशन) है।
43. द फिनॉमिनॉलोजि······पृ. 93
44. वही, पृ. 88–89, 105

में सत्य का अंग नहीं है, परन्तु सत्य से अन्य के रूप में यह उसका अंग हैं। परन्तु इसका क्या अर्थ हो सकता हैं ? क्या यह 'अन्य' मिथ्यात्व नहीं हैं ? हेगेल का मत है कि यह प्रश्न तब उत्पन्न होता है जब जल तथा तेल के मिश्रण सदृश किसी यौगिक का विश्लेषण किया जाय–इनका सम्बन्ध आंगिक न होकर बाह्य होता हैं। हेगेल का दावा है कि मूर्त-सामान्य (कौंक्रीट यूनिवर्सल) भेद को इस प्रकार समाहित कर लेता हैं कि वह उसके बहिर्गत नहीं रहता।[45] साथ ही भेद के रहते हुए भी भिन्न क्षणों में 'उसी' का बोध बना रहता है।

जैसा ऊपर उल्लेख हुआ है, निषेध डायलैक्टिक का प्राण हैं। मात्र आरम्भ की अवस्था में, सत् स्वयं को एक ऐसे अमूर्त सामान्य के रूप में प्रतिष्ठित करता है, जो नितान्त अविशेषीकृत है। जो कुछ भी अन्य है उससे उसका पूर्ण विरोध हैं। वस्तुतः वह स्वयं में कुछ नहीं हैं, क्योंकि वह पूर्णतया अविशेषीकृत तथा रिक्त हैं। हेगेल के शब्दों में "ज्ञान मात्र से केवल इस निषेधात्मक विशेषीकरण का ही बोध होता हैं कि आरम्भ रिक्त आरम्भ है।"[46] स्पष्ट है कि आरम्भ की यह अवस्था नितान्त रिक्त होने के कारण वह संबोध अथवा चित् से बहुत कम अनुरूपता रखती है। फलतः वह अपने अन्य में संक्रमित हो जाती है। अन्य के रूप में वह अपना निषेध करता है तथा प्रतिपक्ष के रूप में स्वयं ही अपना विरोध करता है। सत् के इस निषेध का अर्थात् अपनी इस नितान्त रिक्त एवं अविशेषीकृत अवस्था का, परिणाम उसका असत् में संक्रमित हो जाता है। दूसरी ओर असत् अथवा कुछ नहीं होना भी तो किसी अर्थ में विशेषीकरण है, फलतः असत् सत् में संक्रमित हो जाता हैं। इस प्रकार निषेध का निषेध, विधि रूप में परिवर्तित हो जाता हैं। दोनों एक दूसरे में संक्रमित हो जाते हैं, और इस प्रकार दोनों के विरोध का समन्वय या उदात्तीकरण एक तीसरी अवस्था –भवति–(बिकमिंग) में हो जाता हैं, जहां वे अपनी प्रत्ययात्मक एकता को पा लेते हैं, तथा उनका आपसी भेद स्वरूपतः परिवर्तित हो जाता है।[47]

इस प्रकार एक अवस्था का दूसरी अवस्था में परिणत होना आत्म-अतिक्रम अथवा निषेध है। निषेध तथा व्याधात घनिष्ठ रूप में सम्बद्ध है। दो अवस्थाओं के बीच जो व्याधात दीखता है, वह विचारकोटि की अंशगतता के, उसके आत्म-अतिक्रम, तथा आत्म-निषेध के लिए उद्यत होने के कारण होता है। इस प्रवृत्ति की चिरन्तन सक्रियता के कारण ही चित् वास्तविकता को प्राप्त करता है। एडउर्ड हार्टमैन के विरुद्ध मैक्टागर्ट का विश्वास था कि व्याधात को डायलैक्टिक के परिणाम

45. वही, पृ. 165
46. वही, पृ. 94, देखिए प. 82 भी।
47. वही, पृ. 94-95

रूप में नहीं अपितु उसे उसके कारण के रूप में देखना चाहिए।[48] मूर्त की अपेक्षा से अव्यवहित की, तथा सम्पूर्ण की अपेक्षा से खण्ड की, अनुपयुक्तता डायलैक्टिक को गति प्रदान करती है। मैक्टागर्ट ने साथ ही यह भी माना है कि निषेध का स्थान डालैक्टिक में गौण हैं क्योंकि अनुवर्ती कोटि वस्तुतः पूर्ववर्ती कोटि का निषेध नहीं करती, वह तो स्वयं निषिद्ध कोटि है।[49] प्रतिपक्ष में पक्ष का नाश नहीं हो जाता, वह अन्य से परिपूरित होकर अधिक समृद्धि प्राप्त करता हैं। यहां पर स्मरणीय है कि हेगेल के लिए निषेध निरपेक्ष रूप में निषेध नहीं है, अपितु किसी पूर्ण में किसी अंश का निषेध है। यही नहीं वह विशेषीकरण भी है। "निषेध जितना अस्वीकार हैं उतना ही 'स्वीकार' भी है।"[50] इस दृष्टि से देखने पर यह कहा जा सकता है कि निषेध हेगेल की डायलैक्टिक में प्रथम स्थान रखता है। इस सन्दर्भ में हेगेल के सिद्धान्त की तुलना स्पिनोजा के सिद्धान्त से की जानी चाहिए।[51]

यहां यह भी कहा जा सकता है कि डायलैक्टिक में व्याघात के सिद्धान्त का उल्लंघन नहीं होता। इसके विपरीत जैसा मैक्टागर्ट ने बताया, इस सिद्धान्त का बोध ही डायलैक्टिक को गति प्रदान करता है। डायलैक्टिक का एक प्रमुख कार्य उन विरोधों को दूर करना है, जिन्हें बुद्धि विश्लेषण के स्तर पर अपरिहार्य पाती है।[52] इसके अतिरिक्त जैसा प्रो. म्यूर ने कहा है, विरोधी विधेय एक ही स्तर के नहीं होते, दोनों ही एक ऐसे सम्पूर्ण का निर्वचन करते है, जो स्वयं अमित सम्बन्धों द्वारा निरूपित होता हैं।[53] स्वयं हेगेल अपनी वृहत **लॉजिक** में एक अत्यन्त महत्वपूर्ण परिच्छेद में कहता है कि निशेधात्मक निर्णय अथवा निषेध निरपेक्ष नहीं है, अर्थात वह सर्व सामान्य निषेध नहीं है, अपितु वह किसी सुनिश्चित का निषेध हैं, जो स्वयं का परिहार करता है। निषेध के परिणामस्वरूप जो अवस्था उत्पन्न होती हें, उसमें जिसका निषेध हुआ हैं, उसका निराकरण नहीं हो जाता। हेगेल का मत हें, कि संपक्ष अथवा संश्लेषण की कोटि में जिसका निषेध हुआ हैं, उसका भ समावेश होता है, परन्तु रूपान्तरित अवस्था में।

---

48. स्टडीज इन हेगेलियन डायलेक्टिक, परिच्छेद, 5
49. वही, परिच्छेद 9, 117 तथा 127
50. द सायंस ऑव लाजिक, खण्ड एक, पृ. 65
51. स्पीनोजा का मत था कि निरूपण करना निषेध करना है। यदि अपरिमित द्रव्य का निरूपण करने का प्रयास करेंगे, तो वस्तुतः हम उसे परिमित बना देंगे, तथा परिमित करने में उसकी अपरिमितता का निषेध होगा। हेगेल इस तथ्य को उलट कर देखता है: अर्थात निषेध करनां निरूपण करना है। किसी वस्तु के विषय में इस प्रकार का कथन करना कि वह 'अमुक नहीं है' उसके विषय में यह कहना है कि वह 'कुछ और है'।
52. स्टडीज···परिच्छेद, 8, 117 तथा 127 भी।
53. एन इन्ट्रोडक्शन टू हेगेल, जी. आर. जी. म्युर, पृ. 140-141 (आक्सफोर्ड 1940)

डायलैक्टिक की इस प्रक्रिया में, सभी कोटियों का परम चित् रूप की भिन्न अभिव्यक्तियां होने के कारण, तथा डाकयलैक्टि की गत्यात्मकता के मुल में समग्र का पहले ही विद्यमान होना, परिणाम को पुनरूक्त का स्वरूप दे देता है।

परिणाम तथा प्रक्रिया, निषेध एवं डायलैक्टिक के विषय में उपर्युक्त सामान्य चर्चा के पश्चात् हेगेल के सिद्धान्त को उसकी प्रमुख कृतियों के माध्यम से समझा जा सकता है। **फेनॉमेनालोजि ऑव माइन्ड** (1807) हेगेल की प्रथम परिपक्व कृति थी, जिसमें उसने सर्वप्रथम अपने सिद्धन्त को तथा उसके प्रयोग को अभिव्यक्त किया। इसमें हेगेल ने आत्म-चेतना को विचार प्रवेश का केन्द्र बिन्दु माना।[54] अनुभव एवं दृष्टि बिन्दु के प्रत्येक ऐसे आधारभूत प्रकार को लेकर जो कभी भी व्यक्त हुआ हो, इस ग्रन्थ में यह दिखाने का प्रयास किया गया है कि इन विभिन्न प्रकारों में एक विषेश सम्बन्ध है, तथा यह सम्बन्ध एक ऐसे उत्क्रम को प्रदर्शित करता है, जिसे सत्य अथवा पूर्ण की विभिन्न परन्तु परस्पर अनिवार्यतः सम्बद्ध अवस्थाओं के रूप में देखा जा सकता है। यहां चैतन्य के तत्व को (मनस की सहज मौलिक तथा अव्यवहित स्थिति-ऐन्द्रिक निश्चयात्मकता से लेकर ज्ञान के उस सोपान तक, जहां चित् अपने आत्मरूप को आत्मसात् कर लेता है) क्रमिक प्रगति के रूप में निरूपित किया गया है।।[55] विचार तन्त्र की इन दो स्थितियों के बीच अन्यत्व के उन सभी रूपों के परिहार का महान कार्य है जो चित् के सन्मुख प्रत्येक अवस्था में मुंह बाये उपस्थित रहते हैं।[56] विषयी तथा विषय परस्पर स्थिर रूप में सम्बन्ध नहीं हैं।[57] वस्तुतः इस सम्बन्ध में एक गत्यात्मक प्रक्रिया सन्निहित है, जिसमें भेद तथा ग्रहण दो आवश्यक अवस्थाएँ हैं, और जिनका उद्भव चित् की प्रकृति में ही सन्निहित है। ज्ञान की दृष्टि से देखने पर चेतना से आत्म-चेतना तक का वह उत्क्रम संस्कृति की विशद थाती (बिल्डूंग) के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। संस्कृति का तत्व मानव जाति के उन सब अनुभवों को समाहित तथा आत्मसात करना है जो किसी देश या युग विशेष में विशिष्ट दृष्टियों के रूप में उभरे हों। जैसे हेगेल का कहना है ज्ञान या सायंस "इस सांस्कृतिक विकास की आकारगत मूल-प्रक्रिया को, उसकी सम्पूर्णता तथा अनिवार्यता में प्रदर्शित करना है, साथ ही उससे यह भी स्पष्ट होता है कि यह (आकारगत, मूल-प्रक्रिया) चित् का ऐसा अंग बन जाती है, जो उसके सत् की

---

54. सायंस आव लॉजिक, खण्ड एक पृ. 65
55. द फिनाँमेनालोजि···पृ. 88
56. वही, पृ. 89
57. इस स्थल को ध्यान में रखते हुए ज्ञान मीमांसा के अन्तर्गत प्रत्यवादी तथा यथार्थपादी (अथवा वस्तुवादी) दोनों मतों की एकांगिकता दिखलाई जा सकती है, कारण कि इन दोनों ही मतों में विषयी तथा विषय के परस्पर गत्यात्मक सम्बन्ध की अवहेलना हुई है।

एक अवस्था है तथा उसका धर्म भी है।"[58] अथवा "ज्ञानलाभ का मार्ग, स्वयं संबोध की क्रिया के द्वारा चेतन जीवन के समस्त वस्तुगत् को उसकी बौद्धिक अनिवार्यता में समेट लेता है।"[59]

फेनॉमिनालोजि तीन भागों में विभक्त है: क-**चेतना**, ख-**आत्म-चेतना**, तथा (ग) **स्वतंत्र-मूर्त-चेतता**। ये तीनों उन अवस्थाओं के द्योतक हैं जिन्हें चित् अपनी अभिव्यक्ति के उत्क्रम में क्रमशः ग्रहण करता है। प्रथम अवस्था में चित् स्वयं को ऐसी स्थिति में पाता है जिसमें विषय बाह्य रूप में उसका विरोध करता है। दूसरी अवस्था में यह स्पष्ट होता है कि यह विरोध चित् के अन्तर्गत ही है, उसके बाहर नहीं। तीसरे चरण में चित् यह देखने में समर्थ हो जाता है कि विरोधी में स्वयं उसके अतिरिक्त और कोई भी नहीं है। इस अवस्था में विषय तथा विषयी दोनों ही एक उच्चतर समन्वय में एकाकार हो जाते हैं। इनमें से प्रत्येक अवस्था को पुनः निम्नलिखित रूप में विभाजित किया गया है:

चेतना
- i. ऐन्द्रिक निचयात्मकता,
- ii. प्रत्यक्षीकरण,
- iii. विश्लेषणात्मक बुद्धि

आत्म-चेतना
- i. स्व-निश्चय
- ii. आत्म-चेतना की स्वाधीनता तथा पराधीनता
- iii. आत्म-चेतना का स्वातन्त्रय

स्वतन्त्र-मुर्त-चेतना
- i. बुद्धि
- ii, आत्मा
- iii. धर्म
- iv परम ज्ञान

इनमें से प्रत्येक अवस्था में विस्तार में न जाकर, उन्हे सामान्य रूप में समझना सुविधाजनक होगा।

चेतना की प्रथम अवस्था में विषय की उपस्थिति अव्यवहित होती है। प्रथम क्षण में विषय के सम्बन्ध में जिस निश्चयात्मकता, मूर्तता का बोध होता है वह शीध्र ही समान्य के उस भंवर में विलीन हो जाती है, जिसमें विषय की इदमता आदि घूल जाती है। इस प्रकार ज्ञान की सत्यता किसी ऐसे विषय से चिपके रहने

58. द फिनामेनालोजि···पृ. 90
59. वही पृ. 95

में नहीं है जिसे वाणी द्वारा व्यक्त करना भी कठिन हो अपितु इसे चेतना की उस सक्रियता में देखना चाहिए जो वैशिष्टय में प्रकट होने वाले सारे कोणों को एक-सार कर देती है ।[60] प्रत्यक्ष वह अवस्था है जहाँ चेतना विषय को सामान्य के अथवा विषय के गुणों के द्वारा ग्रहण करती है। इन अवधारणाओं में ऐन्द्रिक तत्व बौद्धिक तत्वों से मिले जुले रहते है । 'विषय' या 'वस्तु' तथा उसके 'गुण' परिवर्तशील होने के कारण तथा परस्पर सम्बन्धित होने के कारण, एक दुसरे में गौण गुणों के रूप में बदल जाते हैं ।[61] इस प्रकार यहाँ त्रिषय के दो पक्ष प्रकट होते है : (1) गौण गुणों का होना, तथा (2) तात्विकता का होना—भिन्नता अथवा बहुत्व तथा एकत्व का होना । जब बुद्धि इस अन्तर का आधार खोजती है तब पता चलता है कि गौण गुण तत्व के ही गुण है, बहुत्व एकत्व का ही प्रकाशन है ।[62] इस क्रम में बुद्धि ऐन्द्रिक अभिव्यक्तियों के आधार का अन्वीक्षण करती है, तथा इस प्रयास में वह नियम या सिद्धान्त के प्रयत्यों तक पहुंचती हैं। परन्तु ये प्राकृतिक नियम घटनाओं को व्यवस्था देते है तथा उनका वर्णन प्रस्तुत करते हैं, उनकी व्याख्या नहीं देते । फलतः बुद्धि का अन्वीक्षण जारी रहता है । अन्ततः बुद्धि इस प्रकार आधार की ओर उन्मुख होने में स्वतः अपने से ही सम्बन्ध होती है क्योंकि वह घटनाओं की व्याख्या के निमित्त जिन अतीन्द्रिय नियमों को प्राप्त करती है, वह वस्तुतः उसी की क्रिया का प्रतिफल है । इस अन्तर्मुखी चिन्तन को हेगेल आत्म चेतना की संज्ञा देता है ।[63]

परन्तु यह अवस्था रिक्त आत्मा-अभिन्नता की है–'मैं, मैं हूं' । अपनी आभ्यान्तरिक प्रकृति से बाध्य होकर वह स्वयं को प्रत्येक दिशा में पुर्णतया चरितार्थ करना चाहती है । फलतः यह अवस्था 'इच्छा' अथवा 'कामना' के रूप में प्रकट होती है । जो इससे अन्य प्रतीत होता है उससे यह तात्विक रूप में एकाकार होना चाहती है ।[64] अन्य का समाहार कर उसे स्वयं में समवेत कर लेना है। परन्तु क्रम से यह प्रकट होता है कि यह अन्य तो एक अन्य आत्म-चेतना ही है। फलत, इन दोनों आत्म-चेतनाओं में विरोध होता है ।[65] वस्तुतः चेतना अपना तत्व तभी चरितार्थ

---

60. वही, पृ. 158
61. वही, पृ. 176
62. वही, पृ. 193
63. "प्रत्यक्ष के अतिक्रम के पश्चात् तथा प्रतीतियों के जगत् की मध्यस्थता के परिणाम स्वरूप, चेतना अतीन्द्रिय जगत् से सम्बन्धित तथा उससे एकाकार रूप मे प्रकट होती है । वह प्रतीतियों के जगत् की उस पृष्ठभूमि को देखती है जो प्रतीतियों का आधार होती है····यहां हम यह पाते है कि आन्तरिक सत् आन्तरिक जगत् का अवलोकन कर रहा है····जो अवस्था यहां प्रकट होती हैं वह आत्म-चेतना है।"···वही, पृ. 212
64. वही, पृ. 220
65. वही, पृ. 232

करती है जब वह ग्रात्म तत्व को ग्रन्य में भी देखने लग जाय, जब सच्ची सामाजिक ग्रथवा 'हम'—चेतना जागृत हो जाय—भेद में ग्रभेद प्रकट हो जाय । परन्तु इस स्थिति को प्राप्त करने के पूर्व ग्रन्य ग्रनेक स्थितियों से गुजरना पड़ता है । दो ग्रात्म चेतनाग्रों का विरोध 'बन्धक तथा बन्धन' के रूप में प्रकट होता हैं । दासता, बेगारी, चाहे वे ऐच्छिक हों ग्रथवा ग्रनैच्छिक ग्रात्म-चेतना के भीतर इस ग्राधारभूत विरोध को ही दर्शाते है । वस्तुतः यह एक विचित्र विरोधाभासी स्थिति का परिणाम है । दास या सेवक को व्यक्ति का स्थान न देने के कारण, मालिक या स्वामी स्वयं ग्रपनी स्वाधीनता खो देता हैं । फलतः वह स्वयं को मानविय स्तर से गिरा लेता है । दुसरी ग्रोर दास, स्वामी के ग्रादेश के पालन में, ग्रपने श्रम के द्वारा वस्तुग्रों का रूपान्तरण कर स्वयं को ग्रभिव्यक्त करता है तथा इस प्रकार वह ग्रपनी सृजनशीलता के द्वारा ग्रपने बास्तविक सत् को प्राप्त करता है । इस प्रकार एक का दूसरे पर ग्राश्रित होना एकांगी व्यक्ति तत्व का परिहार करता है तथा स्व-स्थित सामान्य ग्रात्म-चेतना की ग्रोर ले जाता हैं । ग्रन्य शब्दों में ग्रात्म-चेतना के सामान्य तत्व में 'बन्धन' तथा 'निर्देशन' दो ग्रावश्यक ग्रंग हैं । इस ग्रवस्था में चित् ग्रपनी विषयिता को पुष्ट करता है । "मेरा 'संप्रत्यय मेरे लिए है तथा वह वस्तुतः मेरा ही संप्रत्यय है ।"[66] एतिहासिक दृष्टि से इस वृत्ति में तथा स्टोग्रावादी (Stoic) दृष्टिकोण में समानता है, कदाचित् इसी कारण हेगेल ने इसे स्टोईक चेतना के रूप में देखा है । "स्टोग्रावाद वह स्वतन्त्रता हैं जो ग्रपरोक्ष रूप में उसी क्षेत्र से निष्पन्न होती है तथा शुद्ध सामान्यत्व में प्रत्यावर्तित होती है ।"[67] ग्रन्य शब्दों में वह वस्तु-स्थिति से विमुखता है, ग्रतः निषेधामत्क है । इसी कारण यह ग्रमूर्त एवं विषयरहित भी है । फलतः स्टोइक सद्गुण केवल रिक्त शब्द है ।[68] स्टोग्रावाद की इस विषय-रिक्तता को समझ लेना ही संशयवाद (स्कैप्टिसिज्म) हैं । वह तात्विक नैतिक सिद्धान्तों की शून्यता का उद्घोष है । वह इन्हीं सत्यों को ग्रपने ग्राचार की प्रेरणा बनाता है । परन्तु उसके शब्द तथा उसके कार्य एक दूसरे को निरन्तर झुठलाते रहते हैं । इस प्रकार संशयवाद में चित् "स्वयं को चेतना के उस रूप में देखता है जिसमें ग्रान्तरिक व्याघात है ।[70] यह एक दूसरी स्थिति की ग्रोर ले जाता है जिसमें ग्रात्मा को को स्वयं ग्रपने भीतर संघर्ष का बोध होता है, जो उसे ग्रपने से ही ग्रलग तोड़ता सा लगता है, जिस हेगेल ने क्षुब्ध चेतना (उन्ग्लुयुकलिखेस बेवुस्ट-जाइन) ग्रपने ही लिए ग्रजनबी हो जाने वाली, ग्रात्मा कहा है । इस संघर्ष के निराकरण के हेतु ग्रात्मा ग्रपना उत्सर्ग करती है ग्रपनी सम्पत्ति तथा ग्रपने ग्रानन्द

---

66. वही, पृ. 243
67. वही, पृ. 244–245
68. वही, पृ. 246
69. वही, पृ. 250
70. वही, पृ. 250

की बलि चढ़ाती है। अन्य के सामान्यत्व को चरितार्थ करने के निमित्त वह अपने व्यष्टि रूप का निषेध करती है। यही समस्त सद्गुणों यथा, प्रेम, सम्मान, मैत्री, वीर्य तथा आत्मोत्सर्ग का आधार है। इस प्रकार चित् तथा आत्म-चेतना अपने को बुद्धि के एक अधिक उच्च स्तर पर समीन्वत कर लेते हैं।[71] अन्य अथवा विषय के प्रति उसकी निषेधात्मक वृत्ति अब विध्यात्मक वृत्ति में बदल जाती है।[72] इस अवस्था में यह बोध उदित होता है कि विचार के मनोगत नियम वस्तुओं के वस्तुनिष्ठ तत्व भी हैं। यहाँ विषयीगतता तथा विषयगतता चिन्तन की एक ही प्रक्रिया के रूप परस्पर अभिन्न हो जाते है। परन्तु अपनी पूर्ण मूर्त स्थिति को प्राप्त करने के लिए चित् को अभी दीर्घ मार्ग तय करना है। अब वह एक ऐसी अवस्था में पहुँच गया है जहां अन्य में स्वयं को ही पाता है। स्वयं अपने क्षेत्र में आन्वीक्षिकी, मनोविज्ञान बाह्य अभिव्यक्ति, सभी में वह स्वयं को पाता है। इसके अतिरिक्त जिस प्रकार सैद्धान्तिक क्षेत्र में मनस चैतन्य के प्रथम आरम्भिक सोपानों को पार करता है, उसी प्रकार व्यावहारिक क्षेत्र में वह आत्मा-चेंतना की दोहरी गति से गुजरता है।[73] पहले वह स्वयं को अन्य से भिन्न व्यक्ति के रूप में देखता है तथा इसके फलस्वरूप स्वयं के निर्धारण के लिए अन्य की मांग करता है। अगले क्षण उसकी विषयिता सार्वभौमिक विवेक के स्तर पर पहुँच जाती है जो नैतिक क्षेत्र (जिटलिश्काइट) में आध्यात्मिक तत्व के रूप में प्रकट होती है।[74] परन्तु यह उपलब्धि स्वयं व्यक्ति के प्रयास को प्रकट करती है। साध्य की चेतना उसी तत्व की चेतना है। यह वह चेतना हैं जो तत्व को अपने तात्विक सत् के रूप में देखती है।[75] यह दृष्टि अधिक समृद्ध है—इसे हेगेल ने नैतिकता (मॉरलिटेट) से अभिहित किया है।[76] सुखवाद, नैतिक भावनावाद तथा आकारिक नैतिक प्रत्ययवाद में यह दृष्टि व्यक्तिवाद. फलतः एकांगिकता, की परिचायक है।[77] इस एकांगिकत की अनुभूति पूरक-सामुहिकता की ओर ध्यान आर्कषित करती करती है। नियमों को मुखरित करने, तथा उन्हें आधार देने की प्रक्रिया में, बुद्धि समाज को एक संगठित रूप देती है। जब बुद्धि विवेक का रूप अपना लेती है, तब सामाजिक जीवन एवं व्यक्तियों की आध्यात्मिकता एकाकार हो जाते हैं।[78] इस प्रकार बौद्धिक संकल्प (विवेक) सामाजिक व्यवस्था में विभिन्न संस्थाओं में अपेक्षित नैतिक दायित्व के रूप

71. वही पृ. 267
72. वही पृ. 272-73
73. वही, पृ, 375
74. वही, पृ. 375
75. वही, पृ. 381
76. एन्साइक्लोपीडिया के मनस् दर्शन खण्ड में 'व्यक्ति नैतिकता' पहले तथा 'सामाजिक नैतिकता' (जिटलिश्काइट) बाद में आती है।
77. ···फिनामेनालोजि···पृ. 384–412
78. वही, पृ. 457

में, तथा इस प्रकार विभिन्नता में एकता के रूप में अभिव्यक्त होता है। सच्चा आत्मा जब आदर्श रहकर जीवन अथवा मूर्त वास्तविकता का रूप ले लेता है।[79]

चित् के इतिहास के इस अन्तिम खण्ड को हेगेल 'फेर्नुन्फट' (प्रज्ञा) कहता है। इस अवस्था में चित् प्रकृति को असीम-आत्म की विषयगत अभिव्यक्ति में देखता है। परन्तु यह बोध कनेक रूप ग्रहण कर सकता है। परिपक्व धार्मिक चेतना में, प्रकृति, ईश्वर की सृष्टि तथा उसकी आत्माभिव्यक्ति के रूप में प्रकट होती है। परन्तु, सत्य होने पर भी इस अवस्था में यह बोध चित्रात्मक अथवा बिम्बात्मक रूप में प्रकट होता है। यही सत्य दार्शनिक दृष्टि के सन्दर्भ में परम-ज्ञान है।"[80] इस अवस्था में चित् स्वयं को चित् के रूप में जनता है।

फेनांमेनोलोजी में ज्ञान अव्यवहित अथवा आरम्भिक रूप में प्रकट होता हैं। हेगेल के शब्दों में वह "वह मंच पर प्रकट भर होता है।"[81] इसलिए उसे आभास (फिनांमिनन) कहा गया है। यह दृष्टि प्राकृतिक चेतना की वह दिशा है जो सत्य-ज्ञान की और उद्यमशील है।[82] यह केवल सिद्धान्त में अथवा अव्यक्त रूप में ही ज्ञान है। वास्तव में अथवा व्यक्त रूप में यह अभी ज्ञान नहीं है। वास्तविकता को प्राप्त करने के निमित्त वह अपनी आवृत्ति पुरी करता है, स्वयं अपना ही अतिक्रम करता है। हेगेल के शब्दों में "यह हिंसा....चेतना स्वयं अपने हाथों अपने ही प्रति करती है, अपने सीमित सन्तोष को वह स्वयं नष्ट कर देती हैं....परन्तु उसे कहीं सन्तोष नहीं मिलता—....विचार अविचारतमक स्थिति को अस्थिर करता रहता है।"[83] जैसा हमने देखा यह अस्थिरता विज्ञान को आत्म-परिपूर्णता "चित् की दिशा में निरंतर बढ़ते रहने के लिए बाध्य करती है। इस प्रकार फेनॉमेनोलॉजि की आत्मानुभूति के ज्ञान" के रुप में "ज्ञान का प्रथम चरण है।"[84]

विचार के निर्धारण की अमूर्त कोटियों को, जो ज्ञान की प्रक्रिया में सन्निहित होती हैं, एक सुसंगठित पूर्ण में, आन्वीक्षिकी में बिकसित किया गया हैं।[85] आन्वीकी(अक्षिथवा तर्क) जब अपनी समग्रता को प्राप्त कर लेती है, तब उसका सीमा निर्धारण एक ऐसी अवस्था की ओर संकेत करता है जहा तार्किक अनिवार्यता तथा बुद्धिगम्यता का अभाव हो। फलतः प्रत्यय (आइडिया) की अभिव्यक्ति पर जो सीमा चित् का अवरोध करती है, उसके कारण प्रत्यय को मानो अपनी बलि देनी पड़ती है।

---

79. वही, पृ.794–796
80. वही, पृ. 797
81. वही पृ. 134
82. वही, पृ. 135
83. वही, पृ. 138
84. वही, पृ. 95
85. वही, पृ. 97

उसकी यौगिकता का मानो पुतया ह्रास हो जाता है। परिणामस्वरूप वह आकस्मिक घटनाओं में प्रकट होता है"[86] स्वयं को देश तथा काल के सन्दर्भ में ग्रहण करने हेतु वह स्वयं से बाहर जाता है और अन्ततः जब चित् समस्त बाह्यता में चेतना, प्रकृति, इतिहास, धर्म तथा कला आदि में–स्वयं अपना ही दर्शन करता है, तो वह परम-आत्म अथवा परम-चित् के पूर्ण समृद्ध रुप में वास्तविकता को प्राप्त करता है। यह वह महान विचार-तन्त्र है **जो 'एन आउटलाइन ऑव द ऐन्साइक्लोपीडिया ऑव फिलोसोफिकल सायंसेज**[87] का विषय है तथा जिसके हेगेल के जीवनकाल में ही तीन संस्करण निकले (1817, 1827 तथा 1830) थे।

ऐन्साइक्लोपीडिया को आरम्भ करने के पूर्व हेगेल ने पहले तर्कशास्त्र को लिया। 1812–1816 में तर्कशास्त्र पर दो खण्ड (विस्सेन्शाफट डर लॉगिक)[88] प्रकाशित हुए। बाद में इनके अनेक संस्करण प्रकाशित हुए। **ऐन्साईक्लोपीडिया के** प्रथम खण्ड को, जो तर्क से सम्बन्धित है, ध्यान में रखते हुए. इन खण्डों को वृहद् तर्कशास्त्र (लार्जर लॉजिक) कह दिया जाता है।

इस निबन्ध की दृष्टि से इनमें अन्तर नहीं मानकर, तर्कशास्त्र के विषय में हेगेल की दृष्टि तथा किंचित् सामान्य सिद्धान्तों का उल्लेख ही सुविधाजनक होगा।

काटं का मत था कि ऐरिस्टॉटल ने तर्कशास्त्र को ऐसी पूर्णता प्रदान कर दी है कि अब उसमें किसी नई बात के लिए स्थान नहीं है। तर्कशास्त्र का कार्य समस्त विचार के आकारिक नियमों की व्याख्या देना तथा उनका औचित्य प्रस्तुत करना था। ज्ञान, या विचार की बिषयवस्तु का इस तर्कशास्त्र से कोई सम्बन्ध नहीं है। परन्तु जब प्रागनुभविक रूप में इन नियमों को यिषयों से जोड़ना पड़ता है, अर्थात अनिवार्यतायुक्त ज्ञान के स्रोत तथा आधार के विषय में तार्किक नियमों की भूमिका स्पष्ट करनीं होती है तो तर्कशास्त्र की एक दूसरी अवधारणा बनानी पड़ती है। स्पष्ट है कि ऐरिस्टाटिल का प्रशंसक होते हुए भी कांट तर्कशास्त्र की एक नई धारणा प्रस्तुत करता है-इस तर्कशास्त्र को कान्ट'ट्रान्सेन्डेन्टल लॉजिक' (परा-आन्वीक्षिकी) की संज्ञा देत हे। इस तर्कशास्त्र में विषयवस्तु का पूर्णतया निराकरण नहीं होता, यद्यपि विचोर की जो कोटियां विषयों को रूप तथा आकार देंगी वे पूर्णतया प्रागनुभविक होंगी। हेगेल की दृष्टि से, यह क्रम बीच की स्थिति का परिचायक है तथा अतिक्रमण की अपेक्षा रखता है। विषयों पर प्रयूक्त होने वाली विचार कोटियां वस्तु के स्वरूप को व्यक्त नहीं करतीं अपितु वस्तु की प्रतीति ही होती है फलतः विचार तथा सत् के बीच

86. वही, पृ. 806
87. अंग्रेजी अनुवाद। अनु. डब्ल्यू. वालेस
88. अंग्रेजी अनुवाद। अनु. जान्स्टन तथा स्ट्रथर्स, प्रकाशक : एलेन एण्ड अन्विन–1929, दो खण्ड

एक खाई बनी रहती है।[89] कान्ट के दर्शन की विचार कोटियाँ हमारे तथा वस्तुओं के बीच आ जाती हैं, और वस्तु के निजरूप अथवा स्वरूप को जानने की कोई संभावना शेष नहीं रहती।[90] हेगेल अपने प्रत्ययनात्मक दर्शन की समस्या यह मानता है कि यह किस प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है कि वस्तु का तत्व तथा विचार का तत्व परस्पर अभिन्न है।[91] ज्ञान विचार को उसी सीमा में अपनाता है, जिस सीमा में वह स्वयं विचारी गई वस्तु के रूप में है, अथवा वह स्वयं वस्तु को उसी सीमा तक अपनाता है जिस सीमा तक (वह) विचार भी है।"[92] वस्तुतः विचार-कोटियाँ सत् का केवल संरचनात्मक अंग ही नही हैं अपितु उसके तत्व का परिचायक भी हैं। यही नहीं, वे उसके आत्म-विकास के उतक्रम का भी निरूपण करती है।[93] स्कुल-वादी तर्क[94] की आकारगत् अमूर्त विशिष्टता यह है कि वह अभेद के सिद्धान्त पर आधारित था–'क, क है'। ऐसा नियम सत्य की ज्ञान-मीमाँसा अथवा प्रमाणिकता के लिए आवश्यक हो सकता है, परन्तु वह स्वयं सत्य को मुखर नहीं कर सकता। कारण यह है कि उसे स्वीकार करने पर यह स्वीकार करना संभव नहीं रहता कि ज्ञान अथवा सत्य की अन्तर्वस्तु विकासशील है।[95]

---

89. दूसरे संस्करण की भूमिका 'द सायस ऑव लाजिक, खण्ड एक. पृ. 42,43
90. वही, पृ. 44, 57
91. द लाजिक आव हेगेल, परिच्छेद 41
92. द सायंस आव लाजिक, खण्ड एक, पृ. 60
93. वही, पृ. 45
94. स्कूलवादी तर्क अर्थात स्कूल से सम्बन्धित विद्वानों का तर्क। ग्यारहवीं शताब्दी में यूरोप तथा इंग्लैण्ड में बहुत से ऐसे स्कूल थे जो गिरजाघरों के साथ संलग्न थे। कुछ ऐसे भी थे जहां लेटिन भाषा का ज्ञान दिया जाता था और जिन्हें बाद में ग्रामर स्कूल की संज्ञा प्राप्त हुई। इन्हीं में से कुछ स्कूलों ने बाद में विश्वविद्यालयों का रूप लिया। कहा जाता है कि पेरिस का विश्वविद्यालय पेरिस के नात्रदेम सन्त विक्तर, तथा सन्त जेनेवीयव स्कूलों को मिलाकर बनाया गया था। इन स्कूलों से सम्बद्ध पंडित तथा विद्वान स्कूलमैन कहलाये उनकी विचार पद्धति तथा उनके दर्शन को सामान्य रूप में 'स्कोलष्टिसिस्म' संज्ञा से अभिहित किया गया। ये विचारक पहले धर्मशास्त्री थे तथा बाद में दार्शनिक। इनका विश्वास श्रुत सत्य, बाइबिल के तथा पोप आदि के कथनों में था। इनकी विचार पद्धति प्रश्न युक्ति तथा तदोपरान्त प्राप्त निष्कर्षों के रूप में प्रचलित थी। स्पष्ट है कि एक आर ईसाईयत तथा दूसरी ओर अरस्तु का इन विचारकों पर प्रमुख प्रभाव था।

    कुछ आधुनिक विचारकों का मानना है कि मध्ययुगीन दर्शन को 'स्कोलस्टिसिज्म' का पर्याय-वाची मानना ठीक नहीं है। मध्ययुग ही के विचारको में कुछ ऐसे भी विचारक मिलेंगे जो या तो स्कोलास्टीय पद्धति को नहीं अपनाते अथवा पद्धति तथा विचार दोनों से ही मतभेद रखते हैं।

    —देखें : द एवोल्ययूशन ऑव मेडीवल थाट, डेविड नोलेस :लोंगमेन्स, 1962:, प, 87-90
95. द सायंस आव लाजिक, खण्ड एक, पृ 46–47

दूसरी ओर तर्कशास्त्र की सही अवधारणा के लिए, आकार तथा अन्तर्वस्तु को अलग नहीं किया जा सकता। अन्तर्वस्तु आकारहीन नहीं होती और आकार वस्तू-शून्य नहीं होता।[96] अन्तर्वस्तु वस्तु का तत्व है, वह वस्तु को मूर्तता प्रदान करती है। तर्क के संबंध में यह अवधारणा, संप्रत्ययों के बहुत्व की ओर ले जाती है, वस्तु के तत्व का निरुपण अनेक संप्रत्ययों की अपेक्षा रखता है। कान्ट ने ऐरिस्टॉटल की दस कोटियों के अतिरिक्त दो और स्वीकार कीं। परन्तू प्रत्ययनात्मक दृष्टि से इनकी संख्या सीमित नहीं हो सकती। कारण कि ये कोटियां स्वयं विचार या चित् का अभिव्य -क्त करती हैं तथा चित् के आत्म-विकास में सन्निहित चित् की गत्यात्मकता कोटियों की सीमित संख्या से संगति नहीं रखती।[97] इस दृष्टि से तर्क-विज्ञान चित्-निरूपकों (ड़ेकबेस्टिमुंगेंन) की पुनः रचना है।[98]

आकारिक तर्क पुनरूक्ति पर निर्भर है, उसका आधार विश्लेषणात्मक निर्णय है। अतः उसके सन्दर्भ में ज्ञान के विकास का प्रश्न नहीं उठता। ज्ञान का विकास तो अन्तर्वस्तु के वैविध्य पर आश्रित है। इस एकांतिकता को दूर करने के हेतु हेगेल विचार-कोटि की एक अधिक समृद्ध धारणा प्रस्तुत करता है। इस अवधारणा के अनुसार विचार-कोटि के अन्तर्गत सुनिशिचित रूप में अनन्त समृद्धि आती है, साथ ही अन्तर्निहित एकता इस समृद्ध विचार-कोटि को एकत्व तथा सगंठन प्रदान करती है।[99]

इस प्रकार हेगेल का तर्कशास्त्र आकारगत तर्कशास्त्र से कम से कम दो बातों में भेद रखता है (1) वह कोटियों को अन्तर्वस्तु ले अलग करके निर्वारित नहीं करता वह यह दिखाने का प्रयास भी है कि वह विचार की स्व-परिभाषायें ही है। फलतः वे अन्तर्वस्तु से अविवक्षित हैं। (2)उसकी कोटियां न तो स्थिर है और न वे एक दूसरे से मात्र बाह्य रूप में सम्बद्ध है। इसके विपरीत तथा सत्य के मूर्त होने की प्रक्रिया की विभिन्न अवस्थाओं के रूप में, वे परस्पर आन्तरिक रूप में सम्बद्ध तथा गत्यात्मक हैं। क्योंकि विचार तत्व सत् के तत्व से अभिन्न हैं फलतः तर्कशास्त्र तथा तत्वमीमाँसा भी एकात्म हो जाते हैं।[100]

यहाँ एक और बात ध्यान में रखने की है। तर्क शास्त्र या आन्वीक्षिकी दर्शन अथवा परम ज्ञान का प्रथम चरण है। क्योंकि हेगेल परम-ज्ञान तथा परम-आत्म (अथवा ईश्वर का परम-ज्ञान रूप) ही मानता है फलतः तर्कशास्त्र परम-आत्म अथवा ईश्वर का ही रूप हुआ। इसी दृष्टि से हेगेल तर्क को ईश्वर के तत्व के रूप में देखता है।

---

96. वही, पृ. 47
97. वही, पृ. 61
98. वही, पृ. 48
99. वही, पृ. 48
100. द लॉजिक आव हेगेल, परिच्छेद, 24

यहाँ तत्व का अर्थ ईश्वर के उस रूप का परिचायक हैं जो प्रकृति तथा इतिहास तथा अन्य पक्षों में उसकी मूर्त अभिव्यक्ति के पूर्व शाश्वत रूप में विद्यमान रहता है ।[101]

तर्कशास्त्र में निम्नलिखित विभाजन किये गये है-

	गुण परिमाण मात्रा	
तत्व	स्व-प्रतिविम्बन के रूप में तत्व आभास या प्रतीति यथार्थ या वास्तविकता	उप–विभाजन[102]
संबोध	मनोगतता वस्तुनिष्ठता विचार	

उप-विभाजन[101] सामान्तया दो चरण तक किये गये हैं । एक स्थिति में (विचार) विभाजन तीन चरण तक किया गया है । एक दूसरी बात यह कि त्रिक की योजना का प्रयोग सर्वत्र नहीं हुआ है । जैसे संज्ञान के अन्तर्गत विभाजन केवल दो ही कोटियों में हुआ है ।[102] एक दूसरी स्थिति में अर्थात विषयिता में निर्णय के प्रकारों के संबंध में विभाजन चार कोटियों में हुआ है ।[103] ध्यान रखने योग्य बात यह है कि ये विभाजन तथा उपविभाजन तर्क की अन्तर्वस्तु से बहिर्गत है । इनका उल्लेख इसलिए हुआ है कि संबोध को ग्रहण करने का प्रयास हम अर्थात कोई ससीम आत्म करता है । अन्य शब्दों में यह योजना तभी बनती है, जब चिन्तन बाह्य रूप में चलत है । स्वयं अपने में तो अन्तर्वस्तु सदैव विद्यमान है । परन्तु अपने स्वभाव के कारण वह 'सम्बन्धों' की अनिवार्यता को तथा भेदों के आभ्यन्तरिक उदय होने को भी प्रकट करती है तथा उन्हीं के द्वारा वह अपना विकास भी करती है ।[104]

---

101. द सायंस आंव लांजिक, खण्ड एक, पृ. 60
102. अन्त में सन्नद्ध तालिका देखें
103. ऐसा प्रतीत होता है कि हेगेल डायलैक्टिक को अपनी आभ्यान्तरिक गत्यात्मकता तथा उस पर बाह्य दृष्टि से विचार इन दो बातों में अन्तर करना चाहता है । यदि इस अन्तर को स्वीकार कर लें तो एक ओर तो बाहय विचार की वैधता का प्रश्न उठता है, तथा दूसरी ओर चिन्तन के आभ्यान्तरिक रूप की वास्तविकता का बोध कैसे हो, यह समस्या उठ खड़ी होगी । दोनों ही प्रश्न हेगेल के विचार तन्त्र में असमाधेय लगते हैं ।
—वही, ह, 65
104. वही पृ. 66, 68

यह भी ध्यातव्य है कि यह बात कि तर्कशास्त्र सत्ता का मर्म है, तब तक स्पष्ट नहीं होती जब तक हम ज्ञान के दूसरे क्षेत्रों को आत्मसात् नहीं कर लेते। ऐसी भूमिका के अभाव में तर्कशास्त्र की वास्तविक समृद्धि का बोध संभव नहीं है। इसका कारण यह है कि स्वयं अपने में तर्कशास्त्र रंगहीन है।[105] वह छायाओं का जगत् है, मात्र तात्विकताओं का जगत् है, जो ऐन्द्रिकता से पूर्णतया मुक्त है।[106]

उपर्युक्त तीन खण्ड विचार अथवा प्रत्यय के तीन प्रमुख पक्षों का परिचय देते हैं। प्रथम स्थिति में प्रत्यय अपनी उसी अवस्था में रहता है जिसमें कि वह है अर्थात् वह केवल सत्तामान तथा अव्यवहित है। दूसरी स्थिति में वह उस रूप में होता है जो उसके लिए है अर्थात् प्रत्यय के प्रत्यय के रूप में। प्रत्यय के ये दोनों स्तर, 'तत्व' के सिद्धान्त में परस्पर समन्वित होते हैं। इस प्रकार 'तत्त्व' जो कि तीसरा खण्ड है, प्रत्यय की तीसरी तथा अधिक मूर्त अवस्था है।

तीनों स्तरों की विचार कोटियां एक दूसरे से स्वरूपगत अन्तर रखती है। सत् के क्षेत्र में जो कोटियां आती हैं वह बोलचाल की साधारण द्रष्टि से सम्बद्ध है। 'तत्त्व' के क्षेत्र में आने वाली कोटियां विभिन्न विज्ञानों से सम्बन्धित है। संबोध के क्षेत्र में आने वाली कोटियां दार्शनिक दृष्टि से सम्बद्ध हैं। पहले प्रकार की कोटियां स्वस्थित जान पड़ती हैं तथा उनका एक दूसरे से आत्यन्तिक विरोध प्रतीत होता है। दूसरे प्रकार की कोटियां एक दूसरे से इस प्रकार का सम्बन्ध रखने लगती हैं जैसा किसी विषय तथा उसके प्रतिबिम्ब में हो।[107] तीसरे प्रकार की कोटियां उसे व्यक्त करती प्रतीत होती हैं, जो अव्यक्त है।[103] ऐसा प्रतीत होता है कि डायलैक्टिक एकांगिता की अवास्तविक स्वतन्त्रता से समष्टिपरक लय में उदित वास्तविक स्वतन्त्रता की ओर उन्मुख है।[109] सत् परम-प्रत्यय में परिपूर्णता को प्राप्त करता है। परन्तु तर्कशास्त्र की सीमा में वह शुद्ध अर्थात् अपनी निजी स्थिति में ही रहता हैं। अन्त: चिन्तनात्मक विचार के रूप में तथा एरिस्टॉट्ल के 'नाउस नॉएसिस' के रूप में वह अपनी विषयिता में ही सिमटा रहता है। अन्य शब्दों में वह पुन: अव्यवहित सत् की स्थिति में आ जाता है, फलत: उसमें अपनी सीमाओं के अतिक्रमण की प्रवृत्ति होती है, और इस प्रकार प्रत्यय स्वयं को शुद्ध बाह्यता अर्थात् प्रकृति के रूप में प्रस्तुत करने का संकल्प करता है। अपनी स्वतन्त्रता के क्रियान्वयन

---

105. वही, पृ. 68
106. वही, पृ. 69
167. वही, खण्ड दो, पृ. 15–17
108. वही, पृ. 230 तथा द लॉजिक आव हेगेल, परिच्छेद 161
109. माइन्ड में प्रकाशित अपने एक लेख में—"द चेन्जेज ऑव मैथड इन हेगेल्स डायलेक्टिक" मैकटागर्ट ने यह दिखलाने का प्रयास किया है कि तर्कशास्त्र में कोटियां स्व-केन्द्रित स्थिति से क्रमश: अन्योन्याश्रित होने की स्थिति की ओर अग्रसर होती है।

में (स्व-निर्धारित होने के कारण) वह "स्वयं को पूर्ण आत्म-सुरक्षा तथा आत्म-स्थिरता से स्वयं से बाहर जाने देता है।"[110]

तर्क से प्रकृति में संक्रमण अत्यन्त विवादग्रत विषय है। स्वयं हेगेल ने कहा है "यह निर्धारण....संक्रमण नहीं है। यह तो नितान्त स्वच्छन्द क्रिया है।"[111] स्टेस की टिप्पणी है कि हेगेल यहाँ निगमग देता तो है परन्तु वह युक्तियुक्त निगमन नहीं है। उसके अनुसार निगमन यह है : परम प्रत्यय पुनः अव्यवहित रूप ग्रहण कर लेता है।[112] यह मानना गलत होगा कि हेगेल ने विचार से वस्तु को निगमित करने का प्रयास किया है।[113] इसके विपरीत उसने प्रत्यय के विचार से प्रकृति के विचार को निगमित किया है। "वास्तविक संक्रमण शुद्ध सामान्यों के सामान्य क्षेत्र से ऐन्द्रिक सामान्यों के सामान्य क्षेत्र की ओर होता है।[114] स्टेस का मत है कि हेगेल प्रत्यय से प्रकृति के निगमन के अवसर पर जो संकोच प्रदर्शित करता है, वह कदाचित् इसलिए है कि कहीं उसे यह चेतना है कि वह स्वरूप-वत् वस्तु की अवधारणा का पूर्णतया निराकरण नहीं कर पाया। प्रकृति का उपयुक्त दर्शन प्रस्तुत करने में एक अन्य प्रकार की कठिनाई भी आती है। प्रत्यय का प्रतिपक्ष होने के कारण प्रकृति की अवधारणा किसी मात्रा में अयौक्तिक भी है।[115] फलतः एक ही विचार क्रम में प्रत्यय तथा प्रकृति को कैसे लिया जाय? कदाचित् इसी कारण हेगेल ने क्रुग[116] के प्रश्न (जिस लेखनी से में लिख रहा हूं, उसका परम के विचार तन्त्र में क्या स्थान है) को टालने का प्रयास किया। प्रकृति के क्षेत्र में आकस्मिकता तथा यदृच्छा 'परम' के दार्शनिक के लिए विकट समस्या थी।

यहां एक और बात ध्यान देने योग्य है। प्रत्यय तथा प्रकृति के बीच जिस सम्बन्ध को लेकर उपर्युक्त प्रश्न उत्पन्न होता है, उसमें एक बात को मानकर चला जा रहा है। वह यह कि दोनों एक ही स्तर की अवधारणाएँ हैं, तथा तर्क किसी रूप में सत्तामूलक है। इस मान्यता के कारण ही यह उलझन उत्पन्न होती है कि विचार वस्तु का कारण कैसे हो सकता है। वस्तुतः हेगेल की रूपकात्मक भाषा भी इस उलझन में अपना योगदान देती है। उदाहरणार्थ 'परम प्रत्यय' के विषय में वह

---

110. वही, पृ. 486
111. वही, पृ. 485–486
112. द लॉजिक आव हेगेल, परिच्छेद 410
113. वही, परिच्छेद 410
114. वही, परिच्छेद 417
115, रीजन एण्ड ऐक्पेरियन्स, डब्ल्यू. ए. एच. वाल्श, प. 67–69 (आक्सफोर्ड, 1947)
116. विल्हेल्म ट्राउगौट क्रुग (1710–1872) विट्टेनवर्ग में विश्वविद्यालय व्याख्याता था। बाद में 1804 में कनिग्वर्ग में वह कान्ट के स्थान पर दर्शन पर प्रोफेसर सियुक्त हुआ। जीवन के अन्तिम दस वर्षों में क्रुग की कृतियां 12 खण्डों में प्रकाशित हुई। इस सम्बन्ध में देखें : हेगेल्स फिलोसोफि आव नेचर, खण्ड एक, पेत्री (पृ. 304 पर नोट 215,30)

कहता है कि वह "अपनी पूर्ण स्वतन्त्रता में.... वह यह निश्चय करता है कि अपनी विशिष्टता के क्षण को.... प्रतिबिम्बित बिम्ब के रूप में.... अपने से बहिर्गत प्रकृति के रूप में जाने दे।"[117] यदि यहां 'निश्चय करने' को कोई अर्थ दिया जाय, तो यह मानना होगा कि 'परम प्रत्यय' व्यक्तिक तथा सृजनात्मक सत्ता है। परन्तु यदि इस तथ्य की ओर ध्यान दिया जाय कि त्रिक की प्रथम दो कोटियाँ तीसरी कोटि के अपूर्ण एवं अमूर्त चरण हैं तथा उनका स्वरूप इस बात पर निर्भर है कि पूर्ण के किस पक्ष की ओर वे ध्यान आकर्षित करती हैं, तो तर्क, प्रकृति एवं चित्–इस त्रिक को एक दूसरे प्रकार से देखा जा सकता है। तर्क तथा प्रकृति दोनों ही 'परमचित' के विधेय के रूप में देखे जा सकते हैं।[118] इस दृष्टि से जब 'परम चित्' को मात्र आकार की दृष्टि से देखते हैं, तब वह तर्क के रूप में प्रकट होता है, तथा जब उसे उस वैविध्य के रूप में देखते हैं जिसमें उसका विषयत्व व्यक्त होता है तो उसे प्रकृति कहते हैं क्योंकि परम-चित सदैव है अतः उसके अन्य पक्ष भी सदैव हैं। परन्तु यहाँ 'होना' विभिन्न प्रत्ययों अथवा पक्षों के परस्पर सम्बन्ध के रूप में समझा जाना चाहिए। वह तात्विक सत्ता है, और तात्विक सत्ता को देश-काल सन्दर्भित सत्ता से अभिन्न मान लेने पर अगणित प्रश्न उठ खड़े होते हैं।

"प्रकृति स्वरूप-वत् अर्थात् अपने संबोध (नोशन) की दृष्टि से दिव्य है।.... परन्तु अपनी सत्ता में वह अपने प्रत्यक्ष के अनुरूप प्रतीत नहीं होती।"[119] दिव्य तत्त्व की पूर्ण अभिव्यक्ति तो तभी होती है जब प्रकृति अपना अतिक्रमण कर 'आत्म' का रूप प्राप्त करती हैं। वह 'आत्म' की पूर्व अवस्था है, स्वयं 'आत्म' नहीं। 'चित्' स्वतन्त्रता का क्षेत्र है, प्रकृति अनिवार्यता का। परन्तु प्रकृति आगन्तुक का भी क्षेत्र है, वह स्पष्टतया बौद्धिक योजना को अभिव्यक्त नहीं करती। भयानक प्राणी, किसी भी जाति की अपरिमेय सन्तति, अगणित व्यक्ति ये सब तर्कयोजना की पकड़ में नहीं आते। इनके सम्बन्ध में भौतिक व्याख्याएं संभव है, परन्तु ये व्याख्याएं तार्किक योजना नहीं बनाती। दाकचित् हेगेल को यह असम्भव और इसलिए अयौक्तिक लगा हो कि प्रकृति के अन्तर्गत आने वाली अपरिमित सत्ताओं को विचार के कठघरों में बांधा जा सके। यह सही है कि बिना व्यक्तियों के प्रकृति का अस्तित्व नहीं हो सकता

---

117. द फिलोसोफि आव माइन्ड, अनुवादक डब्ल्यू. वॉलेस, परिच्छेद 191 (आक्सफोर्ड-मिलर संस्करण, 1970)

118. म्यूर का मत है कि प्रकृति न केवल अनात्मिक है, वह प्रागात्मिक भी है जिससे आत्मा का उद्भव होता है। अन्य शब्दों में प्रकृति को आत्मा अथबा चित् के सम्बन्ध में भी देखना चाहिए। उद्धृत ग्रन्थ, परिच्छेद 4,3,4·12। सेम्यूएल अलैग्जेण्डर ने प्रकृति तथा चित् के सम्बन्ध को अपने दर्शन के अनुरूप देखते हुए अनात्मिक की ओर उन्मुखता के रूप में देखा है। 'हेगेल्स कॉन्सेप्ट आव नेचर', माइन्ड, 1886, पृ. 523

119. हेगेल्स फिलोसोफि ऑव नेचर, खण्ड एक (पेत्री, लन्दन, 1974) परिच्छेद 248 पर टिप्पणी, प. 209

आभ्यान्तरिक साध्यवाद अंगियों अथवा सावयवियों की अपेक्षा रखता है। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं लिया जा सकता कि किसी व्यक्ति को उसके प्रत्यय से प्राप्त किया जा सकता है।

यद्यपि शैलिंग की भांति हेगेल प्रकृति को व्यक्त रूप में दिव्य नहीं मानता, परन्तु उसे यह तो स्वीकार करना ही पड़ता है कि वह परम के जीवन का ही एक पक्ष है। हेगेल के सम्मुख इस प्रकार समस्या यह थी, एक ओर प्रकृति की यथार्थता की रक्षा करना, दूसरी ओर परम के जीवन में प्रकृति को उसका एक अग मानने के कारण आगन्तुकता के लिए स्थान बनाना। फलतः हेगेल को इस सम्बन्ध में एक भेद बनाना पड़ता है—प्रकृति के आन्तरिक तथा बाह्य पक्ष में। प्रकृति की अन्तः रचना प्रत्यय के प्रतिबिम्बन अथवा यौक्तिक संरचना से अभिन्न है। प्रकृति के बाह्य पक्ष में आगन्तुकता तथा अयौक्तिकता को लिया जा सकता है। पर क्योंकि जो यौक्तिक है वही वास्तविक है, अतः जो अयौक्तिक है उसको अवास्तविक मानना होगा। यदि आगन्तुकता को वास्तविक मान लिया जाये तो तन्त्र के भीतर दो विरोधी सिद्धान्तों का द्वैत स्वीकार करना पड़ेगा। फलतः तन्त्र की रक्षार्थ उसे अवास्तविक मानने के अतिरिक्त कोई उपाय नहीं है।[120]

डायलैक्टिक की एक अवस्था के रूप में प्रकृति को उपर्युक्त अन्तःरचना के अर्थ में लेते हुए उसके विभिन्न स्तरों का उल्लेख हुआ है।[121] यह स्मरणीय है कि ये अवस्थाएं देश-काल संदर्भ में नहीं हैं अपितु सम्बन्धित अवधारणाओं का तन्त्र है। यह भी ध्यातव्य है कि हेगेल वैज्ञानिक के कार्य को हस्तगत नहीं करता, न ही वह आनुभविक स्तर पर विज्ञान के विकास का निषेध अथवा आलोचना करता है। उसका प्रयास विज्ञान सम्बन्धी प्रमुख कोटियों में किसी बौद्धिक संरचना का अन्वेषण है। एम. जे. पेट्री. का (जिन्होंने अभी हाल ही में हेगेल की **एन्साक्लोपीडिया** के प्रकृति खण्ड का अंग्रेजी में सटीक अनुवाद प्रस्तुत किया है) कहना है कि आधुनिक काल में विज्ञान के स्वरूप की समझ के निमित माडेलों तथा सादृश्य-तन्त्रों का जो महत्त्व है, वह हेगेल के प्रयास का भी मानना चाहिए।[122] स्पष्ट है कि जहां तक प्रयास का प्रश्न है उसका महत्त्व है, यह बात दूसरी है कि उसके विशद् कार्यन्वयन में पर्याप्त मतभेद की गुंजाइश हो।

प्रकृति भी तीन खण्डों में विभाजित है: गणित, भौतिकी तथा आंगिक भौतिकी। अन्यत्र[123] यह क्रम इस प्रकार है: यान्त्रिकी, भौतिकी, आंगिकी

120. देखिए 'ए हिस्ट्री आव फिलोसोफि' कोपिल्स्टन, खण्ड 6, भाग 2, डबुलडे संस्करण
121. हेगेल्स फिलोसफि ऑव नेचर, परिच्छेद 246
122. हेगेल्स फिलोसोफि ऑव नेचर, अनु. तथा सम्पा. एम. जे. पेत्री, खण्ड एक, पृ. 15 ऐलेन्ड एण्ड अन्बिन 1970
123. उद्धुत ग्रन्थ, कोपिल्स्टन

(Organics)।[124] दोनों ही अवस्थाओं में हेगेल 'देश' को आरम्भिक कोटि मानकर चलता है। 'देश' मनस् अथवा चित् से नितान्त भिन्न है। प्रकृति के खण्ड में डायलैक्टिक का क्रम क्रमशः अन्ततः प्राणी की आंगिक व्यवस्था तक पहुंचता है। प्रकृति की विभिन्न अवस्थाओं में आंगिक अवस्था, अन्य अवस्थाओं की तुलना में 'आत्म' अथवा 'चित्' के निकटतम जान पड़ती है।

जैसा ऊपर कहा जा चुका है : तर्क तथा प्रकृति को परमचित् के आंगिक विधेय के रूप में देखा जा सकता है : तर्क के रूप में वह स्वयं अपने में है, प्रकृति के रूप में वह स्वयं अपने लिए है, तथा अपने वास्तविक रूप में वह अपने में तथा अपने लिए दोनों ही है। प्रकृति के रूप में वह स्वयं से मानो विमुख हो जाता है। अतः अपने को पुनः पाने के लिए मानो वह प्रकृति का निषेध करता है—आत्मिक जीवन प्रकृति का निषेध है। परम-चित् की यह तीसरी अवस्था भी एक सुदीर्घ प्रक्रिया में विन्यस्त होती है। "अपने वास्तविक तथा सम्पूर्ण अर्थ में सामान्य एक ऐसा विचार है जो मनुष्यों की चेतना में सहस्रों वर्षों के बाद प्रविष्ट हुआ।"[125] यद्यपि यह कथन तर्क के सन्दर्भ में कहा गया है परन्तु उससे जिस सुदीर्घ यात्रा की ओर संकेत किया जा रहा है वह रूपकात्मक है। 'आत्मा' के 'आत्म-लाभ' की लम्बी प्रक्रिया के सन्दर्भ में उसे यहां सांकेतिक रूप में ही लेना चाहिए।

आत्मा अथवा 'चित्' का जीवन पुनः एक ऐसी कोटि से आरम्भ होता है, जो प्राणी के रूप में उसके सत् मात्र का परिचायक है। डायलैक्टिव का सम्बन्धित खण्ड निम्नलिखित रूप में विभाजित है :

चित्

विषयी-चित् (सब्जैक्टिव स्पिरिट)	मान्विकी (एन्थ्रोपौलोजि) विषयात्मक चेतना (फिनॉमेनोलोजि) मनोविज्ञान (साइकोलौजि)
विषय-चित् (आब्जैक्टिव स्पिरिट)	अमूर्त अधिकार (एब्स्ट्रेक्ट राइट) नैतिकता (मोरलिटी) समाजिक नीति (सोश्यल एथिक्स)
परम-चित् (एब्सौल्यूट स्पिरिट)	कला (आर्ट) धर्म (रिलीजन) दर्शन (फिलॉसोफि)

मनोनिष्ठ आत्मा व्यक्ति के मनस् के मनोनिष्ठ पक्ष की ओर निर्देश करती

---

124. आंगिकी (आर्गेनिक्स) के अन्तर्गत हेगेल ने पृथ्वी, वनस्पति, तथा अन्य प्राणियों के विकास, संरचना तथा जीवन पर विचार किया है।

125. द लाजिक आव हेगेल, परिच्छेद 163

है। उसकी विभिन्न अवस्थाओं में चेतना के विभिन्न स्तर उद्घाटित होते हैं। वह प्रकृति की बेड़ियों से मुक्ति प्राप्त करते हुए तथा अपने विषय का सामना करते हुए अन्ततः अपनी अन्तस्थिति में विषय से एकाकार हो जाती है।

जिस अवस्था में प्रकृति से 'चित्' की अवस्थाओं में संक्रमण होता है वह जीव मात्र या प्राणी मात्र की होती है। एक ओर वह प्रकृति के चरम लक्ष्य की द्योतक है तो दूसरी ओर 'आत्म' की सुषुप्ति की।[126] इस अवस्था में स्वानुभूति मात्र रहती है, तथा आत्म-चेतना का अभाव रहता है। मानवीय अंगों में जीव तथा देह उसके आन्तरिक तथा बाह्य पक्ष होते हैं। यह अवस्था मान्विकी से द्योतित है। अविशिष्ट अनुभूति क्रमशः विषयी चित् को विषयोन्मुख करती है। प्रथम अवस्था में विषय स्वतन्त्र तथा बाह्य प्रतीत होता है, परन्तु अन्ततः विषयी उसमें स्व को ही देखने में समर्थ हो जाता है। अगले चरण में 'आत्मा' स्वयं को पहले तो अन्य आत्माओं से भिन्न परन्तु उनसे अभिन्न पाता है—इस स्तर पर चेतना तथा आत्म-चेतना एक अधिक उच्च अवस्था में एकाकार हो जाते हैं। यह अवस्था विषयात्मक चेतना की है तथा इसके अन्तर्गत किन्हीं ऐसे विषयों की चर्चा भी हो गई है, जो पहले फिनॉमिनोलाजि के अन्तर्गत भी विवेचित हुए हैं। तीसरे स्तर पर असीम आत्मा की क्रिया के विभिन्न सामान्य रूपों का स्थान आता है। इन क्रियाओं के दो पक्ष हैं: मानसिक तथा व्यावहारिक। प्रथम के अन्तर्गत प्रत्यक्ष, स्मृति कल्पना तथा विचार को लिया गया है, तथा द्वितीय के अन्तर्गत अनुभूति, प्रवृत्ति, तथा संकल्प को। "वास्तविक स्वतन्त्र संकल्प मानसिक तथा व्यावहारिक का समन्वय है, (यह) वह स्वतन्त्र संकल्प (है) जो अपने लिए भी स्वतन्त्र संकल्प का रूप रखता है।"[127] अर्थात् इस संकल्प में स्वतन्त्र होने की चेतना का समावेश है। मानव चेतना के विकास में यह अत्यन्त महत्वपूर्ण उपलब्धि है। हेगेल का ख्याल था कि उस समय तक भी संसार के अनेक क्षेत्र तथा अफ्रीका तथा पूर्व के देश इस अवस्था तक नहीं पहुंच सके थे। यहां तक की यूनानी तथा रोमन भी उससे परिचित नहीं थे। वे समझते थे कि स्वतन्त्रता तो मनुष्य को जन्म से ही मिलती है। विशेष जाति से जोड़ने के कारण उन्होंने दासों को स्वतन्त्र मनुष्यों से अलग समझा। परन्तु यह स्वतन्त्रता तो व्यक्ति अपने चरित्र, शिक्षा तथा विचार-दर्शन के आधार पर प्राप्त करता है। यह विचार संसार में ईसाई मत के द्वारा प्रविष्ट हुआ। उसके अनुसार व्यक्ति स्वरूपवत असीम मूल्य युक्त है....स्वयं अपने में मनुष्य सर्वोच्च स्वतन्त्रता के लिए नियत है।[128] परन्तु आवश्यकता इस स्वतन्त्रता के चरितार्थ होने की है। हेगेल के इतिहास दर्शन का यह मूल तत्व है।

---

126. द फिलोसोफी आव माइन्ड, परिच्छेद 389 (आक्सफोर्ड 1971)
127. वही, परिच्छेद 481
128. वही, परिच्छेद 482

विषयी-चित् की अव्यवहित स्थिति से निकलकर, चित् स्वयं को पुनः बाह्य तथा विषयनिष्ठ रूप में पाता है जहां विषयता की प्रथम अवस्था जानने से सम्बन्धित है और दूसरी कर्म से। इसका प्रथम चरण है : अधिकार (डास रैख्ट)[129] अपनी स्वतन्त्रता से अवगत व्यक्ति अपनी इस स्वतन्त्रता की अभिव्यक्ति के लिए भौतिक विषयों के क्षेत्र में संकल्प को व्यक्त कर एक बाह्य क्षेत्र देता है। सम्पत्ति का उपभोग तथा उस पर अधिकार व्यक्तित्व के विशिष्ट स्वरूप से सम्बद्ध है।[130] अधिकार व्यक्ति के ही हो सकते हैं, वस्तु के नहीं। वस्तु तो संकल्प की अभिव्यक्ति के लिए उपकरण मात्र है। उसमें व्यक्ति का मूल्य निहित है। व्यक्ति अपने को वस्तु से अलग कर सकता है। अपना अधिकार छोड़ सकता है, परन्तु वह अपनी स्वतन्त्रता से पूर्णतया अलग नहीं हो सकता।[131]

'सम्पत्ति' को सम्पत्ति के रूप में ही लेने पर, समझौते (कॉट्रैक्ट) की अवधारणा प्राप्त होती है। सम्पत्ति को लेकर एक से अधिक व्यक्तियों में जो सम्बन्ध स्थापित होते हैं, वही 'समझौता' कहलाता है। अधिकार पाने के लिए कुछ अधिकार छोड़ना आवश्यक होता है। इस आधार पर ही सामूहिक अधिकार की अवधारणा टिकी है। परन्तु यह 'समझौता' आपातिक हो सकता है। कारण कि किसी एक सदस्य के अनाधिकार कार्य से वह टूट सकता है, फलतः इस प्रकार का गलत कार्य उसका निषेध है। अपराधी को दण्ड के द्वारा इस प्रकार का गलत कार्य अथवा अपराध का भी निषेध हो जाता है। वस्तुतः इस प्रकार स्वयं अपराधी का अव्यक्त संकल्प दण्ड का विधान करता है। हेगेल दण्ड को एक विशेष महत्व प्रदान करता है। अपराधी को छोड़ देना अथवा उसके सुधार का प्रयास करना उसे स्वतन्त्र संकल्प से युक्त व्यक्ति नहीं मानता है। व्यक्ति की गरिमा की दृष्टि से उसके स्वरूप का प्रत्यावर्तन दण्ड की तपन मे ही सम्भव है। गलत कार्य अथवा अपराध तीसरी कोटि का स्थान रखता है, परन्तु उस अवस्था में उसे 'सम्पत्ति' तथा 'समझौते' का समन्वय कैसे माना जाय? कदाचित् समझौता तोड़ने की दृष्टि से इन दोनों अवस्थाओं को पूर्वापेक्षाओं के रूप में देखना उचित हो।

गलत कार्य करने का अर्थ है, व्यक्तिक संकल्प तथा सामान्य संकल्प में संघर्ष। इस संघर्ष के निराकरण के लिए सामान्य संकल्प के आन्तरिकरण की आवश्यकता होती है। क्योंकि वैयक्तिक संकल्प तथा सामान्य संकल्प में द्वन्द्व होता है, अतः सामान्य संकल्प एक बाध्यता जैसा प्रतीत होता है। सामान्य संकल्प पुनः अपने में प्रत्यावर्तित हो जाता है। "नैतिक दृष्टि संकल्प की दृष्टि है। संकल्प न

129. हेगेल फिलोसोफि आव राइट, अनु. टी. एम, नौक्स, परिच्छेद 40-41 (आक्सफोर्ड 1945)
130. वही, परिच्छेद 45-53
131. सार्त्रे के इस कथन से तुलना कीजिए कि मनुष्य स्वतन्त्रता से अभिशप्त है।

केवल अपने में, अपितु अपने लिए भी असीम है।[123] इस प्रकार नैतिक उन्नति आध्यात्मिक जीवन के उस स्तर की सूचक है, जहां व्यक्ति 'ऐसा होना चाहिए' की आकांक्षा करता है। परन्तु नैतिकता का यह सन्दर्भ इतने पर भी निर्विषय (ऐब्स्ट्रेक्ट) ही रहता है। फलतः वह एकांगिक रहता है। केवल सामाजिक नीति के सन्दर्भ में इस रिक्त संकल्प को विकल्प प्राप्त होता है, या यह कहें कि उसे एक मूर्त अथवा विशिष्ट दिशा प्राप्त होती है।

कर्त्ता का संकल्प कर्म के रूप में बाह्यता ग्रहण करता है। कर्त्ता के कर्म के फलस्वरूप परिवेश में जो भी परिवर्तन आते हैं उन सभी के लिए उसे उत्तरदायी नहीं कहा जा सकता। वह केवल उसी अवस्था के लिए उत्तरदायी है जो उसके संकल्प का लक्ष्य (फोरजात्स) रहा हो। इसलिए नैतिकता का प्रथम चरण लक्ष्य अथवा उद्देश्य होगा, तथा दूसरा अभिप्राय (अपजिश्ट) तथा कल्याण (डासवोल) है।[133] हेगेल उद्देश्य तथा अभिप्राय में अन्तर करता है, उसकी दृष्टि में अभिप्राय कल्याण से सम्बद्ध होता है, जबकि उद्देश्य कर्म से सम्बद्ध होता है। वह यह मानता है कि कर्त्ता को अपने कल्याण के लिए कर्म करने का अधिकार है। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि नैतिकता का मानक अहंवाद है। इसका मतलब केवल इतना ही है कि अभी सामाजिक सन्दर्भ उपस्थित नहीं हुआ है। हेगेल का विचार था कि इच्छाओं तथा नैतिकता में शाश्वत संघर्ष की कल्पना समीचीन नहीं है।

परन्तु नैतिकता का सम्बन्ध सामान्य संकल्प एवं सार्वभौमिक कल्याण से होना भी जरूरी है। विशेष संकल्प तथा सामान्य संकल्प का समन्वय श्रेयस (डासगूटे) में होता है। इसी अवस्था को स्वतन्त्रता का चरितार्थ रूप कह सकते हैं जो वस्तुतः जगत् का चरम लक्ष्य है।[134]

अपने वैयक्तिक सन्दर्भ में नैतिकता का सिद्धान्त 'कर्त्तव्य के लिए कर्त्तव्य' का सिद्धान्त रहता है। "विवेक उस परम अधिकार को व्यक्त करता है जो, जो करना चाहिए उसे जानने के लिए कर्त्ता को चेतना को अपने में तथा अपने लिए प्राप्त है।"[135] इसे यूँ भी कहा जा सकता है कि विवेक कर्त्तव्य बोध के लिए किसी बाह्य स्रोत पर आश्रित नहीं, क्योंकि वह स्वयं स्रोत है। साथ ही कर्त्तव्य की दिशा कहीं अन्यत्र नहीं, अपितु स्वयं विवेक को लक्ष्य करती है। इस प्रकार इस स्तर पर

132. वही, परिच्छेद, 105
133. वही, परिच्छेद, 114
134. वही, परिच्छेद 129
135. वही. परिच्छेद 137

प्रोटेस्टेन्ट[136] प्रभाव देखा जा सकता है। परन्तु समस्या यह है कि कर्त्ता स्वायत्त होने के कारण अवांछित दिशा में भी जा सकता है। अन्य शब्दों में विवेक के स्तर पर भी कर्म की अन्तर्वस्तु का निश्चय नहीं होता। इस प्रकार अन्त में सामाजिक नीति का सन्दर्भ आता है। सामाजिक नीति-तत्व के तीन क्षण हैं: परिवार, समाज तथा राज्य। इस सम्बन्ध में जो चर्चा हुई है वह विशिष्ट **कर्त्तव्यों** से सम्बन्धित न होकर उन विशिष्ट **सन्दर्भों** से सम्बन्धित हैं जिनमें ये कर्त्तव्य स्थित होते हैं।

नैतिक वैयक्तिकता तथा नैतिक कर्म सम्बन्धी क्षेत्र दोनों मिलकर उस अवस्था के परिचायक हैं जिसे 'परिवार' कहा जाता है। इस स्तर पर नैतिक चेतना अपने अव्यवहित तथा नैसर्गिक रूप में विद्यमान होती है।[137] परिवार के सदस्य अनुभूति एवं प्रेम के आधार पर एक सूत्र में बद्ध होते हैं। इस दृष्टि से समस्त परिवार अनुभूति के एकत्व में एक व्यक्ति के समान होता है। पारिवारिक सम्पत्ति में उसका संकल्प अभिव्यक्त होता है। परन्तु जब बच्चे बड़े हो जाते हैं तथा वे विभिन्न वयस्क व्यक्तियों का रूप ग्रहण कर लेते हैं तो परिवार में विघटन आरम्भ हो जाता है। इसके फलस्वरूप होने वाले विरोध का समाहार 'नागरिक समाज' में होता है। प्रत्येक व्यक्ति अपने-अपने लक्ष्य में रत होता है और उसके अनुरूप उसके प्रयास किसी आर्थिक संगठन का अंग होते हैं। फलस्वरूप श्रम का विशेषीकरण तथा विभाजन होता है और आर्थिक वर्गों तथा संगठनों का विकास होता है। इनके लिए एक वैधानिक संस्था की सुस्थिरता आवश्यक होती है, विधि के लागू करने के लिए न्यायालय तथा न्यायपालिका एवं पुलिस की आवश्यकता होती है। ये सामाजिक संस्थाएँ बाह्य रूप रखती हैं तथा इन्हें व्यवस्थित रूप में बनाए रखने के लिए एक आन्तरिक सूत्र की अपेक्षा होती है। अन्ततः 'राज्य' भी विषयचित्

---

136. ईसाई धर्म के इतिहास में सत्रहवीं शताब्दी में एक ऐसा अवसर आया जब कैथालिक मत (प्रचलित ईसाई मत) के प्रति व्यापक विरोध हुआ। यह विरोध स्पष्ट रूप में व्युर्टम बर्ग के गिरजाघर पर (1617 में) उस घोषणा पत्र के ठोंके जाने से आरम्भ हुआ जिसमें मार्टिन लूथर ने 95 स्थापनाओं का उल्लेख किया था। इस विरोध से ईसाई मत में एक नयी विचारधारा ने जन्म लिया जिसे 'प्रोटेस्टेन्टिज्म' के नाम से जाना जाता है। इस नवीन दृष्टि के कुछ सार बिन्दु हैं: ईश्वर तथा मनुष्य के बीच किसी की महयस्थता आवश्यक नहीं है, एक सच्चे ईसाई के लिए विवेक का आदेश सर्वमान्य है, उसके सामने गिरजा के किसी अधिकारी का आदेश मान्य नहीं है। बाइबिल की शिक्षा क्या है, इसको बताने का दायित्व पोप अथवा चर्च का नहीं है।

137. हेगेलस फिलोसोफि ऑव राईट, परिच्छेद, 157.

138. पाठक देखेंगे कि जहां-जहां अनुभूति तथा चेतना का सन्दर्भ आता है, वहां-वहां यह भी देखने में आता है कि अनुभूति का सन्दर्भ अव्यवहित अवस्था से तथा चेतना को व्यवहित अवस्था से तथा से जोड़ा जाता है।

की ही अवस्था है परन्तु यह उसकी वह अवस्था है जहां चित् का पुनः प्रत्यावर्तन है। फलतः उसके अन्तर्गत आने वाले 'संविधान'[139] तथा 'सरकार' बाह्य होते हुए भी एक आन्तरिक तत्त्व के परिचायक हैं जो सामाजिक संस्थाओं को नियमितता देता है। 'राज्य' को तीसरी कोटि के रूप में देखने पर 'परिवार' तथा 'समाज' उसके एकांगी पक्ष सिद्ध होते हैं। इस स्थल पर चेतना के जिस स्तर का आविर्भाव होता है, उसमें व्यक्ति स्वयं को समष्टि के सदस्य के रूप में देखता है—इससे उसका आत्म-तत्त्व क्षीण नहीं होता अपितु वह परिपूर्णता को प्राप्त करता है। राज्य कोई ऐसा अमूर्त सामान्य नहीं है जो व्यक्तियों से अलग हो, वह उनमें तथा उनके द्वारा ही सम्भव है। 'राज्य' की अवस्था में चेतना आत्म-चेतना का रूप रखती है।[140] राज्य को आत्म-चेतन नैतिक तत्त्व कहने से अभिप्राय यह है कि इस अवस्था में होने वाला संकल्प अपने तत्त्व से अवगत है, इस आत्म-चेतना में ही, जिसकी उसे चेतना होती है उसकी अभिव्यक्ति होती है।[141] इस प्रकार राज्य विषय-चेतना के सर्वोच्च स्तर की अभिव्यक्ति है। व्यक्ति के अधिकार, स्वतन्त्रता तथा व्यक्तित्व राज्य में नष्ट नहीं होते अपितु उसमें सुरक्षित रहते हैं।[142] क्योंकि इस स्तर पर सामाजिक संस्थाओं तथा संगठनों का भी समावेश होता है, अतः राज्य की कल्पना में ये दोनों ही पक्ष निर्विरोध हो जाते हैं। कर्म-क्षेत्र की सर्वोच्च उपलब्धि, तथा 'चित्' का एक पक्ष होने के कारण दिव्य अथवा ईश्वर का रूप होने पर भी, राज्य इतिहास के निर्णय से परे नहीं हैं। राज्य का अन्तिम चरण 'विश्व इतिहास' है।

विश्व इतिहास चार अवस्थाओं में विभक्त है :

1. पौर्वात्य (चीन, भारत, फारस, एशिया माइनर, पैलेस्टाइन तथा मिश्र)।
2. यूनानी जगत्।
3. रोमन, ईसाई मत का उद्‌भव।
4. जर्मन जगत्।

प्रथम अवस्था में इस चेतना का उदय नहीं हुआ था कि मनुष्य स्वतन्त्र

---

139. "किसी राष्ट्र का संविधान उसकी आत्मा से तभी विकसित होता है, जब वह उस राष्ट्र के विकास की आत्मा से तादात्म्य रखता हो। ··· राष्ट्र की आन्तरिक आत्मा तथा उसका इतिहास ही संविधान के जनक होते हैं। फिलोसोफि आव माइन्ड, परिच्छेद 540, यदि कोई सिद्धान्त वैयक्तिकता तथा 'परिपक्व बुद्धि' के अनुकूल नहीं है तो वह एकांगी कहा जायेगा। ···· फिलोसोफी आव राइट के परिच्छेद 270 पर टिप्पणी भी देखिए।

140. ··· फिलोफि आव माइन्ड, परिच्छेद 535,

141. फिलोसोफी आव राइट, परिच्छेद 257.

142. वही, परिच्छेद, 265.

है ।[143] केवल निरंकुश शासक को ही स्वतन्त्र समझा जाता था। अतः एक ही व्यक्ति स्वतन्त्र था शेष स्वतन्त्र नहीं थे। परन्तु यदि एक व्यक्ति स्वत्रन्त्र है तो वह वस्तुतः स्वतन्त्र नहीं हो सकता। आगे यूनानी तथा रोमन जगत् में स्वतन्त्रता की चेतना का बोध उदित तो होता है, परन्तु सबके लिए नहीं ।[144] ईसाई मत का उदय इस चेतना को उपयुक्त रूप सें मुखर करता है कि मनुष्य स्वतन्त्र है। यह बोध पूरी तरह जर्मन जगत् में ही चरम पर पहुँचता है। स्वतन्त्रता के बोध की लम्बी कहानी ही इतिहास की अन्तर कथा है।

इसी सन्दर्भ में हेगेल विश्व-ऐतिहासिक-पुरुष की कल्पना भी प्रस्तुत करता है। ये व्यक्ति विश्व चेतना के माध्यम बन जाते हैं। 'चित का चातुर्य' इनकी उद्दाम इच्छा तथा आकांक्षा का प्रयोग इतिहास को गति देने में करता है ऐसे व्यक्तियों में हेगेल ने सिकन्दर, जूलियस सीजर तथा नेपोलियन जैसे नामों का उल्लेख किया है। ऐसे असाधारण पुरुषों के द्वारा बहुत सी ऐसी बातें हुई हैं जिन्हें किसी बौद्धिक योजना के अन्तर्गत समझना सम्भव लगता है। विशेषकर उनकी व्यक्तिगत महत्वाकांक्षाएँ, साधारण जन की अवहेलना, तथा उनके हिंसक कृत्यों को विवेकपूर्ण कैसे माना जाय ? परन्तु यदि उनकी स्थिति को इतिहास की गति के लिए निमित्त के रूप में समझा जाय, तो फिर अन्ततः उनके पीछे चित् अथवा विवेक की ही योजना को स्वीकार करना पड़ता है।

परम चित्-डायलैक्टिक के अन्तिम खण्ड में विषयी चेतना तया विषय चेतना का द्वैत मिट जाता है। इस क्षेत्र में चेतना उस परिसीमा में मुक्त हो जाती है जो राष्ट्रीय चेतना को सीमित करती है। यद्यपि असीम ससीम मेंरहता है, तथा उसके माध्यम से ही रहता है, परम-चित् के क्षेत्र में चित् का अपना प्रत्ययनात्मक ज्ञान होता है। यह स्थिति विषयी चित् की पुनरावृत्ति मात्र नहीं है। विषयी-चित्ततथा विषय चित् का यह समन्वय एक ऐसा असीम कृत्य है जो सतत् रूप में प्रवाहमान है तथा जो कला, धर्म एवं दर्शन के रूप में मूर्तिमान होता है। सुन्दर के रूप में, चित् उस ऐन्द्रिक आकार में उपस्थित होता है जो सहज प्रत्यक्ष द्वारा ग्राह्य है (कला)। कल्पना अथवा बिम्ब के रूप में वह भावना द्वारा गृहीत होता है (धर्म)। तथा अन्ततः संबोध के रूप में वह स्वयं अपने ही द्वारा गृहीत होता है (दर्शन)।

परमचित्, सर्वप्रथम अव्यवहित रूप में ऐन्द्रिक विषय के रूप में प्रगट होता है ।[145] इस स्तर पर वह 'सुन्दर' के रूप में परिलक्षित होता है। हेगेल ने कला के

---

143. वही, परिच्छेद 355। इस विभाजन के रूप में इतिहास का विशद विवेचन इतिहास दर्शन पर हेगेल के व्याख्यानों में उपलब्ध है।

144. लैक्चर्स ऑन द फिलोसोफी आव हिस्ट्री, अनु. जे. सिब्री, पृ. 18, (डावर संस्करण)।

145, द फिलोसोफि आव फाइन आर्ट, अनु. एफ. पी. बी. आसमास्टन खण्ड एक पृ. 154 (लन्दन 1920)।

सौन्दर्य को प्रकृति के सौन्दर्य से श्रेष्ठ माना है। उसका कारण यह है कि कला चित् की रचना है, वह स्वयं चित् के लिए चित् की अभिव्यक्ति है। "कला का कार्य प्रत्यय को ऐन्द्रिक रूप में न कि शुद्ध विचार के रूप में अव्यवहित प्रत्यय को प्रस्तुत करना है। इस प्रस्तुतीकरण का मूल्य तथा गरिमा उस इकाई के अनुरूप होती है जो आदर्श अन्तर्वस्तु तथा उसे साकारता देने में स्थापित होती है। कला की पूर्णता तथा श्रेष्ठता, उसकी कृतियों की तात्विक प्रत्यय से अनुरूपता, उस आन्तरिक सामंजस्य तथा इकाई पर निर्भर है जिसमें प्रत्ययगत अन्तर्वस्तु तथा ऐन्द्रिक रूप अन्त:प्रविष्ट करते हैं।"[146] इन दो तत्त्वों के बीच पूर्ण समन्वय सहज प्राप्य नहीं है। फलत: इनके भिन्न अनुपात के आधार पर कला की भिन्न अवस्थाओं का परिचय मिलता है। इस प्रकार की तीन अवस्थाएं हैं : प्रतीकात्मक, क्लासीकी तथा रूमानी कला।

प्रतीकात्मक कला में ऐन्द्रिक तत्त्व की प्रधानता रहती है।[147] माध्यम पर पूरा अधिकार नहीं होता। अर्थ का सुझाव तो रहता है, परन्तु उसकी व्यक्त अभिव्यक्ति नहीं हो पाती। फलत: इस स्तर पर एक प्रकार की द्वैर्थकता तथा रहस्यात्मकता बनी रहती है।[148] मिश्र का स्फिक्स इसी स्तर का द्योतक है।

क्लासीकी कला में अर्थ, सुझाव के स्तर पर न रहकर व्यक्त रूप में अभिव्यक्त हो जाता है। ऐन्द्रिक तथा प्रत्ययात्मक में सामंजस्य रहता है। मानवीय देह के माध्यम से आत्म-चेतन वैयक्तिक चेतना ऐन्द्रिक रूप में व्यक्त होती है। फलत: इस अवस्था की कलाकृतियों में मानव-रूपारोपण का प्रभाव मिलता है। प्राचीन यूनान की मूर्तिकला इसी प्रकार की कला की द्योतक है।

रूमानी कला के प्रमुख तत्व हैं गति, कर्म तथा संघर्ष। यह असीम आत्मा के प्रवाह से ओतप्रोत होती है, मृत्यु जिसमें जीवन का साधन बन जाती है। चित्रकला, संगीत तथा कविता इसी अवस्था के क्रमिक संक्रमण हैं। हेगेल कविता को कला के विकास में शीर्ष पर रखता है। उसका मत है कि कविता आत्मा के जीवन के निरूपण के लिए सर्वाधिक उपयुक्त है।

परन्तु कला का स्तर 'चित्' के स्वरूप की वास्तविक अर्थात् पूर्ण अभिव्यक्ति में समर्थ नहीं है। परिणामस्वरूप कला के क्षेत्र से धर्म के क्षेत्र में संक्रमण होता है। धर्म में 'परम' की अभिव्यक्ति 'चित्रात्मक विचार' के रूप में होती है। इस स्तर पर 'परम' को विचारा तो जाता है परन्तु बिम्बात्मक कल्पना के स्तर पर। फलत: धर्म के स्तर पर अमिश्र-चित् नहीं होता। किसी परा एवं दैवी सत्ता ने स्वच्छन्द रूप में सृष्टि की है, ससीम आत्मा असीम के जीवन का ही एक क्षण है तथा ईसा के रूप

---

146. वही, पृ. 98.
147. वही, पृ. 74.
148. वही, खण्ड दो, पृ. 83.

मे मनुष्य तथा ईश्वर का ऐक्य इस सूक्ष्म तथ्य का द्योतक है–ये 'चित्रात्मक विचार' के उदाहरण हैं।

धार्मिक चेतना मूलत: तीन अवस्थाएं ग्रहण करती है : सामान्य, विशेष तथा वैयक्तिक। प्रथम अवस्था में ईश्वर को निर्विशिष्ट सामान्य, असीम के रूप में देखा गया है। दूसरी अवस्था विशेष या विशिष्टता की अवस्था है। इस अवस्था में मनुष्य तथा ईश्वर के बीच द्वैत रहता है। मनुष्य ईश्वर को एक पृथक बाह्य अथवा विषय सत्ता के रूप में देखता है। ईश्वर को इस रूप में देखने पर, मनुष्य जो उससे दूर, विलग हो जाता है वहीं पाप की चेतना उत्पन्न होती है। तीसरी अवस्था में विशेष सामान्य में, ससीम असीम में प्रत्यावर्तन करता है। यह अवस्था वैयक्तिकता की है। आराधना के विभिन्न रूपों के द्वारा ससीम तथा असीम का भेद समाप्त हो जाता है। "इस प्रकार मनस् ईश्वर के मात्र अमूर्त विचार से स्वयं चित् तथा ईश्वर के विविक्त रूप की ओर बढ़ता है, और फिर ईश्वर से स्वयं के ऐक्य के बोध की ओर।"[149]

ऐतिहासिक दृष्टि से जो विशिष्ट धर्म हैं, उनके सहारे हेगेल अपनी वैचारिक संयोजना को अभिव्यक्त करता है। हेगेल का ख्याल था कि चीन का धर्म, हिन्दू धर्म तथा बौद्ध धर्म, फारस, सीरिया तथा मिश्र के धर्म धार्मिक चेतना की प्रथम अवस्था के परिचायक हैं। उदाहरणार्थ हिन्दू धर्म में जिस निर्विशिष्ट एक को आधारभूत माना गया है, वह हेगेल की प्रत्यय-योजना में डायलैक्टिक के प्रथम चरण का ही द्योतक है। इस अवस्था में अव्यवहित सामान्य एवं असीम का अविशिष्ट रूप ही प्रधान होता है, फलतः व्यक्ति इस स्तर पर गौण हो जाता है, या यूँ कहा जाय कि व्यक्ति-बोध अव्यक्त रहता है।

यहूदी, यूनानी तथा रोम के धर्म, हेगेल की दृष्टि से, धार्मिक चेतना के दूसरे स्तर के परिचायक हैं। इस स्तर पर आध्यात्मिक सत्व को एक अविशिष्ट असीम के रूप में न लेकर, वैयक्तिक और इसलिए विशिष्ट रूप में लिया गया है। परन्तु साथ ही दिव्य सत्ता तथा मानवीय सत्ता के बीच एक अलगाव भी उत्पन्न हो जाता है। दिव्य नियम के पालन तथा आत्मोत्सर्ग के द्वारा यह अलगाव दूर होता है और धार्मिक चेतना के चरम रूप का उदय होता है।

ईसाई धर्म धार्मिक चेतना की अन्तिम स्थिति का द्योतक है। यहां ईश्वर का वह रूप प्रकट होता है जो उसका वास्तविक रूप है यथा असीम आत्म जो कोई परासत् नहीं है, अपितु जो ससीमा आत्माओं में अन्तर्भूत है। ईसा की कृपा के कारण दिव्य जीवन में अंगीभूत होने पर ही मनुष्य तथा ईश्वर का ऐक्य स्थापित होता है।

---

149. उद्धृत ग्रन्थ कोपिल्स्टन, 282.

संत पॉल का कथन "उसी में हम रहते हैं, उसी में हम विचरते हैं तथा उसी में हमारी सत्ता है" इस सत्य का परिचायक है।

यहां, ईश्वर के अस्तित्व के प्रमाण के प्रश्न पर हेगेल का क्या मत है, यह देखना भी सुविधाजनक होगा। इस सम्बन्ध में दो बातें कही जा सकती हैं : प्रथम जो प्रमाण दर्शन की परम्परा में प्रस्तुत किए गए हैं उन्हें हेगेल हेय दृष्टि से नहीं देखता। इस सम्बन्ध में हेगेल को यह अधिक महत्त्वपूर्ण जान पड़ता है कि इन प्रमाणों को देने का प्रयास विचार अथवा बुद्धि की मांग को सन्तुष्ट करना है। वे मनस् को उर्ध्व दिशा देते हैं तथा श्रद्धा में छिपे अव्यवहित तत्त्व को अभिव्यक्ति देते है।"[150] दूसरे, जहां हेगेल के स्वयं किसी प्रमाण को उपस्थित करने का प्रश्न है, हेगेल के लिए वस्तुतः किसी स्वतन्त्र प्रमाण को देने की आवश्यकता नहीं है, कारण उसका विचार-तन्त्र स्वयं एक प्रमाण है। ससीम तथा असीम का सत् एक ही है। और असीम ससीम में तथा उसके द्वारा ही अभिव्यक्त होता है।[151]

यद्यपि धर्म तथा दर्शन दोनों की विषयवस्तु में अन्तर नहीं है, उस विषय-वस्तु को ग्रहण करने के ढंग में वे अलग-अलग हो जाते हैं। जब दर्शन अपना उद्‌घाटन करता है तब वह वस्तुतः धर्म को प्रकट करता है, तथा जब वह धर्म को अभिव्यक्त करता है तब वह वस्तुतः स्वयं को अभिव्यक्त करता है। डायलैक्टिक में धर्म से दर्शन में संक्रमण है। 'चित्रात्मक विचार' से अमिश्र अथवा 'शुद्ध' विचार में संक्रमण है। 'चित्रात्मक विचार' के क्षेत्र में जो आगन्तुक रहता है, वह दर्शन अथवा शुद्ध विचार के क्षेत्र में अनिवार्य क्रम का रूप ले लेता है। सृजनता जो 'चित्रात्मक विचार' के क्षेत्र में एक अव्याख्येय स्वच्छन्द कृत्य का रूप रखती है, वह 'शुद्ध विचार' के क्षेत्र में विचार के तत्त्व की अभिव्यक्ति की अनिवार्यता का रूप ले लेती है।

कला, तथा धर्म की भांति दर्शन भी अनेक अवस्थाएँ ग्रहण करता है। एक ओर तो वह अपरिमित विचार की पूर्ण अभिव्यक्ति के क्रम में एक सुदीर्घ संघर्षमय यात्रा का परिचय देता है, तो दूसरी ओर वह उस सतत् प्रयास का भी द्योतक है, जो ससीम मनस् अथवा चेतना को परम सत् के स्वरूप को आत्मसात् करने में करना पड़ता है। जैसा कोपिल्स्टन ने सुझाया है, इसे इस प्रकार भी कह सकते हैं कि 'चित्' जो आत्मचिन्तन में लीन 'विचार' है, ससीम मनस् अथवा चेतना में ससीम मनस् के चिन्तन के द्वारा परम-ज्ञान के स्तर पर अपनी अभिव्यक्ति पाता है। परन्तु यह मानने पर, यह मानना भी आवश्यक हो जायेगा कि 'असीम चित्

150. लैक्चर्स ऑन द फिलोसोफि आव रिलीजन, अनु, तथा सम्पपा. इ. बी. श्यायर्स, खण्ड 3, पृ. 157 (लन्दन 1895)।

151. वही, पृ 259.

152. उद्‌धृत ग्रन्थ, पृ. 288.

स्वयं को भिन्न-भिन्न व्यक्तियों में पुनः पुनः अभिव्यक्त करता है। यह कहना कठिन है कि हेगेल का क्या आशय था।

डायलैक्टिक के क्रम में दर्शन के इतिहास को हेगेल ने आंशिक रूप में लिया है। उसका मानना है कि अन्तिम दर्शन पहले आने वाले सभी दर्शनों का परिणाम है, फलतः कुछ भी नहीं खोता, सभी सिद्धान्त सुरक्षित रहते हैं।[153] वस्तुतः दर्शन एक ही है। जब उसे भिन्न रूपों में लिया जाता है, तो इन विभिन्न पक्षों को एक ही सिद्धान्त के अनिवार्य पक्षों के रूप में दिखाया जा सकता है। दर्शन के इतिहास में जो विचारों का क्रम दीखता है वह आगन्तुक अथवा क्रमहीन नहीं है। वह एक अनिवार्य क्रम का द्योतक है। विचार के इस क्रम का अन्तिम रूप सत्य का सर्वोच्च रूप है—उसमें 'चित्' का आत्म-चेतन रूप अभिव्यक्त होता है।[154] स्पष्ट है कि इस अन्तिम अवस्था का निर्देश स्वयं हेगेल का दर्शन है। यहां दो बातें विवादास्पद जान पड़ती हैं। प्रथम तो यह कि दर्शन का इतिहास विचार के एक अनिवार्य, क्रम का द्योतक है। दूसरे यह कि हेगेल का दर्शन इस क्रम का वह चरम है, जो विचार की सर्वोच्च नियति है। यदि यह माना जाय कि किसी विचार-योजना में विचारों को परस्पर अनिवार्य रूप में सम्बन्धित दिखाया जा रहा है, तो वह एक बात होगी। परन्तु इसके अतिरिक्त यह और कहा जाय कि यह योजना इतिहास-क्रम में वस्तुतः जिस प्रकार विचार हुए हैं, उनमें पूरी तरह उपलब्ध होती है, अथवा यह कि उसमें योजना अभिव्यक्त होती है, तो दूसरी बात होगी। जहां पहली बात कोई विशेष कठिनाई उपस्थित नहीं करती, वहां दूसरी बात इतनी निर्दोष नहीं दीखती।

जहां तक हेगेल के अपने विचार तन्त्र के इस क्रम के चरम होने का प्रश्न है, उसके भी दो पक्ष हैं एक स्थिति तो यह है कि हेगेल का दर्शन जो कुछ उसके समय तक सोचा गया है, उसका आत्मसात् तथा उस पर टिप्पणी है। इतना स्वीकार करने में किसी को आपत्ति नहीं होनी चाहिए, परन्तु यह मानना कि विचार का चरमोत्कर्ष भी है निर्विवाद नहीं होगा।

हेगेल के बाद कुछ विचारकों ने तो यह मान लिया कि अब दर्शन में कुछ विशेष करने को नहीं रहा। इन विचारकों में हेगेल के दर्शन के समर्थक तथा उसके शिष्य थे। इनकी दृष्टि में दर्शन के विद्यार्थी के लिए प्रमुख कार्य हेगेल के व्याख्यानों को सम्पादित करना, तथा उसकी कृतियों के विषय में व्याख्याएँ प्रस्तुत करना ही था। परन्तु क्रमशः हेगेल के विचारों के प्रति विरोध भी आरम्भ हुआ और फलतः दक्षिणपन्थी तथा वामपन्थी हेगेली विचारधाराओं का सूत्रपात भी हुआ। यह विभाजन हेगेल के धर्म-दर्शन तथा समाज-दर्शन दोनों के सन्दर्भ में हुआ।

---

153. हिस्ट्री आव फिलोसोफि खण्ड तीन, पृ. 546.
154. वही, पृ. 552-554.

यहां यह ध्यान रखना चाहिए कि दक्षिण पन्थ तथा वामपन्थ के विभाजन का रूप प्रारम्भ में बहुत स्पष्ट नही था और न ही इन विरोधी मतों की दिशा बहुत स्पष्ट थी। परन्तु बाद में समाज दर्शन के सन्दर्भ में, जिन्होंने हेगेल की चित् की धारणा को प्रमुख नहीं माना तथा डायलैक्टिक की अवधारणा को आधारभूत महत्त्व दिया उन्हें हेगेली वामपन्थी कहा जा सकता है। फॉयरबाख तथा मार्क्स आदि के नाम यहां उल्लेखनीय हैं। इस धारा की दृष्टि से मार्क्स के विचारों की दार्शनिक पृष्ठ-भूमि के रूप में हेगेल का दर्शन आज भी अपना विशिष्ट महत्व रखता है। निषेधात्मक तथा आलोचनात्मक दृष्टि से उन सभी विचार प्रवृत्तियों को जिनमें विशद् विचार तन्त्र की अवधारणा को संशय की दृष्टि से देखा जाता है, अथवा उसे नकारा जाता है, तथा जिनमें व्यक्ति मूर्त जीवन एवं अनुभव का आधारभूत समझा जाता है, हेगेली दृष्टि के प्रति प्रतिक्रिया के रूप में देखा जा सकता है। इस दृष्टि से अस्तित्ववाद, विध्यात्मक (पौज़िटिविस्टिक) दृष्टि, प्राणवाद (वाइटलिज्म), प्रयोजनवाद आदि का उल्लेख किया जा सकता है।

हेगेल के दर्शन के प्रति सहानुभूतिपूर्ण तथा प्रशंसात्मक दृष्टि रखने वालों में इंग्लैण्ड के नव्य हेगेलवादियों—स्टर्लिंग, बोसान्के, मैक्टागर्ट, ब्रैडले, अमेरिका में रॉयस, इटली में जेन्टिलि एवं क्रोचें एवं भारत में हीरालाल हल्दार के नाम उल्लेखनीय हैं।

दूसरे महायुद्ध के समय हेगेल के दर्शन के प्रति यूरोप तथा अंग्रेजी जानने वाले दार्शनिकों में एक भर्त्सना का भाव घर कर गया। नाजी विचारधारा के मूल आधार में उन्होंने अन्ततः हेगेल के दर्शन को प्रेरणा के रूप में देखा। फलतः कुछ दशाब्दियों तक हेगेल का दर्शन–मार्क्स के सन्दर्भ में बहिर्गत–उपेक्षा का विषय रहा। 1970 के आसपास हेगेल के दर्शन में, विद्वानों की पुनः रुचि दीखने लगी है। उसके अनेक ग्रन्थ अंग्रेजी में फिर से अनूदित हो रहे हैं। जर्मनी में उसकी समस्त कृतियों का संपादन हो रहा है। इसके अतिरिक्त धर्म, कला तथा राजनीति से सम्बन्धित उसके दार्शनिक विचारों को लेकर अनेक स्थानों पर गोष्ठियां हुई हैं तथा तद्नुसार प्रकाशन भी हुए हैं। इसका यह अर्थ नहीं है कि तत्त्व मीमांसा में रुचि का अभाव रहा है। इस सन्दर्भ में भी हाल ही में अनेक कृतियां प्रकाशित हुई हैं, जिनमें कुछ यदि पूर्णतया परिचयात्मक हैं, तो कुछ पण्डितों के लिए भी हैं।

— —— —

TABLE OF CATEGORIES

Quality — **Being**

Being	Being	
	Nothing	
	Becoming	
Determinate Being	Determinate Being as Such	Determinate Being in General
		Quality
		Something
	Finitude	Something and an Other
		Determination, Modification, and Limit
		Finitude
	Infinity	Infinity in General
		Reciprocal Determination of finite & Infinite
		Affirmative Infinity
Being for Self	Being for Self as Such	Being Determinate and Being for Self
		Being for One
		One
	The One and the Many	The One in Itself
		The One and the Void
		Many Ones Repulsion
	Repulsion and Attraction	Exclusion of the One
		The one One of Attraction
		The Relation of Repulsion and Attraction

Quantity

- Quantity
  - Pure Quantity
  - Continuous and Discrete Magnitude
  - Limitation of Quantity
- Quantum
  - Number
  - Extensive and Intensive Quantum
    - The Difference
    - Indentity of Extensive and Intensive Magnitude
    - The Alternation of Quantum
  - The Quantitative Infinity
    - Its Notion
    - The Quantitative Indinite Progress
    - The Infinity of Quantum
- The Quantitative Ratio
  - The Direct Ratio
  - The Inverse Ratio
  - The Ratio of Powers

Measure

- The Specific Quantity
  - The Specific Quantum
  - Specifying Measure
    - The Rule
    - The Specifying Measure
    - Relation of Both Sides as Qualities
  - Being for Self in Measure
- The Relation of Stable Measures
  - Union of two Measures
  - Measure as a Series of Measure Relations
  - Relations
  - Effective Affinity
- Nodal Line of Measure Relations
- The Measureless

- The Becoming of Essencr
  - The Absolute Indifference
  - Indifference as inverse Relation of its Factors
  - Transition to Essence

ESSENCE

Essence As Reflection into Self

- Show
  - The Essential and Unessential Show
  - Reflection
    - Positing Reflection
    - External Reflection
    - Determining Reflection
- The Essentialities or Determination of the Reflection
  - Identity
  - Difference
    - Absolute Difference
    - Variety
    - Opposition
  - Contradiction
- Ground
  - Absolute Ground
    - Form and Essence
    - Form and Matter
    - Form and Contant
  - Determined Ground
    - Formal Ground
    - Real Ground
    - Complete Ground
  - Condition
    - The Relatively Unconditioned
    - The Absolutely Uncoditioned
    - Transition of the Fact into Existence

Appearance

- Existence
  - The Thing and its Properties
    - Thing-in-itself and Existence
    - Property
    - The Reciprocal Action of things.
  - The Constitution of the thing out of Matters
  - The Dissolution of Thing
- Appearance
  - The Law of Appearance
  - The World of Appearance and the World in Itself
  - The Dissolution of Appearance
- Essential Relation
  - The Relation of Whole and Parts
  - The Relation of Force and its Manitestation
    - The Conditionedness of Force
    - The Solicitation of Force
    - The Infinity of Force
  - The Relation of Outer and Inner

Actuality

- The Absolute
  - The Exposition of the Absolute
  - The Absolute Attribute
  - The Modus of the Absolute
- Actuality
  - Contingency, or Formal Acuality, Possibility, and Necessity
  - Relative Necessity, or Real Actuality, possibility, and Necessity
  - Absolute Necessity
- The Asolute Relation
  - The Relation of Subs-tantiality
  - The Relation of Causality
    - Formal Causality
    - The Determinate Relation of Cauality
    - Action and Reaction.
  - Reciprocity

THE NOTION

Subjectivity

- The Notion
  - The Universal Notion
  - The Particular Notion
  - The Individual
- The Judgment
  - The Judgement of Inheritence
    - The Positive Judgment
    - The Negative Judgment
    - The Infinite Judgment
  - The Judgment of Subsumption
    - The Singular Judgment
    - The Particular Judgment
    - The Universal Judgment
  - The Judgment of Necessity
    - The Categorical Judgment
    - The Hypothetical Judgment
    - The Disjunctive Judgment
  - The Judgment of the Notion
    - The Assertoric Judgment
    - The Problematic Judgment
    - The Apodeictic Judgment
- The Syllogism of
  - The Qualitive Syllogism.
    - First Figure, Second Figure, Third Figure (Fourth Figure)
  - The Syllogism of Reflection
    - The Syllogism of Allness
    - The Syllogism of Induction
    - The Syllogism of Analogy
  - The Syllogism of Necessity
    - The Categorical Syllogism
    - The Hypothetical Syllogism
    - The Disjunctive Syllogism

Objectivity

- Mechanism
  - The Mechanical Object
  - The Mechanical Process
    - The Formal Mechanical Process
    - The Real Mechnical Process
    - The Product of the Mechanical Process.
  - Absolute Mechanism
    - The Centre
    - Law
    - Transition of Mechanism
- Chemism
  - The Chemical Object
  - The Chemical Process
  - Transition of Chemism
- Technology
  - The Subjective End
  - The Means
  - The Realized End

The Idea

- Life
  - The Living Individual
  - The Life-Process
  - The Kind
- The Idea of Cognition
  - The Idea of the True
    - Analytic Cognition
    - Synthetic Cognition
      - Definition
      - Classification
      - The Proposition
  - The Idea of the Good

12

आर्थर शोपेनहावर

(1788-1860)

आर्थर शोपेनहावर का जन्म 1728 ई. के 22 फरवरी के दिन हुआ था। उनके बचपन के प्रारम्भिक कुछ वर्ष डैन्जिरा में व्यतीत हुए। बाद में उनके पिता हम्बुर्ग चले गये। वहीं इनकी शिक्षा का आरम्भ हुआ। कुछ दिनों तक इनकी शिक्षा फ्रान्स में हुई। शोपेनहावर को बचपन में ही विदेश भ्रमण का अवसर मिला और इसी बीच कुछ दिनों तक इंगलैंड के एक विद्यालय में इनकी शिक्षा हुई। बचपन से ही इनका मन कुछ विरक्त सा था, विशेषत: अपने जीवन में कुछ कटु अनुभवों के फलस्वरूप वे गम्भीर तथा एकाकी बनते गये।

अपने पिता के इच्छानुसार इन्होंने हम्बुर्ग के एक कार्यालय में काम करना आरम्भ किया। किन्तु, पिता की मृत्यु के कुछ ही दिनों बाद उन्होंने वह काम छोड़ दिया। अब वे ग्रीक, लैटिन आदि भाषाओं का अध्ययन करने लगे, और हम्बुर्ग से वायमार चले गये। यहां उनकी जान-पहचान उस समय के कुछ बुद्धिजीवियों—जैसे गेटे, श्लेगेल आदि—से हो गयी। माँ से उनका सम्बन्ध प्रिय नहीं था, फलत: दोनों में सम्पत्ति का बंटवारा हुआ। इसके बाद वे मुक्त रूप से अपने अध्ययन कार्य में रत हो गये। प्रारम्भ में उन्होंने चिकित्सा-शास्त्र का अध्ययन आरम्भ किया था, किन्तु एक वर्ष बाद ही उन्होंने अपने अध्ययन का विषय दर्शन शास्त्र को बना लिया। इस काल में उन्होंने प्लेटो के दर्शन का अध्ययन किया तथा कांट, पिचटे आदि के विचारों की जानकारी प्राप्त की।

1817 से 1818 तक वे सामान्यत: ड्रेसडेन में ही रहे और वहीं उन्होंने अपनी मुख्य दार्शनिक कृति "संकल्प रूप तथा भाव रूप जगत्" (The World as Will Idea) को रूप दिया। उसके बाद शोपनहावर बर्लिन चले गये। बर्लिन में उन्होंने दार्शनिक विषयों पर भाषण देना आरम्भ किया। कहा जाता है कि जान-बूझकर वे अपने भाषण का वही समय निर्धारित करते जिस समय हेगेल का भाषण हुआ करता। उस समय हेगेल अपनी प्रसिद्धि की चरम सीमा पर था, अतः शोपेन-हावर के भाषण में कोई श्रोता उपस्थित ही नहीं होता था। फलतः शोपनहावर

और एकाकी होते गये, किन्तु इस एकाकीपन के फलस्वरूप उनके अध्ययन एवं लेखन कार्य की और प्रगति हुई। 1848 के बाद शोपेनहावर के दर्शन ने बुद्धिजीवियों का ध्यान आकर्षित किया तथा उनके विचारों की मान्यता मिलने लगी। विशेषत: उनके निराशावाद तथा कला-दर्शन में लोगों ने विशेष रुचि ली। किन्तु, इस सफलता का भी उनके जीवन पर कोई महत्वपूर्ण प्रभाव नहीं पड़ा क्योंकि जीवन के संघर्ष तथा कटु अनुभवों ने उन्हें जीवन से पूर्णतया उदासीन तथा विरक्त बना दिया था। उनकी मृत्यु 1860 ई. के 21 सितम्बर को हुई।

शोपेनहावर के दर्शन के सम्बन्ध में कुछ प्रारम्भिक बातें

शोपेनहावर के दर्शन पर सर्वाधिक प्रभाव प्लेटो तथा कांट के दर्शन का है। किन्तु, इन प्रभावों को शोपेनहावर ने अपने ढंग से परिवर्तित तथा परिमार्जित किया। उनके दर्शन को साधारणत: संकल्पवादी विज्ञानवाद (Voluntaristic Idealism) की संज्ञा दी जाती है। इसे विज्ञानवाद कहने का कारण है कि शोपेनहावर के अनुसार सत्ता का स्वरूप भौतिक नहीं, मानसिक है। किन्तु, यह मानस कोई बौद्धिक मानस अथवा अतिमानस नहीं, यह अनिवार्यत: संकल्प रूप है। इसी कारण इसे संकल्पवादी कहा जाता है। किन्तु, इस प्रचलित धारणा के पीछे भी दार्शनिक जटिलता है। इसे समझने के लिये दो प्रारम्भिक बातों पर ध्यान आवश्यक है। इनकी समझ के आधार पर शोपेनहावर के दर्शन का अवबोध सरल हो जायेगा।

शोपनहावर की मुख्य दार्शनिक कृति 'संकलपरूप तथा भाव रूप जगत (The World as Will and Idea) है। इस कृति को दार्शनिक दृष्टिकोण से चार खण्डों में बाँटा जा सकता है। पहले खण्ड में शोपेनहावर का प्रत्ययवाद स्पष्ट होता है। दूसरे खण्ड में सत्ता के वास्तविक स्वरूप की विवेचना होती है। तीसरे खण्ड में शोपेनहावर का कला-दर्शन तथा उसका दार्शनिक सन्दर्भ प्रकाश में आता हैं। चौथे खण्ड में उनका नीति-दर्शन तथा धर्म-दर्शन स्पष्ट होता है।

इन चारों खण्डों की पृथक-पृथक व्याख्या में शोपेनहावर के दर्शन की रूपरेखा उभर आती है। किन्तु, इनकी व्याख्या के पहले एक अन्य विचार की विवेचना आवश्यक है, क्योंकि इसी विचार की पृष्ठभूमि में शोपेनहावर का दर्शन प्रस्फुटित होता है।

शोपेनहावर के दर्शन का आधार, एक दृष्टि से, कान्ट का ही दर्शन है। कान्ट के द्वारा किया गया संवृत्ति (Phenomenon) तथा सत् (Thirgf-in-itself) का अन्तर शोपेनहावर की दृष्टि में बड़ा महत्वपूर्ण है। उनकी स्वीकारोक्ति है कि यह 'अन्तर' दर्शनशास्त्र के लिये कान्ट की देन है। फलत: वे स्वीकार करते हैं कि साधारण ज्ञान-प्रक्रिया के द्वारा ज्ञात जगत और सत् के 'स्व-रूप' में अन्तर है।

कांट के संवृति-जगत को ही उन्होंने भावरूप जगत् (The world as Idea) कहा है, तथा सत्तामूलक जगत को संकल्प-रुप जगत् (The World as Will) कहा है।

किन्तु, शोपेनहावर के अनुसार कांट ने भी इस भेद की यथार्थता को नहीं समझा और एक भयंकर भूल की। कांट ने कहा कि सत्ता का वास्तविक 'स्वरूप' अज्ञात तथा अज्ञेय है। शोपेनहावर के अनुसार यह तार्किक तथा तात्विक दोनों दृष्टिकोणों से अयुक्त है। प्रथमत: सत्ता को अज्ञात तथा अज्ञेय कहना भी सत्ता के सम्बन्ध में एक ज्ञानात्मक निर्णय देना है। सत्ता अज्ञेय है का अर्थ है कि सत्ता के सम्बन्ध में यह ज्ञात हैं कि सत्ता अज्ञेय है। इसके विपरीत, यदि सत्ता अज्ञात तथा अज्ञेय है ही, तो यह भी नहीं कहा जा सकता कि सत्ता सत्ता है। इस तर्क के अतिरिक्त शोपेनहावर का निश्चित मत है कि सत्ता के वास्तविक स्वरूप की अनुभूति सम्भव है। कांट का यह कहना उचित ही है कि सत्ता का ज्ञान ज्ञानोपार्जन के के साधारण तरीकों से नहीं मिल सकता। किन्तु, उनका विश्वास है कि सत्ता के स्वरूप की झलक एक विशेष प्रकार की अनुभूति में सम्भव है। ऐसी ही अनुभूति के आधार पर शोपेनहावर सत्ता के स्वरुप को 'संकल्प-रूप' कहते हैं, और यही कारण है कि उनका दर्शन संवृत्ति जगत की व्याख्या के बाद सत्ता के स्वरूप की विवेचना में उलझ जाता है।

अत: शोपेनहावर के दर्शन का अध्ययन निम्नलिखित खण्डों के अन्तर्गत अभीष्ठ है :

(क) भाव-रूप जगत्।

(ख) संकल्प-रूप जगत्।

(ग) कला-दर्शन।

(घ) नीति दर्शन तथा धर्म-दर्शन।

किन्तु, इसके पहले उनके ज्ञान मीमांसक विचार का अध्ययन अनिवार्य है। यह विचार उनके दार्शनिक विचारधारा की प्रथम कड़ी है, तथा इसी के माध्यम से वे दृश्य-जगत् की व्याख्या प्रस्तुत करते हैं। इस विचार को उन्होंने एक मूल-सूत्र में बांध दिया है, और उसे 'यथेष्ठ युक्तता का नियम' कहा है।

यथेष्ठ युक्तता का नियम तथा इसके चार मूल तत्त्व (Law of Sufficient reason as its four fold roots)

यथेष्ठ युक्तता के नियम की प्रासंगिकता दृश्य जगत् की व्याख्या में ही है। शोपेनहावर सत्ता के वास्तविक स्वरूप की व्याख्या में इस नियम का उपयोग नहीं करते।

दृश्य जगत् की चेष्टा में कांट ने कुछ प्रागनुभविक कोटियों का उल्लेख किया था। शोपेनहावर के मन में कांट के द्वारा दी गई ये बारह कोटियाँ यथेष्ठ भी नहीं

हैं, तथा उनकी खोज की पद्धति भी दोषपूर्ण है। इसी कारण ये बाद के दार्शनिकों की आलोचना का केन्द्र बिन्दु रहे। शोपेनहावर का दावा है कि उनका यथेष्ठ युक्तता सिद्धान्त बड़ा व्यापक है, क्योंकि इस नियम में कांट की बारह कोटियां भी समाविष्ट हैं तथा दृश्य जगत् का कोई पहलू इस नियम के बाहर नहीं छूटता।

इस नियम का सरलतम अर्थ बस इतना ही है कि संवृत्ति निराधार नहीं है, दृश्य जगत् के हर पहलू की युक्तता का यथेष्ठ आधार लेना अनिवार्य है। बिना यथेष्ठ आधार के कोई वस्तु अस्तित्ववान नहीं हो सकता। इस मूल नियम की व्याख्या में इसके चार पक्ष प्रकाश में आ जाते हैं। वैसे, शोपेनहावर का स्पष्ट मत है कि यह नियम मौलिक है, सार्वभौम है, स्वतः सिद्ध है तथा प्रागनुभविक है। शोपेनहावर के मत में इस नियम की युक्तता स्थापित करने की आवश्यकता भी नहीं, क्योंकि दृश्य जगत् से सम्बन्धित हर विचार इस नियम को मानकर ही अग्रसर होता है। यह नियम हर प्रकार के वैज्ञानिक चिन्तन की पूर्व मान्यता के रूप में भी स्वीकारा जाता है। इस नियम को प्रचलित विचार तथा वैज्ञानिक चिन्तन दोनों से मान्यता मिली है, क्योंकि किसी ऐसे भाव या अस्तित्व की वास्तविकता को को स्वीकारा नहीं जा सकता जिसकी यथेष्ठ युक्तता न हो। इस नियम को पूर्णतया समझने के लिए इसके चार मूल तत्त्वों की व्याख्या आवश्यक है।

दृश्य जगत् के विश्लेषण में विषयी (Subject) तथा विषय (object) का द्वैत प्रकाश में आता है। इसी विश्लेषण से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि विषयी दृश्य जगत् में चार प्रकार के विषयों का विषयी है। दर्शन-शास्त्र के इतिहास में इन विषयों पर भिन्न-भिन्न दार्शनिकों ने विचार किया है, किन्तु प्रायः सबों ने विषयी से इन विषयों के सम्बन्ध के आधार को जानने की चेष्ट नहीं की है। शोपेनहावर इन विषयों का वर्गीकरण करते हैं, और प्रत्येक विषय की यथेष्ठता का आधार ढूंढ़ने की चेष्टा करते हैं। उनके अनुसार ये चार विषय निम्नलिखित हैं :

1 आनुभविक तत्व —यह ग्रीक दर्शन के विचार का विषय रहा है।

2. अमूर्त भाव—यह स्पिनोजा आदि के दार्शनिक विचार का विषय रहा है।

3. तर्क विषयक तथा गणित विषयक भाव—इसका स्पष्ट उदाहरण पिथागोरियन विचारधारा में उपलब्ध है जहां 'संख्या' को विचार का विषय माना गया है।

4. आत्म-भाव-यहाँ विचार का धिषय आत्म है वह भी ऐसी विषयी के रूप में जो क्रियाशीलता का आधार है। शोपेनहावर के अनुसार आत्म का यह रूप मध्यकालीन दर्शन के दार्शनिक विचार का विषय रहा है।

शोपेनहावर के ग्रनुसार इन सभी विषयों की यथार्थता का ग्राधार होना ग्रावश्यक है। ग्रतः इन चार विषयों के ग्रनुरूप यथेष्ठ युक्तता नियम के चार: मूल नत्व प्रकाश में ग्राते हैं :

1. ग्रनुभविक जगत् का यथेष्ठ युक्तता-नियम है कारण-कार्य-नियम।
2. ग्रमूर्त भाव जगत् के लिये युक्तता नियम को शौपेनहावर ने ग्राधार एवं निष्पत्ति (Ground & Consequerd) कहा है।
3. तर्क विषयक तथा गणित विषयक भावों की युक्तता का ग्राधार है सत्ता-भाव नियम (Principles of Sufficient Reoson of being)
4. ग्रात्म-भांव की यर्थार्थता की व्याख्या का ग्राधार है ग्रभिप्रेरक प्रवृत्तियाँ (Motive) ग्रब इनकी संक्षिप्त व्याख्या करें।

(1) कारण-**कार्य-भाव** : इस नियम का प्रयोग ग्रानुभविक तथ्यों की व्याख्या में होता है। इसका सम्बन्ध भौतिक परिवर्त से है। शोपेनहावर का कहना है कि जब किसी वस्तु में कोई परिवर्तन होता है, तो ग्रनिवार्यतः इस परिवर्तन के ग्राधार रूप में किसी पूववर्ती ग्रवस्था को स्वीकारना पड़ता है। इस पूर्ववर्ती ग्रवस्था को कारण कहा जाता है, तथा इसके परिणाम को कार्य। स्पष्टतः इस नियम का प्रयोग स्थान तथा काल में स्थित भौतिक पदार्थो की व्याख्या के लिये होता है।

इस नियम को महत्त्व देने के परिणामस्वरूप दो निष्कर्ष निकलते हैं: (क) पहले को निश्चेष्टता निवम (Low of Inertia) कह सकते हैं। इसके ग्रनुसार हर वस्तु उस समय तक एक ही स्थिति में रहती है जब तक वह बाह्यय प्रभाव से प्रभावित नहीं होती, तथा (ख) इस नियम का प्रयोग उस तत्त्व पर नहीं हो सकता जो परिवर्तनों से प्रभावित नहीं होता।

साधारणतः इस नियम का उपयोग जड़-द्रव्यों की व्याख्या के लिये किया जाता है। किन्तु, शोपेनहावर का कहना है कि कारण-भाव के रूप द्रश्य जगत के हर पहलू में दिखाई देते हैं जड़-जगत में, वनस्पति-जगत तथा जीव-जगत में भी जड़जगत में कारण को मापा जा सकता हैं, कारण की शक्ति तथा का की शक्ति को बराबर माना जाता है। जीव-जगत में इस प्रकार का माप सम्भव नहीं, यहाँ कारण उद्दीपन के रूप में कार्य करता है। जीव-जगत में कारण प्रेरक के रूप में प्रकट होता है। जीव- जगत के संदर्भ में यदि कारण-भाव का विश्वेषण किया जाय तो लक्ष्य की चेतना थात लक्ष्य-प्राप्ति के लिये किया गया प्रयत्न दोनों पर ध्यान देना ग्रावश्यक हो जात है। कारण कि इस प्रेरक रूप को मापना संभव नहीं।

(2) **ग्राधार एवं निष्पत्ति** : यों तो मनुष्य तथा ग्रन्य जीवों की भिन्नता दिखलाने के ढंग ग्रनेक हैं, · किन्तु, शोपेनहावर के ग्रनुसार इस भिन्नता का प्रमुख कारण है मनुष्य की संप्रत्ययन शक्ति। यही कारण है कि संप्रत्यय ग्रथवा ग्रमूर्त-

भाव को मानवीय विचार का एक अनिवार्य अंग माना गया हैं। इन भावों को अमूर्त कहने का एक कारण है : ये स्वयं अस्तित्व वान नहीं हैं, इनका निर्माण अस्तित्व-वान तथा आनुभविक वस्तुओं से उनके गुणों एवं लक्षणों को पृथक कर ही किया जाता है। इन भावों को प्रतीकों द्वावा समझ जाता है, और ये प्रतीक साधारणतः शब्द होते हैं। यही कारण है कि भाषा के माध्यम से किया गया विचार संप्रत्यय-जगत में ही विचरता है। इस प्रकार के विचार में संप्रत्ययों की यथार्थता सिद्ध करने के लिये संप्रत्यायात्मक निर्णय लिया जाता है, तथा यह मान लिया जाता है कि इस प्रकार के विचार का सम्बन्ध निर्णय से है।

शोपेनहावर के दर्शन में इन्हीं निर्णयों की युक्तता का आधार या आधार एवं निष्पत्ति' को माना गया है। इन निर्णयों में एक से विचार दूसरे तक जा पाता है, क्योंकि प्रथम निर्णय आधार है और दूसरा निर्णय निष्पत्ति। इन निर्णयों की युक्तता के चार आधार सम्भव है—तार्किक आनुभविक तथा प्रागनुभविक, अधितार्किक। तार्किक सम्बन्ध में निर्णय का आधार अन्य निर्णय ही होता है, तथा इसकी युक्तता आकारिक युक्तता होती है। कुछ ऐसे निर्णय भी हो सकते हैं जिनका आधार अनुभव हो। अनुभव से इनकी युक्तता भी स्थापित होती है, तथा प्रमाणीकरण भी। इनके विपरीत कुछ ऐसे अनुभव भी होते हैं, जिन्हें संप्रत्यायत्मक कहा जा सकता है, इनका सम्बन्ध संप्रत्ययों के सम्बन्ध से है। इन निर्णयों का आधार न अनुभव हो सकता है और न तार्किक न्याय के समान कोई अन्य निर्णयों पर शोपेनहावर के अनुसार इन नियमों का आधार प्रागनुभविक हैं। उदाहरण: इस निर्णय को ही लें अकारण कुछ घटित नहीं होता। इसकी युक्तता का आधार प्रागनुभविक है। इनके अतिरिक्त कुछ ऐसे भी निर्णय हो सकते हैं जिनकी युक्तता का आधार विचार के मूल नियम ही रहते हैं, ऐसे आधार को अधितार्किक कहा गया है। उदाहरणतः 'किसी उद्देश्य तथा किसी विधेय के मध्य एक ही साथ भावात्मक तथा निषेधात्मक दोनों सम्बन्ध नहीं हो सकते।'

(3) **सत्ता-भाव-नियम** : शोपेनहावर ने तर्क विषयक तथा गणित विषयक भावों को एक विशिष्क स्थान दिया है, तथा उन्हें अन्य भावों से भिन्न माना है। इन भावों तथा अन्य संप्रत्ययों में अन्तर यही है कि अन्य संप्रत्ययों का मूल भौतिक-जगत तथा अनुभवजन्य पदार्थों में ही मिल जाता है, जब किऐला के रूप इन भावों का विषय में सम्भव नहीं है। विचार जब इन भावों को अपना विचार-विषय बनाता है, तो इनकी युक्ता का आधार अनुभव से पृथक शुद्ध-सत्ता भाव में ही पाता है। शुद्ध सत्ता भाव की अवगति साधारण विषय-ज्ञान से भिन्न है। तर्क विषयक भाव तथा गणित विषयक भाव की अवगति भौतिक वस्तुओं के भाव की अवगति जैसी नहीं। कांट के मत से प्रभावित हो शोपेनहावर भी इन भावों के उदाहरण रूप में स्थान-सम्बन्ध तथा काल-सम्बन्ध का उल्लेख करते हैं। 'पहले' और 'बाद'

में अथवा 'बाये' 'दाये' का ज्ञान वस्तु-ज्ञान जैसा नहीं है। इन भावों 'की अवधारणा नहीं बनती, इनकाकोई सार्वभौम संप्रत्यय भी नहीं है। ज्यामिति में 'बिन्दु' एक प्रकार से हर ज्यामितिक आकार का केन्द्र है, फिर भी' कोई बिन्दु अन्य बिन्दुओं का कारण या तार्किक आधार नहीं है। उसी प्रकार 'संख्या अंकशास्त्र का मूल है, किन्तु वह किसी अंकशास्त्रीय निदर्शन का कारण या तार्किक आधार नहीं है। यही कारण है कि शोपेनहावर के दर्शन में इन्हें संप्रत्यय का नहीं, सत्ता-भाव का उदाहरण माना गया है। अतः सत्ता-भाव नियम स्थान एवं काल के विभिन्न भागों को एक दूसरे से संबंधित करने का आधार है।

अभिप्रेरक प्रवृत्तियां – विचार का चतुर्थ विषय आत्म का माना गया है वह भी संकल्पक तथा कर्ता के रूप में। अतः इसकी यथार्थता का आधार वही हो सकता है जो आत्म की क्रियाशीलता का माध्यम हो। शोपेनहावर के अनुसार यह आधार अभिप्रेरक प्रवृत्तियां ही हो सकती हैं क्योंकि आत्म की क्रियायें इन्हीं प्रवृत्तियों अथवा प्रेरणाओं के द्वारा निर्धारित होती हैं।'

सच पूछा जाय तो शोपेनहावर के यथेष्ठ युक्तता सिद्धन्त की मान्यता अनिवार्यता-सिद्धान्त है। इस सिद्धान्त के अनुसार आधार एवं उसके परिणाम के मध्य अनिवार्य सम्बन्ध होता है यदि आधार को स्वीकार किया जाय तो भी स्वीकारना अनिवार्य हो जाता है कि इस आधार से कुछ फल या परिणाम अवश्य निकलेंगे। अनिवार्यता चार प्रकार की होती है—क्योंकि इसके संदर्भ चार प्रकार के हो सकते हैं। इसी के अनुरूप शोपेनहावर ने यतेष्ठ युक्तता नियम के चार मूल तत्वों की बात की। अनिवार्यता का स्पष्ट उदाहरण तार्किक अनिवार्यता है, जिसका प्रचलित रूप किसी तार्किक न्याय के आधार-वाक्य तथा निष्कर्ष के सम्बन्ध में उपलब्ध है। भौतिक अनिर्वायता कारण-कार्य सम्बन्ध में दिखाई देती है। गणित विषयक अनिवार्यता का उदाहरण ज्यामिति के किसी साध्य में देखा जा सकता है। इनके अतिरिक्त एक विशेष प्रकार की अनिवार्यता नैतिक अनिवार्यता है। यहाँ प्रेरक शक्तियाँ कर्ता के कार्य तथा क्रियाओं का स्वरूप निर्धारित करती हैं। इस दृष्टि से भी यह स्पष्ट हो जाता है कि शोपेनहावर का यथेष्ठ-युक्तता-नियम संवृति जगत के हर पहलू की व्याख्या करने में सफल है।

तत्व-मीमांसा

जैसाकि कहा जा चुका है शोपेनहावर ने कांट के द्वारा किया गया संवृति तथा सत् के अन्तर को बड़ा महत्त्व दिया है। अतः उनके तत्व-मीमांसा के दो खण्ड हैं उनका संवृति-दर्शन तथा सत्ता-मीमांसा संवृति-दर्शन प्रत्यय रूप जगत की विवेचना है तथा सत्ता मीमांसा संकल्प रूप जगत की व्याख्या है।

(क) संप्रत्यय-रूप जगत

संवृति-जगत अथवा दृश्य जगत की व्याख्या में शोपेनहावर पूर्ण

प्रत्ययवादी है। उनका निश्चित निष्कर्ष है कि दृश्य-जगत प्रत्ययों का जगत है। जिन वस्तुओं को हम देखते हैं-जो ज्ञात है–वे सभी प्रत्यय ही हैं। शोपेनहावर का कहना है, "जो कुछ ज्ञान के विषय-रूप में अस्तित्ववान है, अर्थात् सम्पूर्ण ज्ञात जगत ही, वह सभी किसी विषयी का विषय है, किसी दृष्टा का प्रत्यक्ष है, दूसरे शब्दों में प्रत्यय है।"* शोपेनहावर का यह निष्कर्ष बर्कले के समान ही है, अन्तर इतना ही है कि उनका यह निष्कर्ष बर्कले के समान अन्तिम निष्कर्ष नहीं। उनके अनुसार दृश्य जगत की व्याख्या इसी ही प्रकार सम्भव है–अन्य कोई व्याख्या उन्हें युक्ति-संगत प्रतीत नहीं होती। इसी कारण अपने प्रत्ययवाद की स्थापना के प्रयत्न में सर्वप्रथम शोपेनहावर दृश्य जगत की जड़वादी व्याख्या का खण्डन करते हैं।

प्रथमत: उनका कहना है कि जड़वादी व्याख्या में प्रबल पुनरावृति दोष हैं। जड़वाद का आरम्भिक बिन्दु है भौतिक द्रव्य तथा यह भौतिक तत्त्वों के द्वारा ही चेतना, ज्ञान, विज्ञान आदि की व्याख्या करता है। किन्तु, यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो स्पष्ट हो जाता है कि अपनी प्रारंभिक मान्यता में ही जड़वाद मनस, ज्ञान आदि की यथार्थता स्वीकार कर ही चलता है। अत: जिन तत्त्वों की वह व्याख्या करना चाहता है, वे तो उसके विचार की पूर्वमान्यता हैं। पुन: शोपेनहावर कहते हैं कि एक दृष्टि से जड़वादी व्याख्या स्पष्टत: बेतुका, विसंगत तथा लचर सिद्धान्त है। यह चेतना की व्याख्या भौतिक तथा अचेतन तत्त्वों के द्वारा करता है, अर्थात् जिसकी हमें साक्षात तथा स्पष्ट अनुभूति है उसकी व्याख्या ऐसे तत्त्वों के द्वारा की जाती है जिनका ज्ञान परोक्ष तथा व्यवहित है। जड़वादी व्याख्या की एक यह भी कमजोरी है कि इसका आधार जड़-तत्त्वों में नहीं, अपितु बौद्धिक तत्त्वों में है। इस व्याख्या का मूलाधार कारण-कार्य नियम है, किन्तु जड़वाद यह भूल जाता है कि कारण-कार्य भाव अपने आप में एक बौद्धिक कोटि है, कोई जड़वादी तत्त्व नहीं।

इस प्रकार दृश्य जगत की जड़वादी व्याख्या का खण्डन करते हुए शोपेनहावर अपने प्रत्ययवादी सिद्धान्त की स्थापना करते हैं। उनकी स्पष्ट उक्ति है, 'दृश्य जगत् मेरा संप्रत्यय है।' संप्रत्यय शब्द के व्यवहार में कोई व्यामिश्र नहीं। शोपेनहावर 'प्रत्यक्षानुभूति' तथा 'संप्रत्ययन' में अन्तर करते हैं, और दृश्य जगत् को प्रत्यक्षानुभूति से सम्बन्धित करते हैं। दृश्य जगत् शुद्ध अमूर्त संप्रत्ययन-क्रिया का

---

* ....all that exists for knowledge, and therefore the whole is only object in relation to subject, perception of a perceiver in a wold, idea "The Philosophy or Schopenhour (Ee.) world Great Thinkers Seriees. The Modern hbrary, New Yory, 1928, p. 3.

परिणाम नहीं है । उदाहरणतः उनका यह कहना नहीं है कि वृक्ष स्वयं संप्रत्यय अमूर्तभाव रूप है जो मन की संप्रत्ययन शक्ति के द्वारा निर्मित है । उनके अर्थ में दृश्य वृक्ष का अस्तित्व किसी दृष्टा-आत्म से सम्बन्धित होने पर ही है ।

इस बात की पुष्टि एक अन्य ढंग से भी हो सकती है । दृश्य जगत् केवल मावन-जगत् नहीं, अन्य जीवों का भी जगत है । सप्रत्ययन की शक्ति मानव में ही है, अन्य जीवों में नहीं । इसलिए यह मानना पड़ता है कि दृश्य जगत् का दृश्य रूप Phenomenal character संप्रत्ययन-शक्ति पर आधारित नहीं, बल्कि प्रत्यक्षानुभूति पर आधारित है, क्योंकि प्रत्यक्षानुभूति की शक्ति अन्य जीवों में भी है । अतः जगत् के प्रत्यय रूप होने का अर्थ यह है कि दृश्य जगत् किसी दृष्टा अथवा विषयी की प्रत्यक्षानुभूति का विषय है ।

सच पूछा जाय तो शोपेनहावर के दृव्य जगत् का विवेचना के मूल में उनका विषय एवं विषयी (object and subject) भाव है । वे इनके भेद तथा इनके सम्बन्ध की अनिवार्यता दोनों को स्वीकार करते हैं । विषयी तथा विषय एक दूसरे से भिन्न होते हुए भी अनिवार्यतः सम्बन्धित हैं । इसी कारण विषय को विषयी से स्वतंत्र मानना असंगत है । विषयी शब्द का अर्थ ही है 'वह जिसे विषय की चेतना है,' तथा 'विषय' शब्द की यथार्थता यही है कि वह किसी 'विषयी का विषय है ।' इन विचारों को समझने के लिये बर्कले से अधिक कांट के विचारों का संदर्भ समझना होगा । बर्कले के दर्शन में मन की प्रधानता है, विषय की अपनी एक प्रकार से सत्ता 'मन' या ज्ञाता की सत्ता में लुप्त हो जाती है । कांट का दर्शन ऐसा एकांगी नहीं है । अपने संवृति दर्शन में भी कांट विषयी की प्रधानता स्वीकार करते हुए विषय को भी एक विशिष्ट तथा निश्चित स्थान देते हैं । दृश्य जगत् प्रत्याक्षानुभूति तथा मन के उपकरण दोनों की कृति है, परन्तु फिर भी विषयी के लिए दृश्य जगत् की अनिवार्यता है । यह ऐसा स्वप्न है जिसे हर दृष्टा को अनिवार्यतः देखना ही हैं । शोपेनहावर का प्रत्ययवाद कुछ इसी प्रकार का है । ज्ञाता तथा ज्ञेय, विषयी तथा विषय दोनों की प्रधानता है, और दोनों का सम्बन्ध अनिवार्य है ।*

प्रत्यक्षानुभूति का प्रथम चरण है कायानुभूति (sense of body) । अन्य प्रत्ययों की अनुभूति भी कायानुभूति पर आधारित है । साधारणतः बाह्य जगत् के प्रत्यक्षीकरण को प्रत्याक्षानुभूति का सरलतम उदाहरण माना जाता है, किन्तु शोपेनहावर का कहना है कि इस अनुभूति के पहले कायानुभूति होती है । बाह्य

* इसकी व्याख्या करते हुए Patric Gardinar कहते हैं,........He (Schopenhaver) claims that the assirtion "Objects Escist for me' Fiir wich sond objectable) is really Equaivalent to the statement, 'I am subject," which is again equivalent to to 'I knw,' Patrick Gardiner, Schopenhaver, Penguin books, p. 86.

पदार्थों की अवगति कायानुभूति के द्वारा ही सम्भव है। यह ज्ञान का सार्वभौम तथा अनिवार्य उपादान है, यदि 'काया' की अनुभूति न होती तो जगत् का दृश्य रूप भी ज्ञात न होता। जगत् को शोपेनहावर ने 'ज्ञाता का संप्रत्यय' कहा है. वे यह भी मानते हैं कि जगत् के ज्ञान का प्रथम सोपान कायानुभूति ही है। 'शरीर' भी ज्ञाता का 'संप्रत्यय' ही है, किन्तु इस संप्रत्यय की उपलब्धि अन्य पदार्थों के ज्ञान में सहायक है। इसी ज्ञान के आधार पर ज्ञाता को अन्य संप्रत्यय प्राप्त होते हैं तथा जगत् का संप्रत्यय-रूप स्पष्ट होता है। इसी संप्रत्यय-रूप जगत् की व्याख्या के संदर्भ में यथेष्ट युक्तता नियम तथा उसके चार मूल तत्त्वों का महत्व है। शोपेनहावर दिक, काल, कारण-भाव आदि तत्त्वों को प्रधानता देते हुए यह दिखलाने की चेष्टा करते हैं कि जगत् के संप्रत्यय-रूप का ज्ञान अव्यवस्थित अथवा अनियमित नहीं है। दृश्य-जगत् के सभी पहलू आत्मा के विचार-विषय हैं, इसी कारण शोपेनहावर दृश्य-जगत् को संप्रत्यय-रूप कहते हैं तथा उनका यह भी कहना है कि हर ऐसे पहलू के आधार में कोई तत्त्व है जो उस विषय-जगत् की पूर्ण व्याख्या करने में समर्थ है। स्मरण बस इतना ही रखना है कि जगत् का प्रत्यय-रूप उसका सत्ता-रूप नहीं है।

(ख) **सत्ता का स्वरूप-संकल्प-रूप जगत्**

शोपेनहावर का विश्वास है कि सत्ता के स्वरूप के सम्बन्ध में कुछ निश्चित निष्कर्ष दिये जा सकते हैं। काँट का अज्ञेयवादी निष्कर्ष शोपेनहावर को अयुक्त प्रतीत होता है। कांट ने सत्ता को अज्ञात तथा अज्ञेय कहा क्योंकि उनके अनुसार ज्ञानोपार्जन के साधारण ढंग से सत्ता-ज्ञान सम्भव नहीं, किन्तु, उन्होंने यह सोचने की चेष्टा न की कि यह ज्ञान किसी अन्य प्रकार की अनुभूति के द्वारा शायद सम्भव हो सके। शोपेनहार के अनुसार ऐसी अनुभूति सम्भव है।

प्रश्न है, इस प्रकार की अमुभूति कैसी है? कैसे हम सत्ता की वास्तविकता का ज्ञान पा सकते हैं? शोपेनहावर का कहना है कि इसे समझने मे हमें कठिनाई इस कारण होती है, क्योंकि हमारे समक्ष विज्ञान, गणित, दर्शनशास्त्र आदि के 'मॉडल' हैं, और जो इनके अन्तर्गत नहीं आता वह हमारी समझ के बाहर रह जाता है। शौपेनहावर का कहना है कि सत्ता की वास्तविकता का ज्ञान न विज्ञान दे सकता है, न गणित और न साधारण बौद्धिक दर्शन-शास्त्र !

विज्ञान-वस्तुओं के रूप, आकार, बनावट, परिवर्तनों के प्रभाव आदि की व्याख्या करता हैं, अतः वैज्ञानिक विवरण वस्तुओं के व्यवहारिक रूप का ही वर्णन होता है। उस वर्णन से वस्तुओं की वास्तविकता उनकी आन्तरिक स्थिति आदि की जानकारी नहीं होती। वैज्ञानिक विवरण सतही होता है, वस्तुओं बाह्य रूप के भेद उनके अन्तर तक पहुंच नहीं पाता। गणित भी सत्ता के स्वरूप का ज्ञान नहीं दे सकता। गणित का सम्बन्ध परिणाम, संख्या आदि तत्त्वों से है, अतः गणित के

द्वारा प्राप्त ज्ञान सांख्यिक सम्बन्ध, मात्रा, आदि का ही ज्ञान है, पदार्थों के स्वरूप के सम्बन्ध का ज्ञान नहीं। दर्शन-शास्त्र विशेषत: पारम्परिक दर्शनशास्त्र 'ज्ञाता तथा ज्ञेय' एवं 'चेतना तथा विषय' आदि के द्वैत में उलझा रहता है, फलतः, इसके द्वारा भी वास्तविकता का ज्ञान नहीं मिल पाता।

तो, वास्तविकता का ज्ञान कैसे सम्भव हो ? जगत् चूँकि प्रत्यय रूप में ज्ञात होता है, तो क्या बर्कले के समान हम यह नहीं कह सकते कि जगत् प्रत्यय-रूप ही है। शोपेनहावर का कहना है कि यदि जगत् वास्तव में प्रत्यय-रूप ही होता, तो जगत् की अवगति भी भ्रम या स्वप्न की अनुभूति के समान अस्थायी होती यानि प्राप्त होती तथा फिर लुप्त हो जाती। अत: जगत् के प्रत्यय रूप को जगत् की वास्तविकता नहीं माना जा सकता। तो फिर मूल प्रश्न रह ही जाता है कि वास्तविकता क्या है ? सत्ता का वास्तविक स्वरूप क्या है तथा उसकी जानकारी हमें कैसे होती है ?

शोपेनहावर को उस जानकारी का आधार कायानुभूति में ही मिल जाता है। हमने देखा है कि उसके अनुसार प्रत्यय रूप जगत् के ज्ञान की प्रथम कड़ी कायानुभूति है। 'काया' अथवा 'शरीर' की प्राथमिक अनुभूति भी प्रत्यय रूप ही है। किन्तु, कायानुभूति के दो पहलू हैं। कायानुभूति बाह्य भी हो सकती है और आन्तरिक भी। बाह्य अनुभूति के द्वारा शरीर का प्रत्क्ष वस्तु-रूप में ज्ञान होता है; शरीर की हर क्रिया एवं गति का प्रत्यक्ष हर दर्शक को हो सकता है। किन्तु शरीर की वास्तविक अनुभूति यह नहीं है। शोपेनहावर का कहना है कि वास्तविक दृष्टि से शरार की हर क्रिया किसी आन्तरिक इच्छा, प्रयत्न अथवा संकल्प की अभिव्यक्ति है। उदाहरणत: हम किसी व्यक्ति को चलते हुए देखते हैं। हमें उसके पैरों तथा अन्य अंगों की गति का प्रत्यक्ष होता है, तथा इसी प्रत्यक्ष के द्वारा हमें यह भी अनुभूति होती है कि गतिवान वस्तु एक शरीर है। किन्तु, वास्तविक दृष्टि से उसकी हर क्रिया उसके आन्तरिक संकल्प का बाह्य रूप है। कोई निश्चय या संकल्प ही है जो इस रूप में प्रकट हो रहा है। बाह्य गति शरीर का दृश्य रूप है, संकल्प उसकी वास्तविकता है। इस संकल्प की अवगति का आधार आन्तरिक अनुभूति ही है। अत: शोपेनहावर के अनुसार सत्ता के स्वरूप की प्रथम झलक आन्तरिक कायानुभूति में मिलती है।

उसके मत में यदि शरीर तथा संकल्प में इस प्रकार का विशिष्ट सम्बन्ध न होता तो शरीर-ज्ञान भी अन्य--वस्तुओं के समान केवल प्रत्यय-रूप में ही ज्ञात होता। संकल्प के अभिव्यक्त रूप में ज्ञात होने के कारण ही शरीर व्यक्ति को विशिष्टता तथा व्यक्तित्व देता है। बाह्य शरीर तथा संकल्प एक ही सत्ता के दो पहलू हैं, एक ही चित्र के दो पक्ष हैं। शोपेनहावर कहते हैं, "शरीर का प्रागनु-

भविक ज्ञान संकल्प है तथा संकल्प का अनुभवजन्य ज्ञान शरीर।"* इसी कारण शोपेनहावर कहते हैं कि सत्ता के प्राथमिक स्वरूप का प्राथमिक ज्ञान आन्तरिक कायानुभूति में ही होता है।

इस अनुभूति में स्पष्ट चेतना हाती है कि हर क्रिया 'संकल्प' की ही अभिव्यक्ति है। अतः शोपेनहावर का निष्कर्ष है कि सत्ता का वास्तविक स्वरूप संकल्प रूप ही है। 'संकल्प' को शोपेनहावर ने बड़े विस्तृत अर्थ में समझा है। संकल्प के अन्तर्गत केवल मानवीय प्रेरणा, इच्छा, निर्णय, निश्चय आदि ही नहीं आते बल्कि अचेतन प्रवृत्तियाँ, अचल पदार्थों की आन्तरिक स्थिति आदि भी आते हैं। इनमें कोई संकल्प का स्पष्ट रूप है, तो कोई उसका क्षीण रूप है। शोपेनहावर का कहना है कि जिस प्रकार दोपहर की कड़ी धूप तथा प्रातःकालीन प्रथम किरण—दोनों को सूर्य का प्रकाश ही कहा जाता है, उसी प्रकार जड़ जगत् की क्रियाशीलता, तथा प्राणी जगत् की प्रेरणायें—दोनों संकल्प रूप ही हैं। वह शक्ति जिससे स्फटिक उभर आता है अथवा वह शक्ति जिससे चुम्बक उत्तरी ध्रुव की ओर मुड़ जाता है, अथवा वह शक्ति जो पौधों में प्राण फूंकती है अथवा वह शक्ति जो मानवीय निश्चय, निर्णय, स्वेच्छा आदि की प्रेरक है—वे भी संकल्प रूप ही है।

अतः सत्ता मूलतः संकल्प ही है, तथा उसी की अभिव्यक्ति विभिन्न रूपों में दृश्य-जगत् में होती है। यह सार्वभौम संकल्प प्रथमतः अपने को मूल भावों (Ideas) के रूप में व्यक्त करता है। इस भाव को शोपेनहावर प्लेटो के ही समान दृश्य जगत् का आधार मानते हैं तथा प्लेटो के ही समान यह भी मानते हैं कि दृश्य जगत् इन भावों का ही बाह्य वस्तु विषयक रूप (objectivity) है। दृश्य जगत् के पदार्थों का दृश्य रूप संप्रत्यय हैं, तथा इन संप्रत्ययों का आधार मूल-भाव है। संप्रत्यय तथा इन मूल भावों का अन्तर अंग्रेजी के 'idea' तथा Idea शब्दों के अन्तर के आधार पर समझा जा सकता है। मूल भाव बड़े I के द्वारा लिखा गया Idea है, संप्रत्यय छोटे i के द्वारा लिखा गया idea। संकल्प से संवृत्ति तक के मार्ग को इस प्रकार व्यक्त कर सकते हैं—संकल्प मूल भाव संप्रत्यय।

शोपेनहावर संकल्प की अभिव्यक्ति के विभिन्न स्तर मानते हैं। इसकी निम्नतम अभिव्यक्ति जड़ पदार्थों में दिखाई देती है। शोपेनहावर का कहना है कि जड़ पदार्थों में जो गुरुत्वाकर्षण, तरलता, अनम्यता, लचीलापन, वैद्युति आदि के लक्षण दिखाई देते हैं, वे भी संकल्प-रूप ही हैं। ये संकल्प के दृश्य-जगत् में व्यक्त लक्षण हैं, अतः यथेष्ठ युक्तता नियम के द्वारा इनकी व्याख्या हो जाती है।

---

* "Will is the knowledge, a pirsn of the body and the body is the knowledge, a pesession of the will." The Philosophy of schopenhaver. Ed. is will Edvarl. The Modern Libray, New York 1928, p. 64.

संकल्प की उच्चतर अभिव्यक्तियों के अन्तर्गत, वनस्पति जगत्, जीव-जगत् तथा मानव-जगत् आते हैं। जड़ जगत में वैयक्तिक गुणों अथवा व्यक्तित्व की प्रधानता, नहीं है, वहां जातीय गुण की प्रधानता है, पृथक्-पृथक् द्रव्यों के विशेश गुण गौण हैं। किन्तु, जैसे-जैसे हम उच्चचतर अभिव्यक्तियों की ओर बढ़ते हैं, वैयक्तिक गुणों का महत्त्व बढ़ता जाता हैं। मानव जगत् में वैयक्तिक गुणों का इतना महत्त्व है कि हर व्यक्ति का एक विशिष्ट व्यक्तित्व उभर आता हैं। यही कारण है कि मानव के जातीय गुणों को जानकर हम व्यक्ति को नहीं जान पाते। अतः कहा जा सकता है कि संकल्प जो जड़-जगत में अचेतन रूप में रहता है, अपनी उच्चतर अभिव्यक्तियों में चेतन हो जाता है।

अब यह स्पष्ट हो जाता है कि चेतन जगत् में संकल्प की अभिव्यक्ति पूर्णतया स्पष्ट होती है। शोपेनहावर का कहना है कि सत्ता के संकल्प रूप की सरल एवं स्पष्ट चेतना चेतन जगत् में, विशेषतः मानव जगत् में ही सम्भव है। उनके अनुसार चेतन जगत में संकल्प 'जीने के संकल्प' (The will to live) के रूप में प्रकट होता है। फलतः संकल्प के संकल्प-रूप की तीक्ष्ण अनुभूति जीवन-संघर्षों में होती है। एक अर्थ में जीवों के जीवन को 'जीने के संकल्प' का व्यक्त रूप कहा जा सकता है। इसे सिद्ध करने के लिए शोपेनहावर ने जीव जगत् तथा मानव जगत् से अनेकों उदाहरण लिये हैं। यह सामान्य अनुभविक तथ्य है कि शक्तिवान कमजोर जीवों को अपना आहार बना लेता है। देखा गया है कि हाथी कमजोर पुल पर नहीं चढ़ता, कुत्ता बहुत ऊँचाई से नीचे नहीं कूदता। एक दृष्टि से मनुष्य का समस्त जीवन ही जीने का सतत् प्रयत्न है। मानव जीवन संघर्षमय है, हर मनुष्य का जीवन जीवन की आवश्यकताओं, प्रेम, शान्ति आदि की खोज में सदा उलझा रहता है। शोपेनहावर का कहना है कि जीवन-संघर्ष में बुद्धि भी संकल्प के पीछे-पीछे चलती है। उसके अनुसार इसका एक बड़ा स्पष्ट उदाहरण है— 'जीवों में प्रजनन की सार्वभौमिकता। उनका कहना है कि 'जीने का संकल्प' (The will to live) अनिबार्यतः 'प्रजनन के संकल्प' के रूप में प्रकट होता है। प्रजनन की क्रिया के पीछे मानव का जीवन के प्रति लगाव है—यह आशा है कि सन्तानों में व्यक्ति का अस्तित्व मृत्योपरान्त भी रह जायगा। शोपेनहावर को तो शायद ऐसा लगता प्रतीत होता है कि जीवन का उद्देश्य ही प्रजनन है। विचित्र किन्तु वास्तविक उदाहरणों के द्वारा वे इस तथ्य को प्रमाणित करने की चेष्टा करते हैं। एक ऐसा कीड़ा होता है जिसमें मादा जीवनभर उन बच्चों के लिये खाद्य-सामग्री जमा करती है जिन्हें उसे देखना भी नहीं है। मकड़े को वहीं मकड़ी खाती है जिसे वह उर्वरीकृत करता है। मनुष्य जीवन-भर बाल बच्चों के लालन-पालन में ही लगा रहता है। मानव-जीवन का ही उदाहरण लेते हुए शोपेनहावर कहते हैं कि प्रेम-विवाह के असफल होने का मूल कारण यही है कि प्रेमी भावुकता में विवाह के पहले यह समझ ही नहीं पाते कि विवाह का लक्ष्य प्रजनन ही है। विवाह

के कुछ दिनों बाद जब उन्हें यह समझ आती है तो क्षुब्ध हो जाते हैं। इसके विपरीत बुजुर्गों के द्वारा तय किये विवाह में ऐसा इसलिये नहीं होता कि वहां पहले से ही यह समझा रहती है कि विवाह का उद्देश्य प्रजनन है। अतः शोपेनहावर के अनुसार प्रजनन प्रवृत्ति के इन उदाहरणों से संकल्प की सार्वभौमिकता और अधिक स्पष्ट हो जाती है। इसी कारण उनका यह निष्कर्ष है कि सत्ता का मौलिक तथा वास्तविक स्वरूप संकल्प-रूप ही है। अपने तात्विक स्वरूप में संकल्प यथेष्ठ-युक्तता नियम के परे है क्योंकि हर भाव अन्ततः इसी पर आधारित है। शोपेनहावर तात्विक संकल्प को एक मानते हैं। परन्तु इसका एकत्व न वस्तुओं जैसा है, न संप्रत्ययों जैसा। यह एक है क्योंकि यह काल-दिक् आदि से परे है। इस संकल्प की अभिव्यक्ति हर गति तथा हर क्रियाओं में होती है। ऐसा प्रतीत होता है कि मानव जीवन की विभीषिकाओं, संघर्षों, कष्टों आदि के अनुभव के फलस्वरूप शोपेनहावर का यह निष्कर्ष और भी दृढ़ हो गया। इसी कारण शोपेनहावर का तत्त्व-दर्शन निराशावाद के रूप में प्रकट हुआ।

(ग) शोपेनहावर का निराशावाद

निराशावाद शोपेनहावर के तत्त्व-दर्शन का अनिवार्य अंग है। साधारणतः निराशावाद को एक मनोवृत्ति के रूप में समझा जाता है। कहा जाता है यदि कोई मनोवृत्ति जगत के दुखपूर्ण पहलू पर ही जोर देती है तो वह निराशावादी है। किन्तु, शोपेनहावर के निराशावाद की जड़ें इससे अधिक गहरी हैं क्योंकि उनके अनुसार निराशावाद अस्तित्व का अनिवार्य अंग हैं अस्तित्व के स्वरूप में निहित एक आवश्यक लक्षण है। इसी कारण शोपेनहावर के तत्त्व-दर्शन को समझने के लिये उनके निराशावाद को समझना आवश्यक हो जाता है।

शोपेनहावर के निराशावाद के पीछे उनका यह विश्वास है कि दुख सार्वभौम है। दुख एवं कष्ट का दूसरा नाम ही अस्तित्व है। हम जिन्हें सुख समझते हैं, वे भी वास्तव में दुख ही हैं। सुख की खोज में हम हजार दुख पाल लेते हैं, फिर भी सुख कहीं प्राप्त नहीं होता। अतः जगत-जीवन दुखमय ही है।

इस निराशावाद की यथार्थता अनेक ढंगों से सिद्ध की गयी है। यदि शोपेनहावर की सभी युक्तियों को समेटा जाय तो उन्हें सुगमता से तीन वर्गों में रखा जा सकता है। कहा जा सकता है कि निराशावाद की स्थापना के तीन प्रमुख ढंग हैं :

(क) सत्ता के संकल्प-रूप की व्याख्या के आधार पर।

(ख) इच्छा के स्वरूप के विश्लेषण के आधार पर।

(ग) जीवों के अस्तित्व तथा जीवन से बटोरे गये कुछ अनुभव-जन्य प्रमाणों के आधार पर।

(क) यदि सत्ता का अनिवार्य तथा सार्वभौम स्वरूप संकल्प है तो मानना पड़ता है कि संकल्प की जकड़ में सब कुछ बंधा है तथा इससे मुक्ति का कोई साधारण मार्ग सम्भव नहीं। इस संकल्प को वैयक्तिक मान कर वैयक्तिक स्वतंत्रता की भी बात नहीं की जा सकती क्योंकि वैयक्तिक स्वतंत्रता अथवा संकल्प के भाव को ही भ्रान्तिपूर्ण माना गया है। जिसे हम वैयक्तिक संकल्प कहते हैं वह तो एक विशेष केन्द्र पर सार्वभौम संकल्प का सीमित रूप है। संकल्प का यही तो खेल है कि व्यक्ति को सदा अपनी स्वतंत्रता का आभास होता है, जबकि वह सदा तात्विक संकल्प के बन्धन में जकड़ा कठपुतली मात्र है। इस संकल्प का रूप ही यह है कि यह सदा नवीन लक्ष्यों की ओर प्रेरित होता है, इसे किसी सन्तुष्टि से तृप्ति नहीं मिलती। तृप्ति के लालच में यह जीवों को भुलावे में रखता है, किन्तु जीवों का जीवन सदा अतृप्त ही रह जाता है। जिस सुख की खोज में जीव पागल बने रहते हैं, वह मरीचिका समान सदा उनकी पकड़ से बाहर है। संकल्प सदा जीव को वर्तमान में रखने की चेष्टा करता है, भूत तथा भविष्य दोनों अंधकारमय दिखाई देते हैं, किन्तु यह वर्तमान भी छलावा ही है। निश्चित रूप में वर्तमान वर्तमान ही नहीं है, वर्तमान को पकड़ने की चेष्टा में ही वर्तमान भूत हो जाता है। इस प्रकार स्पष्ट है कि संकल्प की सत्ता के द्वारा निर्धारित होने के कारण हर क्रिया अन्ततः निराशा ही उत्पन्न करती है।

(ख) इच्छा के स्वरूप के विश्लेषण के आधार पर भी इस निष्कर्ष की स्थापना की गयी है। जीवों की हर क्रिया का आधार है–'किसी कमी की भावना से उत्पन्न कुछ पाने की प्यास।' इसे ही इच्छा, आकांक्षा, अभिलाषा, अभिप्राय आदि विभिन्न रूपों में जाना जाता है। शोपेनहावर के अनुसार ये भी निराशा ही उत्पन्न करते हैं। मानव इच्छा के उदाहरण को आदर्श उदाहरण (paradism case) के रूप में मान कर शोपेनहावर के तर्क को समझने की चेष्टा की जा सकती है। प्रथमतः इच्छा की उत्पत्ति ही दुख या कष्ट में है। इच्छा किसी कमी की भावना में जागती है, और यह भावना दुखदायी है। इस कमी को दूर करने के लिये प्रयत्न करना पड़ता है, संघर्ष करना पड़ता है। इसमें भी कष्ट है। यदि प्रयत्न के बाद भी इच्छा-पूर्ति नहीं हुई तो और अधिक कष्ट होता है। जितनी तीव्र इच्छा हो, उतना ही कष्ट भी अधिक होता है। और, यदि किसी प्रकार इच्छा-पूर्ति हो भी जाय तो उसके बाद भी सुख नहीं मिलता। एक इच्छा के सन्तुष्ट होते ही अनेक नवीन इच्छायें जाग जाती हैं, और फिर प्रयत्न, संघर्ष, कष्ट का क्रम आरंभ हो जाता है। शोपेनहावर यह भी कहते हैं कि इच्छापूर्ति सन्तुष्टि भी नहीं देती। जब तक इच्छा पूरी नहीं होती तभी तक लगता है कि तृप्ति में सुख है, किन्तु इच्छा पूर्ति में वह सुख जिसकी चाह थी मिलता नहीं है। जब तक जीव भूख से पीड़ित रहता है, तभी तक भोजन के भाव में सुख है। इच्छा-पूर्ति के बाद–भूख निवारण के बाद–भोजन में सुख नहीं, कष्ट ही है। यही बात भावना के साथ भी सत्य है। एक प्रकार से तो इच्छा पूर्ति के बाद ही व्यक्ति उस वस्तु से उदासीन

हो जाता है। अतः इच्छा-विश्लेषण स्पष्टतः सिद्ध करता है कि इच्छा की उत्पत्ति से लेकर इसकी पूर्ति तक तथा उसके बाद भी तृप्ति नहीं मिलती, दुख ही होता है। जीवों की हर क्रिया की जड़ में किसी न किसी कमी की भावना है। अतः हर क्रिया में दुख ही होता है। इसी प्रकार शोपेनहावर दुख की सार्वभौमिकता सिद्ध करते हैं।

(ग) इस निष्कर्ष की स्थापना आनुभविक उदारहणों के आधार पर की गयी है। प्रथमः यह तो प्रायः स्वतः सिद्घ है कि कष्ट की अनुभूति पूर्णतया स्पष्ट अनुभूति है। इसके विपरीत सुख को तो स्पष्ट भावात्मक रूप में समझा भी नहीं जा सकता। सुख का अर्थ दुख की पृष्ठ मूनि में ही स्पष्ट होता है। सुख एक ऐसी स्थिति का काल्पनिक चित्र है जो दुख के संदर्भ में ही बनती है। कोई व्यक्ति सुखानुभूति का भावात्मक विवरण नहीं दे सकता, बस इतना ही कह सकता है कि वहाँ दुख की अनुभूति नहीं है। शोपेनहार का कहना है कि इसी कारण संसार की सभी महान रचनायें पात्रों के कष्ट, क्लेश तथा दुख की कहानी से भरे पड़े हैं। हर कहानी में मुख्य पात्र एक ऐसे लक्ष्य की ओर बढ़ता है जो उसकी दृष्टि में सुख तथा आनन्द की अवस्था है। सारी कहानी उसके संघर्षों एवं कष्टों की ही कहानी है, और अन्त में जब उसे लक्ष्य प्राप्त हो जाता है तो एकाएक कहानी समाप्त हो जाती है। लेखक को स्वयं पता नहीं कि उसके बाद क्या होना है, क्योंकि उस अवस्था के विवरण का कोई आनुभविक आधार उपलब्ध नहीं है। इसी कारण महाकाव्यों के रचयिता भी सुख के वर्णन में असमर्थ हैं। दुख की सार्वभौमिकता सिद्ध करने का यह भी एक तर्क माना गया है।

पुनः, शोपेनहावर का कहना है कि हमें अनुभव सुख का होता ही नहीं है। होता है तो बस दो भावनाओं का, कष्ट का तथा ऊब की भावना का। इन्हीं दो अनुभवों के आधार पर धर्म शास्त्रों ने नर्क तथा स्वर्ग का काल्पनिक चित्रण किया है। नर्क कष्ट का प्रतीक है, स्वर्ग सुख का प्रतीक नहीं—ऊब का प्रतीक है। यह एक ऐसी अवस्था का चित्र है जिसमें न कोई संघर्ष होना है और न कोई परिवर्तन। स्वर्गीय जीवन बस एक ढंग से जीना है, अतः ऊब उत्पन्न करने वाला जीवन है। इस प्रकार शोपेनहावर दिखलाते हैं कि सुख का साधारण भाव भी भ्रातिन्तपूर्ण है।

शोपेनहावर का कहना है कि अपने दैनिक जीवन में भी मनुष्य सदा परिवर्तन पसन्द करता है, सदा किसी नये मोड़ की खोज में रहता है। ऐसा कोई कार्य नहीं जो उसे सदा उलझा कर रख सके; ऐसी कोई तृप्ति नहीं जो उसे सदा तृप्त रखे। वह हर पुराने कार्य से विरक्त हो जाता है, और कुछ नये की तलाश करता है। हर व्यक्ति का जीवन इस तथ्य का साक्षी है। वह अपने 'काम' पर जाता है, किन्तु, वहाँ उसका जी नहीं लगता। वहां से छूटते ही वह घर वापस आता है, और शीघ्र ही ऊबने लगता है, कोई मनोरंजन का साधन ढूंढ़ने का उपक्रम करता है। वह कभी मुक्त रूप से श्वांस भी नहीं ले पाता, उसे सदा प्रतीति होती है कि उसके

पर कोई बोझ है। यह 'अस्तित्व' का बन्धन है और इस बन्धन की अनुभूति दुख है।

इस तथ्य को एक दूसरे प्रकार के आनुभविक उदाहरण के द्वारा भी सिद्ध किया जा सकता है। जीवन को शोपेनहावर विरोधाभासों का जीवन कहते हैं। मानव-जीवन का ही उदाहरण इसे स्पष्ट कर देता है। उदाहरणतः कोई व्यक्ति सदा अकेला नहीं रह सकता, और यदि उसे सदा संगति में दूसरों के साथ रख दिया जाय, तो वह अकेले के क्षणों के लिये उद्विग्न हो जायगा। एक पारिवारिक व्यक्ति परिवार एवं बच्चों के मध्य परेशान रहता है, किन्तु परिवार से अलग भी वह उतना ही परेशान रहता है। अविवाहित व्यक्ति का जीवन कष्टकर प्रतीत होता है, वह विवाह कर लेता है, परन्तु जीवन फिर वैसा ही कष्टकर रह जाता है। इन विरोधी उदाहरणों के आधार पर शोपेनहावर कहते हैं कि जीवन की किसी भी स्थिति में शान्ति नहीं, दुख ही है।

शोपेनहावर के दर्शन में 'मृत्यु' की चेतना का विशेष उल्लेख हुआ है। उनका कहना है कि मृत्यु का डर हर जीवों के जीवन पर छाया रहता है। उनके अनुसार जीवन को 'स्थगित मृत्यु' ही कहना उपपुक्त है, क्योंकि जीवन का कोई क्षण ऐसा नहीं जिसमें 'मृत्यु-बोध' न हो। एकाएक, साधारण सी बात पर भी भय-विह्वल हो जाना इस चेतना का साक्षी है। शोपेनहावर यह भी मानते हैं कि इस दुख का निराकरण आत्महत्या नहीं। आत्महत्या से एक व्यक्ति अपने जानते अपने दुखों का समाधान कर लेता है, किन्तु इससे दुख की, अथवा मृत्यु की, चेतना की सार्वभौमिकता नष्ट नहीं होती।

शोपेनहावर तो यहाँ तक कह देते हैं कि विभिन्न दर्शनों में ज्ञान को जो महत्त्व दिया गया है, वह भी यथार्थ नहीं है। साधारणतः दुख का कारण अज्ञान को कहा जाता है, और मान लिया जाता है कि वास्तविक ज्ञान की उपलब्धि के साथ दुख का अन्त हो जायगा। किन्तु शोपेनहावर का कहना है कि दुखों की समस्या का यह समाधान उपयुक्त प्रतीत नहीं होता। विकास का इतिहास ही इस बात का साक्षी है कि विकास के साथ दुख भी बढ़ते गये हैं। ज्ञानी या विकसित बुद्धि वाले व्यक्ति को अधिक दुख सहना पड़ता है। अज्ञानी या मूर्ख तो बहुत सी बातों को समझता भी नहीं, और इसीलिये उनसे उत्पन्न दुखों को झेलता भी नहीं। ज्ञान तो दुख के रूप को और भी स्पष्ट कर देता हैं। इसी कारण विलक्षण बुद्धि वाले व्यक्तियों का जीवन कष्टमय ही व्यतीत होता है।

इस प्रकार के साधारण आनुभविक उदाहरणों के आधार पर शोपेनहावर सिद्ध करने की चेष्टा करते हैं कि जीवों के जीवन में सर्वत्र दुख ही दुख हैं। कहा जा सकता है कि इन उदाहरणों के द्वारा शोपेनहावर अपने तात्विक निष्कर्ष का

आनुभविक प्रमाण उपस्थित करते हैं। इससे भी निराशावाद की अनुभव द्वारा पुष्टि हो जाती है।

शोपेनहावर का कला दर्शन

अब, इतना तो स्पष्ट हो गया कि शोपेनहावर के तत्व-दर्शन का एक आवश्यक अंग निराशावाद है। किन्तु क्या निराशावाद उनका अन्तिम निष्कर्ष है? एक पूर्ण निराशा ही जीवों का चरम भाग्य है? क्या जीवों की अन्तिम तथा शाश्वत स्थिति दुख ही है? शोपेनहावर भी इस स्थल पर भारतीय दार्शनिकों, विशेषतः बौद्ध दार्शनिकों, के समान निराशावाद को अन्तिम स्थिति नहीं मानते। उनका कहना है कि इस निराशा तथा दुख से मुक्ति सम्भव है क्योंकि संकल्प की कठिन जकड़ से मुक्त होने का मार्ग भी है। उनके अनुसार इस मुक्ति के दो ढंग हैं-प्रथम, अस्थायी मुक्ति का ढंग जिसमें दुखों से कुछ क्षणों के लिये मुक्ति मिल सकती है, और दूसरा पूर्ण मुक्ति का ढंग। पहला मार्ग कलात्मक अनुभूति का है तथा दूसरा मोक्ष-मार्ग। पहले हम कलात्मक अनुभूति को समझने की चेष्टा करें, क्योंकि इसी चेष्टा में शोपेनहावर का कला-दर्शन स्पष्ट हो जायगा।

शोपेनहावर कला को अत्यधिक महत्त्व देते हैं क्योंकि उनके अनुसार कला में दुखों से कुछ क्षणों के लिये मुक्ति दिलाने की शक्ति है। यह सम्भव है क्योंकि शुद्ध सौन्दर्यातुभूति का सम्बन्ध 'इच्छा' या 'चाह' से नहीं है। यदि हम किसी वस्तु से प्रभावित हो उसकी कामना करते हैं, तो हम यहाँ संकल्प के दास हैं। अतः यह इच्छा है, सौन्दर्यानुभूति में कामना, वैयक्तिक लाभ, इच्छा आदि का प्रश्न नहीं है; कला की उपासना व्यक्ति को इनसे ऊपर उठा ले जाती है। अतः शोपेनहावर का कहना है कि सौन्दयानुभूति का विषय 'शुद्ध भाव' (Pure Idea) है।

इस शुद्ध भाव को प्लेटो के सत्ता-भाव के रूप में समझा जा सकता है। शोपेनहावर अपने तत्व-दर्शन में कहते हैं कि दृश्य जगत् की वस्तुओं का ज्ञान संप्रत्यय रूप में होता है. किन्तु, हर संप्रत्यय किसी मूल भाव की अनुकृति अथवा अभिव्यक्ति है। अतः यदि किसी प्रकार हम प्रदत्त के संप्रत्यय रूप से ऊपर उठ उसके मूल भाव रूप को पकड़ सकें, तो वही सौन्दर्यानुभुति कही जायगी। अथवा यदि किसी अनुभव के विषय को हम उसके स्थूल रूप के स्थान पर उसके उस मूल भाव को देख पाते हैं जिसे वह संप्रत्यय-रूप में व्यक्त कर रहा है, तो हम कला पारखी हैं। अतः शोपेनहावर के अनुसार कला का अर्थ है 'अनुभव-विषय में व्यक्त मूल-भाव की अनुभूति'।

इसी कारण तो कला की उपासना में व्यक्ति अपने दुख-कष्ट, आदि चिन्ताओं से कुछ क्षणों के लिये मुक्ति पा लेता है। उसका साधारण जीवन दृश्य-जगत् में संप्रत्ययों के बीच उलझा रहता है। यही व्यक्ति का बन्धन है तथा दुख का कारण

भी । मुक्ति का अर्थ है संप्रत्यय-जगत से ऊपर उठ भाव-जगत् में विचरण करना। कला इसमे सहायक है। कला की उपासना में व्यक्ति भाव-जगत में खो जाता है।

अतः शोपेनहावर का कहना है कि जो किसी मूल भाव को किसी कलाकृति में व्यक्त कर सके, वही कलाकार है तथा जो किसी कलाकृति में मूलभाव हो पहचान सके वही कला पारखी है । शोपेनहावर ऐसे व्यक्ति को विलक्षण प्रतिभा वाला व्यक्ति (Genius) कहते हैं । बात यह है कि हर कलाकृति किसी मूल भाव की बहुत ही अपूर्ण अनुकृति है । अतः उसमें मूल भाव को ढूंढ़ लेना किसी विलक्षण मस्तिष्क का ही कार्य हो सकता है । सच्चे कलाकार की प्रतिभा तो विलक्षण होता ही है ।

शोपेनहावर के अनुसार कलाकार की कल्पना शक्ति तथा सूझप्रखर होती है। उसकी प्रप्रिभा उसे संकल्प के बन्धन को तोड़ने में समथं बनाती है । उसका जीवन कुछ असाधारण सा हो जाता है । इसी कारण उसका ढंग साधारण व्यक्तियों की कुछ विचित्र प्रतीत होता है । उसे सनकी, पागल आदि विशेषणों से विभूषित किया जाता है । किन्तु उसकी यह विशिष्टता है कि उसे मूल भाव की पहचान की सहज-शक्ति प्राप्त है । फलतः वह अपने ढंग से सांसारिक उलझनों से मुक्त रहता है। जिसे यह शक्ति जिस मात्रा में उपलब्ध है, वह उसी मात्रा में संकल्प के बन्धन से मुक्त है ।

शोपेनहावर के अनुसार प्रतिभा तथा निपुणता में अन्तर है । निपुण व्यक्ति की सांसारिक उपलब्धियाँ विशेष होती हैं, वह ब्यवहारिक आदान-प्रदान तथा लाभ-हानि के कार्यों में दक्ष हो सकता है । किन्तु उसकी निपुणता उसे यह समझ नहीं देती कि इस प्रकार के कार्यों के द्वारा वह संकल्प के बन्धन में और अधिक जकड़ा जा रहा है । दक्षता, निपुणता आदि चिन्ता तथा दुख के उपकरण मात्र हैं । प्रतिभावान व्यक्ति इन बातों में दक्ष न हो, किन्तु शान्ति की खोज में समर्थ अवश्य है । अतः कला की उपासना का शोपेनहावर के दर्शन में बड़ा ही महत्त्व है । यह संकल्प के निरंकुश शासन के विरुद्ध एक प्रकार का प्रतिवाद है ।

शोपेनहावर ने विभिन्न कलाओं में उनके विषय-वस्तु के अनुसार भेद किया है तथा उन्हें एक क्रम में रखा है । उनके अनुसार कला को मुख्यतः चार भागों में विभक्त किया जा सकता है ।

(1) **वास्तुकला** (Architecture)

शोपेनहावर के अनुसार वास्तुकला कला का स्थूलतम रूप है । इसमें जड़-जगत के कुछ स्थूल भावों को व्यक्त करने की चेष्टा की जाती है, जैसे, साहचर्य भाव, संलग्नता, अन्तराकर्षण, भार, आकार, सामंजस्य, संगीत, सन्तुलन आदि के भाव । प्राचीन भारत, ग्रीस, मिश्र, चीन, रोम आदि में वास्तुकला के सुन्दर उदाहरण उपलब्ध हैं । बड़ी-बड़ी इमारतों आदि में कलाकारों ने इन भावों को मूर्त रूप देने की चेष्टा की थी ।

(2) **चित्रकला एवं शिल्पकला** (Painting & Sculpture)

वास्तुकला से श्रेष्ठतर कला चित्रकला एवं मूर्त्तिकला को माना गया है क्योंकि शोपेनहावर के अनुसार इन कलाओं की कलात्मक सूझ-बूझ अधिक गहरी होती है। इन कलाओं के भी स्तर होते हैं। किसी सुन्दर दृश्य या जड़ जीवन के चित्र को शोपेनहावर उच्च कोटि की कला नहीं कहते। इससे श्रेष्ठतर चित्रांकण मानव रूप, मानव-जीवन या मानव-भावना को रूप देने की चेष्टा है। इस प्रकार के चित्र तथा शिल्प में विशिष्टता यह है कि वहाँ केवल मानव रूप को व्यक्त करने की चेष्टा नहीं, बल्कि किसी सार्वभौम भाव को व्यक्त करने का प्रयत्न है। रोमन तथा ग्रीक शिल्पकारों ने देवी-देवताओं की प्रतिमाओं का निर्माण किया, किन्तु उन प्रतिमानों में केवल मानव-रूप अंकित नहीं है। उदाहरणतः वीनस की प्रतिमा स्त्री शरीर-सौन्दर्य का प्रतीक मात्र नहीं है, बल्कि स्त्रीत्व की सारी कोमलता तथा भावनाओं का प्रतीक है।

(3) **काव्य** (Poetry)

काव्य को चित्रकला तथा मूर्तिकला से श्रेष्ठ माना गया है, क्योंकि काव्य मूल भाव को स्थूल रूप देने की चेष्टा नहीं करता, उसे भावरूप में ही व्यक्त करता है। अन्तर्दृष्टि एवं अनुभूति की उपज है। काव्य सत्य-दर्शन में सहायक है। शोपेन-हावर के मत में काव्य इतिहास की अपेक्षा सत्य से निकटतर है क्योंकि काव्यकार को सत्य की अनुभूति होती है, इतिहासवेत्ता को ऐसी अनुभूति नहीं होती।

काव्य में भी दुखान्त रचना का स्थान सर्वोपरि है, क्योंकि इसमें संकल्प का आत्म-संघर्ष स्पष्ट रूप में प्रगट होता है। इसके पात्र केवल अपने वैयक्तिक दुखों की कहानी नहीं कहते, अपितु अस्तित्त्व में निहित दुखों का चित्रण करते हैं। इसी कारण दुखान्त रचनायें जीवन को उसके सच्चे रूप में व्यक्त करती हैं।

(4) **संगीत** (Music)

संगीत में चित्रकला, मूर्तिकला अथवा साहित्य के समान भावों की अभिव्यक्ति स्थूल माध्यम के द्वारा नहीं होती। इनके समान संगीत प्रतिनिधित्व भी नहीं करता। संगीत के सम्बन्ध में यह नहीं पूछा जा सकता कि संगीत क्या कह रहा है। उस दृष्टि से शुद्ध संगीत का कोई विषय-भाव नहीं है। शोपेनहावर स्वीकार करते हैं कि ऐसा संगीत भी होता है जिसमें विषय-भाव रहता है, तथा शब्द तथा बोल का भी महत्त्व होता है। किन्तु उनके अनुसार इस प्रकार का संगीत अनुकरणात्मक है, उच्च कोटि का नहीं। शुद्ध संगीत में बोल आदि का महत्त्व नहीं। होता। इसी कारण तो संगीत में अन्य कलाओं की अपेक्षा चिन्ता, कष्ट को भुला देने की शक्ति सर्वाधिक है।

यह इसी कारण सम्भव है कि संगीत का सम्बन्ध भाव-संसार से नहीं, सीधा संकल्प से ही है। कला के अन्य सभी रूप संकल्प से परोक्ष ढंग से ही सम्बन्धित होते

हैं, केवल संगीत का ही सम्बन्ध साक्षात सम्बन्ध है ।* यही तो संगीत की शक्ति का रहस्य है । यदि यह भी भावों से सम्बन्धित होता, तो इसकी सीमा भी भाव-रूप-जगत में निर्धारित रहती । इसी कारण शोपेनहावर कहते हैं कि संगीत में जीव की आन्तरिक वास्तविकता की पूर्ण कलात्मक अभिव्यक्ति सम्भव हो पाती है ।

नीति तथा धर्म-दर्शन

दर्शनिक दृष्टि से नीति-दर्शन तथा धर्म-दर्शन को एक कोटि में नहीं रखा जा सकता । आधुनिक पाश्चात्य दर्शन के लिये तो यह भेद अनिवार्य है ही, पारम्परिक पाश्चात्य दर्शन में भी इन दोनों में अन्तर किया जाता है । साधारणतः नैतिकता का सम्बन्ध मानवीय सम्बन्धों एवं क्रियाओं के शुभ-अशुभ रूप से है तथा धर्म का सम्बन्ध आध्यात्मिकता से है । प्राचीन भारतीय दर्शन में नैतिकता तथा धर्म के बीच ऐसा स्पष्ट अन्तर नहीं किया गया है क्योंकि उसके अनुसार जीवन का परम शुभ भी आध्यात्म में ही है । शोपेनहावर भी सम्भवतः भारतीय दर्शन के प्रभाव में इस अन्तर को गौण बना देते हैं । उनके अनुसार नीति तथा धर्म एक दूसरे से पृथक नहीं हैं । वैसे अपने विचार को न तो वे स्पष्टतः नीति दर्शन कहते हैं और न धर्म-दर्शन, किन्तु उसमें दोनों प्रकार के विचारों का समावेश है । इसे धर्म-दर्शन कहा जा सकता है क्योंकि इसका लक्ष्य धर्म-दर्शन के लक्ष्य-निर्वाण-जैसा ही है, इसे नीति-दर्शन भी कहा जा सकता है क्योंकि इसका सम्बन्ध जीवन के व्यवहारों एवं क्रियाओं से है । अपने नैतिक विचारों में शोपेनहावर कठोरतावादी हैं, तथा संयम, तप, त्याग विरक्ति आदि के समर्थक हैं । उनके धर्म-दर्शन में अध्यात्मवाद तथा रहस्यवाद का सम्मिश्रणहै । इन विचारों को नीति-दर्शन की कोटि में रखा जाता हैं क्योंकि इनमें कुछ नैतिक आग्रह तथा अनुशंसा हैं, इन्हें धर्म-दर्शन की कोटि में भी रखा जाता है क्योंकि इस आग्रह का लक्ष्य एक शान्ति तथा दुख से मुक्त अवस्था की प्राप्ति है । नैतिक अनुशासन मुक्ति मार्ग के पथिक को समर्थ बनाते हैं, धर्म मार्ग इस पथ का अन्तिम चरण है ।

कलात्मक अनुभूति से भी दुखों से मुक्ति मिलती है, किन्तु केवल कुछ क्षणों के लिये ही । किन्तु यह क्षणिक अनुभूति ही व्यक्ति को पूर्ण मुक्ति की सम्भावता की ओर सचेत कर देती हैं । पूर्ण मुक्ति की सम्भावना ही शोपेनहार के नीति तथा धर्म-दर्शन का मूल विषय है ।

---

* Musie is they by no means like the other arts, the copy of the Ideas, but the copy of the will itself, whose objectivity the Ideas are this is why the effect of Music is so much more powerful and penetrating than that no the other arts, for they speak only of shadows, but it speaks of the thing it self The Xhilosophy of Schopanhovar. The Modern Ed. Modern Education Pebrary, New Yark, 1928, p. 20/

उनके अनुसार अस्तित्व ही बन्धन है, दुख है। अतः अस्तित्व का निषेध ही मुक्ति का मार्ग हो सकता है। अस्तित्व संकल्प रूप है। अतः अस्तित्व के निषेध का अर्थ है संकल्प के बन्धन को तोड़ना। शोपेनहावर ने इस क्रिया को एक नाम दिया है—'संकल्प का निषेध' (Driad of the will)। इसे जीने के संकल्प का निषेध (Driad of the will to live) भी कह सकते हैं, क्योंकि अस्तित्व जीने के संकल्प का ही दूसरा नाम है। वैसे कहा जा सकता है कि यदि जीने के संकल्प का निषेध ही मुक्ति मार्ग है तो इसका सरलतम ढंग आत्महत्या ही है। किन्तु शोपेनहावर के अनुसार आत्महत्या जीने के संकल्प का निषेध नहीं, बल्कि उसका समर्थन है। कष्ट या दुख से छुटकारा पाने के लिये जो व्यक्ति आत्महत्या करता है यदि वह वैसे ही दुखों से छुटकारा पा लेता तो आत्महत्या नहीं करता। अतः आत्महत्या भी किसी संकल्प को क्रियान्वित करने की चेष्टा का परिणाम है। यह मुक्ति मार्ग नहीं है। जीने के संकल्प का निषेध एक विशिष्ट तात्विक प्रक्रिया है।

इस स्थल पर अपत्ति उठायी जा सकती है कि शोपेनहावर की यह उक्ति तो आत्मव्याधातक है। यदि संकल्प ही सत्ता है, और सब कुछ संकल्प रूप ही है, तो इस संकल्प का निषेध कैसे सम्भव हो सकता है? शोपेनहावर को इस सम्भावित असंगति की चेतना थी। वे संकल्प निषेध को संकल्प के सार्वभौम रूप का अपवाद मानते हैं, और इसकी युक्तता सिद्ध करने की चेष्टा में पुनः संवृति तथा सत् के अन्तर का उल्लेख करते हैं। उनके अनुसार संकल्प निषेध आत्म-व्याघातक प्रतीत होता है क्योंकि इस पर यथेष्ठ-युक्तता नियम की दृष्टि से विचार किया जाता है। किन्तु, यथेष्ठ-युक्तता नियम केवल दृश्य जगत पर ही लग सकता है। संकल्प के बन्धन तोड़ने का अर्थ संवृति-जगत् में संकल्प के व्यक्त रूपों से सर्वथा अलग हो जाना है। संकल्प दृश्य-जगत् या अनुभूत संसार में अपनी अभिव्यक्तियों के द्वारा व्यक्ति को बन्धन में रखता है। संकल्प के निषेध का अर्थ इस बन्धन को तोड़ना है। शोपेनहावर का विश्वास है कि इस निषेध के फलस्वरूप जगत् शून्य-रूप प्रतीत होगा, माया का खेल प्रतीत होगा। अतः संकल्प के निषेध का अर्थ संवृति जगत में संकल्प के व्यक्त रूप का निषेध हैं। शोपेनहावर स्वीकार करते हैं कि इसमें तार्किक असंगति दिखाई दे सकती है। किन्तु इस प्रतीति का कारण यह है कि संकल्प तार्किक समझ के परे है।

इस मुक्ति मार्ग के दो सोपान बताये गये हैं, प्रथम सोपान नैतिकता का है तथा दूसरा पूर्ण पावनता तथा शुचिता (holiness) का। पहला सोपान अतिशय अनुशासन का सोपान है और दूसरे की पृष्ठभूमि भी क्योंकि अन्तिम अनुशासन के लिये यह व्यक्ति को समर्थ बनाता है।

(क) प्रथम सोपान शुभ प्रवृत्तियों को जागरूक करने का सोपान है। इसमें प्रेम, करुणा, अनुकम्पा आदि को महत्त्व दिया गया है। इनका महत्त्व

आनुभाविक भी है तथा तात्विक भी। इनके द्वारा केवल दुख की सार्वभौमिकता का का ही भान नहीं होता, बल्कि जीवों के तात्विक एकत्व की भी अनुभूति हो जाती है। वैयक्तिकता संवृति-जगत् की विशिष्टता है, तात्विक दृष्टि से एकत्व सत्य है। दूसरों के प्रति करुणा (Sympathy) जागने के पीछे इसी एकत्व की अनुभूति है। एकत्व की अनुभूति में दया, न्याय-भाव आदि की चेतना निहित है। जीवन में यदि इस चेतना से कार्य किया जाय तो अहं भाव तथा स्वार्थ का नाश होता है, अन्य के स्वत्व तथा अधिकार का भान होता है, दायित्व की भावना जागती है, तथा इन सबों के परिणामस्वरूप संकल्प का बन्धन ढीला पड़ जाता है। जब तक 'अहं' का भाव है तभी तक हम संकल्प के दास हैं, करुणा, प्रेम आदि इस अहं-भाव का हनन करते हैं।

(ख) इन अनुभूतियों के फलस्वरूप संकल्प को अपनी विभीषिकाओं की चेतना हो जाती है, तथा संत्रास में वह आत्म-निषेध के लिए उद्यत हो जाता है। इस निषेध को त्याग तथा वैराग्य का मार्ग कहा जा सकता है। शोपेनहावर कहते हैं कि यह मार्ग इच्छाओं के हनन तथा स्वार्थ के पूर्ण उन्मूलन का मार्ग है। यह संकल्प के विरुद्ध पूर्ण प्रतिवाद है, अतः ऐसे सभी कार्यों का जिनसे संकल्प को पुष्टि मिलती है त्याग वांछनीय ही नहीं अनिवार्य है।

शोपेनहावर का यह यतिमार्ग भारतीय सन्यास वृत्ति के समान बड़ा ही कठिन है, वे तप, त्याग, संयम, अनुरिग्रह आदि की प्रशंसा करते हैं, तथा उपवास, काम वृत्ति का त्याग, कष्ट सहने में सहजता की प्राप्ति आदि को व्रत जैसा महत्त्व देते हैं। काम वृत्ति के त्याग का विशेष उल्लेख किया गया है, क्योंकि उनके अनुसार यह संकल्प की जड़ पर ही आघात है। जीवों की उत्पत्ति ही संकल्प के बन्धन को दृढ़ बनाती है, यदि यह आकर्षण ही समाप्त हो जाय तो व्यक्ति का ही नहीं, जाति की मुक्ति का मार्ग भी खुल जाता है।

स्पष्ट है कि तप, त्याग आदि के इस आदर्श की अवधारणा हिन्दू, बौद्ध तथा ईसाई मतों से प्रभावित है। उसी प्रभाव में शोपेहावर कहते हैं कि 'आत्म-नियन्त्रण' ही सबसे बड़ा बल है। उनका कहना है कि सिकन्दर महान् से अधिक बड़ा दिग्विजयी संत फ्रांसिस को माना जा सकता है।

इस प्रकार यदि संकल्प का निषेध किया जाय, तो इसके फलस्वरूप एक शान्ति की अवस्था की प्राप्ति सम्भव हो जाती है। शोपेनहावर इस अवस्था को 'निर्वाण' की अवस्था कहते हैं। यह आन्तरिक स्थिरता तथा शान्ति की अवस्था है जिसे कोई संकल्प विचलित नहीं कर सकता। कभी-कभी शोपेनहावर यह भी कह देते हैं कि निर्माण की अनुभूति में जगत् की शून्यता की अनुभूति निहित है। किन्तु इस अवस्था का पूर्ण विवरण शोपेनहावर नहीं देता। फलतः यह स्पष्ट नहीं हो पाता कि इस अवस्था का वास्तविक स्वरूप क्या है। क्या इसमें व्यक्ति की वैयक्तिता

का अपहरण हो जाता है ? क्या निर्वाण पूर्ण एकत्व की अनुभूति है ? शोपेनहावर को शायद इस प्रकार के प्रश्न महत्त्वपूर्ण प्रतीत नहीं होते। एक तो, शायद इन शंकाओं का निराकरण-निर्वाण-प्राप्ति के उपरान्त ही सम्भव हो, तथा शंकाओं से प्रमुख समस्या पर कोई महत्त्वपूर्ण प्रभाव नहीं पड़ता। शोपेनहावर का विश्वास है कि संकल्प-बन्धन, दुख आदि की समस्या इतनी प्रबल है कि इन तात्विक प्रश्नों में उलझने की आवश्यकता नहीं। मुक्ति मार्ग पर अग्रसर होने के लिए मुक्ति की सम्भावना ही यथेष्ठ प्रेरणा है।

समीक्षा

पाश्चात्य दर्शन के इतिहास में उन्नीसवीं शताब्दी बड़ी महत्त्वपूर्ण रही है क्योंकि उसमें अनेक मौलिक विचारधारायें प्रकाश में आयी हैं। शोपेनहावर के दर्शन की विशिष्टता भी उनके विचारों की मौलिकता में है। उन्होंने दर्शन की पारम्परिक समस्याओं पर भी पूर्ण ध्यान दिया है; ज्ञान-मीमांसा तथा तत्व-दर्शन के मूल प्रश्नों पर विचार किया है, फिर भी उनके दर्शन में एक विचित्र नवीनता तथा मौलिकता है। एक दृष्टि से उनके दर्शन को जीवन-दर्शन कहा जा सकता है। हेगेल ने सत्ता के सार्वभौम रूप पर विचार किया तथा मार्क्स ने मानव के सार्वभौम रूप पर, किन्तु शोपेनहावर ने व्यक्ति के जीवन को निकट से देखा। संकल्प के व्यापक रूप तथा दुख की सार्वभौमिकता की पहचान इसी दृष्टि का परिणाम है। इसी दृष्टि के कारण शोपेनहावर का दर्शन जीवन के निकट प्रतीत होता है।

फिर भी, दार्शनिक दृष्टिकोण से उनके दर्शन में कुछ विसंगतियाँ भी हैं। उनके विचारों की मौलिकता ने आलोचकों का ध्यान आकृष्ट किया था। फलतः उनके विचारों की कटु आलोचना हुई है। उन आलोचनाओं को ध्यान में रखते हुए यदि तटस्थ ढंग से शोपेनहावर के विचारों की समीक्षा की जाय, तो कहा जा सकता है कि उनके विचारों में दो प्रकार के दोष हैं, एक को दार्शनिक दोष कहा जा सकता है, तथा दूसरे को अतिशयोक्ति दोष। पहले का सम्बन्ध सामान्यतः शोपेनहावर के तत्त्व-दर्शन से है तथा दूसरे का उनके जीवन-दर्शन से।

प्रथमतः यह तो कहा ही जा सकता है कि संवृत्ति तथा सत् के अन्तर की व्याख्या विश्वोसोत्पादक तथा मान्य नहीं है। इनके अन्तर का आधार कांट के इस विषय के भेद के आधार पर ही माना गया है, तथा साथ-साथ सत् का ज्ञान सम्भव भी बताया गया है। उस ज्ञान का आधार एक विशेष प्रकार की अन्तर्दृष्टि को माना गया है। एक तो इस अन्तर्दृष्टि की अवधारणा ही सर्वथा अस्पष्ट है, तथा जिस ढंग से इसे ज्ञान का साधन बनाया गया है उसमें भी तार्किक असंगति है। अन्तर्दृष्टि का माध्यम तो संवृति जगत् का माध्यम है। वह तो आनुभविक आधार पर ही कार्य करती है। तो यदि यह सच है, तो दृश्य-जगत् के माध्यम से सत् का ज्ञान कैसे सम्भव हो सकता है ? इस प्रकार के सभी साधन एवं माध्यम यथेष्ठ

युक्तता नियम पर आधारित हैं। अतः इनके द्वारा उस सत्ता का ज्ञान सम्भव प्रतीत नहीं होता जो यथेष्ठ युक्तता नियम के परे हैं। कम से कम शोपेनहावर इसे स्पष्ट नहीं कर पाते।

दृश्य-जगत् की व्याख्या में भी शोपेनहावर विसंगतियों में उलझ जाते हैं। इस व्याख्या में वे आत्मवाद (Solipsism) तथा प्लेटो जैसे प्रत्ययवाद (Idealism) की एक विचित्र खिचड़ी तैयार कर लेते हैं। एक ओर तो वे जगत् को आत्म का, संप्रत्यय' कहते हैं, और पुनः यह भी कह देते है कि सभी संप्रत्यय मूल भावों की अनुकृतियाँ हैं। यह मूल भाव (Platonic Ideas) की अवधारणा एकाएक कैसे उपस्थित होती है, यह समझ में नहीं आता और न यही स्पष्ट होता है कि कैसे संकल्प अपने को इन मूल भावों में व्यक्त करता है। पुनः शोपेनहावर यह भी स्पष्ट नहीं कर पाते कि मूल भावों की कैसे अनुकृति होती है तथा आत्म के संप्रत्ययों की प्रतीति होती है। यह अन्तिम दोष प्लेटो के दर्शन में भी है। किन्तु प्लेटो ने इन मूल भावों को ही परम सत्ता माना है, अतः उनके दर्शन में यह दोष उतना बड़ा नहीं है जितना कि शोपेनहावर के दर्शन में, क्योंकि शोपेनहावर मूल भावों को संकल्प-सत्ता की अभिव्यक्ति मानते हैं। प्लेटो के समक्ष केवल एक कड़ी की व्याख्या की कठिनाई है (मूल भावों तथा संप्रत्ययों के सम्बन्ध की व्याख्या की कठिनाई), जबकि शोपेनहावर के समक्ष यह कठिनाई दो स्तर पर है (संकल्प तथा मूल भाव के बीच, तथा मूल भाव एवं संप्रत्ययों के बीच)।

पुनः संकल्प के स्वरूप की व्याख्या में भी शोपेनहावर विचार का अतिक्रमण कर जाते हैं। संकल्प की सार्वभौमिकता बलात् सिद्ध करने की चेष्टा की गयी है। संकल्प के भाव को इतना व्यापक बना दिया गया है कि इसके अन्तर्गत रखे गये उदाहरणों को संकल्प का उदाहरण मानने में हिचक होती है। बीज के अंकुर रूप में फूटने को, खनिज के स्फटिक रूप लेने को, जड़ पदार्थ की हर हरकत को संकल्प का उदाहरण मान लिया गया है। प्रतीत होता है कि संकल्प शब्द के प्रयोग में ही व्यामिश्र है।

इसी स्थल पर एक अन्य दोष भी प्रकाश में आ जाता है। शोपेनहावर के सत्ता-दर्शन में स्पष्ट विरोध है। यदि संकल्प सत्ता है तो संकल्प का निषेध सत्ता-निषेध है। यह कैसे सम्भव है? वैसे कहीं-कहीं शोपेनहावर ने कहा है कि निर्वाण प्राप्ति में शून्यता का भान होता है। किन्तु यह शून्यता जगत की है अथवा संकल्प की? यदि निर्वाण में जगत् की शून्यता की अनुभूति हो जाती है, तो इसमें सत्ता की वास्तविकता की अनुभूति निहित है, सत्ता का निषेध नहीं। संकल्प को सत्ता मानना तथा संकल्प-निषेध को चरम आदर्श बताना आत्म-व्याघातक है।

एक अन्य ढंग से भी शोपेनहावर के मुक्ति-मार्ग-दर्शन की विकृति को स्पष्ट किया जा सकता है। उनके अनुसार अन्तिम लक्ष्य संकल्प-निषेध है। किन्तु, शोपेन-

हावर भूल जाते हैं कि संकल्प-निषेध की प्रक्रिया भी संकल्प को स्वीकार ही करती है। संकल्प-निषेध भी एक निर्णय है, निश्चय है, और हर निर्णय संकल्प मात्र की ही अभिव्यक्ति है। इस प्रकार शोपेनहावर का आदर्श मात्र सैद्धान्तिक तथा अव्यवहारिक रह जाता है।

इन दार्शनिक दोषों के अतिरिक्त उनके दर्शन में कुछ अतिशयोक्ति दोष भी हैं। इसका कारण है कि उनके विचार एकांगी हैं। जीवन का अनुभव उन्हें कुछ इस ढंग से हुआ कि उनके निष्कर्ष एक तरफा बन गये। उन्होंने सामान्य जीवन-ढंग को कभी अपनाया नहीं. विवाह, परिवार, बच्चे आदि से वे भागते ही रहे। फलत: उनके जीवन-दर्शन के निष्कर्ष भी असामान्य हो गये तथा उनमें अतिशयता का दोष आ गया।

उदाहरणत: उनका निराशावाद का निष्कर्ष ही अतिरंजित प्रतीत होता है। उन्हें हर अनुभव में दुख ही दुख दिखाई देता है, सुख के उदाहरणों में भी वे दुख ही देखते हैं। उन्हें यह नहीं सूझता कि यदि दुख इतना व्यापक होता तो जीने की चाह किसी को न रहती। सुखानुभूति को वे अवास्तविक तथा अभावात्मक मानते हैं, किन्तु यह नहीं देख पाते कि कैसे सुख मनुष्य को उन्मत बना देता है। उनका इच्छा-विश्लेषण भी अवास्तविक है। यह कहना अनुभव-सिद्ध नहीं कि तृप्ति में सुख नहीं है। वे मृत्यु के भय का उल्लेख करते हैं, किन्तु ध्यान नहीं देते कि मृत्यु का भय तो जीवन के सौन्दर्य का प्रमाण है। जीवन में इतने सुख हैं कि उनके छूट जाने की कल्पना से घबराहट होती है। निराशावाद की पुष्टि के लिए शोपेनहावर जिन उदाहरणों का उल्लेख करते हैं, वे भी अतिशयोक्तिपूर्ण हैं।

फिर भी, इतना तो कहा ही जा सकता है कि शोपेनहावर के विचारों में एकनिष्ठता तथा ईमानदारी है। उनके विचारों से हम सहमत भले ही न हों,उनकी बातों को पूर्णतया असत्य भी नहीं कह सकते। इतना तो मानना ही पड़ेगा कि शोपेनहावर के विचारों में जीवन का ऐसा पहलू स्पष्ट रूप में निखर आता है जिसके विषय में साधारणत: हम अनभिज्ञ रहते हैं।

13

नीत्शे

1844--1900

जीवन—नीत्शे का जन्म रो एकन में 1844 की 15 अक्टूबर को हुआ था। जब उनकी उम्र पांच वर्ष की थी उनके पिता की मृत्यु हो गयी, तथा वे पादरी परिवार की धर्मभीरु स्त्रियों के बीच बढ़ने लगे। उनकी प्रारम्भिक शिक्षा वहीं के तथा प्रसिद्ध फोर्टा के स्कूल में हुई। अपने स्कूल के दिनों में ही वे बड़े तेज़ तथा होनहार प्रतीत हुए। उनकी बहन का तो कहना है कि दस वर्ष की अवस्था में ही उन्होंने कवितायें बनायीं थीं, नाटक लिखे थे तथा संगीत-रचना भी की थी। स्कूल में भी उन्हें धर्म-शास्त्र की शिक्षा मिली तथा आत्म-नियंत्रण तथा अनुशासन की सीख भी।

1864 में नीत्शे ने बौन विश्वविद्यालय में प्रवेश किया, किन्तु एक वर्ष बाद ही भाषा-शास्त्र के अध्ययन के लिये वे लाइपज़िग चले गये। वहीं उन्हें शोपेनहावर के दर्शन को पढ़ने का अवसर मिला, और जैसा कि उन्होंने स्वयं स्वीकार किया है, वे शोपेनहावर के अनीश्वरवाद से बड़े प्रभावित हुए।

एकाएक नीत्शे को बासेल विश्वविद्यालय से शास्त्रीय भाषा विज्ञान (Classical Philology) के अध्यापक पद की नियुक्ति मिली। तब तक उन्होंने डाक्टर की उपाधि भी नहीं ली थी, फिर भी रिट्श्ल (Ritschl) की अनुशंसा पर उन्होंने 1869 में यह कार्य आरम्भ किया तथा 1879 तक नीत्शे वहीं रहे। इसी बीच कुछ दिनों के लिये उन्होंने चिकित्सा-दल के साथ युद्ध में भी काम किया।

बासेल में ही नीत्शे **रिचर्ड वैगनर** के सम्पर्क में आये। इस अवधि में नीत्शे वैगनर से बड़े प्रभावित थे, तथा मुक्त हृदय से वे उनके समर्थक बने रहे। बाद में वैगनर की आत्म-प्रंशसक उक्तियों से वे ऊबने लगे तथा यह मित्रता अन्ततः पूर्णतया टूट ही गयी। कहा जा सकता है कि नीत्शे के साहित्यिक तथा बौद्धिक जीवन का प्राथमिक विकास उनके वैगनर के सम्पर्क में आने के साथ ही आरम्भ हुआ। इसे उनके साहित्यिक तथा दार्शनिक जीवन की प्रथम अवस्था के रूप में रखा जा सकता

है। उस मित्रता के टूटने के बाद उनके साहित्यिक जीवन का दूसरा स्तर आरम्भ होता है। इस दूसरे स्तर में उनके विचारों को एक निश्चित मोड़ मिला। पहली अवस्था में वे जीवन का महत्त्व सृजनात्मक कलाकृति, संगीत, साहित्यिक रचना आदि में ही समझते रहे, किन्तु दूसरे स्तर में उनका झुकाव नैतिक तथा दार्शनिक भावों की ओर हो गया।

अस्वस्थता तथा मानसिक क्लेश एवं तनाव के कारण नीत्शे ने 35 वर्ष की अवस्था में ही अपने पद से त्यागपत्र दे दिया। तत्पश्चात कोई दस वर्षों तक वे स्विटज़रलैण्ड,इटली तथा जर्मनी के बीच घूमते रहे तथा अपने गिरते हुए स्वास्थ्य की चिन्ता से ग्रस्त रहे। फिर भी, इसी अवधि में उनकी विचारधारा प्रस्फुटित होती रही तथा उनकी साहित्यिक एवं दार्शनिक कृतियां प्रकाश में आती रहीं। इस अवधि को उनके वैचारिक जीवन की तीसरी अवस्था की संज्ञा दी जा सकती है. इसी अवधि में उनके परिपक्व विचारों का प्रस्फुटन हुआ तथा अपनी रचनाओं के द्वारा उन्हें प्रसिद्धि भी मिलने लगी। इस अवधि के अन्त में लिखी गयी कुछ पुस्तकों से (उदाहरणत: Ecce Homo जो एक प्रकार से उनकी आत्म-कथा है तथा जो उनके मरणोपरान्त प्रकाशित हुई) ऐसा प्रतीत होता है कि नीत्शे इस अवधि में आन्तरिक द्वन्द्व की स्थिति में थे तथा उनका मानसिक संतुलन टूटने पर था। 1889 में नीत्शे में पागलपन के लक्षण स्पष्ट हो गये, और उन्हें बासेल के ही एक क्लीनिक में रखा गया। उसके बाद वे कभी भी पूर्णतया स्वस्थ नहीं हो पाये। कुछ दिनों तक वे अपनी मां के साथ रहे तथा मां की मृत्यु हो जाने के बाद वाइमर में उनकी बहन उनकी देखभाल करती रही। उस समय तक उनकी प्रसिद्धि फैल चुकी थी, किन्तु वे स्वयं यश-अपयश के अन्तर से परे जा चुके थे। क्रमश: उनका स्वास्थ्य गिरता ही चला गया, तथा 25 अगस्त 1900 को उनकी मृत्यु हो गयी।

नीत्शे के दर्शन के सम्बन्ध में कुछ प्रारम्भिक बातें

नीत्शे के दर्शन को सरल ढंग में समझना कठिन है। इसके कई कारण हैं। प्रथमतः तो उनके लिखने का ढंग ही कुछ ऐसा है कि उनकी रचनायें हृदय को तो छू लेती हैं, किन्तु उनका बौद्धिक अवबोध सरल नहीं। गूढ़ विचार भी वे सूत्र रूप में अथवा सूक्तियों में लिखते गये हैं, उनकी व्याख्या या स्पष्टीकरण का प्रयत्न नहीं है। पुन: साहित्य तथा दर्शन दोनों में रुचि रखने के कारण उनके लेख जहां साहित्य की दृष्टि से बड़े प्रभावोत्पादक हैं, दर्शन की दृष्टि से अव्यवस्थित प्रतीत होते हैं। फलत: नीत्शे के विभिन्न विचारों से परिचित होने के लिये, उनकी पूर्ण विचारधारा के संगठित रूप तथा उनकी मूल वैचारिक मनोवृत्ति को ध्यान में रखना आवश्यक है।

इस कठिनाई का एक अन्य कारण और भी है। यों तो नीत्शे का दर्शन अपने ढंग का अनूठा दर्शन है, किन्तु वे जिन विभिन्न विचारधाराओं से परिचित

तथा प्रभावित हैं, उनका उपयोग लगातार करते रहते हैं। ग्रीक दर्शन तथा ग्रीक साहित्य का उन पर विशेष प्रभाव है। कुछ अहंवादी दार्शनिक कों विचार (जैसे मैक्स स्टरनर) से भी वे प्रभावित दिखाई देते हैं। जिस प्रकार शोपेनहावर की निषेधात्मक विश्वदृष्टि एवं उनका निराशावाद नीत्शे के दर्शन का एक स्रोत रहा है उसी प्रकार डारविन के भौतिकवादी जीव-विकास-सिद्धान्त की छाप भी उनके मूल विचारों पर है। अपने बाद के लेखों में अवश्य वे शोपेनहावर के निराशावाद की आलोचना करते हैं किन्तु कुछ प्रचलित सिद्धान्तों के खण्डन की चेष्टा में वे स्वयं शोपेनहावर से अत्यधिक प्रभावित प्रतीत होते हैं। वैगनर के सम्पर्क में आने पर उनकी अभिरूचि कला, संगीत आदि में बढ़ी; इस अभिरूचि की स्पष्ट छाप उनके प्रारम्भिक लेखों पर है। ईसाई दर्शन पाश्चात्य नीति-दर्शन के गुण-दोषों से वे भली-भांति परिचित थे। कान्ट के दर्शन का भी भावात्मक तथा निषेधात्मक, दोनों प्रकार का उपयोग उनके अपने दर्शन में हुआ है। इतने विभिन्न प्रभावों को अपनी सूझ और चिन्तन में पिरोने की चेष्टा भी नीत्शे के दर्शन की दुरूहता का एक कारण है। फिर भी, जहां पारम्परिक दर्शन-शास्त्र की दृष्टि से उनके लेख जटिल तथा अस्पष्ट हैं, उन लेखों की विशिष्टता उनकी मौलिकता में है तथा उस शक्ति में है जो मर्मस्पर्शी है, तथा भावनात्मक एवं बौद्धिक दोनों प्रकार का प्रभाव उत्पन्न करने में समर्थ है। उनका मानव-दर्शन अथवा जीवन-दर्शन इतना सबल प्रतीत होता है कि अतिशयोक्ति का आभास होते हुए भी उनमें यथार्थता की झलक दिखाई देती है।

साधारणत: नीत्शे के वैचारिक जीवन को तीन अवस्थाओं में विभाजित किया जाता है। 1871 से 1876 तक की अवधि को उनके विचार की प्रारम्भिक तथा प्रथम अवस्था के रूप में जाना जाता है। इस अवस्था में उनके विचारों पर वैगनर तथा शोपेनहावर का स्पष्ट प्रभाव हैं। इस अवस्था में वे मूलतः संस्कृति के स्वरूप तथा विकास की समस्या में उलझ रहे हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि इस काल में उनकी स्पष्ट धारणा है कि संस्कृति की सार्थकता, कलाकार, सृजनात्मक कलाविद्ध संगीतज्ञ, कवि आदि के आविर्भाव में ही है।

1876 से 1879-80 तक की अवधि को उनके वैचारिक जीवन की दूसरी अवस्था के रूप में जाना जा सकता है। 1879 में उन्होंने अध्यापन-कार्य से त्याग-पत्र देकर मुक्ति पा ली। यह त्याग-पत्र एक आन्तरिक संघर्ष की परिणति थी; ऐसा प्रतीत होता है त्याग-पत्र देकर उन्होंने चैन की सांस ली तथा इसके अनन्तर वे मुक्त रूप से चिन्तन-मनन के कार्य में रत हुए। इसी कारण त्याग-पत्र के बाद का उनका जीवन उनके वैचारिक जीवन की तीसरी तथा प्रौढ़ अवस्था है।

द्वितीय अवस्था की विचारधारा प्रथम अवस्था के विषय के विरुद्ध प्रतिक्रिया सी दिखाई देती है। वैगनर का प्रभाव नष्टप्राय: प्रतीत होता है। सुकरात की बौद्धिकता (जिसके प्रति प्रथम अवस्था में उपेक्षा का भाव है) अब प्रशंसनीय है। इस अवस्था में नीत्शे का दृष्टिकोण वैज्ञानिक तथा भाववादी प्रतीत होता है। अब

उनका आदर्श कलाकार या कलाविद् नहीं, उससे श्रेष्ठतर मानव है—ऐसा मानव जो वैज्ञानिक तथा बौद्धिक दृष्टि से श्रेष्ठ हो। इस दूसरी अवस्था की विचारधारा की स्पष्ट अभिव्यक्ति उनकी पुस्तक **'ह्यूमन ऑल टू ह्यूमन'** में दिखाई देती है।

इस दूसरी अवस्था में जिस प्रकार के विचारों को प्रसव मिला है, वे परिपक्व रूप में प्रकट होते हैं तीसरी अवस्था में। इस तीसरी अवस्था का प्रारम्भ 1881 से बताया जा सकता है, तथा इस काल के कार्य तब तक चलते रहे हैं जब तक उनका मानसिक संतुलन बना रहा। सच पूछा जाये तो नीत्शे के वैचारिक जीवन का यही दार्शनिक तथा प्रौढ़ पक्ष है। इसी अवस्था में उनके दर्शन की नवीनता तथा मौलिकता पूर्णरूपेण प्रकट होती है। इसी अवस्था में जीवन के आदर्श के रूप में **अतिमानव** (Super man) की रूपरेखा खींची गयी। उनकी कुछ प्रमुख विचार-प्रधान कृत्तियाँ (जैसे 'Thus Spake Zarathustra,' 'Beyond Good and Evil' आदि) इसी अवधि में लिखी गयी हैं। इस अवस्था की कुछ अन्तिम रचनाओं में (जैसे Ecce Homo) मानसिक तनाव की स्पष्ट झलक दिखाई देती है।

उनके वैचारिक जीवन की तीनों प्रमुख अवस्थाओं पर विहंगम दृष्टि देने से एक निष्कर्ष प्राय: स्पष्ट हो जाता है। कहा जा सकता है कि प्रथम काल में उनका दर्शन साहित्य, कलाबोध आदि के स्तर पर रुका था। द्वितीय स्तर में उन्हें प्रथम स्तर के विचारों की सीमाओं का भान हुआ तो उनका झुकाव बौद्धिक तथा दार्शनिक भावों की ओर हुआ। कुछ नवीन दार्शनिक विचारों की नींव पड़ी। तृतीय तथा अन्तिम अवस्था में ही उनके दार्शनिक विचार परिपक्व हुए तथा उनका मानव दर्शन एवं जीवन-आदर्श दर्शन पूर्ण रूप से प्रस्फुटित हुआ।

यों, नीत्शे ने इतने विभिन्न विषयों पर अपना मत दिया है कि सभी मतों का संकलन सरल नहीं। यहां हमारा सम्बन्ध उनके दार्शनिक विचारों से है। अत: यहां हम उनके दर्शन के मूल तथा महत्त्वपूर्ण अंगों की ही व्याख्या करेंगे।

वैसे नीत्शे के दर्शन को एक प्रकार का **जीवन-दर्शन** कहा जा सकता है। यहां 'जीवन-दर्शन' शब्द का प्रयोग उसके सामान्य-प्रचलित अर्थ में नहीं हो रहा, एक ऐसे विशिष्ट अर्थ में हो रहा है जिसके अन्तर्गत इसका सामान्य अर्थ तो समाविष्ट है ही, किन्तु कुछ ऐसे भावों का भी बोध होता है जिनके द्वारा उनके विचार की विशिष्टता झलकती है। सामान्य अर्थ में 'जीवन दर्शन' का सम्बन्ध मनुष्य के जीवन-विकास की क्रिया तथा उसके ढंग से है। जीवन के सम्बन्ध में इस प्रकार का विचार दो ढंगों से किया जा सकता है। पहला ढंग तो तटस्थ होकर सोचने का है, जीवन तथा जीवन के विभिन्न रूपों को दूर से देखकर उनका चित्र खींचा जा सकता है। यह ढंग तटस्थता का ढंग है, भावना-शून्य होकर देखने का ढंग है। इस ढंग से जीवन की वास्तविकता को नहीं समझा जा सकता क्योंकि इस ढंग में एक महत्त्वपूर्ण तथ्य की उपेक्षा है—इस तथ्य की उपेक्षा है कि जीवन का ढंग हम से पृथक नहीं।

अतः, दूसरे ढंग का महत्त्व प्रकाश में आता है-एक ऐसे ढंग का जो जीवन को संवेगात्मक अनुभूति के द्वारा समझने की चेष्टा करता है। इस ढंग में अस्तित्त्व की अनुभूति निहित है, मानव-आदर्श तथा मूल्यों के लिये चिन्ता एवं उद्वेग निहित है। यह दृष्टि केवल जीवन के धरातल को नहीं बल्कि मानव अस्तित्त्व के 'अन्तर' को–उसमें छिपी गहराइयों को तथा उसके द्वारा निर्मित उच्च आदर्शों को देखती है। यह ठीक है कि ऐसी दृष्टि में अतिशयोक्ति काल्पनिकता आदि की सम्भावना रहती है, फिर भी इस दृष्टि का मूल्य एवं महत्त्व इस बात में है कि यह अपने ढंग से जीवन को बल देती है तथा जीवन से समझौता स्थापित करने का एक आधार भी।

नीत्शे की जीवन-दृष्टि कुछ इसी ढंग की है। इसी कारण उनकी विचार-धारा पारम्परिक दर्शन-धारा से कुछ भिन्न–कुछ नवीन प्रतीत होती है। इसी कारण कुछ विचारकों को उनके दर्शन में अस्तित्त्ववाद की झलक दिखाई देती है, तथा कुछ पुरातन-पंथी दार्शनिकों को उनके विचारों में साहित्यिक मूल्य अधिक दिखाई देता है, दार्शनिक मूल्य कम। फिर भी, उनके विचारों के दर्शन-पक्ष की एक रूपरेखा खींची जा सकती है तथा इनके प्रमुख ग्रंगों के परिचय के आधार पर नीत्शे के दर्शन का मूल्य आंका जा सकता है।

नीत्शे के प्रारम्भिक लेखों में निहित संस्कृति विचार

अपने प्रारम्भिक लेखों में नीत्शे मूलतः कला एवं साहित्य से सम्बन्धित समस्याओं में उलझे रहे हैं, फिर भी उसी संदर्भ में उन्होंने संस्कृति के स्वरूप पर विचार किया है-जिसे समझने से उनके बाद के मानव दर्शन को समझने में कठिनाई नहीं होती। अतः यहां हमारा उद्देश्य नीत्शे के प्रारम्भिक लेखों में निहित केवल उन विचारों को प्रकाश में लाना है जिनके द्वारा नीत्शे के दर्शन को समझने में सहायता मिलती है।

जैसा कि हमने देखा है अपने प्रारम्भिक चिन्तन-काल में नीत्शे दो प्रकार के विचारों से विशेष प्रभावित हैं-शोपेनहावर के विचार तथा ग्रीक-दर्शन। शोपेनहावर उनके प्राथमिक विचारों का प्रेरक है तथा ग्रीक-दर्शन शोपेनहावर के निराशावाद से समझौता स्थापित करने का मार्ग-प्रदर्शक। उन्होंने दोनों का संगठन अपने ढंग से किया है।

इस काल की सर्वप्रमुख कृति में (Birth of Iragedy) यह संगठन स्पष्ट रूप में दिखाई देता है। शोपेनहावर के समान वे भी स्वीकार करते हैं कि विश्व के पीछे कोई इकाई है जो विश्व तथा मानव-जीवन में व्यक्त है। इस प्रारम्भिक इकाई की जकड़ इतनी सबल है कि साधारण जीवन इससे मुक्त नहीं हो पाता और जीवन को दुखद तथा भयावह मान लेता है। शोपेनहावर के लिये यह जीवन के स्वरूप के सम्बन्ध में अन्तिम निष्कर्ष है परन्तु नीत्शे ऐसा नहीं मानते। उनका

विश्वास है कि जीवन के इस रूप को बदला जा सकता है। यह परिवर्तन एक विशेष प्रकार की अनुभूति के द्वारा सम्भव है, तथा वैसी अनुभूति कला-बोध एवं सृजनात्मक कृतियों के द्वारा उपलब्ध हो सकती है। अतः नीत्शे के लिए शोपेनहावर का निराशावाद उनके दार्शनिक निष्कर्ष का केवल संदर्भ मात्र है; उस काल में भी वे निराशा में जीवन की सार्थकता नहीं मानते, अपितु मानते हैं कि जीवन की सार्थकता निराशा के विरुद्ध जीवन की पुष्टि तथा समर्थन में है।

नीत्शे की इस समन्वय का एक सुन्दर उदाहरण प्राचीन ग्रीक संस्कृति में मिलता है। उनका कहना है कि सुकरात के अतिबौद्धिकतावाद के प्रादुर्भाव के पहले की ग्रीक संस्कृति में दो प्रवृत्तियों का सुन्दर समन्वयात्मक सम्मिश्रण दिखाई देता है, जिसमें एक प्रवृत्ति का प्रतीक '**डायोनिसस**' है तथा दूसरी प्रवृत्ति का प्रतीक '**अपोलो**' नीत्शे के अनुसार ग्रीक-संस्कृति का प्राथमिक आधार डायोनिसस है जिसके अनुसार सबल जीवन का अर्थ सुख तथा इन्द्रिय तुष्टि का जीवन है, किन्तु इस शक्तिशाली आबद्ध प्रवाह पर नियंत्रण भी अनिवार्य है। अपोलो-प्रवृत्ति' डायोनिसस को नियंत्रित रखती है। नीत्शे का कहना है कि डायोनिसस तथा अपोलो के इस सुन्दर संगठन के फलस्वरूप ग्रीक-सभ्यता में एक ऐसी संस्कृति का आविर्भाव होता है जिसमें जीवन की वास्तविकता की समझ भी है तथा सृजनात्मक प्रवृत्ति का विकास भी। एक ओर यह संस्कृति जीवन की अभिपुष्टि करती है तथा दूसरी ओर सृजनात्मक प्रतिभा का समर्थन भी।

इन्हीं विचारों के आधार पर नीत्शे समकालीन यूरोपीय संस्कृति का विश्लेषण करते हैं तथा उस विश्लेषण के आधार पर एक महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष स्थापित कर पाते हैं। ऊपर बतायी दोनों प्रवृत्तियों को ध्यान में रखते हुए यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि वर्तमान संस्कृति में प्रधानता किसकी है—ज्ञानात्मक प्रवृति की या जीने की प्रवृत्ति की है? नीत्शे का कहना है कि उन्नीसवीं शताब्दी में ज्ञान-विज्ञान की प्रधानता रही है, किन्तु इस शताब्दी के अन्तिम चरण में जैविक-प्रवृत्तियों का उत्कर्ष हो रहा है, और यह सम्भव है कि जैविक प्रवृत्तियां ज्ञान पर हावी हो जायें तथा ज्ञान जीव-सुरक्षा का साधन मात्र बन कर रह जाय। ज्ञानात्मक तथा जैविक प्रवृत्तियों की इस खींचतान में नीत्शे को एक महत्त्वपूर्ण तथ्य दिखाई देता है। उन्हें यह प्रतीत होता है कि मनुष्य के अन्तर्गत अनन्त सम्भावनायें हैं, जिनके फलस्वरूप वह सदा अपने से परे उठने की चेष्टा में रत रहता है। अतः नीत्शे का कहना है कि मनुष्य का स्वभाविक तथा मूल लक्षण अपने से ऊपर उठने की प्रवृत्ति है। उसे आवश्यकता है इस प्रवृत्ति को एक नयी दिशा देने की। अतः उसे आवश्यकता है एक आदर्श की-एक मार्ग-दर्शक की जो उसे प्रगति-पथ-निर्देश दे सके।

नीत्शे की कहना है कि इस प्रकार का मार्ग-निर्देशन भौतिक विज्ञान के द्वारा सम्भव नहीं है, इस प्रकार का निर्देशन तो दार्शनिक की अन्तर्दष्टि ही दे सकती है।

दार्शनिक का अर्थ दर्शन का 'प्रोफेसर' नहीं, बल्कि वह चिन्तक है जो मनुष्य की सम्भावनाओं को अपनी अन्तर्दृष्टि से देख तथा समझ सके, और उसके अनुरूप निर्भीक रूप से एक नया पथ-प्रदर्शन कर सके। कहा जा सकता है कि नीत्शे के प्रारम्भिक लेखों के इन्हीं भावों की परिणति उनके परिपक्व लेखों में हुयी, तथा ज़राथूस्त्रा के प्रतीक में नीत्शे दार्शनिक मसीहा के रूप में उभरे।

नीति-विचार

(क) प्रचलित नैतिकता का खण्डन

नीत्शे के विचारों में प्रधानता व्यक्ति की ही रही है। उनका स्पष्ट मत है कि मनुष्य को उसके जाति-गुणों में न बांधा जा सकता है और न जाति-गुणों के द्वारा उसे समझा जा सकता है। उनके विचार में यह धारणा कि हर व्यक्ति परिस्थिति में एक सा ही व्यवहार करेगा--सर्वथा भ्रान्तिपूर्ण धारणा है। वैयक्तिक भेद महत्त्वहीन नहीं होता। वास्तव में मनुष्य के विचार, आचरण, व्यवहार आदि में उसकी ही प्रधानता है। व्यक्ति की इस विशिष्टता पर ध्यान देने के फलस्वरूप ही नीत्शे को प्रचलित नैतिकता के सिद्धान्तों में स्पष्ट दोष दिखाई देता है। प्रचलित नैतिकता की आलोचना वे बड़े ही सबल ढंग से करते हैं, तथा इस आलोचना के आधार पर उन्होंने नैतिकता के सम्बन्ध में कुछ महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष स्थापित किये हैं।

इस आलोचना का मूलाधार नैतिकता की पूर्वमान्यता में निहित एक दोष है। नीत्शे का विश्वास है कि नैतिकता अथवा सम्पूर्ण नीतिशास्त्र ही इस मान्यता पर आधारित है कि विभिन्न मानवों की सभी आवश्यकतायें, अधिकार, उत्तरदायित्व आदि समान हैं। इसी मान्यता के बल पर नैतिकता के सम्बन्ध में सरलता से सामान्यीकरण कर दिया जाता है और मान लिया जाता है कि जो बात किसी एक व्यक्ति के आचरण के सम्बन्ध में शुभ है, वह वैसी परिस्थिति में सभी व्यक्तियों के लिये शुभ ही होगी। नीत्शे की यह मान्यता भ्रान्तिपूर्ण दिखाई देती है क्योंकि उन्हें इस प्रकार की सार्वभौमिकता को स्वीकारने का कोई आधार ही नहीं दिखता। कुछ विचारक इस प्रकार की सार्वभौमिकता के समर्थन में डारविन के सिद्धान्त का हवाला देते हैं और कहते हैं कि डारविन ने भी जीवों की प्रतिक्रियाओं की सार्वभौमिकता की पुष्टि की है, अन्यथा उसके विकास-नियम अर्थहीन हो जाते। नीत्शे का कहना है कि डारविन की व्याख्या एक सामान्य ढंग की व्याख्या है, वैयक्तिक भेद की व्याख्या तो डारविन कर ही नहीं पाते। अतः डारविन के सिद्धान्त के आधार पर भी यह निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता कि हर व्यक्ति का आचरण समान परिस्थिति में एक सा ही होता है। अतः वैयक्तिक भेदों की यथार्थता को ध्यान में रखते ही सामान्य नैतिक नियम का मूल्य समाप्त हो जाता है। इसी कारण नीत्शे प्रचलित नैतिक मूल्यों को महत्त्व नहीं देते। उनका विश्वास है कि साधारण नैतिक मूल्य धर्म, ईश्वर या इसी प्रकार के किसी अमानवीय एवं अप्राकृतिक पूर्वाग्रहों पर आधारित है। इसी कारण

नीत्शे का कहना है कि इन प्रचलित मूल्यों के स्थान पर ऐसे नये मूल्यों का आविष्कार अनिवार्य है जो स्वभाविक हों तथा जीवन को बल दे सकें।

नीत्शे का कहना है कि प्रचलित नैतिकता में जो पूर्वाग्रह तथा सार्वभौमिकता प्रतीत होती है, उसकी मनोवैज्ञानिक व्याख्या सम्भव है। यह दिखाया ज सकता है कि कैसे नैतिकता के भाव का उदय होता है तथा क्यों व्यक्ति इसे मूल्यवान मान लेता है। विशेषत: अपनी (**'ह्यूमन-औल-टू-ह्यूमन'** तथा **'जिनियोलौजी ओफ मौरल्स**) पुस्तकों में वे नैतिकता की विवेचना करते हैं। उनका कहना है कि नैतिकता की दो भावना का अविर्भाव एक विशेष प्रकार की अनुभूति में होता है। मनुष्य की प्राथमिक प्रवृत्तियां अन्य जीवों के समान इन्द्रिय तुष्टि तथा तात्कालिक सुख की ओर प्रेरित रहती हैं। किन्तु अपने कुछ अनुभवों को फलस्वरूप वह क्षणिक सुख के स्थान पर स्थायी सुख की बात करता है। अब मनुष्य को उपयोगिता का महत्त्व समझ में आता है उपयोगिता प्रथमत: व्यक्ति की अस्तित्त्व-रक्षा आदि से ही सम्बन्धित रहती है, किन्तु बाद में इसका क्षेत्र विस्तृत हो जाता है और इसका सम्बन्ध जाति-सुरक्षा तथा जाति की उन्नति आदि से हो जाता है। इसी अनुभूति में नैतिकता के भाव का उदय होता है।

अत: नीत्शे के अनुसार यह भाव मुख्यत: जाति की सुरक्षा, उन्नति आदि के उद्देश्य में ही निहित है। प्रारम्भ में नैतिक आदेशों का पालन स्वत: अथवा स्वेच्छा से होता भी नहीं है, बल्कि समाज तथा अन्य व्यक्ति के भय से होता है। समाज इन आदेशों का पालन करा लेता है क्योंकि यदि व्यक्ति अपनी वैयक्तिकता को बनाये रखे तो समाज के कार्य सुचारुरूप से चल नहीं सकते। धीरे-धीरे यह आदेश-पालन,रीति-रिवाज, आचरण आदि का रूप ले लेता है। रीति-रिवाजों के सतत पालन तथा शुभ-अशुभ को सदा स्मरण रखने के फलस्वरूप व्यक्ति का अन्त:करण (Conscience) निर्मित हो जाता है। अब यही नैतिकता का आधार बन जाता है। अन्त:करण की अवहेलना दु:ख का कारण बन जाती है तथा इसके आदेशों का पालन व्यक्ति का स्वभाव। इसी के अनुरूप शुभ-अशुभ के भाव बनते हैं तथा आचरण में अभिप्रायों की शुद्धता का प्रश्न उठ खड़ा होता है। नीत्शे के अनुसार नैतिकता के भाव के प्रादुर्भाव का यह एक मनोवैज्ञानिक विवरण है। किन्तु, इस विवरण से यह सिद्ध नहीं होता कि नैतिकता में कोई सार्वभौम अनिवार्यता हो। इससे यह समझ में आ जाता है कि व्यक्ति कैसे नैतिक बन जाता है, किन्तु इस विवरण से नैतिकता की वस्तु-निष्ठता अथवा सार्वभौमिकता सिद्ध नहीं होती।

(ख) प्रभुत्त्व-भाव से प्रेरित नैतिकता तथा दासत्त्व-भाव से प्रेरित नैतिकता (Master Morality and Slave Morality)

अपनी पुस्तक **'बियौन्ड गुड ऐन्ड ईविल'** में नीत्शे नैतिकता का विश्लेषण करते हुए बतलाते हैं कि नैतिकता के इतिहास में नैतिकता के दो रूप स्पष्टत: प्रकट होते

हैं। एक को वे **प्रभुत्व-भाव की नैतिकता** (Master Morality) कहते हैं तथादूसरे को **दासत्व भाव की नैतिकता** (Slave Morality)। प्रायः हर समाज में इन दोनों प्रकार की नैतिकता के सम्मिश्रण के उदारहण मिलते हैं। एक व्यक्ति के अन्तर में भी कुछ प्रवृत्तियाँ प्रभुत्व-भाव से प्रेरित रहती हैं, तो कुछ दासत्व भाव से। फिर भी, नीत्शे इन दोनों का अन्तर स्पष्ट करते हैं क्योंकि उस अन्तर के आधार पर वे नैतिकता के सम्बन्ध में बड़े महत्त्वपूर्ण तथ्य की स्थापना करते हैं।

नीत्शे के अनुसार प्रभुत्त्व-भाव की नैतिकता अथवा अभिजात-वर्गीय नैतिकता (Aristrocratic morality) में शुभ-अशुभ का आधार उच्च तथा निम्न हैं। जो कुछ श्रेष्ठ है, उच्च है वह शुभ है। इसकी एक विशेषता यह भी है कि इसमें कार्यों को शुभ-अशुभ नहीं कहा जाता बल्कि कर्ता को कहा जाता है। अच्छा-बुरा कर्म नहीं होता. मनुष्य होता है। नीत्शे के अनुसार प्रभुत्व-भाव की नैतिकता में जो कुछ सबल है अथवा शक्ति-सूचक है वह सब शुभ है। इस दृष्टि से साहस, बल, सामर्थ्य, आत्मनिर्भरता, आत्म-विकास आदि को शुभ माना जा सकता है। इसके विपरीत दासत्व-भाव की नैतिकता में उन सब गुणों को शुभ कहा जाता है जो अशक्त तथा निम्न वर्ग के लिये वांछनीय है। इस वर्ग में जो वर्ग की सुरक्षा आदि के लिये उपयोगी है उसे ही शुभ माना जाता है। अतः इनके अनुसार शुभ गुणों के अन्तर्गत आज्ञा-कारिता, करुणा, दया, अनुकम्पा, विनम्रता आदि आते हैं। इनके अनुसार सशक्त होना अशुभ है।

नीत्शे का कहना है कि प्रथम ढंग की नैतिकता सृजनात्मक तथा जीवन्त है, तथा दूसरे ढंग की नैतिकता निष्क्रिय है तथा प्रतिरक्षात्मक भी। नीत्शे का कहना है कि ईसाई धर्म में बताये गये नैतिक गुण दासत्व-भाव के ही गुण हैं। समाजवाद तथा जनतंत्र भी अपने ढंग में दासत्व-नैतिकता का ही पोषक है।

स्पष्ट है, नीत्शे का झुकाव प्रभुत्व-नैतिकता की ओर है। उनका निश्चित मत है कि दासत्व-नैतिकता के कारण ही मनुष्य निष्क्रिय शक्तिहीन तथा पशुसमान हो गया है। उसमें नवीन मूल्यों की सृष्टि की शक्ति नहीं रहती, वह बस प्राचीन-प्रचलित मूल्यों को स्वीकार कर भेड़-बकरी जैसा जीवन यापन करता रहता है। नीत्शे का कहना है कि दासत्व-नैतिकता को झुंड की नैतिकता (Herd-morality) कह सकते है। इसमें हर व्यक्ति को बस अपने परिश्रम तथा सुरक्षा की ही चिन्ता रहती है। ऐसे व्यक्ति को किसी भी नये परिवर्तन से भय होता हैं क्योंकि परिवर्तन उनके दैनिक जीवन के नियमित ढंग को उद्वेलित कर देता है। वे प्रभुत्व भाव के श्रेष्ठ पोषक व्यक्तियों को अशुभ तथा भयकारक मानते हैं क्योंकि वे उनके समान पशु की भांति केवल जीने के लिये ही नहीं जीते।

नीत्शे का कहना है कि नैतिकता के इतिहास में इन दो प्रकार की नैतिक प्रवृत्तियों में प्रायः संघर्ष होता रहा है; किन्तु इस संघर्ष से मानव विकास का मार्ग

कुण्ठित तथा अवरोधित ही हुआ है। उनका कहना है कि यदि झुण्ड-नैतिकता के पोषक अपनी बातों को अपनी छोटी सीमा तक ही सीमित रखते तो शायद मानवता की उतनी बड़ी हानि नहीं होती। किन्तु वे सदैव अपनी नैतिकता को तथा शुभ-अशुभ भाव को सामान्य एवं सार्वभौमिक बनाने का हर उपक्रम करते हैं। इस ढंग का प्रयत्न बड़े व्यवस्थित ढंग से ईसाई धर्म ने किया तथा विनम्रता, करुणा, निर्बलता आदि को शुभ रूप देने की चेष्टा की। किन्तु किसी विशेष गुण को सामान्य शुभ का रूप देना मानवता के प्रति अन्याय है। एक दृष्टि से इस प्रकार की दासत्व-नैतिकता का पोषण केवल श्रेष्ठ वर्ग एवं विचार के विरुद्ध प्रतिक्रिया के फलस्वरूप ही होता है, किन्तु इसके समर्थक यह नहीं देख पाते कि इस प्रकार के पोषण से अपकर्ष एवं अधःपतन की ही सम्भावना बढ़ती है, उत्थान की नहीं, क्योंकि इसके द्वारा केवल **मध्यम** तथा **औसत वर्ग** की ही वृद्धि सम्भव है, प्रतिभाशाली व्यक्तियों की नहीं।

इसी कारण नीत्शे शुभ-अशुभ के परे (Beyond Good and evil) की बात करते हैं और कहते हैं कि मनुष्य का कल्याण सामान्य शुभ तथा अशुभ—दोनों भावों से ऊपर उठने में है। सामान्य शुभ-अशुभ की खोज हर व्यक्ति को एक धरातल पर ला देती है, सब को समान बना देती है तथा उसके श्रेष्ठ होने की सम्भावना को ही समाप्त कर देती है।

(ग) मूल्यों का पुनर्मूल्यीकरण (Transvaluation of values)

दासत्व-नैतिकता तथा सामान्य शुभ-अशुभ भाव के खण्डन के आधार पर नीत्शे का निष्कर्ष है कि मानवता के ऊपर उठने के लिये प्रतिभाशाली व्यक्तियों का आविर्भाव अनिवार्य है। यह तभी सम्भव है जब 'सामान्य' बने रहने की होड़ समाप्त हो, सामान्य मूल्यों का त्याग हो तथा नये मूल्यों की सृष्टि हो।* इसी कारण नीत्शे का कहना है कि आवश्यकता ऐसे श्रेष्ठ विचारकों की है जो नये, सशक्त मूल्यों की सृष्टि कर सकें और मनुष्य के उत्थान को एक दिशा दे सकें।

यह ठीक है कि नवीन मूल्यों की स्पष्ट व्याख्या नीत्शे ने नहीं की है, उन्होंने यह भी निश्चित ढंग से नहीं बताया कि किस प्रकार मूल्यों का पुनःमूल्यीकरण

---

* प्रचलित मूल्यों की आलोचना करते हुए नीत्शे कहते हैं, "I go among the people and keep my eyes open : they have become smaller and are becoming ever smaller : **and their doctrine of happiness and virtue is the caus......**
To be sure even they learn in their own way how to stride and to stride forward : that is what I call their **limping**. Therewith they become a hinderance to anyone who is in a hurry."
Thus Spake zarathustra, Penguine 1961 p. 189.

सम्भव है। कुछ स्थलों पर उनका कहना है कि मूल्य के परिवर्तन का अर्थ है मूल्यों के मूल्यांकन के ढंग में परिवर्त्तन। मूल्यों को दासत्व भाव से नहीं देखना है, मूल्यों की सृष्टि केवल सुरक्षा, किसी प्रकार से जीवित रहने की इच्छा आदि के अनुसार ही नहीं जांचना है, बल्कि जांचना है सबल मानवीय ढंग से। मूल्य मानव के द्वारा निर्मित होते हैं, अतः उन्हें शक्ति-सूचक होना है। यह ठीक है कि उनके द्वारा बताये मूल्य सामान्य मूल्यों जैसे ही प्रतीत होते हैं, किन्तु उनके अनुसार उन मूल्यों का मूल्यांकन श्रेष्ठ जीवन के अनुरूप होना है। नीत्शे का लक्ष्य शक्ति-सूचक तथा उच्च गुणों का संगठन है, जिसके द्वारा व्यक्ति विशिष्ट तथा सशक्त रूप में उभर सके। इसी कारण उन्होंने वीर्य, शक्ति, शौर्य, बौद्धिकता, आत्म-नियन्त्रण, स्वतन्त्रता आदि को श्रेष्ठ गुणों की कोटि में रखा, तथा इन गुणों को भी उनके प्रचलित, सामान्य रूप में समझने के स्थान पर नये ढंग से समझने की अनुशंसा की। इस नये ढंग का निश्चित रूप तो नहीं दिया गया है किन्तु इतना स्पष्ट है कि उनका लक्ष्य एक नये सबल अभिजात वर्ग के उभरने का है, जिससे कि मनुष्य को नेतृत्व मिल सके, मूल्यों की समझ हो सके तथा दासत्व भाव से मुक्ति मिल सके। इस अभिजात वर्ग (Nobility) के सम्बन्ध में बात करते हुए नीत्शे कहते हैं, "वे सृजनशील हाथों से भविष्य को पकड़ लेते हैं, जो कुछ है या था—वह सब उनके लिए एक साधन-हथियार-हथौड़ा बन जाता है। उनका 'संज्ञान' सृजनात्मक है, उनका सृजन अधि-नियामक है; उनकी सत्य-संकल्प शक्ति संकल्प है।"[1]

नीत्शे का अनीश्वरवाद तथा उनका धर्म का खण्डन

नीत्शे के विचारों में अनीश्वरवाद उनकी दार्शनिक मान्यता ही नहीं, बल्कि उनके दार्शनिक विचारों की पृष्ठभूमि भी है। उनके विचार इस पूर्वमान्यता पर आधारित हैं कि मानव जीवन की किसी व्याख्या को ईश्वर-भाव पर निर्भर रहने की आवश्यकता नहीं है। उन्होंने एक नीति-कथा के द्वारा अपने अनीश्वरवाद की घोषणा की है।[2] एक पागल प्रातः बेला में जलते लालटेन को लेकर दौड़ता हुआ बाजार में पहुंचता है और लगातार चिल्लाता है 'मैं ईश्वर को ढूंढ़ रहा हूँ, मैं ईश्वर को ढूंढ रहा हूं।' जब लोग हंसते हुए उससे प्रश्न करते हैं, तो वह निर्भीकता से उत्तर देता है, 'हां, मैं जानता हूँ कि ईश्वर कहां है। हम लोगों ने उसकी हत्या कर दी है, हम ने तुम ने, सबों ने।' यह कहानी अपने ढंग से बड़ी महत्त्वपूर्ण है

---

1. "With creative hand they seize upon the future; all that is and was turns into meane for them; a tool, a hammer. Their "Cognition" is creating; their creating a lawgiving; their will to truth is—**will to power" Beyond Good and Evil**. Manthey-Torn Ed. 'Nietzsche, an anthology of his works, p. 215.
2. Nietzsche, Thus Spake zarathustra, pp. 9-10.

क्योंकि इसके माध्यम से वह यही दिखलाना चाहते हैं कि वास्तविकता यही है कि ईश्वर अब हमारे हृदय में भी जीवित नहीं। विज्ञान, बौद्धिकता आदि के विकास का क्रम तथा वेग कुछ ऐसा रहा है कि वर्तमान स्थिति में ईश्वर-अस्तित्व का हमारे लिये कोई महत्त्व नहीं रह गया है। ईश्वरवादी विचारकों का यह कहना कि ईश्वर के बिना उद्देश्यहीन प्रतीत होगा, सर्वथा निरर्थक है क्योंकि किसी क्षरण भी अब हमें अपने जीवन में ईश्वर की कोई आवश्यकता प्रतीत नहीं होती। यह ठीक है कि ईश्वर की हत्या के साथ प्रचलित नैतिकता अथवा शुभ-अशुभ का आधार भी नष्ट हो गया है, किन्तु नीत्शे के लिये यह एक नये युग का प्रारम्भ है। ईश्वर पर निर्भर हो मनुष्य अपने आप को ही भूल बैठा था। इसी कारण वे ईश्वर-विहीन जगत में मानवीय महत्व को स्थापित करने की चेष्टा करते हैं। उनका विश्वास है कि अनीश्वरवाद से मनुष्य की सृजनात्मक शक्तियों को पनपने का अवसर मिलेगा तथा मनुष्य का आत्म-बल बढ़ेगा।

स्पष्ट है, नीत्शे के दर्शन में धर्म तथा ईश्वर दोनों के लिये कोई स्थान नहीं है। धर्म तथा ईश्वर की आलोचना में वे मुख्यतः ईसाई धर्म की ही आलोचना करते हैं। उनका स्पष्ट मत है कि ईसाई धर्म के प्रचलित ढंग तथा ईसाई धर्म के द्वारा ईश्वर-भाव का प्रतिपादन जीवन के प्रति अपराध है क्योंकि ऐसी बातों के कारण ही जीवन का स्तर निम्न हो जाता है तथा प्रगति का मार्ग भी अवरोधित हो जाता है। अतः ईश्वर-भाव तथा धर्म के प्रति उनकी आलोचना को समझने के लिये, उस आलोचना के मूल तत्वों की जानकारी अनिवार्य है।

(1) नीत्शे का कहना है कि ईसाई धर्म दासत्त्व-नैतिकता का सर्वथा उपयुक्त उदाहरण है। इस धर्म के द्वारा निम्न वर्ग का ही पोषण सम्भव है। एक दृष्टि से तो कहा जा सकता है कि ईसाई धर्म निम्न वर्ग की उच्च वर्ग के विरुद्ध प्रतिक्रिया का परिणाम है। यही कारण है कि इस प्रकार के धर्मों में सबों को एक स्तर पर ला दिया जाता है, तथा उच्च मूल्यों के लिये कोई स्थान नहीं रह जाता।

(2) ईसाई धर्म का केन्द्रीय तत्व है सलीब पर ईसा का लटकाया जाना। नीत्शे का कहना है कि यह एक दृष्टि से यहुदियों के प्रतिशोध का प्रतीक है। निम्न वर्ग के लोगों की दृष्टि में उच्च वर्ग की श्रेष्ठता असहनीय थी, वे उनकी शक्ति कम करना चाहते थे। अतः उन्होंने धर्म का एक ढंग बनाया और श्रेष्ठ गुणों की उपेक्षा करते हुए ईसा मसीह को बस उन गुणों की प्रतिभान बना दिया जिनके द्वारा वे सभी लोगों को सामान्य स्तर पर ला सकते। उदाहरणतः इन आदेशों को देखें, 'शत्रु से भी प्रेम करो' 'जो तुमसे घृणा करें उनका भी तुम शुभ करो'। ये सभी निर्बलता शक्तिहीनता के द्योतक हैं, तथा इनके द्वारा बस दासत्त्व-आदर्श अथवा झुण्ड-नैतिकता का ही समर्थन हो सकता है।

(3) नीत्शे का कहना है कि ईसाई धर्म स्वयं अपना खण्डन आप करता है।

जैसा कि कहा जा चुका है कि ईसाई धर्म प्रभुत्व-भाव के विरुद्ध एक प्रतिक्रिया है। शक्ति तथा श्रेष्ठा के स्थान पर यह दया करुणा आदि के गुणों को महत्व देता हैं, किन्तु यह भूल जाता है कि इन गुणों को धारण करने का अर्थ ही है अपनी शक्ति को खोना। ईसाई धर्म शक्ति संकल्प के विरुद्ध है, किन्तु यह भूल जाता है कि यदि शक्ति संकल्प की उपेक्षा हुई तो मनुष्य का ह्रास निश्चित है क्योंकि तब उत्थान के लिये कोई प्रयोजन ही नहीं रह जाता।

(4) नीत्शे ईसाई धर्म की आलोचना इसलिये भी करते हैं कि इस धर्म में सबों को बराबर माना गया है। उनके मत में यह अवधारणा ही गलत है क्योंकि हर मनुष्य एक-सा न है, न हो सकता है। उनके अनुसार तो औसत वर्ग श्रेष्ठता के मार्ग में रुकावट है और इस प्रकार सबो को बराबर मानने की चेष्टा मनुष्य की उन्नति के मार्ग में रुकावट है।

(5) ईसा मसीह के विषय में नीत्शे का कहना है कि वे नैतिक उपदेशक तो अवश्य थे, किन्तु उनका सबसे बड़ा दोष यह हुआ कि उन्होंने अपनी बातों को दुर्बल तथा निम्न वर्ग के हाथों में दे दिया। उन का कहना है कि **न्यू टेस्टामेन्ट** में अथवा **पॉल** के द्वारा ईसा का जो चित्र खींचा गया है वह अवास्तविक है। यदि ईसा स्वयं जीवित होते तो इस चित्र को अथवा ईसाई धर्म को ही पहचान भी नहीं पाते ईसा के व्यक्तित्व के प्रति नीत्शे अनुदार नहीं, किन्तु कभी कभी वे यह दिखलाने की चेष्टा करते हैं कि ईसा के उपदेशों ने जीवन की स्वाभाविकता को नष्ट कर एक ऐसा आदर्श बनाया जिसके फलस्वरूप मानवता का स्तर और नीचा होता गया। का एक सामान्य उद्देश्य बन गया-सेवा भाव, तथा समाज को सबल तथा उन्नत बनाने के लिये जिन नवीन सृजनात्मक प्रवृत्तियों की आवश्यकता थी, उनकी तो जड़ ही खोद दी गयी।

(6) **न्यू टेस्टामेन्ट** के सम्बन्ध में नीत्शे का कहना है कि यह साहित्य की दृष्टि से एक धोखा है तथा समाज की दृष्टि से मनुष्य का अवनति कारक। ईसाई धर्म के प्रारम्भिक मतावलम्बी, विशेषत: पॉल ने इसका निर्माण किया। उनका उद्देश्य अपनी अवस्था से संतोष का पोषण है, न कि किसी सबल धर्म की स्थापना उदाहरण द्वारा अपनी बातों की पुष्टि करते हुए नीत्शे कहते हैं मानव की आत्म-निर्भरता एवं मानव शक्ति की अवहेलना करने के लिये ईश्वर-भाव का आविष्कार हुआ। अस्तित्ववान जगत में अभिरूचि बढ़ाने के स्थान पर काल्पनिक जगत का चित्र खींचा गया तथा उसे ही आदर्श बताया गया। आत्म-भाव तथा अमरता के भाव के द्वारा मनुष्य के सबल कार्य, सृजनात्मक प्रवृत्तियाँ आदि की अवहेलना की गयी। स्पष्ट हो जाता है कि ईसाई धर्म श्रेष्ठ वर्ग तथा उच्च मानवता के प्रति स्पर्धा ही नहीं प्रतिशोध का सूचक है। *

* नीत्शे ने कहा है, These are only bad instincts in the New Testament' Anti-Christ 46.

(7) नीत्शे ने ईसाई मत के साथ-साथ ईसाई सम्प्रदाय की भी कटु आलोचना की है। उनका कहना है कि बाइबिल में अन्तर्भूत आत्म-व्याघातक उक्तियों के कारण ही ईसाई सम्प्रदाय बने। सच पूछा जाये तो पादरियों का यह सम्प्रदाय मानव-बुद्धि-विकास के मार्ग का बाधक है। इस पादरी समुदाय का बस एक ही लक्ष्य रहा है कि धर्म का भय दिखा कर मनुष्यों को पशु समान बन्धन में रखें तथा शक्ति अपने हाथ में रखें। उदाहरणतः ईसाई धर्म में पाप की अवधारणा (Concept of Sin) तथा प्रायश्चित का भाव ऐसा अस्त्र है जिसके द्वारा यह समुदाय सभी मनुष्यों को अपने इशारे पर नचाने में समर्थ है। सम्प्रदाय का मत है कि केवल पादरी ही पाप से रक्षा कर सकते हैं और प्रायश्चित का मार्ग निर्देश कर सकते हैं। नीत्शे को इस में केवल धोखा ही नहीं, मानवता के प्रति भीषण अपराध भी दिखाई देता है।

(8) ईश्वर-भाव के विरुद्ध नीत्शे की आलोचना स्पष्ट है। वे इस भाव को स्वीकार नहीं कर सकते क्योंकि इसकी सम्पुष्टि ने मानव-अस्तितत्व का निशेध निहित है। एक दृष्टि से ईसाई मत का ईश्वर मानव का 'शत्रु' है। इस तथ्य का स्पष्ट प्रमाण यही है कि यह मानव आकांक्षा, जिज्ञासा, अभिलाषा की सन्तुष्टि नहीं करता, उन्हें कुण्ठित करता है। उदाहरणतः मानव को सर्वथा ईश्वर पर निर्भर बना देता है, यह दिखलाने की चेष्टा करता है कि मानव के अपने किये कुछ होने का नहीं, सब कुछ अन्ततः ईश्वर पर ही निर्भर है। यहां तक कि ईश्वर-भाव का सहारा लेकर धर्म-मानव को मिथ्या-जाल में उलझा देता है तथा उसकी सहज, स्वभाविक कृति को कुचल देता है। वह मनुष्य के हर संशय को, उसकी हर जिज्ञासा को, ईश्वर का नाम लेकर शान्त कर देता है। अतः ईश्वर-भाव मानवीय प्रेरणा, मानवीय संकल्प तथा मानवीय प्रयत्न को पनपने ही नहीं देता।

इन आलोचनाओं के आधार पर सामान्य धारणा बन सकती है कि नीत्शे का अनीश्वरवाद मुख्यतः ईसाई मत के खण्डन पर ही आधारित है। किन्तु, सच पूछा जाये तो नीत्शे के लिये अनीश्वरवाद वर्तमान काल के लिये महत्वपूर्ण हो गया है क्योंकि इस समय मनुष्य के लिये ईश्वर की न कोई व्यवहारिक उपयोगिता ही रह गयी है और न उसे ईश्वर अस्तित्व के पक्ष में कोई ठोस प्रमाण उपलब्ध है। नीत्शे के लिए अनीश्वरवाद का महत्व इस तथ्य में है कि ईश्वर के निषेध में मनुष्य के स्वयं ईश्वर बन जाने की सम्भावना निहित है। ईसाई धर्म में मनुष्य की स्थिति भेड़ जैसी हो गयी थी तथा ईश्वर चरवाहे के रूप में उभरा था। किन्तु ईश्वर की हत्या के साथ ही मनुष्य अपने मनुष्यत्व को पा लेता है।

इस संदर्भ में कुछ विचारकों का मत है कि यदि नीत्शे के अनीश्वरवाद को महत्त्व दिया जाये तो एक प्रकार का शून्यवाद (Nihilism) स्थापित हो जाता

है । इस बात की पुष्टि वर्तमान यूरोपीय संस्कृति से भी होती है । यूरोपीय संस्कृति में ऐसे मूल्यों को प्रधानता दी गयी है जो ईसाई धर्म पर आधारित है । अब यदि ईसाई धर्म का ही खण्डन हो जाता है तो उन पर आधारित मूल्यों का भी विनाश हो जाता है । ईसाई धर्म पर आधारित मूल्यों से आस्था के समाप्त होने के साथ स्वभावतः ऐसी मनःस्थिति बन जाती है कि सभी मूल्यों को संशय की दृष्टि से देखा जाता है। अतः मूल्यों की मान्यता ही समाप्त होने को आ जाती हैं । इस प्रकार शून्यवाद का उदय होता है । अतः इन विचारकों के अनुसार नीत्शे के अनीश्वरवाद से अनिवार्यतः शून्यवाद का आविर्भाव होता है ।

नीत्शे को इस सम्भावना से न तो कोई क्षोभ होता है और न इसमें उन्हें कोई दोष ही दिखाई देता है । उनके अनुसार इस के दो रूप हो सकते हैं। सक्रिय शून्यवाद तथा निष्क्रिय शून्यवादी निष्क्रिय शून्यवाद में मूल्यों की समाप्ति, निराशावाद, प्रयोजनहीनता आदि की भावना आती है । शून्यवाद के विरुद्ध जितनी आपत्तियां उठायी जाती हैं, वे सभी इस निष्क्रिय शून्यवाद के विरुद्ध हैं । नीत्शे का कहना है कि सक्रिय शून्यवाद का दर्शन बड़ा सबल दर्शन हो सकता है। इसमें प्रचलित मूल्यों के विरुद्ध सक्रियता आती है, तथा उस निषेध के बल पर नये आदर्श की सृष्टि होती है । आधुनिक काल में इस प्रकार का शून्यवाद एक नयी आशा का सन्देश दे सकता है ।

(शक्ति-संकल्प (The will to Power)

अभी तक जितनी बातें कही गयी हैं, उनसे स्पष्ट होता है कि नीत्शे का लक्ष्य एक नये आदर्श की सृष्टि करना है—एक ऐसे आदर्श की जो शक्ति एवं श्रेष्ठता का प्रतीक हो । किन्तु यह तभी सम्भव हो सकता हैं जब यह दिखलाया जा सके कि जीव तथा जगत के मूल में तत्व शक्ति ही है । इसी कारण नीत्शे का कहना है कि जगत तथा जीव दोनों एक मूल शक्ति की अभिव्यक्तियां हैं । उस शक्ति को उन्होंने **'शक्ति-संकल्प'** कहा है ।

प्रथम दृष्टि में ऐसी धारणा बन सकती है कि नीत्शे शोपेनहावर के प्रभाव में 'संकल्प रूप जगत' के स्थान पर 'शक्ति संकल्प' का प्रयोग करते हैं । इस धारणा के समर्थन में कहा जा सकता है कि शोपेनहावर के 'जीने का संकल्प' तथा नीत्शे के 'शक्ति-संकल्प' के विवरण में समानता भी है । यह ठीक है कि ऐसी धारणा सर्वथा निर्मूल नहीं हैं, किन्तु इस धारणा से एक भ्रान्ति की सृष्टि भी हो सकती है । अतः दोनों के मौलिक भेद को स्पष्ट कर देना आवश्यक हैं । शोपेनहावर के दर्शन में 'जीने का संकल्प' एक ताात्विक सत्ता के रूप में उभरता है, किन्तु नीत्शे के दर्शन में 'शक्ति संकल्प' मानवीय संदर्भ में प्रकट होता हैं । पुनः शोपेनहावर सत्ता तथा दृश्य-जगत में भेद करते हैं, तथा संकल्प को सत्ता-जगत का मूल गुण बताते हैं ।

नीत्शे के अनुसार यह भेद निरर्थक है। उनके अनुसार जो मानव-जगत है वही सत्ता है, तथा क्रियाशीलता उसका प्रमुख लक्षण है। इस जगत की क्रियाशीलता में शक्ति-संकल्प ही व्यक्त होता है। अतः नीत्शे के अनुसार शक्ति-संकल्प सत्ता का कोई स्थावर, आन्तरिक लक्षण नहीं। **इसी प्रकार के लक्षणों की खोज ही तो निष्क्रियता की पोषक है**। शक्ति-संकल्प तो क्रियाओं की अभिव्यक्तियों में दिखाई देता है। इन अभिव्यक्तियों के उदाहरण के द्वारा शक्ति-संकल्प की पुष्टि होती है। अतः नीत्शे के अनुसार शक्ति-संकल्प-सिद्धान्त सत्ता-सिद्धान्त नहीं है, यह प्रागनुभविक तत्वों के तात्विक रूप का विवरण नहीं, किन्तु **यह तो विश्व को समझने का मानवीय ढंग है**। यही कारण है कि इस सिद्धान्त के विवरण में वे तात्विक तत्वों पर निर्भर नहीं रहते, बल्कि आनुभविक तथ्यों का सहारा लेते हैं।

शक्ति-संकल्प को महत्व देने का यह अर्थ नहीं कि नीत्शे 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' के सिद्धान्त के समर्थक हैं। नीत्शे के अनुसार 'शक्ति संकल्प' की अवधारणा दो प्रकार की मांगों की पूर्ति करती है, एक मनोवैज्ञानिक तथा दूसरी तथ्यात्मक। एक ओर तो यह मानव-क्रियाओं, संकल्पों आदि की मनोवैज्ञानिक व्याख्या का आधार प्रस्तुत करता है और दूसरी ओर यह जीव तथा जगत की व्याख्या के लिये एक मूल-सिद्धान्त दे पाता है। इसी कारण शायद 'शक्ति-संकल्प तथा शोपेनहावर के 'जीने का संकल्प' में कुछ समानता दिखाई देती है। जिस प्रकार शोपेनहावर ने सम्पूर्ण विश्व को 'जीने के संकल्प' की अभिव्यक्ति के रूप में समझने की चेष्टा की है, उसी प्रकार नीत्शे भी 'शक्ति-संकल्प' की सार्वभौमिकता पर जोर देते हैं। उनके अनुसार विश्व की सक्रियता का एकमात्र आधार अथवा कारण शक्ति-संकल्प ही है। केवल जीव-जगत में ही नहीं, अपितु विश्व की सभी क्रियात्मक अभिव्यक्तियों में इसी का रूप झलकता है।

किन्तु यह स्मरण रखना है कि शक्ति-संकल्प का ऐसा विवरण देते हुए भी नीत्शे तात्विक उलझनों में उलझना नहीं चाहते उनके अनुसार 'शक्ति-संकल्प' परम **सत्ता** नहीं, यह एक जैविक **तथ्य** है। इसी कारण इसकी व्याख्या में तत्वमीमांसा की भाषा का उपयोग नहीं, किया गया है, बल्कि अनुभव का सहारा लिया गया है, और आनुभविक पूर्वकल्पनाओं (Hypothesis) के सहारे विश्व की क्रियाओं तथा जीव एवं मनुष्यों के व्यवहारों को समझने की चेष्टा हुई है।

नीत्शे का कहना है कि शक्ति-संकल्प के आनुभविक उदाहरण हमें भौतिक-जगत, जीव-जगत, मानव-जगत-सभी में मिल सकते हैं। अणु-सिद्धान्त को ही देखें। मानना पड़ता है कि हर अणु शक्तिपुञ्ज है। हर अणु अपने ढंग से अपनी शक्ति के विस्फोट के लिये सतत् उद्यत हैं। इस दृष्टि से वह भी शक्ति-संकल्प का ही उदाहरण है। शायद इसी कारण हर भौतिक नियम मूलतः शक्तियों के सम्बन्ध का ही निर्देश करते हैं।

किन्तु, नीत्शे के विचार मुख्यत: जीव-जगत से सम्बन्धित है। मूलत: मानव-जगत से। उनका दर्शन जीवन-दर्शन भी कहा जाता है तथा मानव-दर्शन भी। यही कारण है कि उनके लेखों में शक्ति-संकल्प के उदाहरण सामान्यत: जीव-जगत तथा मानव-जगत से लिये गये हैं। नीत्शे का कहना है कि जीव-विकास के क्रम में सर्व प्रमुख तत्व 'शक्ति-संकल्प' ही है।* सभी जीवों को वे अन्ततः इसी शक्ति-संकल्प से निबद्ध मानते हैं। डारविन के जीव-विकास सिद्धान्त की आलोचना करते हुए वे कहते हैं कि डारविन ने विकास की प्रक्रिया को वाह्य उपकरणों के द्वारा समझने की चेष्टा की है। यही उनकी भूल है। अन्धे वाह्य नियम जीवों की सूक्ष्मताओं तथा विषमताओं की व्याख्या नहीं कर सकते। डारविन ने वातावरण तथा वातावरण के प्रभावों को आवश्यकता से अधिक महत्व दिया है। नीत्शे का कहना है कि वास्तविकता वातावरण के प्रभावों की नहीं है, जीवों में निहित उस शक्ति की है जो सदा सृजन एवं निर्माण के लिये कुलबुलाती रहती है, तथा जो वातावरण का भी उपयोग अपने प्रयोजनानुसार करती रहती है। अपनी बातों के समर्थन में नित्शे कहते हैं कि यदि डारविन को प्राकृतिक चुनाव (Natural Selection) को महत्व दिया जाये तो एक विचित्र बात निकल आती है। यदि यह नियम ठीक है तो किसी भी जाति में उसके श्रेष्ठतम उदाहरणों का आविर्भाव सम्भव नहीं है। श्रेष्ठतम उदाहरण नष्ट हो जायेंगे तथा औसत उदाहरण बचे रहेंगे। औसत उदाहरणों का संख्यात्मक बाहुल्य रहता है, संख्या में अधिक होने के कारण उनकी शक्ति भी श्रेष्ठतम उदाहरणों से अधिक होगी। औसत होने के कारण उनके लिये वातावरण से अपने को अभियोजित करने की समस्या भी बहुत प्रबल नहीं होगी, क्योंकि सामान्य ढंग से सामान्य अभियोजन तो उनका रहेगा ही। उसके विपरीत श्रेष्ठतम जीवों के वे लक्षण जो उन्हें सामान्यों से श्रेष्ठ बनाते हैं, वही लक्षण भिन्न होने के कारण उन्हें वातावरण से अभियोजित नहीं कर पायेंगे। अत: उनके नष्ट होने की सम्भावना अधिक होगी। इस प्रकार नीत्शे का कहना है कि यदि डारविन के प्राकृतिक चुनाव के नियम ठीक हैं तो निष्कर्ष यही निकलेगा कि हर जाति के श्रेष्ठतम उदाहरण नष्ट हो जायेंगे तथा जो औसत हैं–सामान्य हैं, वही बच पायेंगे स्पष्टत: यह निष्कर्ष असंगत है।

इसी कारण नीत्शे का कहना है कि प्राकृतिक चुनाव से अधिक सबल व्याख्या शक्ति-संकल्प के द्वारा सम्भव है। नीत्शे का दावा है कि तथ्य उनके पक्ष में हैं। सम्पूर्ण जीव-जगत में यह प्राय: स्पष्ट है कि हर जीव अपनी शक्ति बढ़ाने के

---

* नीत्शे कहते हैं, "Wherever I found a living thing, there I found the will to power; and even in the will of the servant, I found the will to be the master" Thus Spake Zarathustra, p 137.

लिये सब कुछ करने को तत्पर रहता है। जो शक्तिशाली हैं वे साक्षात रूप में ऐसा करते हैं, जो निर्बल हैं वे परोक्ष रूप में ऐसा करते हैं'।

शक्ति-संकल्प के उदाहरणों के लिये नीत्शे मानव-जगत पर अधिक झुकते हैं। उन्हें मानव-मनोविज्ञान भी इसी के पक्ष में प्रतीत होता है। नीत्शे न फ्रायड के **लिबिडो**-सिद्धान्त को मानने के लिये तैयार हैं और न प्रचलित सुखवादी सिद्धान्त को जिसके अनुसार हर मानव-क्रिया का लक्ष्य सुख-प्राप्ति है। साधारणतः हम ऐसा ही मानते हैं। हम समझते हैं कि सुख-प्राप्ति तथा कष्ट अथवा दुख से बचना-ये ही दो मुख्य मानव-प्रयोजन हैं। किन्तु, नीत्शे का कहना है कि सुख तथा दुख भी अन्ततः शक्ति-संकल्प के ही परिचायक हैं। उनके अनुसार सुख की अनुभूति अधिक शक्तिशाली बनने की अनुभूति है तथा कष्ट की अनुभूति शक्ति प्राप्ति के मार्ग में अवरोध की अनुभूति है। सुख दुख दोनों शक्ति-प्राप्त करने के साधन ही हैं। दुख तो इस अर्थ में सुख से अधिक स्पष्ट रूप में शक्ति का परिचायक है, क्योंकि दुख की अनुभूति इतनी तीव्र होती है कि वह पुनः मनुष्य को शक्तिवर्धन के लिये प्रेरित कर देती है। यही नहीं, ऐसे कर्म, जैसे आत्म-दाह, सांसारिकता से भागने की प्रवृत्ति आदि भी, शक्ति-संकल्प के विकृत रूप ही हैं।

अति मानव (Super-Man)

नीत्शे के अनीश्वरवाद तथा शक्ति-संकल्प सिद्धान्त की परिणति **अतिमानव** की अवधारणा में होती है। 'अतिमानव' नीत्शे के दर्शन का लक्ष्य है तथा मनुष्य की क्रियाओं तथा आकांक्षाओं का आदर्श भी।

जब नीत्शे ने ईश्वर के अस्तित्व का निषेध किया, तो ईश्वर के अन्त के साथ ही उस पर आधारित मूल्यों तथा आदेशों का भी अन्त हो गया। अब उनके लिए एक दूसरे विकल्प की समस्या उठ खड़ी होती है, अब उन्हें किसी एसे आदर्श की रूपरेखा खींचनी है जो ईश्वर का स्थान भी ले, तथा ईश्वर के समान दूरस्थ, अमानवीय तथा अप्राकृतिक भी न हो। इसी आदर्श की खोज में वे **अतिमानव** की कल्पना करते हैं।* नीत्शे का कहना है कि बहुत दिनों तक मनुष्य अपना आदर्श 'तारों के संसार' में ढूंढता रहा है, अतः अब यह आवश्यक हो जाता है कि उसे बताया जाये कि उस का आदर्श उसके अपने मानवीय संसार में ही संम्भव है।

कुछ विचारकों का कहना हैं कि अतिमानव का आदर्श नीत्शे के लिए

---

* नीत्शे कहते हैं, "........But now this God has died ! You Higher Men this God was your greatest danger........come on you Higher men, only now does the mountain of mankind's future labour. God has died, now *we* desire that the super-man shall live." Thus spake Zarathustra. p. 297.

एडलर (Adler) की भाषा में एक प्रकार का **पुरूषोचित प्रतिवाद** (Masculine-Protest) है। वे स्वयं निर्बल एवं बीमार रहे, तथा बहुत से ऐसे कार्य नहीं कर सके जो स्वस्थ व्यक्ति साधारणतः कर लेते हैं। अतः उनके अन्तर में इस वाह्य कमी की सम्पूर्ति की प्रबल इच्छा बनी। अब उन्होंने अपने मन में अपने को इतना सबल एवं श्रेष्ठ बना लिया कि वाह्य कमी का प्रतिकार हो गया। **अतिमानव** की अवधारणा के विकास का यह मनोवैज्ञानिक विश्लेषण यथार्थ हो या न हो, महत्त्वपूर्ण अवश्य है। यह ठीक है कि इस अवधारणा के विकास में नीत्शे की अपनी शारीरिक एवं मानसिक स्थिति का प्रभाव तो है ही। परन्तु इसके साथ ही इस अवधारणा के विकास पर विकासवाद का भी महत्वपूर्ण प्रभाव है।

विकासवाद के अनुसार विकास का हर क्रम अपने पहले के क्रम से श्रेष्ठतर है। विकास-प्रक्रिया हर कमी-कमज़ोरी को परिमार्जित करती रहती हैं। इस प्रक्रिया के विकास की दिशा निम्न से उच्चतर की ओर है। जीव-विकास के इतिहास में हर बाद का जीव पहले के जीवों से श्रेष्ठतर है। इसी कारण प्राचीनतम जीव बाद के जीवों के लिये नगण्य हैं, 'वानर भी मनुष्य के लिये हंसी या उपेक्षा का विषय हो सकता है।' यदि विकास का यह नियम है तो मानना पड़ता है कि मानव-स्तर पर पहुंच कर विकास-प्रक्रिया रुक नहीं सकती। मनुष्य में भी बहुत सी कमियाँ कमज़ोरिया हैं, अतः विकास का क्रम तब तक चलता रहेगा जब तक सभी छिपी सम्भावनाये पूर्णतया व्यक्ति न हो जाय। इसी युक्ति के आधार पर नीत्शे कहते हैं कि मानव-विकास का भी एक लक्ष्य है, उसी लक्ष्य को वे **अतिमानव** की संज्ञा देते हैं। इस तथ्य को स्पष्ट करते हुए वे कहते हैं कि मनुष्य अन्य जीव तथा अतिमानव के बीच फैली हुई रज्जु है।

किन्तु, इस का यह अर्थ नहीं है कि अतिमानव का विकास विकास-प्रक्रिया में अनिवार्यतः स्वयंमेव हो जायगा। नीत्शे के अनुसार मनुष्य की वर्तमान स्थिति उसकी चरम स्थिति नहीं हैं, मनुष्य की तुलना सेतु से की गयी हैं, किन्तु, इसका यह अर्थ भी नहीं कि मानव अनायास अतिमानव में परिणत हो जायगा। नीत्शे के मत में डारविन का प्राकृतिक चुनाव अतिमानव के विकास के लिये महत्व नहीं रखता।* उनका कहना है कि यह तभी सम्भव हो सकता है जब इसके लिये निश्चित प्रयत्न हो। यह प्रयत्न भी सभी नहीं कर सकते, उसके लिये श्रेष्ठ व्यक्तियों की आवश्यकता है। नीत्शे 'श्रेष्ठ मनुष्य' तथा 'अतिमानव' में भेद करते हैं। अतिमानव 'लक्ष्य' है—आदर्श है, इस आदर्श की प्राप्ति के लिये प्रयत्न श्रेष्ठ मनुष्यों के द्वारा ही **सम्भव** है। श्रेष्ठ व्यक्तियों की श्रेष्ठता का परिचायक उनका साहस है—

---

* कुछ लोगों ने नीत्शे के 'अतिमानव' को डारविन के विकास-सिद्धान्त के अनुरूप समझने की चेष्टा की है। नीत्शे ऐसे लोगों को 'विद्वान भैंस' कहते हैं।

प्रचलित मूल्यों के विरुद्ध प्रतिवाद करने की शक्ति है। नीत्शे ने ऐसे प्रतिवाद का निश्चित ढंग नहीं बताया है, और न श्रेष्ठ व्यक्तियों के श्रेष्ठ कर्मों की कोई सूची ही बनायी है, किन्तु उन्होंने उदाहरण दिया है-कुछ ऐसे कार्यों की ओर संकेत किया है जो अतिमानव के आविभाव की पृष्ठभूमि तैयार करने में समर्थ हो सकते हैं। ऐसे कार्यों के अन्तर्गत 'विवाह के नियमों में आमूल परिवर्तन', 'निर्बल तथा निरीह जीवों की उपेक्षा', 'सबल संतानोत्पत्ति के ढंग' आदि की बात उन्होंने की है। इतना स्पष्ट है कि नीत्शे एक प्रकार से श्रेष्ठ व्यक्तियों का आह्वान करते हैं कि वे अतिमानव के प्रादुर्भाव के लिये प्रयत्नशील हो जाय।

अब, इन विवरणों को ध्यान में रखते हुए अतिमानव के स्वरूप को समझने की चेष्टा की जा सकती है। वैसे नीत्शे यदाकदा यह भी कहते हैं कि अतिमानव का पूर्णतया निश्चित तथा स्पष्ट विवरण देना शायद सम्भव नहीं क्योंकि अतिमानव अभी अस्तित्ववान नहीं है। अभी तक तो वह एक ऐसे आदर्श के रूप में उपस्थित है जो मानव-विकास-प्रक्रिया को अपनी ओर खींच रहा है। अभी तो यह एक कल्पना मात्र है, एक ऐसी कल्पना जो मनुष्य को बल, साहस तथा आत्मनिर्भरता का सन्देश देती है तथा एक ऐसे 'कोड़े' का कार्य करती हैं जो मानव-विकास रूपी घोड़े की गति वृद्धि का साधन हो सकती है।

फिर भी, अतिमानव के स्वरूप को समझने की चेष्टा की जा सकती है। नीत्शे ने अतिमानव के लिये Ubermensch शब्द का व्यवहार किया है। वैसे यह शब्द नीत्शे की खोज नहीं है, पहले भी इस अर्थ के शब्दों का व्यवहार हुआ है (जैसे huper-anthropos)। किन्तु प्रायः सदा ही ऐसे शब्दों के द्वारा 'श्रेष्ठतर मानव' का ही बोध होता रहा है। नीत्शे ने इस अर्थ को एक विशेष ढंग से समृद्ध किया है। वैसे इन शब्दों का साहचर्य कुछ ऐसा है कि नीत्शे के अर्थ को समझने में कठिनाई होती है। साहचर्य-अर्थ के फलस्वरूप सोचा जा सकता है कि जिस प्रकार मनुष्य का प्रादुर्भाव निम्नतर जीवों से हुआ है, उसी प्रकार उसी प्रक्रिया में मनुष्य भी श्रेष्ठतर जीवों में विकसित हो जायेगा। जैसा हमने देखा है नीत्शे Ubermensch शब्द के इस साहचर्य-अर्थ को नहीं स्वीकारते, वे Uber शब्द को अपना आधार बनाते हैं, और उसी आधार पर कहते हैं कि अतिमानव केवल श्रेष्ठ मानव मात्र नहीं, वह एक नये ढंग का मनुष्य है, जो मनुष्य से परे उठ चुका होगा। यदि मनुष्य **अपने आप को अपने से ऊपर उठा सके**, तभी वह अतिमानव बन सकता है।

इस 'अपने से ऊपर उठने' के भाव को अधिक स्पष्ट करना आवश्यक है। साधारणतः अन्य जीवों तथा मनुष्य के अन्तर का आधार विकास से क्रम में ही ढूंढ़ा जाता है। उस दृष्टि से इन दोनों का भेद गुणात्मक प्रतीत नहीं होता, ऐसा प्रतीत होता है कि अन्य जीवों तथा मनुष्य की प्रवृत्तियों में प्रकार-भेद नहीं, दोनों एक ही प्रकार की हैं, अन्तर केवल मात्रा का है। किन्तु नीत्शे का कहना है कि ऐसा

निष्कर्ष केवल इस कारण निकल आता है कि हम सामान्य ढंग से सामान्य जीवों तथा औसत मनुष्य का मिलान करते हैं। हम भूल जाते हैं कि मनुष्यों में कभी-कभी ऐसे विलक्षण-प्रतिभाशाली मनुष्य भी हो जाते हैं जिनका मिलान किसी अन्य जीव से सम्भव नहीं है। वे अन्य जीव तो क्या सामान्य मनुष्यों से भी भिन्न **प्रकार** के होते हैं। नीत्शे ने इस संदर्भ में **सीजर, गेटे** आदि का नाम लिया है। नीत्शे के अनुसार ऐसे व्यक्तियों में शक्ति-संकल्प सृजनात्मक रूप ले लेती है। यह सृजन-शक्ति उन्हें अन्य सामान्य मनुष्यों से श्रेष्ठ बना देती है। इस अर्थ में कहा जा सकता है कि मनुष्य अपने से ऊपर उठ सकता है। यही मनुष्य का **आत्म-अतिक्रमण** (Self-over coming) है। आत्म-अतिक्रमण ही मनुष्य का लक्ष्य है, तथा जो पूर्णतया ऐसा कर चुका वही **अतिमानव** है। श्रेष्ठ मनुष्यों में आत्म अतिक्रमण की प्रक्रिया द्रष्टव्य है, किन्तु इस का पूर्ण व्यक्त रूप है **अतिमानव**। *

अतः कहा जा सकता है कि नीत्शे के अनुसार अतिमानव मानवीय विकास की परिणति है, उसकी श्रेष्ठतम सम्भावना है। अतिमानव की कल्पना एक ऐसी सम्भावना की कल्पना है जिसमें मनुष्य की सभी उच्च प्रवृतियाँ–बौधिक शक्ति, इच्छा शक्ति, चरित्र-बल, भावना-शक्ति, शारीरिक शक्ति, स्वतंत्रता की शक्ति, आदि- पूर्णतया संगठित हो जायेंगी। अलंकारिक भाषा में नीत्शे कहते हैं कि अतिमानव नेपोलियन तथा गेटे के सुन्दर समन्वय के रूप में समझा जा सकता है। यह शारीरिक तथा मानसिक दोनों दृष्टि से शक्ति पुञ्ज होगी।

वैसे नीत्शे यह भी कहते हैं कि यह कोई आवश्यक नहीं कि अतिमानव को **भविष्य** की ही एक सम्भावना मानी जाये। उनके अनुसार यह सम्भावना अभी भी फलित हो सकती है। परन्तु तब यह आवश्यक होगा कि इस सम्भावना को शीघ्र रूप देने के लिये सर्वाधिक बलिदान की आवश्यकता है। यह बलिदान प्रचलित मूल्यों का बलिदान होगा, सुरक्षित ढंग से जीवित रहने की इच्छा का बलिदान होगा यदि मनुष्य 'श्रेष्ठ' होना चाहता है, तो उसे सामान्यता की स्थिति का बलिदान करना होगा। समाज के श्रेष्ठ व्यक्ति इस बलिदान के अग्रगामी तथा अन्य के लिये पथ-प्रदर्शक हो सकते हैं।

---

* इस भाव के स्पष्टीकरण के प्रयत्न में काफमैन एक उद्धहरण देते हैं जो स्वत: स्पष्ट हैं, "Altogether Zarathustra [अतिमानव का प्रतीक] is an enraplured and uncanny exegesis of the proposition **Uber**. Over-fullness, over-goodness, Over-time, Over-kind, over-wealth, over **who**........ these are a few out of the great number of over-words some of which are newly coined and some of which are used over again and they are just as many variations of the one exculh-sively meant over-coming." **Keufman**, Nietzsche p. 309.

नीत्शे ने अतिमानव के गुणों का भी यत्र तत्र उल्लेख किया है। उन सभी विवरणों के पीछे बस एक ही भाव है, अतिमानव की शारीरिक तथा मानसिक दोनों शक्तियां असीम होंगी। वह अपनी इच्छा को सक्रिय रूप दे सकेगा, शक्तिहीनों को जीवन के पथ से हटा सकेगा। अतीव साहस उसका परिचायक होगा, नये मूल्यों की सृष्टि उसका स्वनिर्धारित कर्म। यह एक नयी जाति होगी, वर्तमान मानव जाति से भिन्न। इस जाति का हर सदस्य शक्ति, वीर्य, बौद्धिकता आदि का प्रतिरूप होगा। ऐसे अतिमानवों की जाति का आविर्भाव ही मानव-जीवन का आदर्श माना जा सकता है।

चिरन्तन पुनरावर्तन का सिद्धान्त
(Doctrine of Eternal Recurrence)

नीत्शे के दर्शन में **चिरन्तन पुनरावर्तन** का सिद्धान्त बिलकुल ही नया विचार है। उनके दर्शन की एक केन्द्रिय अवधारणा है 'शक्ति'। अतः **शक्ति-संरक्षता-सिद्धान्त** (theory of Conservation of Energy) को महत्व देना पड़ता है। इस सिद्धान्त को महत्व देने के साथ ही नीत्शे चिरन्तन पुनरावर्तन के सिद्धान्त में भी तथ्य दिखाई देता है। कभी-कभी ऐसा प्रतीत होता है कि नीत्शे चिरन्तन पुनरावर्तन के निहितार्थ को स्पष्ट नहीं कर पा रहे, कभी-कभी यह सिद्धान्त उनके दर्शन के एक दोष के रूप में दिखाई देता है, किन्तु इतना स्पष्ट है कि नीत्शे की समझ में यह सिद्धान्त उनकी एक नयी खोज है।

नीत्शे का कहना है कि विश्व की सम्पूर्ण शक्ति का माप किया जा सकता है, विश्व की शक्ति अनन्त नहीं है। शक्ति की क्या-क्या विभिन्न संस्थिति सम्भव हैं, उसके परिवर्तन के रूप क्या-क्या हो सकते हैं ? क्या उनके संघात हैं—इन सबों को निर्धारित किया जा सकता है। अतः शक्ति की क्रियाशीलता की सम्भावनायें असंख्य होते हुए भी अनन्त नहीं हैं। किन्तु ये क्रियायें होती तो हैं काल में ही, और काल अनन्त है, असीम है। अतः दो तथ्य स्थापित हुए, एक तो यह कि सम्पूर्ण शक्ति नियत और समरूप है, अनन्त नहीं, दूसरा यह कि शक्ति की क्रियाशीलता काल में है जो अनन्त है। अब काल के किसी क्षण को लें, उसके पहले का काल भी असीम है, तथा बाद का काल भी। तो इस क्षण के पहले असीम काल में शक्ति के सभी रूप विकसित हो चुके हैं, तथा बाद में भी वे सभी पुनः विकसित होंगे। शक्ति समरूप है, अतः स्वीकारना पड़ता है कि शक्ति के रूप चिरन्तन ढंग से पुनः पुनः क्रियाशील होते रहे हैं। इस क्षण में जो कुछ हो रहा है, वह अपने ढंग से घटित हो चुका है। इसे ऐसे भी कहा जा सकता है कि एक क्षण में जितनी शक्ति व्यक्त होती है, दूसरे क्षण में भी उतनी ही शक्ति व्यक्त होती है। शक्ति की हर क्रियाशीलता पुनः पुनः व्यक्त होती रहती है, तथा यह क्रम चिरन्तन रूप में चलता रहता है। कहा जा सकता है कि विश्व की गति एक वृत्त के घेरे जैसी है, जो पुनः उस बिन्दु पर आती है जिससे होकर वह पहले जा चुकी है।

इस बात को दूसरे ढंग से भी समझा जा सकता है। कहा जा सकता है कि काल के अनन्त होने के कारण तथा शक्ति के सीमित होने के कारण यह मानना आवश्यक है कि शक्ति की सभी सम्भावनायें काल में क्रियाशील हो चुकी हैं। यदि दोनों अनन्त होते तो यह मानना आवश्यक नहीं होता। यह भी स्वीकारना पड़ता है कि शक्ति की क्रियाशीलता पुनः व्यक्त होती रहेगी। अतः विश्व में **पूर्णतया समरूप क्रमों का घेरा** (circle of absolutely identical series) मानना अनिवार्य हो जाता है। साधारण भाषा में कहा जा सकता है कि विश्व में जो घटित हो रहा है, वह घटित हो चुका है, तथा बाद में भी घटित होगा। यह और बात है कि हमें शक्ति की समरूपता दिखाई नहीं देती, किन्तु जितनी शक्ति जैसे पहले व्यक्त हुयी है वैसे अभी भी व्यक्त हो रही है तथा बाद में भी व्यक्त होगी। शक्ति का कोई खेल ऐसा नहीं जो बस एक बार ही खेला गया हो। नीत्शे के अनुसार शक्ति का हर नाटक बार-बार दुहराया जाता है। इसी विचार को नीत्शे के दर्शन में **चिरंन्तन पुनरावर्तन का सिद्धान्त** कहा गया है।

रेबर्न के अनुसार इस विश्वास के **तीन** स्पष्ट परिणाम दिखाई देते हैं:

(क) इस सिद्धान्त को मान्यता देने पर विश्व के सम्बन्ध में 'प्रयोजन' प्रश्न महत्वहीन हो जाता है। यह नहीं कहा जा सकता कि विश्व का कोई निश्चित अन्त या लक्ष्य है। यदि शक्ति के खेल बार-बार घटित होते हैं तथा यदि काल अनन्त है तो उद्देश्य, लक्ष्य, प्रयोजन आदि के प्रश्न समाप्त हो जाते हैं।

(ख) इस विचार के फलस्वरूप नीत्शे के दर्शन में अमरत्व की एक नयी अवधारणा बन आती है। यदि सब कुछ पुनः पुनः घटित होता है और यदि काल अनन्त है तो मानना पड़ता है कि कुछ नष्ट नहीं होता। जीवों की शक्ति का खेल अमर हो जाता है।

(ग) इस विश्वास के फलस्वरूप एक नैतिकता का एक नवीन आधार मिल जाता है। यदि जो कुछ व्यक्ति करता है, उसे पुनः घटित होना है, तो व्यक्ति के कर्म शाश्वत हो जाते हैं। अतः अच्छे ढंग से जीना इसलिए श्रेष्ठ हो जाता है कि वह जीवन शाश्वत जीवन बन जाता है।

इस विवरण के द्वारा एक अन्य तत्व पर भी प्रकाश पड़ता है। चिरन्तन पुनरावर्तन में विश्वास के फलस्वरूप **अस्तित्व की अवस्था** का महत्व बढ़ जाता है। यदि शक्ति की अभिव्यक्तियों का पुनरावर्तन चिरन्तन रूप में होना है, तो उद्देश्यों का उतना महत्व नहीं रह जाता जितना सत्तावान स्थिति का। उदाहरणतः अब हमारे लिये महत्व 'मुझे क्या होना हैं' से अधिक 'मै क्या हूं' का है, क्योंकि हमारी यात्रा अनन्त है। लक्ष्य के चयन का प्रश्न अब नहीं रह जाता अब तो यह देखना है कि यह यात्रा हम किस स्थिति में कर रहे हैं—जैसे तैसे-निर्बलता का बोझ ढोते हुए अथवा सबल-समर्थ रूप में। नीत्शे का यह विचार सर्वथा नवीन एवं मौलिक है

क्योंकि यह सामान्य ऐतिहासिक दृष्टिकोण से सर्वथा भिन्न है। सामान्य ऐतिहासिक प्रगति में विभिन्न अवस्थाओं का महत्व केवल इस बात में है कि इतिहास की गति उनसे हो कर आगे बढ़ती है। एक बार एक स्थिति से आगे बढ़ गये कि उस स्थिति का मूल्य समाप्त हो गया। वहां चरम महत्व उस अन्तिम लक्ष्य का है जिसे पाने का उपक्रम ऐतिहासिक प्रक्रिया करती रहती है। किन्तु नीत्शे की विचारधारा में अन्तिम लक्ष्य का प्रश्न निरर्थक है क्योंकि यात्रा अनन्त है। उनके लिये महत्वपूर्ण प्रश्न यात्रा के ढंग का है, उनके लिये यह आवश्यक है कि यह यात्रा सशक्त एवं श्रेष्ठ ढंग से हो।

कुछ विचारकों ने यह आपत्ति उठायी है कि चिरन्तन पुनरावर्तन का सिद्धान्त तथा अतिमानव का सिद्धान्त एक दूसरे से असंगत है। कहा जाता है कि यदि विश्व की गति का पथ वृत के घेरे जैसा है, और यदि इस गति का कोई अन्तिम लक्ष्य नहीं है तो यह किस आधार पर कहा जा सकता है कि विकास-प्रक्रिया में अन्ततः अतिमानव का आविर्भाव होगा ही। यदि अतिमानव विकास-प्रक्रिया का लक्ष्य है तो चिरन्तन पुनरावर्तन का सिद्धान्त अयुक्त है, तथा यदि चिरन्तन पुनरावर्तन को मान्यता दी जाय तो अतिमानव के आदर्श होने का प्रश्न ही नहीं उठता। किन्तु नीत्शे के विचार में यह असंगति उन दोनों अवधारणाओं के स्वरूप की अनुपयुक्त समझ के कारण है। सच पूछा जाय तो नीत्शे के अनुसार ये दोनों सिद्धान्त एक दूसरे के पूरक हैं। नीत्शे अतिमानव को विकास-प्रक्रिया की अन्तिम कड़ी नहीं मानते। यह तो पुराने प्रचलित विचार-पद्धति के कारण हम सोच लेते हैं कि विकास-प्रक्रिया अतिमानव में समाप्त हो जाती है। नीत्शे के अनुसार तो यह प्रक्रिया अनन्त है, इस प्रक्रिया में महत्व इसके **अन्त** का नहीं, **अभी** का है **इस क्षण** का है। चिरन्तन-पुनरावर्तन के सिद्धान्त में **क्षण** को केन्द्रीय स्थान मिला है, ठीक उसी के समरूप अतिमानव-सिद्धान्त में केन्द्रीय स्थान **व्यक्ति** को मिला है। दोनों अवधारणाओं (क्षण एवं व्यक्ति) के लिये प्रगति का सामान्य अर्थ महत्वपूर्ण नहीं, क्योंकि काल के किसी क्षण के 'अन्त' का प्रश्न नहीं उठता तथा उसी प्रकार व्यक्ति की कोई निश्चित **अन्तिम** परिणति भी नहीं है। व्यक्ति के लिये **यह क्षण** (और यहां यह क्षण प्रत्येक क्षण को सूचित करता है) महत्वपूर्ण है क्योंकि उसका इस क्षण का रूप उसका शाश्वत रूप हो सकता है। यदि हर क्षण वह शक्ति की अभिव्यक्ति का निर्बल रूप ही स्वीकार करे, तो निर्बलता उसके साथ जुटी रहेगी, तथा यदि किसी क्षण वह अपने को सबल, समर्थ या अतिमानव ही बना ले तो यह उसका शाश्वत रूप होगा और उसकी अनन्त यात्रा सशक्त रहेगी इसी कारण नीत्शे प्रायः स्पष्ट रूप में कहते हैं कि मानवता का लक्ष्य किसी अन्तिम लक्ष्य की प्राप्ति में नहीं, बल्कि अतिमानवों के आविर्भाव में है। अतः 'व्यक्ति' तथा 'क्षण' की समरूपता में चिरन्तन पुनरावर्तन सिद्धान्त तथा अतिमानव सिद्धान्त-दोनों का सुन्दर समन्वय हो जाता है।

समीक्षा

नीत्शे के दार्शनिक विचार दर्शन की परम्परा के साथ मेल नहीं खाते क्योंकि इनकी दार्शनिक समस्यायें तथा उनकी समस्याओं के समाधान ढंग-दोनों की प्रचलित दार्शनिक ढंग से भिन्न है। उनके लिखने का ढंग भी कुछ ऐसा है कि दर्शन-प्रेमी को उनके विचारों को व्यवस्थित रूप देने में भी कठिनाई होती है। उनके लेखों में अतिशयोक्ति को प्रचुरता है। भावनात्मक उद्वेग में वे तार्किकता-अतार्किकता, संगत-असगत आदि के भेद की उपेक्षा कर देते हैं। फलतः उनके विचारों युक्तता भी प्रायः स्पष्ट नहीं हो पाती।

इस विषमता की व्याख्या करते हुए कुछ विद्याविद कहते हैं कि यह नीत्शे की असुन्तलित मानसिक अवस्था का परिणाम है। उन लोगों ने नीत्शे के जीवन तथा दार्शनिक विचारों में सम्बन्ध स्थापित करने की चेष्टा की है और दिखलाया है कि उनके विचार अचेतन की अतृप्त इच्छाओं की सन्तुष्टि के रूप हैं। अपने जीवन में जो उन्हें प्राप्त न हो सका, जिसकी कमी की अनुभूति उन्हें सदा रही, वह सब उनके दर्शन में प्रबल रूप से प्रकट हो गया। उदाहरणतः उनका जीवन, निर्बलता तथा बीमारी का जीवन रहा। अतः उनके विचारों का आदर्श एक सशक्त अतिमानव हो गया। उनका सामाजिक जीवन निराशापूर्ण ही रहा, शायद इसी कारण उनके दर्शन में पुराने मूल्यों के उन्मूलन तथा नवीन मूल्यों की सृष्टि की बात हुयी। नीत्शे के विचारों का इस प्रकार का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण बहुत से टीकाकारों ने किया है। हमें इस प्रकार के मनोवैज्ञानिक विश्लेषण यथार्थिता अयथार्थिता के प्रश्न में नहीं उलझना है, हमें उनके विचारों का मूल्यांकन दार्शनिक दृष्टि से करना है।

प्रथमतः हम उनके विचारों में निहित कुछ दोषों तथा विसंगतियों पर प्रकाश देने की चेष्टा करें। कहाँ जा सकता हैं कि नीत्शे ने दर्शन के पारस्परिक आधारों को छोड़ नये आधारों पर अपने विचारों की नींव रखी। साधारणतः दार्शनिक विचार बौद्धिक मापदण्डों पर आधारित रहता है, किन्तु नीत्शे का दर्शन **संवेनात्मक अनुभूति** पर आधारित हैं। ऐसा नहीं हैं कि दर्शन के इतिहास में वे ही प्रथम विचार हैं जिन्होने इस आधार को अपनाया है। नीत्शे की विशिय्टता इस तथ्य में हैं कि जिस ढंग से दस अनुभूति को उन्होंने सर्वांगी बनाया है और महत्व दिया है, उस ढंग से कोई अन्य विचारक वैसा नहीं करता। कला, साहित्य आदि की अमिट छाप उनके मस्तिष्क पर रही, उसी के परिणामस्वरूप उन्होने भावना, संवेग तथा अन्तर्दृटि को अत्यधिक महत्व दिया। परिणाम यह होता है कि उनकी दृष्टि बहुधा साहित्यिक एवं काल्पनिक अधिक प्रतोत होती हैं, दार्शनिक एवं बौद्धिक कर्म। किसी तत्व की व्याख्या देने के स्थान पर वे ऐसी सशक्त उक्ति दे देते हैं कि कुछ क्षणों के लिए सारी जिज्ञासा शान्त हो जाती है। उनकी विधि में वेग, है, विचित्र तात्कालिक प्रभावोत्पादकता है, किन्तु यह प्रभाव क्षणिक ही हैं। जैसे

ही शान्तिपूर्वक उन उक्तियों पर विचार किया जाता हैं, तो उनमें निहित विसंगतिया स्पष्ट हो जाती है ।

नीत्शे के नैतिक विचारों की परीक्षा करें । उनके नैतिक विचार की केन्द्रीय अवधारणा है प्रमुख नैतिकता तथा दासत्व नैतिकता का द्वैत । उन्होंने इस भेद को बड़ा महत्व दिया है, एक की अभ्यर्थना की है तथा प्रमुख-नैतिकता को सराहा है । किन्तु, एक दृष्टि से यह भेद ही निरर्थक प्रतीत होता है । शायद ही कोई नैतिकता का ऐसा उदाहरण मिले जो पूर्णरूपेण इन दोनों में किसी एक का सूचक है । सभी धर्मों में, सभी सिद्धान्तों में दोनों का समावेश है । व्यक्ति के जीवन में भी दोनों हैं, कुछेक क्षणों में वह दासत्व भाव का व्यवहार करता है, तथा कभी-कभी प्रभुत्व-भाव से । इससे इतना तो स्पष्ट हो जाता है कि एक भाव का पूर्ण उन्मूलन शायद सम्भव भी न हो । यह भी युक्तिसंगत प्रतीत होता है कि जब दोनों एक साथ रह सकते हैं तो दोनों का विरोध उतना प्रबल अथवा तीव्र नहीं है जैसा नीत्शे सोचते हैं ।

वैसे नीत्शे प्रभुत्त्व-भाव का समर्थन करते हैं तथा दासत्व भाव को निम्न वर्ग की नैतिकता कहते हैं । किन्तु यदि सूक्ष्म विश्लेषण किया जाये तो नीत्शे स्वयं दासत्व-नैतिकता के पोषक प्रतीत होंगे । दासों का क्या आदर्श है ? स्वामी के प्रति प्रतिशोध-भावना ही तो उसके अन्तर में पनपती है । वह हृदय से यही तो चाहता है कि प्रभु का प्रभुत्व छीन ले, अपने हाथ करले । दासों के कार्यों के पीछे कुछ इसी प्रकार का भाव रहता है, तथा नीत्शे अपने ढंग से इसी भाव के समर्थक प्रतीत होते हैं । नीत्शे के अनुसार व्यक्ति निर्बल है, पराश्रित है । उन की अनुशंसा है कि वह सबल बने, सशक्त बने । जिस प्रकार दासों का उद्देश्य अपनी शक्तिहीनता पर विजय पाना है, उसी प्रकार नीत्शे के अनुसार व्यक्ति का उद्देश्य अपनी अशक्तता पर विजय पाना है । इसी दृष्टि से नीत्शे दासत्व नैतिकता के पोषक बन जाते हैं ।

नीत्शे के अनुसार मूल्यों का पुनर्मूल्यीकरण अनिवार्य है । उनका स्पष्ट आदेश है कि प्राचीन, सड़े, गले मूल्यों के स्थान पर नवीन मूल्यों की सृष्टि करनी है । किन्तु, उदाहरण स्वरूप जिन मूल्यों का वे उल्लेख करते हैं तथा जिन्हें वे 'श्रेष्ठ' मूल्य कहते हैं, वे कोई नये मूल्य तो नहीं । साहस, शक्ति, सशक्तता, बौद्धिकता आदि ऐसे मूल्य तो नही जिनका प्रचलित मूल्य-मीमांसा में कोई स्थान ही नहीं है ।

अतिमानव की अवधारणा में भी कुछ विसंगतियां अन्तर्निहित हैं । नीत्शे का कहना है कि निर्बलता तथा शक्तिहीन जीवों का उन्मूलन तथा अतिमानव का आविर्भाव ही जीवन का लक्ष्य है । किन्तु अपने विचारों के वेग में वे भूल जाते हैं कि अतिमानव का आविर्भाव एकाएक या स्वयंमेव नहीं होता । उसके लिये प्रयत्न अनिवार्य है और एक प्रकार से यह प्रयत्न होता भी रहा है । किन्तु, यह प्रयत्न कौन करता है, किसके प्रयत्न स्वरूप अतिमानव का आविर्भाव सम्भव होगा ? स्पष्टतः प्रयत्न वही करता है जो अभी सबल नहीं, अशक्त है । अतिमानव के आविर्भाव की

सारी तैयारी इन्हीं साधारण मनुष्यों को करनी है जिन्हें सशक्त बनना है। नीत्शे अशक्तता की इस अनिवार्यता की उपेक्षा करते हैं।

उन का कहना है कि विकास-प्रक्रिया एक सतत् प्रवाह है, और यह अभी मनुष्य तक पहुँची है। उनका यह विश्वास है कि प्रवाह यहां पर रुक नहीं सकता, और अग्रसर होगा। किन्तु यदि उस प्रवाह का स्वरूप ही है प्रवाह का सतत् अग्रसर होना, तो यह प्रवाह अतिमानव पर एकाएक रुक कैसे जायेगा ? अतिमानव के आगे भी किसी श्रेष्ठतर अतिमानव का आविर्भाव होना अनिवार्य हो जाता है। स्पष्ट है नीत्शे को इस विकल्प की सम्भावना का आभास नहीं था, क्योंकि उनके अनुसार अतिमानव से श्रेष्ठ जीवों के विकास का कोई प्रश्न ही न हीं उठता। वैसे उनके लेखों में इस समस्या का एक समाधान दिया गया है। उनके अनुसार बिकास प्रक्रिया छिपी सम्भावनाओं को व्यक्त करती है। विकास की हर स्थिति में कुछ सम्भावनायें व्यक्त होती हैं, कुछ अव्यक्त रह जाती हैं। इसी कारण यह प्रक्रिया आगे बढ़ती है। नीत्शे के अनुसार अतिमानव में सभी सम्भावनायें प्रकट हो जाती हैं, अव्यक्त कुछ बचता नहीं, अतः उसके पश्चात् विकास-प्रक्रिया के अग्रसर होने का प्रश्न नहीं उठता। इस प्रकार क्यों अतिमान विकास की श्रेष्ठतम तथा चरम अभिव्यक्ति है—इसकी एक व्याख्या वे प्रस्तुत करते हैं। किन्तु यह व्याख्या तर्क संगत प्रतीत नहीं होती, क्योंकि यह कहने का कोई आधार नहीं है कि अतिमानव में सभी सम्भावनायें व्यक्त हो जायेंगी। पुनः उनके अनुसार अस्तित्व की यात्रा अनन्त है, तो क्या अतिमानव के आविर्भाव के बाद कुछ और नवीन होने को नहीं रहेगा ? क्या उसके बाद की यात्रा सदा 'एक सी' रहेगी ? और यदि ऐसा हो तो क्या वह जीवन ऊब का जीवन नहीं होगा ? नीत्शे कहते हैं कि अतिमानव के आभिर्भाव के बाद का जीवन सबल-सशक्त जीवन होगा, किन्तु यदि सम्पूर्ण अस्तित्व ही सबल-सशक्त रहे तो सशक्तता का अर्थ ही समाप्त हो जाता है। उसे सशक्त जीवन तो अभि के अशक्त जीवन की तुलना में कहा जा रहा है। अतिमानव के पूर्ण आविर्भाव के बाद सशक्त-अशक्त का तो अन्तर ही समाप्त हो जायेगा।

नीत्शे का अतिमानव सिद्धान्त तथा चिरन्तन पुनरावर्तन सिद्धान्त भी एक दूसरे से असगत प्रतीत होते हैं। नीत्शे ने यथासम्भव इस असंगति को दूर करने की चेष्टा की है किन्तु वे सफल नहीं हो पाये। यदि चिरन्तन पुनरावर्तन ठीक है तो नियति-वाद सर्वप्रमुख हो जाता है। तब तो जो कुछ हो रहा है, वह एक दृष्टि से पूर्वनिश्चित है, पूर्व निर्धारित है। अतः प्रयत्नों के द्वारा अतिमानव के आविर्भाव का प्रश्न ही नहीं उठता। और अतिमानव में किसी नयी शक्ति के व्यक्त होने का प्रश्न भी नहीं उठता, क्योंकि शक्ति के चिरन्तन पुनरावर्तन के नियम के अनुसार वह शक्ति पहले भी व्यक्त हो चुकी है। अतः इन दोनों सिद्धान्तों को एक दूसरे से संगत बनाना असम्भव ही प्रतीत होता है।

चिरन्तन पुनरावर्तन का सिद्धान्त भी एक मान्यता पर ग्राधृत है। वह काल को ग्रनन्त मान कर चलती है। यदि काल को ग्रनन्त न माना जाय तो यह सिद्धान्त समाप्त हो जाता है। किन्तु काल की ग्रन्ततता एक प्रकार से मान्यता के रूप में स्वीकार कर ली गयी है। किन्तु दर्शन के इतिहास में ऐसे भी मत हैं जो काल को न ग्रनादि मानते हैं ग्रौर न ग्रनन्त, तथा उनके मत का तार्किक ग्राधार भी ठोस तथा सबल है। नीत्शे के द्वारा उन ग्राधारों के खण्डन ग्रथवा काल की ग्रनन्तता को सिद्ध करने का कोई स्पष्ट प्रयन्त नहीं हुग्रा है। ग्रतः कहा जा सकता है कि चिरन्तन पुनरावर्तन की पूर्व मान्यता ही ठोस ग्राधार पर खड़ी नहीं है।

नीत्शे के विचारों की मूल ग्रवधारणा शक्ति-संकल्प को भी ग्रावश्यकता से ग्रधिक महत्व दिया गया है। यह ठीक है कि जीव को शक्ति की ग्रपेक्षा रहती है, किन्तु यह कहना उपयुक्त नहीं कि जीवों के हर कार्य के पीछे शक्ति-संकल्प ही है। जिस प्रकार **फ्रॉयड ने 'लिबिडो'** को या एलडर ने **'स्वत्वाग्रह'** को हर क्रिया का मूल प्रेरक माना, उसी प्रकार नीत्शे ने **'शक्तिसंकल्प'** को। किन्तु जिस प्रकार फ्रॉयड ने हर क्रिया में 'लिविडो' को ही देखना शुरू किया, उसी प्रकार नीत्शे ने 'शक्ति-संकल्प' को बहुत से स्थलों पर प्रतीत होता है कि वे बलात् ऐसा कर रहें। शायद इसी कारण कुछ विचारकों का विश्वास है कि उनकी यह ग्रवधारणा उनके मानसिक ग्रवसाद या उन्माद का ही एक व्यक्त रूप है।

इस प्रकार नीत्शे के विचारों की दार्शनिक ग्रालोचनायें हो सकती हैं ग्रौर वे ग्रपने स्थान पर उपयुक्त भी हैं। किन्तु नीत्शे के दार्शनिक विचारों का दर्शन के इतिहास में परिशिष्ट तथा विलक्षण स्थान है। नीत्शे ने पहली बार दर्शन के प्रचलित ढंगों से हट कर कुछ सोचने का साहस किया तथा एक नये प्रकार के दर्शन का श्रीगणेश किया। नीत्शे के विचारों की विशिष्ठता इस तथ्य में भी है कि उन्होंने मानव-दर्शन के महत्व को ग्रौर प्रकाश दिखाया, तथा दर्शन के लिये एक नया मार्ग, निर्देश किया। ग्रभी तक के दार्शनिक जीवन को तटस्थ होकर देखते रहे, उन लोगों ने जीवन का नहीं, जीवन से सम्बन्धित भाव-विचारों का विश्लेषण किया। किन्तु नीत्शे ने जीवन को जीवन के रूप में देखने की चेष्टा की, तथा पहली बार इस तथ्य पर जोर दिया कि दार्शनिक जीवन ग्रस्तित्व की ग्रनुभूतियों का जीवन है

— · — —

14

फ्रांसिस हर्बर्ट ब्रैडले

(1846 - 1924)

जीवन[1] और कृतित्व

अपने समय के महानतम ब्रिटिश दार्शनिक[2], फ्रांसिस हर्बर्ट ब्रैडले का बाल्यकाल टी० एच० ग्रीन, एडवर्ड केदर्ड और ए० ई० टेलर की भांति एक गहन और अपेक्षाकृत संकीर्ण धार्मिकता के वातावरण में बीता। पर, 1865 में यूनीवर्सिटी कालिज, Oxford में आने से पहले ही वे कान्ट का Gitique of Pure Reason पढ़ चुके थे। 1870 से जीवन के अन्त तक वे मर्टन कालिज, औक्सफर्ड में रहे। यहाँ, उन्होंने अध्यापन का तो कोई कार्य न किया। परन्तु बौद्धिक उथल-पुथल के बीच[3], महत्वपूर्ण स्वतन्त्र लेखन अवश्य किया, विशेषकर

---

1. ब्रैडले के जीवन वृत्त के लिये देखें: A. E. Taylor, *F. H. Bradley*, MIND, Vol. XXXIV (1925), पृ.-1-12; "*Francis Herbert Bradley*, 1864-1924." Proceedings of the British Academy, Vol. XI (1924-5) पृ. 458-68; तथा टेलर का ब्रैडले पर लेख, *Dictionary of National Biography* में, 1922-30 (London 1937)

2. देखिये ब्रैडले के बारे में, 1924 में कहे गये, Muirhead के ये शब्द : "....The foremost figure in British Philosophy, Perhaps in the philosophy of our time in any Country, for the Cast generation.
W. F. Lofthouse, *F. H. Bradley* (Lodon, The Epwarth Press, 1949) पृ. 21·

3. यह वह समय था जब इग्लैंड में जर्मन (विशेष रूप से हेगेल के) दर्शन का स्वागत करने वाले ब्रिटिश विचारकों को, इस शंका के विरुद्ध कि हेगेल और उनके अनुयायी धर्म के शत्रु हैं, दार्शनिक वाद-विवाद में फंसना ही पड़ा। जिन दार्शनिकों की ओर यहां इशारा है, उनमें से कुछ के नाम ये हैं : Jowett, Green, Wallace, Bosanqnet तथा दोनों Cairds.

1914 तक, जब उनके 'सत्य और सत्व पर निबन्ध' प्रकाशित हुए और जिसके उपरान्त, जीवन की संध्या में, वे केवल 'सम्बन्धों' (Relations) पर ही एक अपूर्ण निबन्ध लिख पाये।

ब्रैडले, मृत्यु पर्यन्त, अविवाहित और रुग्ण रहे। परन्तु उनका जीवन सरस था। संगीत, व्यायाम, सुसंस्कृत धार्मिकता और राजनीति ये सब ही उन्हें रुचिकर थे। विश्वविद्यालय के जीवन में वे सक्रिय भाग लेते थे। दूसरों के प्रति अपनी भावनाओं को दबाने की अपेक्षा उन्हें प्रखर रूप से व्यक्त करना ब्रैडले को अधिक प्रिय था। उनकी लेखन शैली में भी द्वन्द्वात्मक विचारप्रक्रिया के साथ-साथ संवाद (Dialogue) का पुट है।[4] तत्वमीमांसीय लेखन में तो उन्हें उपासना का सा आनन्द आता है।[5] इसी कारण वह कभी नीरस नहीं लगता[6]; और यह ब्रैडले के चिन्तन की सूक्ष्मता और मौलिकता का द्योतक है कि जेम्स वार्ड (Ward), जिन्होंने दर्शन के क्षेत्र में ब्रैडले का आजीवन विरोध किया, इस बात के अत्यन्त इच्छुक थे कि Contemparary British Philosophy की दूसरी पुस्तक ब्रैडले ही को समर्पित हो।[7]

ब्रैडले की रचनाओं[8] का क्रम इस प्रकार है :

(1) आलोचनात्मक इतिहास की पूर्वमान्यताएँ (संक्षेप-अक्षर: आइप) Presuppositions of Critical History (oxford, 1874)

(2) नैतिक लेख (नल) Ethical studies (1st ed, London, 1876; 2nd edition, oxford, clarendon Press, 1927 : 1935 *Reprint*)

(3) तर्कशास्त्र के सिद्धान्त (तस) Principles of Logic (1st ed, London, 1883; *Corrected Impression of 1928* in two vols.)

---

4. Lofthouse, *F. H. Bradley*, पृ. 34.
5. यहां देखिये ब्रैडले के अपने सारपूर्ण शब्द : "In various manners we find something higher, which ···both chastens and transports us. And, with certain persons, the intellectual effort to understand the universe is a principal way of thus experiencing the Deity." आस पृ. 5
6. यहां मैं इन शब्दों का उल्लेख कर दूं जो ब्रैडले के बारे में प्रो० Brand Blanshard ने अपने (15 मई,, 1970 के) पत्र में मुझे लिखे : "A true philosopher, who had the gift, too often absent today, of making philosophy seem as exhilarating and important and as it ought to be."
7. Lofthouse, पृ. 33
8. जिन संक्षेप अक्षरों और संस्करणों को मैं काम में लाया हूं वे तिरछे कर दिये गये हैं।

(4) आभास और सत् (आस) Appearance and Reality (1st ed, London, 1893; 1951 *Reprint*)

(5) सत्य और सत् पर निबन्ध (ससनि) Essays on Truth and Reality (Oxford, Clarendon Press, 1914)

(6) संग्रहित निबन्ध (सिन) Collected Essays (2 vols. Oxford, Clarendon Press, 1935)

ब्रैडले के समस्त दार्शनिक विचार इस मूलभूत अंतर्दृष्टि पर आधारित हैं :

> चिन्तन और व्यवहार दोनों ही में समग्रता हमें इष्ट है।[9] जो समग्र न होकर आंशिक है, वह व्याघातग्रस्त है[10], और इस कारण उसे न तो हम विचारात्मक दृष्टिकोण से परम सत्य की संज्ञा दे सकते हैं, और न ही इससे जीवन में हमें सन्तुष्टि होती है[11]।

तर्कशास्त्र, आचारशास्त्र और तत्वज्ञान–दर्शन के इन तीनों अंगों में ही ब्रैडले का विचार इस विश्वास से प्रेरित होता है कि समग्रता, एक आरोपित आदर्श न होकर, हमारे व्यवहारिक और मानस-जीवन की स्वाभाविक दिशा है।[12] समग्रता (Wholeness) में तीन अर्थ निहित हैः विविधता, आन्तरिक सम्बन्ध और सामंजस्य तथा पूर्णता।[13] यदि यह प्रश्न उठाया जाए कि इस आदर्श का अनुसरण करने को विचार बाध्य ही क्यों है, तो ब्रैडले का सीधा उत्तर यह होगा कि विरोधाभास से बचने की चिन्तन की अपनी सहज मांग ऐसा करने से ही पूरी हो सकती है। उनकी तत्वमीमांसा के अवलोकन से यह बात स्पष्ट हो जायेगी।

1–तर्कशास्त्र

(अ) व्याघात का नियम :

व्याघात का नियम, एक प्रकार से, चिन्तन की इसी मांग की पुष्टि करता है। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि प्रदत्त सत् (Given reality) पर यह नियम

---

9. नल पृ. 73
10. सीन पृ. 70
11. ससनि पृ. 4 आस पृ. 130
12. देखिये : "One main work of philosophy is to show that where there is isolation and abstraction, there is everywhere, so far as the abstraction forgets itselt, unreality and errar." ससनि पृ. 473
13. देखिये : नल पृ० 69–70 : 73 74

नहीं लागू होता। ब्रैडले का विश्वास है कि तर्कशास्त्र के तीनों मूल नियम, केवल आकारपरक (formal) न होकर, वस्तुपरक (material) भी हैं :

> "The Principles of Identity, of contradiction and of Excluded Middle, are every one material. Matter is implied in their very essence. For without a difference, such as that between letters A and B, or again between A in two several positions you cannot state or think of these principles.... And the nature of these differences is clearly material."[14]

प्रो० ब्लैनशर्ड का विचार है कि आकारपरक तर्कशास्त्र पर ब्रैडले के इस आक्रमण का आज तक कोई सन्तोषजनक उत्तर नहीं दिया गया है।[15] अब, इस मत के औचित्य का परीक्षण तो यहाँ नहीं किया जा सकता। परन्तु इस लेख के तीसरे भाग में हमें यह विचारने का अवसर मिलेगा कि वास्तविकता व्याघात के नियम के अनुरूप कैसे है।

(आ) निर्णय सम्बन्धी मत :

चिन्तन की प्रारम्भिक इकाई निर्णय है। इस सम्बन्ध में, उनके तत्वज्ञान के सन्दर्भ में, ब्रैडले के निम्नलिखित विचार उल्लेखनीय हैं।

1–विधेय, सम्बन्धात्मक संसृष्टि (Relational complex) भी हो सकता है। 'अ, ब से पहले आता है', इसमें, ब्रैडले के अनुसार, पूरा अ-ब सम्बन्ध ही विधेय है।[16] ऐसे सम्बन्धों का परीक्षण करते हुए जैसे:-'अ, ब का समकालीन है' या 'क, ख के पूर्व में स्थित है' ब्रैडले कहते हैं कि यहाँ विधेय में विशेषणात्मक सम्बन्ध भी सम्मिलित हैं।[17]

2–उद्देश्य के, निर्णय में, दो रूप होते है: एक विशिष्ट सत्ता और अविभाजित सत्ता।[18] उद्देश्य एक तद् किम-संयोग (That-what togetherness) तो होता ही है, साथ ही प्रत्येक निर्णय में हमारा गुप्त आशय यह भी होता है[19] कि, सामान्य रूप से, सत्ता ऐसी है कि उसमें अमुक विधेय अमुक उद्देश्य से युक्त

---

14. तत्र पृ. 519-20
15. Brand Blanshard : The Nature of Thought (London, George Allen & Unwin, 1955, Vol II.) प. 372, फुटनोट
16. तत्र पृष्ठ 28.
17. वही पृ० 22 यहां यह तो स्पष्ट है ही कि ब्रैडले असममिति (asymmetrical) सम्बन्धों से अनभिज्ञ नहीं हैं।
18. वही, पृ. 28
19. इसे ब्रैडले की भाषा में, Implicit predication कहेंगे।

है, हो सकता है, या नहीं हो सकता। यदि उद्देश्य के दूसरे रूप पर ध्यान रखा जाये तो ऐसे निर्देशों से भ्रम नहीं उत्पन्न होगा जैसे : 'एक चतुर्भुज चक्र असम्भव है'। यहाँ यह समझना तो त्रुटिपूर्ण होगा ही कि यह निर्णय चतुर्भुज चक्र का एक वास्तविक गुण बताता है, क्योंकि ऐसा चक्र होता तो है ही नहीं। ब्रैडले कहते हैं—और यह उचित ही लगता है–कि यहाँ भ्रम से बचने के लिये हमें निर्णय की भाषा को इस रूप में परिवर्तित करना होगा: 'दिक् का स्वरूप ही ऐसा है कि इसमें गोल और कोणीय आकार का संयोग नहीं हो सकता'।[20] फ्रेगे (Frege) के समान, ब्रैडले इस बात की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट करते हैं कि एक कथन के व्याकरणिक रूप से उसका तर्कमूलक आकार (Logical form) समझने में त्रुटि हो सकती है।[21]

अविभाजित सत्ता से निर्णय का सम्बन्ध कैसे है, यह एक सरल उदाहरण से और स्पष्ट हो जाना चाहिए। 'गुलाब का फूल लाल है' ऐसा कहने में हम एक पुष्प विशेष पर तो ध्यान देते ही हैं: पर, इसके साथ हमें भाव रूप से ऐसा भी बोध रहता है कि यह निर्णय वस्तु-गुण (Thing quality) के सम्पूर्ण जगत से जुड़ा हुआ है।

ब्रैडले के इन विचारों के दो निहितार्थ उनके अपने तत्वज्ञान के लिये महत्वपूर्ण हैं : एक यह कि कोई भी निर्णय व्यक्त रूप से सम्पूर्ण सत् को आबद्ध करने में असमर्थ है; और दूसरा यह कि, चिन्तन कितना ही विमर्शात्मक (Discursive) क्यों न हो, अव्यवहित अनुभव (Immediate Experience) का पूर्णरूपेण लोप कभी नहीं होता। किसी भी निर्णय या तथ्य को अपने आप में पूरा समझना, ब्रैडले की दृष्टि में, केवल एक भ्रम है।

3–अनेकान्तवाद (Pluralism) के तो ब्रैडले कट्टर विरोधी हैं। विभिन्न तर्कों की सहायता से वह यह सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं कि निर्देश की अद्वितीयता (Uniqueness of reference) न तो एकव्यापी निर्णय में प्राप्त होती है और न निदर्शनों (Demonstratives) और नामों में। पृथकत्व एक मानसिक प्रतिमा में तो मिल सकता है, परन्तु चिन्तन का सम्बन्ध तो अर्थ से है; और यहाँ वास्तविक पृथकत्व असम्भव है।[22]

(इ) अर्थ और दार्शनिक चिन्तन :

अर्थ को बाह्य तथ्य और चित्रीय प्रतिमा का एकेक-सादृश्य नहीं माना जा सकता। उसकी प्राप्ति की विधि तो यह है कि अस्तित्व में से कुछ अंतर्वस्तु

---

20. तस पृ. 42
21. John Passmore : A Hundred years of British Philosophy (London, Gerald Duekworth & Co.,1966) प. 161
22. देखिये 'Separation by abstraction is no proof of real separateness.' आस पृ. 24

(content) शिथिल हो; और फिर, सामान्यों के सहारे, इस अन्तर्वस्तु का–विचारात्मक रूप से–किसी वस्तु वर्ग से नाता जोड़ा जाये। ब्रैडले अर्थ के 'सहज'–सिद्धान्त[23] का विरोध करते हैं; और चिन्तन और अनुभव दोनों में ही मूर्त्त सामान्यों के प्रयोग पर बल देते हैं। प्रत्यय को मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से न देखकर, वे उसे अर्थ का माध्यम मानते हैं, और तर्कशास्त्र को मनोविज्ञानपरता (Psychologism) से बचाने का भरसक प्रयत्न करते हैं। इस सन्दर्भ में उनका यह अनुरोध प्रशंसनीय है कि दार्शनिक और कारणात्मक (Genetic) समस्याएं एक दूसरे से पूर्णतया भिन्न हैं। दार्शनिक प्रश्नों का हल करने की विधि यह है कि प्रत्ययों का विचारात्मक प्रामाण्य आँका जाय, न कि यह कि-जैसी ह्यूम की धारणा थी-मानसिक व्यापार का अनुभवात्मक (Phenomenological) ब्यौरा दिया जाय।

इसका आशय यह नहीं कि दार्शनिक चिन्तन में तथ्य की ओर ध्यान ही नहीं दिया जाता। ब्रैडले का स्पष्ट मत है कि तर्क का आरम्भ किसी अनुभूत तथ्य से ही होता है, विचार मात्र से नहीं।[24] परन्तु यहां हमें यह भी स्मरण रखना होगा कि दार्शनिक चिन्तन प्रदत्त सत् का प्रतिबिंब मात्र कभी नहीं हो सकता। द्वंद्वात्मक विचारण (dialectical thinking) का श्रीगणेश तो अवश्य प्रदत्त-तथ्य से होता है, परन्तु, तदन्तर, चिन्तन-तथ्य पर दृष्टि रखते हुए भी-अपने ही नियमों का अनुसरण करते हुए आगे बढ़ता है। फलस्वरूप, वह जिन निष्कर्षों पर पहुँचता है वे, तथ्य सम्बन्धी होते हुए भी अनुभव निरपेक्ष प्रामाण्य (a priori validity) से युक्त कहे जा सकते हैं।[25]

II–नीतिशास्त्र

जीवन के तथ्यों के प्रति सचेत रहते हुए भी, चिन्तन–समग्र और संगति प्राप्त होने की अपनी मांग को कैसे पूरा कर सकता है, यह ब्रैडले के आचारशास्त्र से स्पष्ट हो जाता है।[26] विशेषकर उनके निम्नलिखित नैतिक समस्याओं के विवेचन से :

(अ) 'मुझे नैतिक क्यों होना चाहिये? यह प्रश्न इस अर्थ में तो उचित नहीं लगता कि नीतिमान होने से लाभ क्या है, क्योंकि प्रत्येक मत एक ऐसा साध्य मानता

---

23. अर्थात् : 'natural' theory of meaning.
24. तस पृ. 480.
25. वही पृ. 409; 408-409.
26. ब्रैडले की Ethical studies के विषय में Bosanquet का मत है कि इस पुस्तक में चिन्तन और अनुभूति का आधिक्य है। Bosanquet, 'Life and Philosophy' in *Contemporary British Philosophy* (1924) पृ. 59

है जिसके सम्बन्ध में उसके लाभदायक होने का प्रश्न नहीं किया जाता। उदाहरणतया, प्रेयवाद यह नहीं पूछता कि उसका अपना आदर्श, सुख, उपयोगी कैसे है। तो फिर नैतिकता से ही यह मांग क्यों की जाय कि वह अपना लाभदायक होना सिद्ध करे ? न हो जनसाधारण की नैतिक चेतना इस मांग का समर्थन करती है। वह तो इस विश्वास से प्रेरित होती है-उन क्षणों में जब वह स्वार्थ या कुतर्क के वशीभूत नहीं होती, कि सद्गुण का महत्व अन्तस्थ है, और यह प्रश्न उठाना ही अनैतिकता है कि सद्गुण उपयोगी कैसे है।[27] हमारे प्रश्न का उचित अर्थ इसलिये यही हो सकता है कि (इस जाने-माने सत्य को) हम इसे कैसे समझें कि नैतिकता निरपेक्ष साध्य है।[28]

(आ) नैतिक होना है क्या ? - इस समस्या का विवेचन करने में भी ब्रैडले जीवन के तथ्यों और चिन्तन सम्बन्धी नियमों का समान रूप से ध्यान रखने की चेष्टा करते हैं। सदाचारी व्यक्ति जिस आत्मतत्व की उपलब्धि का जीवन में प्रयास करता है वह एक अंगिरूप साकल्य (Organic whole) है, न कि अवस्थाओं का समूह मात्र।[29] इसलिए सुख जैसा एक पक्षीय तथ्य हमारे नैतिक जीवन का सच्चा साध्य नहीं हो सकता। जो व्यावर्तक हैं उससे व्यवहार में भी हम असन्तुष्ट रहेंगे। सार्वजनिक मत तो यह है ही कि यदि हमें सन्तोष-सुख इष्ट है तो, इन्द्रिय-सुख के पीछे न भाग कर, हमें जीवन व्यतीत करने का एक स्वीकृत मार्ग अपनाना होगा; और यदि उसी को ध्येय मानकर चलेंगे तो आनन्द प्राप्ति की सम्भावना बढ़ जाएगी।[30]

न ही नैतिकता का अर्थ यह है कि हम किसी ऐसे शुष्क नियम का अनुसरण करें जैसे कान्ट का 'कर्त्तव्य के लिए कर्त्तव्य'। सुखवाद (Hedonism) की भूल यह है कि वह सामान्य (Universal) को सुख की विभिन्न अनुभूतियों का समूह मात्र मानता है, और, क्योंकि ऐसी कोई स्थिति स्थायी तो होती नहीं, इस प्रकार के सामान्य का कोई वास्तविक प्रभुत्व नहीं हो सकता।[31] इसके विपरीत कान्ट (Kant) की त्रुटि यह है कि वह सामान्य को एक ऐसा आकार मात्र समझता है जिसमें विशेष (Particulars) को कोई स्थान ही नहीं।[32] ये दोनों ही मत जिस समय सत्य की अवहेलना करते हैं वह यह है : नैतिकता एक **मूर्त्त सामान्य** की सक्रिय अभिव्यक्ति है। संकल्प-प्रक्रिया में, कर्म करने के विविध मार्गों से मैं अपने आपको पृथक और ऊंचा पाता हूं, यह यहाँ सामान्य पक्ष है। और वैशिष्टय की उपस्थिति

27. नल पृ. 62; सामान्यत: पृ. 58-63
28. वही पृ. 64.
29. वही पृ. 68.
30. वही, पृ. 87
31. वही पृ. 92.
32. वही, पृ. 142

यहाँ ऐसे है कि विचार-विमर्श के उपरान्त, एक विशेष कार्यविधि को अपनाता हूं।[33] प्रथम को हम संकल्प का आकार (Form of will) कह सकते हैं, जिसकी नियततत्ववाद (Determinism) उपेक्षा करता है, और द्वितीय को, संकल्प की अन्तर्वस्तु (Content of will) जिसके लिये अनियततत्ववाद (Indeterminism) में कोई स्थान नहीं। इन सब नीतिशास्त्रीय सिद्धान्तों का मूल दोष एक ही है-एकपक्षता।[34]

(इ) वैयक्तिक संकल्प ही को नहीं, वरन् समूची नैतिकता को दो पक्षों का तादात्म्य मानना चाहिये। बाह्य पक्ष का अर्थ है, सामाजिक संस्थाएँ और पद्धतियाँ; और आन्तरिक पक्ष का, निजी नैतिकता, जिसका सार है : शुभ संकल्प से प्रेरित होने का अन्तर्बोध होना।[35] बिना वैयक्तिक सदाचार के नैतिक संस्थाएँ निष्प्राण हैं, और बाह्य आचार-व्यवस्था से पृथक निजी नैतिकता पनप ही नहीं सकती।[36] नीतिमान होने के लिये मुझे अपने पद सम्बन्धी कर्तव्य निभाने आवश्यक हैं और प्रत्येक कर्त्तव्य-भावना बाह्य जगत में किसी विशिष्ट कार्य से संयुक्त है।[37] **'मेरा पद और उसके कर्त्तव्य'** का सिद्धान्त हमें यही सिखाता है कि जो मनुष्य, अपने दोषों के होते हुए भी संसार में अपना काम ढंग से कर पाता है वह निश्चय ही अच्छा व्यक्ति है।[38] सक्रिय आत्मोपलब्धि की विधि ही यह है कि व्यक्ति सामाजिक शुभ से अनुप्राणित हो और स्वयं भी उसे अनुप्राणित करे। दैनिक जीवन में भी नैतिक **निर्णय** एक ऐसे अन्त: भी प्रज्ञात्मक बोध (Intuitive understanding) के रूप में होता है जो मनुष्य के सामाजिक नैतिकता से ओत-प्रोत होने का द्योतक है। हम नैतिक सिद्धान्तों के विषय में विचार **व्यक्त** तब ही करते है जब किसी विशेष परिस्थिति में उनमें से किसी एक का चयन करना दुष्कर लगे।[39]

(ई) परन्तु उपरोक्त विवेचन से यह नहीं समझना चाहिए कि नैतिकता में पद-सम्बन्धी कर्त्तव्यों के अतिरिक्त अन्य कुछ है ही नहीं। यदि किसी विशेष काल में समाज की दशा ऐसी बिगड़ जाय कि अनैतिक कार्यों को भी विभिन्न पदों के सन्दर्भ में कर्त्तव्य माना जाने लगे, तो 'मेरा पद और उसके कर्त्तव्य' के सिद्धान्त का अन्धा अनुसरण करने से काम न चलेगा।[40] इसके अतिरिक्त, सौन्दर्य और सत्य की अराधना कर्त्तव्य तो अवश्य हैं, परन्तु इनको किसी विशिष्ट समाज-प्रदत्त कार्य-भार

---

33. वही, पृ. 72
34. ससनि पृ. 472 ; नल पृ. 142.
35. वही पृ. 177-8.
36. वही, पृ. 178.
37. वही पृ. 180
38. वही, पृ. 181
39. वही, पृ, 194
40. वही, पृ. 203-4

से जोड़ना-और उसी तक सीमित रखना-उचित नहीं जान पड़ता[41] और ब्रैडले का यह कथन ठीक ही लगता है:

> "Man is not mon at all unless social, but man is not much above the beasts unless more than social."[42]

अतएव, अधिक विस्तृत होने के कारण, आदर्श नैतिकता (Ideal Morality) का सिद्धान्त श्रेष्ठतर है। इस सिद्धान्त की मांग यह है कि मैं प्रत्येक क्षेत्र और परिस्थिति में, यथासम्भव, अपने व्यक्तित्व में अशुभ पर नियंत्रण रखते हुए, शुभ की प्राप्ति का प्रयास करूं।[43] परन्तु विशुद्ध नैतिकता में स्वार्थपरता तो न्यूनाधिक, बनी ही रहती है। जो हूं और जो **होना चाहिये** या कर्त्तव्यता (Ought) का विरोध भी यहाँ चलता रहता है। नैतिकता इस विरोध को दूर करने का प्रयास अवश्य है; पर उसका अपना विशिष्ट रूप भी तब ही तक रहता है जब तक यह विरोध सक्रिय रहे।[44] जहाँ सदाचार हमारी प्रकृति बन जाय, कर्त्तव्य पालन सहज भात्र होने लगे, वहाँ तो धार्मिकता का वास है, निरी नैतिकता का नहीं। नैतिकता एक ऐसा स्वतो-व्याघाती आभास (Self-contradictory appearance) है जो अपनी सीमा को लांघते हुए, धर्मनिष्ठ जीवन की दिशा में प्रवृत होता है, ऐसे जीवन की ओर जहां "....All external control disappears, and in its place is gratitude to that which has conquered, confidence in it and inability to be false to it."[45]

जो व्याघातग्रस्त है वह स्वातिक्रमणीय (Self-transcendent) कैसे है, इसका तार्किक प्रदर्शन ब्रैडले की **तत्वमीमांसा** का एक स्पष्ट और आवर्तक आग्रह है। इनके आचारशास्त्र का एक अन्य लक्षण जो उनके तत्वज्ञान की याद दिलाता है, वह यह है कि अधिनीतिशास्त्र (Metaethics) की भांति और लगभग उसी प्रखरता के साथ यद्यपि उतनी मात्रा में नहीं–शब्दार्थ पर यहाँ पर्याप्त ध्यान दिया गया है;[46] और यह ब्रैडले की सुनिश्चित धारणा है ही कि यदि उन पर गहन विचार किया जाये तो अर्थ-सम्बन्धी प्रश्न तत्वमीमांसीय हो जाते हैं। नीतिशास्त्र में

---

41. वही, पृ. 205
42. वही पृ. 223
43. वही, पृ. 215.
44. वही, पृ. 234.
45. वही, पृ. 334.
46. उदाहरण के लिये ब्रैडले कहते हैं कि यदि हमें यह सिद्ध करना है कि आत्मोपलब्धि ही सच्चा साध्य है तो यह समझना आवश्यक है कि 'आत्मा' और 'सच्चा' और 'साध्य' इन शब्दों का अर्थ क्या है; और ऐसा प्रयास हमें तुरन्त तत्वज्ञान के क्षेत्र में ले पहुंचता है। वही, पृ. 65 ; पृ. 58 और 120 भी देखें।

पूर्वधारणाओं और आदि तत्वों (preconcepptions and first principles) का स्पष्टीकरण परम आवश्यक है, मूलतः यही विश्वास ब्रैडले को विभिन्न नैतिक मतों का खण्डन करने के लिए प्रेरित करता है।[47]

III–तत्वमीमांसा

जहां तक ब्रैडले के तत्वमीमांसीय मतों का सम्बन्ध है, वे लगभग सभी, बीज रूप से, उनके निम्नलिखित शब्दों में निहित हैं :

"We may agree, perhaps, to understand metaphysics as *an attempt to know reality as against mere appearance*. or the *study of first principles or mltimate truths*, or again the *effort to comprehend the universe* not simply piecemeal or by fragments, but *somehow as a whole*."[48]

तत्वज्ञान को यहां तीन प्रकार से परिभाषित किया गया है। सुविधा के लिये–और क्योंकि अन्य दोनों एक प्रकार से, उसी पर आधारित हैं — हम पहले पर ही ध्यान दें :

तत्वविज्ञान 'सत्' को 'जानने' की चेष्टा है, इसे 'आभास मात्र' से बचाते हुए। यहाँ 'जानने' का अर्थ वह ज्ञान है जो विमर्शात्मक और व्याघातरहित विचारण से प्राप्त होता है, वह अंतःप्रज्ञात्मक सर्वज्ञता नहीं[49] जिसे आध्यात्मिक साधना की चरम उपलब्धि माना जाता है। 'सत्', इस सन्दर्भ में, प्रदत्त सत् (given reality) के लिये नहीं प्रयुक्त हुआ है, वरन् उसके लिये जिसे (ब्रैडले के) तत्वशास्त्रीय दृष्टिकोण से परम सत् की उपाधि देनी होगी; और आभास **मात्र** से ब्रैडले का आशय यहाँ यह नहीं है कि जीवन के तथ्यों (और सत्यों) में, जिन्हें वे सामान्यतः 'आभास' कहते हैं, सत् का अंश है ही नहीं–ऐसा समझना तो उनके व्यक्त मत के नितान्त प्रतिकूल होगा–वरन् यह कि 'परम सत्' और आभासों में संगति और अन्तर्गतता (Harmony and inclusiveness) का इतना अधिक अन्तर है कि **तुलनात्मक दृष्टिकोण** से, उन्हें आभास 'मात्र' कह सकते है।[50]

इस सब के स्पष्टीकरण के रूप में, यह समझना आवश्यक है कि ब्रैडले के मतानुसार, 'सत्' एक ओर 'चिन्तन' से, और दूसरी ओर 'आभास' से कैसे सम्बन्धित

47. देखिये उनका Sidgwick पर आक्षेप (वही, पृ. 126, पहला फुटनोट); और उनका अनन्यता (Identity) और विविधता (Diversity) का विवेचन (वही, पृ. 167-168)
48. आस पृ. I ; तिरछे शब्द मेरे
49. ब्रैडले स्वयं कहते हैं कि, विचार के क्षेत्र में, सर्वज्ञता का दावा करना व्यर्थ है। वही, पृ. 440
50. वही पृ. 496.

है। यहाँ चिन्तन से चलना ठीक होगा, क्योंकि ब्रैडले का तत्वज्ञान एक **विचारात्मक** प्रयास है, वस्तुओं की रचना और उपयोगिता से इसका कोई सम्बन्ध नहीं :

तत्वमीमांसा का मूल मंत्र है चिन्तन की अपनी एक सहज मांग–अर्थात् तथ्यों को समझने में स्वसंगत या व्याघातरहित होने और रहने की चेष्टा। जिसके प्रति यह चेष्टा की जाती है वह (मूलतः) प्रदत्त सत् तो अवश्य है, परन्तु इसे तत्व-मीमांसीय सत् (metaphysical reality) तब–और उतनी मात्रा में ही कहा जा सकता है जब और जितना इसका स्वरूप आत्मसंगत रूप में ग्रहण किया जा सके।

परन्तु, प्रदत्त सत् से यह अपेक्षा करना उचित कैसे है कि वह चिन्तन की किसी माँग के अनुरूप हो ? व्याघात के नियम का प्रदत्त सत् से कोई सम्बन्ध है भी ? क्या यह नियम हमें यह भी बताता है कि वास्तविकता में वस्तुएं कैसी होने, या कैसी न होने को बाध्य हैं, अथवा केवल यही कि, रीति के अनुसार, किस शब्द को किस अर्थ में लेना अनिवार्य है ? जिस विवशता का व्याघात-नियम द्योतक है वह केवल विश्लेषात्मक (Analytic) है या सत्तामूलक (Ontological) भी ? इन जटिल प्रश्नों के सम्बन्ध में यही निम्नलिखित टिप्पणी ही सम्भव है :

व्याघात के नियम का, ब्रैडले के अनुसार, मूल आग्रह यह है : एक ही बिन्दु पर, उसी समय, भेदों का आरोपण नहीं हो सकता।[51] **अस्तित्व** में तो ऐसा हो सकता ही नहीं; और चिन्तन में भी ऐसा तब ही कर सकते हैं जब अर्थहानि की चिन्ता करना छोड़ दें। विषय के दूसरे पक्ष पर तो सन्देह करना सम्भव नहीं लगता, और पहले के प्रति प्रो० Ayer जैसे दार्शनिकों द्वारा जो आक्षेप किया गया है[52], इसके सम्बन्ध मे मैं यह कहना चाहूंगा :—

व्याधात-नियम के प्रतिपादन में यह कहा जा सकता है कि एक ही स्थान पर, एक ही क्षण, दो रंगों का होना **असम्भव** है। प्रो० Ayer सत्ता को इस नियमबद्धता से बचाने की चेष्टा करते है। उनके अनुसार, सत्य यहां केवल यह है कि **भाषा-व्यवहार** की रीति ऐसी बन गई है कि जहां हम दो वर्ण पास-पास देखते हैं उस स्थान को दो स्थल कह देते है। परन्तु, यदि यह केवल कहने समझने की बात है तो दोनों रंगों को उसी क्षण बिल्कुल एक स्थान पर करके देखिये; असफल रहेंगे।[53] यदि एक स्थल को दूसरे वर्ण के लेप से पूर्णतया ढक भी दें तो

---

51. देखिये : तस पृ. 147.
52. A. J. Ayer *Language, Truth and Logic* (London, victor Gollanez Ltd., 1958) प. 79
53. इस सन्दर्भ में प्रो. ब्लैन्शर्ड के विचार मुझे न्यायसंगत लगते हैं। देखिये ; *The Nature of Tnought*, Vol. II. पृ. 420

भी क्या यह कह सकेंगे कि दोनों रंग बिल्कुल एक ही स्थल पर हैं ? मेरे विचार में, नहीं क्योंकि, यदि 'हैं' को प्रत्यक्षात्मक 'होने' के अर्थ में लेते हैं, तो केवल दूसरा ही रंग है–पहला दृष्टिगोचार ही नहीं है; और यदि प्रश्न से यह समझते हैं कि क्या दोनों वर्णों को एक ही स्थल पर माना जाय, तो भी उत्तर नकारात्मक होगा, क्योंकि पहले रंग को दूसरे के नीचे ही कहना पड़ेगा। जब तक विचारण में दैशिक (spatial) तत्व रहता है, भेदों के पृथकत्व का भी कुछ न कुछ पुट अवश्य रहेगा; और जब चिन्तन पूर्णतया अर्थमात्र पर केन्द्रित होगा, तो दो विभिन्न प्रत्ययों या शब्दों का, एक ही समय और सन्दर्भ में अर्थ अनन्य नहीं हो सकता।

भेदों को एक ही बिन्दु पर आरोपित करना व्याघात है।[54] इससे बचने का (अपूर्ण) उपाय है : सम्बन्धात्मक रीति (relational form)–अर्थात् भेदों को एक दूसरे से हटाकर सम्बन्धों से युक्त रखना। उदाहरणतया, चिन्तन में कार्य को कारण से हम अनुक्रम (succession) के सम्बन्ध से जोड़ते हैं; और सत्ता में हम पाते हैं कि किसी भी वस्तु के विभिन्न गुण उसके विविध पक्षों से जुड़े हुए होते है, जैसे कि किसी पद्धार्थ का वर्ण उसका दृश्य पक्ष है और उसके स्वाद का सम्बन्ध रसना-स्पर्श से है।[55]

अतएव चिन्तन और प्रदत्त सत् में कोई मूल विरोध मानना ठीक नहीं जान पड़ता। परन्तु ऐसा भी समझना अनुचित होगा कि विचार हर प्रकार से सत्ता के तुल्य है। वस्तुओं की इन्द्रियग्राह्य वास्तविकता को तो विचार आबद्ध नहीं कर सकता। न ही वह यह समझने में समर्थ है–आत्मसंगत रूप से–कि उनके विभिन्न गुण साथ-साथ कैसे हैं।[56]

यहाँ, यह तुरन्त आवश्यक है कि हम ब्रैडले के गुण-सम्बन्ध के द्वन्द्वात्मक विचारण (Dialectic) की ओर ध्यान दें। इस विचारण का महत्व उनके तत्व-शास्त्र में केन्द्रीय है। व्यवहित अनुभव में तथ्य और विचार दोनों ही, गुण-सम्बन्ध सन्तुष्टि के रूप में आते हैं, दोनों ही को भेदों का सयोग (unity of differences) कह सकते है। इसलिये ब्रैडले की इस (Dialectic) का सम्बन्ध हमारे समूचे व्यवहित अनुभव से है। यही उनके चिन्तन का सार यह है।

---

54. आस पृ. 505., 501.

55. इसलिये प्रत्येक वस्तु को भेदों की सम्बन्धात्मक संसृष्टि मानना होगा। सत्ता के विषय में जो मैंने यहां कहा है, वह ब्रैडले के एक विशिष्ट वाक्य-खण्ड को स्पष्ट करने का प्रयास है। देखिये : आस पृष्ठ 18-19.

56. यहां, यह बताना आवश्यक है कि ब्रैडले के अनुसार, 'समझने' का अर्थ यह है कि हम एक संसृष्टि के प्रत्येक भेद से अन्य भेदों पर. तथा स्वयं पूरी संसृष्टि की ओर, ऐसी विधि से जा सकें जो चिन्तन के लिये संतोषजनक हो। सीन पृ. 659.

मान लीजिये दो पद, अ और ब, एक दूसरे के पास-पास स्थित हैं। यहाँ पदों का सान्निध्य (proximity) सम्बन्ध है, और दोनों पद, अ और ब, इस सम्बंध में हैं। दोनों ही एक दूसरे से भिन्न हैं; क्योंकि यदि ऐसा नहीं है तो हमारे पास एक ही पद रह जाता है, और किसी भी सम्बन्ध का होना असम्भव हो जाता है। दूसरी ओर, दोनों पद सम्बन्ध से भी भिन्न हैं, क्योंकि यदि हम ऐसा नहीं मानते तो जो कुछ है उसे केवल सम्बन्ध कहना पड़ेगा या केवल गुण। परन्तु **केवल** गुण या सम्बन्ध तो हो ही नहीं सकते। गुण वह है जो, कम से कम भेद (Difference) के, सम्बन्ध से युक्त है।[57] और पद उसे ही कहा जाता है जो किसी न किसी सम्बन्ध में है। परन्तु यदि सम्बन्ध गुणों से भिन्न है तो वह उनके साथ है ही कैसे ?[58] इसलिये एक और सम्बन्ध, पहले सम्बन्ध और गुणों के युक्तक के रूप में मानना पड़ेगा। लेकिन इस सम्बन्ध के भी व्याघात से बचने के लिये दो पक्ष मानने होंगे : एक वह जिससे इसकी स्वसत्ता (self-existence) है–गुणों से भिन्न–और दूसरा वह जिससे यह **सम्बन्ध** पहले सम्बन्ध और गुणों को संयुक्त करता है। परन्तु यदि ऐसा तर्क करते हैं और इससे बचना सम्भव नहीं लगता–तो अनवस्था दोष में फंस जाते हैं। सारांश यह है कि सम्बन्धात्मक रीति को जब (ब्रैडले के) तत्वमीमांसीय ढग से समझने की चेष्टा करते हैं तो व्याघात **उत्पन्न** हो जाते हैं।[59] इनसे मुक्ति पाने के लिये प्रदत्त-संसृष्टि (given complex) स्वातिक्रमणीय प्रतीत होती है–या यों कहिये कि उसकी अंतर्वस्तु (content) बढ़ती जाती है; परन्तु फिर भी, जब तक चिन्तन का अपना सम्बन्धात्मक प्रक्रम चलता रहता है, विचारात्मक शान्ति नहीं मिलती। निष्कर्ष यह निकलता है कि यदि विचार को अपने आदर्श की–अर्थात् आत्मसंगति की–पूर्णरूपेण उपलब्धि करनी है, तो एक परा-सम्बन्धात्मक (supra-relational) व्यष्टितत्व[60] पर पहुचना होगा। अपना स्वरूप रखते हुए चिन्तन इस

57. भेद को एक सम्बन्ध क्यों मानना पड़ता है, इसके लिये देखिये : Blanshard : *The Nature of Thought* (Vol. II) पृ. 477। ब्रैडले का अपना स्पष्ट मत यहां यह है; "That fact of a difference, when we realize and express its strict nature implies in its essence both relation and distinction." आस पृ. 461. जो कुछ भी है वह कम से कम भेद के सम्बन्ध से अन्य सब तथ्यों से जुड़ा हुआ है, इसे ब्रैडले के अंत: सम्बन्धवाद (Theory of internal relations) का एक आधार-कारण कह सकते हैं। परन्तु, ऐसा ब्रैडले नहीं मानते कि सम्बन्धों में बाह्य तत्व हैं ही नहीं। सम्बन्ध मूलत: 'आन्तरिक' हैं, पूर्णतया नहीं।

58. और उनके साथ है वह अवश्य।

59. व्याघातों को प्रदत्त तथ्य मानना ठीक न होगा। वे वहीं उत्पन्न होते हैं 'Where the subject is narrowed artificially, and where diversity in the identity is taken as excluded.' आस पृ. 505

60. अर्थात् Individuality या 'Consistent existence of our contents' वही पृ. 131

आदर्श को पा तो नहीं सकता। परन्तु वह ऐसे व्यष्टित्व की ओर–तर्कानुकूल ढंग से और आग्रहपूर्ण–संकेत अवश्य करता है।

यहां एक शंका हो सकती है। व्याघात से बचने के लिये क्या सम्बन्धों के स्तर से ऊपर ही जाना होगा? क्या पूर्वसम्बन्धात्मक (pre-relational) अनुभव से काम न चलेगा? यही ब्रैडले का उत्तर, संक्षेप में यह है।

इसमें सन्देह नहीं कि अव्यवहित अनुभव (Immediate Experience or Feeling) भाव रूप से अनुभूत भेदों (felt differences) का सामंजस्य है। परन्तु आत्म-विरोध से अछूता वह भी नहीं है। Feeling प्रतीत तो होता है। आत्म-निर्भर परन्तु उसकी एकता, यथार्थ में, एक ऐसा संकोच भाव-मात्र है जो बाह्य प्रभावों का परिणाम मात्र है, और जो उनके साथ-साथ परिवर्तित होता रहता है। वास्तविक परतंत्रता के मध्य आत्म-निर्भरता का आभास या प्रयत्न-यह भी तो एक प्रकार का व्याघात ही है, और हम कह सकते हैं कि इस व्याघात के निवारणार्थ ही अव्यवहित अनुभव शीघ्र ही, अपनी सीमा लांघ कर, विमर्शात्मक अनुभव में परिवर्तित हो जाने को बाध्य होता है।[61]

सम्बन्धात्मक रीति के विवेचन से हमें यह बोध हुआ, विचारात्मक रूप से, कि यदि चिन्तन की मांग अन्ततोगत्वा पूरी होनी है तो पदों की–पारस्परिक, और सम्बन्ध से–व्यक्त भिन्नता का किसी प्रकार लोप होना आवश्यक है, और अव्यवहित अनुभव पर दृष्टि डालने से यह दिखाई दिया कि जो सीमित और परतन्त्र है वह सक्रिय रूप से स्वातिक्रमणीय भी है। इसलिये परम या तत्वमीमांसीय सत् उसे ही कह सकते हैं जो सर्वसमावेशी हो और जिसकी अन्तर्वस्तु के अन्शों का संगठन ऐसा हो कि आपस में तनिक भी न टकराते हुए, उनके रूप एक दूसरे की सीधे मूल्य-वृद्धि ही करें। ऐसे परासम्बन्धात्मक साकल्य को ब्रैडले निरपेक्ष सत् (Absolute) की संज्ञा देते हैं।

अब हम मानें कैसे कि ऐसा सत् वास्तव में है? इसका उत्तर देने के लिये ब्रैडले इस परिकल्पनात्मक सूत्र (Speculative formula) का सहारा लेते हैं: 'जो हो सकता है, और जिसका होना (विचारात्मक रूप से) अनिवार्य है, निसन्देह है'।[62] इस सम्बन्ध में चिन्तन का आग्रह तो हम देख ही चुके हैं। सम्भावना की पुष्टि, आंशिक रूप से, भाव (Feeling) से हो जाती है; क्योंकि यहाँ भेदों का सह-अस्तित्व उनकी विविधता से पूर्णतया अबाधित है।

---

61. वही पृ. 407, 413
62. आस में इस सूत्र का शाब्दिक रूप हर स्थान पर एक सा नहीं है। देखिये आस पृष्ठ 177; 173- 176.

परन्तु, जैसा हम देख चुके हैं, आत्म-संगत विचार के दृष्टिकोण से, दोनों प्रकार के अनुभव-अव्यवहित और व्यवहित, और वस्तुएं तथा विचार-संसष्टियां, यहां तक कि ईश्वर का प्रत्यय भी[63] - सभी कुछ अन्ततः आभास है। निरपेक्ष सत् (Absolute) ही चरम सत् है। पर क्या हम आभासों को नितांत सत्-विहीन या निरपेक्ष सत् से पृथक मान सकते हैं? स्पष्ट है, नहीं: क्योंकि ऐसा मानने से Absolute सीमित अथवा सारहीन हो जायेगा, और चिन्तन का आदर्श न रह कर (ब्रैडले के) तत्वज्ञान के लिये निरर्थक हो जायेगा। प्रत्येक आभास की अपनी सत् की मात्रा (Degree of reality) है। अस्थिर रूप से ही सही, उसमें कुछ न कुछ अन्तर्वस्तु और आत्म-संगति है तो; इसलिये किसी आभास को हम **तुरन्त और पूर्ण रुप से** आभास नहीं कह सकते[64] हां, यह बताना अवश्य असंभव है कि निरपेक्ष सत् में प्रत्येक आभास की यर्थाथ स्थिति, अथवा उसका नपा-तुला मूल्य क्या है। परन्तु इससे Absolute के सामान्य रूप का प्रत्यय तो नष्ट नहीं हो जाता, ऐसा तो तब ही हो सकता है जब ब्रैडले के तत्वज्ञान के सैद्धान्तिक आधार को त्रुटिपूर्ण सिद्ध कर दिया जाय।

ऐसी चेष्टा ब्रैडले के जो आलोचक करते हैं उनमें से Cook Wilson और Russell के नाम उल्लेखनीय हैं। मैं इन्हीं दोनों के आक्षेपों की संक्षिप्त विवेचना करना यहां आवश्यक समझता हूं।

(अ) Cook Wilson का आक्षेप[65] ब्रैडले के द्वन्द्वात्मक विचारण के इस मर्म-स्थल पर है कि जब हम यह समझने की चेष्टा करते हैं कि सम्बन्ध का अपने पदों से नाता है कैसे, तो अनवस्था दोष में फंस जाते हैं। आक्षेप का वह अंश जो सबसे अधिक स्वीकार्य प्रतीत होता है, निम्न प्रकार से है:—..................

63. ब्रैडले के अनुसार ईश्वर की (अनुभूत) सत्ता आभास नहीं है (देखिये आस पृ. 398,) परन्तु तत्त्वमीमांसीय या विचारात्मक दृष्टिकोण से ईश्वर का प्रत्यय आत्म व्याघाती है, और इसलिये आभास है। देखिये : "...Religion... would shrink perhaps from the statement that God lives and enjoys himself in human emotion, and it would reiorl one more from the assertion that love can be where God is net, and, striving to hug both shares at once, it wavers beliwdered." वही पृ. 395

64. Sushil Kumar Saxena, *Studies in the Metaphysics of Bradley* (London, Georze Allen lunwin, 1967) पृष्ठ 197–203 'आगे मैं इस पुस्तक का उल्लेख मेरी पुस्तक कह कर करूंगा); आस पृ. 355, 318, 333-338.

65. देखिये कुक विलसन का लेख ; 'Relation and Quality' (included in) A. C. Euring's *The Idealist Tradition* (Glencoe, the Free Press and The Falcon's Wing Press, 1957) प. 285-88

एक तल के अपने विस्तार (Volume) से सम्बन्ध पर ध्यान दीजिये। क्या तल इस सम्बन्ध से पृथक है? तल की परिभाषा क्या है? यही, कि वह अपने विस्तार की सीमा है। यह सम्बन्ध तल में अनिवार्य रूप से निहित है, या यों कहिये तल से अनन्य है। परन्तु यदि ऐसा है तो यह प्रश्न ही निरर्थक है कि : 'इस सम्बन्ध का तल से नाता कैसे है'? तल यह सम्बन्ध ही है। और दोनों के मध्य कोई नया सम्बन्ध नहीं प्रविष्ट किया जा सकता, क्योंकि दोनों के बीच कोई प्रत्ययात्मक स्थान ही नहीं हैं। अतएव ब्रैडले का पहला ही पग-वह प्रारम्भिक प्रश्न जिसका उत्तर देने की चेष्टा से अनवस्था दोष उत्पन्न होता हैं - भ्रमपूर्ण है।

अब मेरे विचार में, ब्रैडले के मत की रक्षा यहां इस प्रकार हो सकती है :[66]

जिस सम्बन्ध का यहां प्रश्न है उसे हम अमूर्त रूप में ले सकते हैं या मूर्त रुप में। यदि पहले का चयन करते हैं तो आशय यह होगा : (कोई भी) तल (किसी न किसी) विस्तार की सीमा है। ऐसा कथन (या ऐसी धारणा) निस्सन्देह सार्थक है; पर यह सार्थकता तुरन्त लुप्त हो जायेगी जहां हमने यह कहा कि यहां तल और **विस्तार की सीमा होने** (के सम्बन्ध) में **कोई** अन्तर नहीं है। यदि एक सम्बन्ध अपने पदों से सचमुच अनन्य है तो पद अपने आप में कुछ हैं ही नहीं; फिर सम्बन्ध जोड़ता किसे है, और स्वयं सम्बन्ध ही कैसे है? और यदि हमने यह माना-जैसा कि चिन्तन के लिए अनिवार्य है-कि पदों का अपना भी कुछ स्वरूप है, यद्यपि वे सम्बन्ध से युक्त हैं, तो यह प्रश्न तुरन्त उचित प्रतीत होने लगता है कि अपने से भिन्न (पृथक नहीं) पदों के साथ **सम्बन्ध** है कैसे। कोई भी दो भेद अपनी विभिन्नता के कारण, स्वयं तो नहीं बताते कि वे साथ-साथ कैसे हैं, इसलिये उनके सान्निध्य के प्रति विचारात्मक विस्मय उचित ही है।

एक वास्तविक तल का उदाहरण लेने से यह सब स्पष्ट हो जाना चाहिये। यथार्थ में जो भी तल है वह चिकना है अथवा खुरदरा। निस्सन्देह वह अपने विस्तार की सीमा भी है। परन्तु क्या यह तल, **अपने इन्द्रियग्राह्य वैशिष्ट्य के साथ**, विस्तार-की-सीमा-होने के **सामान्य** सम्बन्ध से अनन्य है? स्पष्ट है, नहीं; परन्तु यदि ऐसा है तो इस प्रश्न में क्या नौचित्य है कि यह विशिष्ट तल (अपने) विस्तार की सीमा कैसे है? दूसरे शब्दों में, क्या यह (सामान्य) कथन कि तल एक विस्तार

---

66. कुक विलसन के आक्षेपों का, उनके अपने ही शब्दों पर ध्यान देते हुए, अधिक विस्तृत विवेचन मेरी पुस्तक में मिलेगा; पृ. 130-140. इन आक्षेपों के बारे में प्रो. Blanshard के (अपने पूर्व कथित पत्र मे) ये रोचक शब्द देखिये : "Bradley, so far I know, never dealt with them; we were all rather frightened of him in those far-off days, and perhaps none of the Oxford dons dared pass them on to him."

की सीमा है, हमें यह भी बता देता है कि इस विस्तार की जो सीमा (या तल) है वह चिकनी कैसे है ?

सारांश यह है कि चाहे उसे अमूर्त मानें या मूर्त, **सम्बन्ध** पदों से भिन्न है; और यह पूछना विचारात्मक रूप से उचित ही है कि दोनों का सयोग हुआ कैसे।

(अ) रसल (Russell) ने ब्रैडले की तत्वमीमांसा पर दो मुख्य आक्षेप किये है

(आ i) ब्रैडले का मत है कि सब तर्क-वाक्यों का रूप एक सा है - उद्देश्य-विधेय (Subject–predicate) योग। इसका यह अर्थ हुआ कि वस्तुओं से गुणों का तो नाता हो सकता है, पर सम्बन्धों का नहीं। इसी कारण ब्रैडले एक ऐसे असंदिग्ध तथ्य को अस्वीकार करने की त्रुटि करते हैं जैसे अस्तित्व में वस्तुओं का आपस में सम्बन्धित होना।[67]

अब मैं इस आक्षेप के उत्तार में यही दो शब्द कहना ही पर्याप्त समझता हूं : ब्रैडले के अनुसार-जैसा हम देख चुके हैं-**सम्बन्धात्मक** संसृष्टि भी विधेय हो सकती है; और

सम्बन्धों के विषय में जो ब्रैडले को अस्वीकार्य है वह उनकी वास्तविकता नहीं, वरन् केवल उनकी तत्वमीमांसीय सत्यता है।[68] ब्रैडले तो आग्रह करते हैं कि सम्बन्धों का वास (प्रदत्त) सत् के बाहर हो ही नहीं सकता।[69]

(आ ii) ब्रैडले का निरपेक्ष सत् (Absolute) सर्वसमावेशी है और इस सत् पर पहुंचने का मुख्य मार्ग सम्बन्ध-गुण रीति का द्वन्द्वात्मक विचारण हैं। सम्बन्धों के विषय में उनका एक सामान्य मत यह भी है कि उनमें से प्रत्येक एक सारपूर्ण साकल्य (Substantial whole) में निहित होता है।[70] अब, यदि यह मान लिया जाए, तो सममित (Symmetrical) सम्बन्धों से निरपेक्ष साकल्य (Absolute whole) पर जाने में तो कुछ छूट जाने का भय चाहे न भी हो, परन्तु **असममित** (Asymmetrical) सम्बन्धों से ऐसा करने में उनके क्रम-वैशिष्ट्य (Uniqueness of order) का निरपेक्ष सत् में स्थान नहीं बन पाता। उदाहरणतया, यदि दो मित्रों की ओर सचमुच ध्यान देने के स्थान पर हम एक ऐसे साकल्य का केवल विचार

---

67. देखिये ; Russell, *Our knowledge of the External world* (London, George Allen & lunwin, 1949) पृ. 18; 56-63.
68. इस भेद की जितनी उपेक्षा Morris Lazerowitz ने की है, उतनी ब्रैडले का अन्य कोई आलोचक नहीं करता। देखिये मेरी पुस्तक ; पृ. 71-73,
69. आस पृ. 468.
70. "Logically and really, all relations imply a whole to which the terms contribute and by which they are qualified. वही पृ. 521; तथा सनि पृ. 664.

करें जो मैत्री के सम्बन्ध से युक्त है, तो कोई विशेष हानि न होगी। परन्तु यदि हम यह कहें कि पिता-पुत्री का सम्बन्ध भी एक साकल्य में निहित है, तो तथ्य की इस विशेषता का कोई आभास न मिलेगा कि दोनों में से कौन सा व्यक्ति-पिता है, **पुत्री नहीं**; और कौन **संतान है, पिता नहीं**; और यदि उनकी यह तात्विक अपरिवर्तनीयता (Essential irreversibility) ही बाहर रह गयी, तो असममित सम्बन्धों को निरपेक्ष सत् में स्थान कैसे मिला; और यह सत् सर्वसमावेशी कैसे हुआ ?[71]

यहां उनके अपने फुटकर वक्तव्यों को आधार बनाते हुए, मैं ब्रैडले की ओर से यह उत्तर दे सकता हूं :-

निरपेक्ष सत् सर्वसमावेशी है, - यह कोई ऐसा बना बनाया सत्य नहीं है जो ब्रैडले के तत्वज्ञान के आरम्भ में ही मिल जाये; यह तो वह बोध है जिसका - मुख्यतः सम्बन्धात्मक रीति (या गुण-सम्बन्ध) के विवेचन के फलस्वरूप क्रमशः उदय होता है। अब देखना यह है कि (ब्रैडले की भाँति) **इस विवेचन की ओर** से चलने में असममित सम्बन्धों का क्रम-वैशिष्ट्य छूटता है या नहीं। सम्बन्धों से उनके आधारभूत साकल्यों पर हम जाते ही क्यों हैं ? इसलिये कि जब हम पद-सम्बन्ध की पारस्परिक **भिन्नता** को ध्यान में रखते हुए यह समझने का यत्न करते हैं कि वे (तथापि) साथ-साथ कैसे हैं, तो-विचारात्मक विवशता के कारण-हम एक अन्य पद-सम्बन्ध संसृष्टि की ओर, और उससे आगे (निरन्तर) ऐसे अन्य साकल्यों की ओर प्रवृत्त होने के लिये बाध्य हैं।

ध्यान रहे कि यहाँ हम पद-सम्बन्धों की **भिन्नता के प्रत्यय** मात्र से काम लेते हैं, उसके इन्द्रियग्राह्य या वास्तविक स्वरूप से नहीं; और जिस साकल्य पर हम पहुंचते हैं वह भी अमूर्त है। इसलिये ऐसी मांग करना कि (अमूर्त) साकल्य में पद-सम्बन्ध वैशिष्ट्य स्पष्ट **दिखाई दे** सर्वथा अनुचित है। ऐसा आग्रह तो वास्तव में स्वतोव्याघाती है।

हमारे इस विचारण में असममित सम्बन्धों के **क्रम-वैशिष्ट्य** से कोई बाधा नहीं पड़ती। होता इससे केवल यह है कि गुण-सम्बन्ध संसृष्टि में पारस्परिक भिन्नता की मात्रा बढ़ जाती हैं; परन्तु ऐसा होने से तो वह विचारात्मक आश्चर्य- कि इतने भिन्न होते हुए भी गुण-सम्बन्ध साथ-साथ कैसे है-और अधिक आवश्यक हो जाता है जो ब्रैडले के द्वन्द्वात्मक विचारण की मूल प्रेरणा है। रहा क्रम-वैशिष्ट्य के साकल्य में से बाहर रह जाने का प्रश्न, तो यहां यह कोई विशेष कठिनाई नहीं कही जा सकती; क्योंकि किसी भी प्रत्ययात्मक साकल्य (Ideal whole) में वास्तविकता

---

71. हाइम इस आपेक्ष को बिल्कुल इसी ढंग से नहीं रखते, पर इस आक्षेप को अकाट्य वे अवश्य मानते हैं। देखिये : R. Wollheim, F. H. Bradley (Harmonds, worth, Pelican Books, 1959) 119—120

के चिन्ह तो (अधिकांश) अनुपस्थित ही होंगे। अब ब्रैडले के ये शब्द-जिनका वे वृद्धावस्था में विस्तार नहीं कर पाये, और जिन्हें श्री वौल्हाइम (Mr. wollheim) अत्याधिक विश्वास के साथ, रसल के आक्षेप के उत्तर देने का नितान्त असफल प्रयास मानते हैं - न्यायसंगत प्रतीत होने चाहिए :

"............When it is objected against me as a monist that all that I as such have a right to is terms and the whole while the order or direction is in neither-my answer is that no whole is really simple whole, and in every whole are always conditions unexpressed, and that in these conditions falls the difference required here............ "[72]

और यह कोई उचित प्रश्न हुआ ही नहीं कि असममित सम्बन्ध **निरपेक्ष** सत् में कैसे हो सकते हैं। क्योंकि हर प्रकार के सम्बन्ध को ब्रैडले आभास मानते है; **और, अपने वर्तमान रूप में,** कोई भी सम्बन्ध **निरपेक्ष** सत् के अर्न्तगत नहीं कहा जा सकता। सम्बन्धों से हम सीधे इस सत् पर नहीं पहुंचते। ब्रैडले के तत्वज्ञान का सार तो यह है कि गुण-सम्बन्ध की जो वह द्वन्द्वात्मक विवेचना करता है उसके आधार पर चिन्तन-न्यायसंगत वैराग्य के भाव में - एक **परासम्बन्धात्मक** (अतएव पूर्णतया संगतिप्राप्त), सर्वसमावेशी और निरपेक्ष सत् की ओर आग्रहपूर्ण संकेत करता है।

अमूर्त चिन्तन के इस निष्कर्ष को यदि ऐसे तथ्यों से पुष्ट कर लिया जाये जैसे संकल्प का नैतिकता में, और नीति का धार्मिकता में सन्निहित और उन्नत हो जाना तो ब्रैडले की यह चरम अर्न्तदृष्टि अत्याधिक रहस्यमयी न लगेगी :

'The whole reality is so immanent and so active in every partial element, that you have only to make an object of any thing short of the whole, in order to see that object pass beyond itself" [73]

परन्तु मैं ब्रैडले के तत्वज्ञान के **आदि-बिंदु** पर बल देना चाहूंगा। **विचारकों** के लिए सत्यापन सिद्धान्त[74] मुझे इतना अनिवार्य नहीं लगता जितना व्याघात-

72. सीन पृ. 672.

73. ससनि पृ. 223 आजकल भी ऐसे दार्शनिक हैं जो एक केन्द्रीय 'द्रष्टि' (Vision) को दर्शनशास्त्र के लिये अनिवार्य मानते हैं। देखिये Waismann का लेख 'How I see Philosophy' *Logical Positivism* में, जिसे A. J. Ayer ने संपादित किया है (The Free Press, 1960) पृ. 374.

74. अर्थात् : Principle of verification

नियम[75]; और बिना किसी भी पूर्वमान्यता के दार्शनिक चिन्तन करना मुझे सम्भव नहीं लगता।[76] जहां तक ब्रैडले की मौलिक युक्तियों और धारणाओं का प्रश्न है, मैं (अपनी पुस्तक में) इनके विरुद्ध किये गये लगभग सभी मुख्य आक्षेपों का विस्तृत परीक्षण कर चुका हूं;[77] और मुझे उनके तत्वज्ञान में निरपेक्ष सत् के प्रत्यय तक पहुंचने के विचार-प्रक्रम में तो कोई विशेष त्रुटि नहीं दिखाई देती। हां, यह अवश्य अस्पष्ट लगता है कि विचारात्मक रूप से, इस प्रत्यय से आगे, उसके अनुरूप एक वास्तविक सत्ता की ओर, कैसे बढ़ा जाय।[78] इसके अतिरिक्त, ब्रैडले के कुछ वे वक्तव्य भी मुझे दोषपूर्ण लगते हैं जिनमें उन्होंने यह बताने की चेष्टा की है कि निरपेक्ष सत् में आभासों की ठीक-ठीक अवस्था क्या है।[79] परन्तु यदि हम दर्शन को, उसे आध्यात्मिक रहस्यों से बचाते हुए, एक विचारात्मक प्रयास मानें तो यह भी स्वीकार करना होगा कि- जहाँ तक तत्वमीमांसीय मापदण्ड और तदनुसार चिन्तन का सम्बन्ध है - ब्रैडले का, दर्शन के क्षेत्र में, एक अपना ही स्थान है।[80] मुझे Stout की यह धारणा नितान्त अनुचित नहीं जान पड़ती है कि सत्तामीमांसा (Ontology) के क्षेत्र में मनुष्य की बुद्धि जो कुछ कर सकती हैं वह ब्रैडले ने कर दिखाया है।[81]

सुशील कुमार सक्सेना, दिल्ली विश्वविद्यालय।

---

75. तत्वज्ञान का विरोध करने में सत्यापन-सिद्धान्तवादी अनजाने में ही व्याघात नियम का सहारा कैसे ले लेता है इसके लिये देखिये मेरी पुस्तक पृ० 188-189.

76. ऐसी चेष्टा करने का संकल्प तो अवश्य किया जा सकता है; पर सचमुच ऐसा कर सकना, ब्रैडले के मतानुसार, असम्भव है क्योंकि : "To think is to judge, and to judge is to criticiges, and to critieize is to (assume and) use a criterion of reality." आस पृ. 120,: कोष्टक–चिन्हों के भीतर शब्द मेरे चिन्तन सम्बन्धी यह धारणा ही ब्रैडले के संदेहवाद (sceptiusm) का आधार है। ऐसी पूर्वमान्यताओं से अवश्य बचना चाहिए जो संदिग्ध हैं : पर ब्रैडले का अपना आधार-बिन्दु- कि सत् आत्मसंतग है–तो अकाट्य प्रतीत होता है।

77. इस सन्दर्भ में जिन दार्शनिकों का मैंने अपनी पुस्तक में उल्लेख किया है, उनके नाम ये हैं ; Alictta, Ayer, Campbell, Cohen, Cook Wilson, Holmes, Lazerowitz, Ruggeris, Russell, Ward तथा 'Wallheim.

78. यहाँ में ब्रैडले का दोष वही समझता हूं जो अपने लेख आइप में वे स्वयं देखते हैं। "I think that in order to have attained a satisfactory result, the whole subject of probability and certainty ought to have been investigated."
सीन पृ. 2

79. मेरी पुस्तक पृष्ठ 240–1.

80. वही पृ० 254–261,

81. Russell, *My Philoosphical Development* (London, George Allen and lunwin, 1959) पृष्ठ 38.

Bibliography

1. A. C. Ewing—*Idealism : A Critical Survey*, London, Methuen & Co., 1961.
2. A. E. Taylor—*F. H. Bradley*, in Mind, Vol. XXXIV, No. 133, Jan., 1925.
3. A. P. Frank—*T. S. Eliot's Objective correlative and the Philosophy of F. H. Bradley*, in the Journal of Aesthetics and Art Criticism, Spring 1972.[1]
4. A Pringle—Pattison—*The Idea of God*, Oxford, 1917 (Lecture XII)
5. Bernard Bosanquet—*Knowledge and Reality*, London, 1885.
6. C. A. Campbell—*Scepticism and Construction : Bradley's Sceptical Principle as the Basis of Constructive Philosophy*, London, George Allen & Unwin, 1931.
7. Clement C. J. Webb—*God and Personality*, London 1919
8. Cook wilson—*Relation and Quality*, in A. C. Ewing's 'The Idealist Tradition', Glencoe, The Free Press & the Falcon's Wing Press, 1957.
9. Garrett Vander Veer—*Bradley's Metaphyaics and the Self*,, Vale University Press, 1970.
10. G. E. Moore—*External and Internal Relations*, in Philosophical Studies, London, Routledge & Kegan Paul, 1951.
11. G. F. stout--*Bradley's Theory of Relations*, in Studies in Philosophy and Psychology, London, Macmillan & Co., 1930.
12. G. Watts Cunningham—*The Idealistic Argument in Recent British and American Philosophy*, New York, Appleton Century 1933.
13. G. F. Stout--*Bradley on Truth and Falsity*, in MIND, Vol. XXXIV, No. 133, Jan. 1925.

---

1) इस लेख के फुटनोटों में ब्रैडले-इलियट सम्बन्ध के बारे में लेखों और ग्रन्थों की सराहनीय सूची दी हुई है।

14. Hastings Rashdall--*The Metaphysics of Mr. F. H. Bradley*, in Proceedings of the British Academy, Vol. V (1911) 2, pp. 429–55.

15. Hiralal Haldar--*Neo-Heagelianism*, London Heath Cranton Ltd., 1927.

16. James Ward—*Bradley's Doctrine of Experience*, in MIND, Vol. XXXIV. No. 133, Jan., 1925.

17. James Ward—*Mr. F. H Bradley's Analysis of Mind*, in MIND, N. S. 12, Oct, 1887, pp. 564–75.

18. James Ward—(Review of) *Appearance and Reality*, in MIND, Vol. III. n. s. 1984. pp. 109–25.

19. J. E. Mctaggart—(Review of) *Appearance and Reality*, in Revue de Metaphysique et de Morale, 1984, pp. 98-112.

20. J.H. Muirhead—*The Platonic Tradition in Anglo-Saxon Philosophy*, London, George Allen & Unwin, 1931.

21. J. H. Muirhead—*Bradley's Place in Philosophy*, in MIND, Vol. XXXIV, 1925.

22. Josiah Royce—(Review of) *Appearance and Reality*, in The Philosophical Review, Vol. III, 1894.

23. John Passmore—*A Hundred Years of Philosophy*, London, Gerald Duckworth & Co, 1957, 1966.

24. Morris Lazerwitz—*The Structure of Metaphysics*, London, Routledge & Kegan Paul, 1955.

25. R. G. Collingwood—*The Idea af History*, London, 1946.

26. Robert Adamson—*The development of Modern Philosophy*, London, 1903.

27. R. Adamson—(Review of) *Principles of Logic*, in MIND, Vol. IX, 1884, pp. 122-35.

28. R. Metz—*A Hundred Years of British Philosophy*, London, George Allen & Unwin, 1950.

29. R. Wollheim—*F. H. Bradley*, Harmondsworth, Pelican Books, 1959.

30. Sushil Kumar Saxena—*Studies in the Metaphysics of Bradley*, London, George Allen & Unwin, 1967.

31. Torgny T. Segerstedt—*Value and Reality in Bradley's Philosophy*, Lund, 1934.

32. Torgny T. Segerstedt—*'Complete' and 'Perfect' in Bradley's Idea of Reality*, International Journal of Ethics, Vol. XLIII (1932-3), pp. 37-52.

33. T. S. Eliot—*Knowledge and Experience in the Philosophy of F. H. Bradley*, London, Faber and Faber, 1964.

34. T. S. Eliot—*Francis Herbert Bradley*, (Review of Ethical Studies, 2nd edition) in The Times Literary Supplement, Dec. 29, 1927.

35. R. W. Church—*Bradley's Dialectic*, London, 1942.

36. W.F. Lofthouse—*F. H. Bradley*, London, The Epworth Press, 1949.

37. W. R. Sorley—*A History of English Philosophy*, Cambridge University Press, 1920.

15

हैनरी बर्गसां

उन्नीसवीं शताब्दी के अधिकतर जीवविज्ञानशास्त्री और दार्शनिकों ने विश्वविकास की प्रक्रिया की यन्त्रवादी दृष्टिकोण से व्याख्या की। उनका विश्वास था कि अन्ततः जीवनशक्ति को भौतिकी रासायनिकी पदावली में समझाया जा सकता है। परन्तु ड्रीश [1](Driesch) द्वारा भ्रूण-विज्ञान में किये हुए प्रयोगों के फलस्वरूप कई लोगों ने जीवन-शक्ति की यान्त्रिक धारणा को त्याग दिया और जैविक क्रियाओं की स्वायत्तता को मान्यता दी। ड्रीश ने तो अपने जीवसृजनशक्ति (entelechy) की धारणा को और विस्तृत करके केवल भ्रूण-विकास पर ही नहीं बल्कि सम्पूर्ण जगत के विकास पर लागू किया। उसके अनुसार सम्पूर्ण प्राकृतिक परिणामिता एक विशाल भ्रूण-विज्ञान की तरह है। All natural becoming is like one great embryology.[2]

उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त तक जीव विज्ञान की प्रगति ने दर्शन शास्त्र में एक बड़ी हलचल पैदा कर दी और दार्शनिकों ने विकासवादी दर्शन को स्पेन्सर और हेकेल (Haeckle) से भिन्न एक नवीन रूप प्रदान करने की आवश्यकता अनुभव की। बर्गसां ने यन्त्रवाद और भौतिकवाद के विरुद्ध विद्रोह का नेतृत्व किया और अपने प्राणवाद (Vitalism) की परिपूर्ण तत्वमीमांसा को प्रचलित किया। उसने इस विकासवादी तत्वमीमांसा की पुष्टि अपने परिवर्तन या परिणामिता, काल या कालात्मा (duration), प्रतिभज्ञान, स्मृति और स्वतंत्र संकल्प की धारणाओं से की। वह शीघ्र ही बुद्धिमूलक दर्शनों को अपर्याप्त घोषित करने वाले आन्दोलन का विख्यात दार्शनिक बन गया और अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'सृजनात्मक-विकास' से उसने समकालीन दार्शनिक जगत् में एक उच्च एवं स्थायी स्थान प्राप्त कर लिया।

---

1. प्राणवाद का सिद्धान्त और इतिहास, पृ. 208-9. H. Driesch : *The History And Theory of Vitalism*, Macmillan & Co. London, 1914.
2. वही पृ. 224

बर्गसां का जीवन और रचनायें

बर्गसां का जन्म 18 अक्टूबर 1859 को (जिस वर्ष डारविन का प्रसिद्ध ग्रन्थ The Origin of species प्रकाशित हुआ) एक यहूदी घराने में हुआ। उसके माता-पिता ब्रिटिश नागरिक थे और वह स्वयं 21 वर्ष की आयु में फ्रांस का नागरिक बना। वह स्कूल में एक असाधारण प्रतिभा का विद्यार्थी गिना जाता था। उसने अनेक पुरस्कार प्राप्त किये। वह भौतिकी, गणित और साहित्य में बहुत ही दक्ष था और ये उसके बहुत प्रिय विषय थे। परन्तु बाद में उसकी रुचि विज्ञान की तात्विक समस्याओं की ओर इतनी जागृत हो गई कि उसने दर्शनशास्त्र में ही अपना सारा जीवन लगाने का निश्चय किया। अपनी ब्रिटिश पृष्ठभूमि के कारण उसे अंग्रेजी भाषा और समकालीन ब्रिटिश दर्शन का अच्छा ज्ञान था। उसके प्रसिद्ध ग्रन्थ मूलतः फ्रेंच भाषा में ही लिखे गये जिनकी भाषा और शैली की असाधारण मधुरता और आलंकारिकता के कारण उनका अन्य भाषाओं में अनुवाद का कार्य काफी कठिन है। परन्तु उसके प्रमुख ग्रन्थों का अंग्रेजी अनुवाद बहुत ही सुन्दर हुआ है। इन अंग्रेजी अनुवादों में बर्गसां ने स्वयं बहुत रूचि ली और उनको प्रामाणिक माना है।

1888 में उसकी प्रथम रचना 'काल और स्वतंत्र संकल्प' (Time And Free will) प्रकाशित हुई। आठ वर्ष पश्चात् उसका दूसरा ग्रन्थ जड़ पदार्थ और स्मृति (Matter And Memory) प्रकाशित हुआ। 1898 में वह दर्शन-शास्त्र का प्रोफेसर बना। 1907 में उसकी श्रेष्ठतम रचना "सृजनात्मक विकास" (creative Evolution) ने उसे अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति प्रदान की। उसने 1911 में 'हास' (Laughter) शीर्षक से एक पुस्तक प्रकाशित की। 1914 में वह फ्रेंच एकेडेमी के लिये चुना गया। उसे कई तरह से सम्मानित किया गया। वह राष्ट्रसंघ की कई समितियों में भी रहा। 1927 में उसके 'जीवन संचार करने वाले और बहुमूल्य विचारों तथा जिस प्रतिभा और कला से उन्हें प्रस्तुत किया गया, उसकी मान्यता के फलस्वरूप उसे विख्यात 'नोबेल पुरस्कार' प्रदान किया गया। परन्तु कुछ समय बाद गठिया की बीमारी से उसका स्वास्थ्य बिगड़ने लगा। इसके बावजूद भी उसने 1932 में अपनी अन्तिम कृति 'नैतिकता और धर्म के दो स्रोत' (Two sources of morality and Religion) को पूर्ण किया।

जन्म से यहूदी होते हुए भी, अपने जीवन के अन्तिम वर्षों में उसकी रुचि ईसाई सन्तों में अत्यधिक बढ़ गई। उसने अपनी वसीयत (Will) (8 फरवरी 1937) में स्पष्टतया लिख दिया कि उसके दार्शनिक चिन्तन ने उसे कैथोलिक मत के बहुत नजदीक पहुंचा दिया है। परन्तु उस समय के यहूदी विरोधी वातावरण ने उसे अपना धर्म परिवर्तन करने से रोका और उसके साम्प्रदायिक और जातीय रंग को अधिक दृढ़ता प्रदान की। उसने अपनी पीड़ित जाति के लाखों

लोगों में से एक बने रहने का निश्चय किया। परन्तु उसने अपनी वसीयत में अपनी 'प्रथम और तीव्र इच्छा' व्यक्त की कि उसकी अन्त्येष्टि के समय प्रार्थना किसी कैथोलिक पादरी के द्वारा होनी चाहिये। 1940 में फ्रांस के पतन के पश्चात् नई सरकार ने यहूदियों के साथ कई प्रकार से भेदभाव करना शुरू किया। हर विषय में बर्गसां को छूट दी गई परन्तु उसने यह सब कभी स्वीकार नहीं किया।

81 वर्ष की आयु में अत्यधिक रुग्णावस्था में भी बर्गसां ने यहूदी होने के कारण, रजिस्ट्री कार्यालय के बाहर, दो नौकरों के सहारे, छूट के आग्रह को अन्तिम बार अस्वीकार करते हुए, अपनी बारी के लिए खड़े-खड़े प्रतीक्षा की। 4 जनवरी 1941 को फेफड़े की बीमारी से उसकी मृत्यु हो गई।

गति और परिवर्तन की धारणा

पूर्व-सुकरातवादी ग्रीक दर्शन में हमें एक विचारधारा मिलती है जिसमें नित्यपरिणामिता (Becoming) को नित्य सत्ता (Being) से उच्च स्थान दिया गया है। इस शाखा का प्रमुख दार्शनिक हेराक्लाइटस है। उसने पार्मिनिडीज की एक अनादि, अपरिवर्तनशील सत्ता की धारणा और ज़ीनो द्वारा गति और गत्यात्मकता के विरुद्ध की गई आलोचनाओं का प्रबल विरोध किया था। बर्गसाँ ने अपने दर्शन में नित्य परिवर्तन की धारणा को अपनाया और इसे एक नई दिशा प्रदान की।

जीनो के अनुसार हमारी गत्यात्मकता के प्रत्यक्ष में एक विशेष देश और काल की स्थिर अवस्थाओं का समूह होता है। परन्तु देश और काल दोनों, चाहे वे कितने ही सूक्ष्म हों, अनन्त तक विभजनीय हैं। इस प्रकार गत्यात्मकता के कालक्रम का प्रत्येक अवस्था के अनुरूप क्षणों में विभाजन हो जायेगा और क्योंकि किन्हीं दो अवस्थाओं के बीच में ऐसी कोई चीज नहीं है जो स्वयं एक अवस्था के रूप में नहीं समझी जा सकती, इसलिये किसी एक स्थिति से उसके आगे की स्थिति के संक्रमण को गत्यात्मकता नहीं कहा जा सकता। इस प्रकार ज़ीनो ने गत्यात्मकता और परिवर्तन को असम्भव बताने की चेष्टा की। जिन दार्शनिकों ने इस विचार का अनुकरण किया उन्होंने यथार्थ सत्ता को ऐसे तत्व में ढूंढ़ने का प्रयत्न किया जो गति और परिवर्तन से मुक्त हो, और परिणामस्वरूप हमारे इन्द्रिय प्रत्यक्ष और चेतना से परे हो।

बर्गसां ने बताया कि ज़ीनो की गुत्थियों का कारण तय की गई दूरी (distance covered) और गत्यात्मकता में भेद न समझने की सम्भान्ति है। ज़ीनो के अनुसार एक्लिीज कभी भी कछुए से आगे नहीं निकल सकता, परन्तु ज़ीनो

की बात मानने का अर्थ यह होगा कि दौड़ के खंड किये जा सकते हैं अर्थात् गति को केवल अनन्त, अचल इकाइयों के योग के ही रूप में समझा जा सकता है।

इसके विपरीत बर्गसां की यह मान्यता है कि देश और काल को इकाइयों का समूह मानना भूल है। सभी प्रकार के परिवर्तन या गत्यात्मकता सर्वथा अविभजनीय हैं। गति के खण्ड नहीं हो सकते। चलना एक गति है, विराम एक अचलता है (Passing is movement, halt an immobility)। उनके बीच में कोई अनुरूपता नहीं है[3]। हम विरामों या इकाइयों के संग्रह द्वारा गति को प्राप्त होने का दावा असंभव है। गति की विभिन्न अवस्थाएं उसके खण्ड नहीं है। बर्गसां ज़ीनो के प्रशंसकों की तुलना उन लोगों से करता है जो किसी कविता का अर्थ उसके विभिन्न अक्षरों में ढूंढ़ते हैं जिनसे वह कविता बनी है[4]।

बर्गसां की राय में सबसे सरल तरीका एकिलीज से ही प्रश्न करना है। क्योंकि एकिलीज कछुए से आगे निकल जाता है, इसलिए वह दौड़ के स्वरूप को ज्यादा अच्छी तरह से जानता है। बिचारे एकिलीज को अपनी दौड़ के दार्शनिक पहलुओं का ज्ञान नहीं होने पर भी उसका स्वाभाविक उत्तर उसके अपरोक्ष अनुभव की दृष्टि से ही होगा, अर्थात् वह अपनी दौड़ को खंडित रूपों में नहीं बल्कि बर्गसां की तरह देखेगा। पार्मिनिडीज और ज़ीनो के खण्डन करने के लिये बर्गसां ने डेमोक्रिटस द्वारा दिये गये प्रसिद्ध हल का भी अनुमोदन किया है। डेमोक्रिटस ने खड़े होकर चलना शुरू किया और कहा कि चलने से सारी समस्या हल हो जाती हैं। "It is solved by walking."[5]

बर्गसां स्वयं के अनुभव के आधार पर सबको अपने स्वानुभव की ओर ध्यान देने की संस्तुति करता है। "हममें से प्रत्येक इस प्रयोग को करें और परिवर्तन या गत्यात्मकता का प्रत्यक्ष दर्शन करे। उसे पूर्ण अविभजनीयता का अनुभव होगा।"[6]

इस प्रकार बर्गसां, देश और काल, गति और परिवर्तन की प्राचीन धारणाओं का खण्डन करता है। वह सत्ता की धारणा को, जो कि प्लेटो और प्लॉटीनस को इतनी प्रिय है, पूर्णरूप से अस्वीकार करता है। वह द्रव्य की धारणा की, जो कि डेकार्ट के समय से आधुनिक बुद्धिवादी दर्शनों में इतनी प्रधानता रखती है, तीव्र आलोचना करता है। उसके अनुसार, "यह धारणा गतिमान की अपेक्षा

---

3. बर्गसां : सृजनात्मक मनस, पृ. 215. *The Creative Mind,* Philosophical Library, New York, 1946.
4. वही, पृ. 215
5. वही, पृ. 170
6. वही, पृ० 173

अपरिवर्तनशील में अधिक सत्ता देखती है और नित्य से अनित्य का निगमन एक सरल न्यूनीकरण (simple diminution) बतलाती है" जबकि 'सत्य इसके विपरीत है।'[7]

बर्गसां एक बाह्य सत्ता को मानता है जो हमारे मनस् के सामने अपरोक्ष रूप से दी हुई है। दार्शनिकों के प्रत्ययवाद और वस्तुवाद के विरुद्ध उसकी यह मान्यता है कि यह सत्ता (Reality) स्वयं गत्यात्मकता या गमनीयता ही है। "बनी-बनाई वस्तुओं की सत्ता नहीं है, बल्कि वस्तुएं निरन्तर बनती जा रही हैं। ये कोई स्थिर स्थिति में नहीं है बल्कि निरन्तर परिवर्तन की प्रक्रिया में हैं।[8] जिसको हम स्थिरता या अगमनीयता कहते हैं वह स्थिति कुछ वैसी ही है जैसी कि जब दो रेलगाड़ियां एक ही चाल से एक ही दिशा में समानान्तर पटरियों पर चलती हैं। गतिशील होते हुये भी, अन्दर बैठे हुए यात्रियों के लिये ये दोनों गाड़ियां स्थिर जैसी ही लगती हैं[9]। काल के खण्ड अर्थात् क्षरा और गतिमान की विभिन्न अवस्थायें तो परिवर्तन और कालक्रम की निरन्तरता के केवल छायाचित्र की तरह ही हैं, जो हमारी बुद्धि लेती है। स्थिरता विवर्त के अतिरिक्त कुछ नहीं है, यह सापेक्ष या व्यावहारिक ही है[10]।

परिवर्तन एक अबाधित प्रवाह है। हमारी बुद्धि इसको स्पष्ट और अनवरत खण्डों में विभाजित कर देती है। इन खण्डों की स्थिति यथार्थ नहीं है। इसके विपरीत यथार्थ तो केवल प्रवाह है। सम्पूर्ण विश्व परिवर्तनों की परम्परा या प्रवाह है, संक्रमरण की निरन्तरता है। परिवर्तन स्वयं ही यथार्थ है। यह परिवर्तन अविभजनीय है[11]। न तो कोई अचल आधार है, न मंच पर होकर कलाकारों के निकलने की तरह स्पष्ट स्थितियां[12]।

सत्ता की भौतिकवादी धारणाओं को अस्वीकार करते हुए बर्गसां कहता है कि हम अणु या अतिसूक्ष्म पदार्थ की, वह चाहे जो भी हो, मानसिक प्रतिमा से कितना ही बचना चाहें, फिर भी हम इसको गति और परिवर्तन के आश्रय के रूप में एक वस्तु समझते हैं। फलतः यह स्वयं निश्चल या अपरिवर्तनशील समझी जाती है। परन्तु,

> "मैने यह सोचा कि आखिर हमें आश्रय के विचार को त्यागना पड़ेगा ठोस को ठोस से पूर्णतया भिन्न रूप में समझना पड़ेगा।"[13]

---

7. वही, पृ. 227–8
8. वही, पृ. 222
9. वही, पृ. 169
10. वही, पृ. 222
11. वही, पृ. 16
12. वही, पृ. 176
13. वही, पृ. 84

"परिवर्तन होते हैं परन्तु उनके पीछे कोई वस्तुओं की सत्ता नहीं है जिनका परिवर्तन हो रहा हो। परिवर्तन को आश्रय की आवश्यकता नहीं है। गतियां हैं, परन्तु वहां कोई अपरिवर्तनीय जड़ वस्तु नहीं है।"[14]

"जिसे हम किसी वस्तु की चलिष्णुता कहते हैं वह तो यथार्थ में केवल गतियों की गतिशीलता (movement of movements) ही है।"[15]

इस प्रकार बर्गसां की तत्वमीमांसा से जड़ पदार्थ मात्र को निष्कासित कर दिया गया है और हमारे सामने यथार्थता या सत्ता एक शुद्ध गति या "गतियों की गतिशीलता" के रूप में रह जाती है। प्रत्ययवादी और बुद्धिवादी दर्शनों में भी बर्गसां इसी प्रकार का दोष देखता है। कोई भी धारणा जो वस्तुओं की समग्रता (totality) पर घटित होती है उसे मान्य नहीं है। तुम यथार्थ वस्तु को कुछ भी नाम दो, चाहे उसे स्पिनोज़ा का द्रव्य, फिक्टे का अहं, शैलिंग का पूर्ण, हेगेल का पूर्ण प्रत्यय या शोपेनहाअर की इच्छा, सभी व्यर्थ हैं—ज्यों ही हम इसे वस्तुओं की समग्रता या योग पर लागू करते हैं उसका अर्थ शून्य हो जायेगा। ये दार्शनिक यह समझते हैं कि वे पूर्णसत्ता के लिये एक नाम देकर हमें कुछ बता रहे हैं[16] परन्तु उनके प्रत्यय सत्ता के पर्यायवाची होने के नाते केवल एक दूसरे के पर्यायवाची ही हैं जो कि उन दार्शनिकों की अपनी ही तात्विक अवरुद्ध दृष्टि (frozen vision of the real) से पैदा होते हैं।"[17]

इस प्रकार बर्गसां के दर्शन में परिवर्तन ही यथार्थ सत्ता है। यह परिवर्तन अविभजनीय है और अविभजनीय परिवर्तन में भूत वर्तमान के साथ एक रूप है और भविष्य के साथ एक रूप होता जा रहा है। इसलिये "सच्चा ज्ञान इस विश्व परिणामिता का दर्शन (the vision of universal becoming) ही है।"[18]

काल और अपूर्वता

आधुनिक जैविक और दार्शनिक विकासवादी धारणा का बर्गसां पर अत्यधिक गहरा प्रभाव पड़ा। परन्तु उसने अपने दर्शन में विकासवाद को एक नवीन रूप ही प्रदान कर दिया। प्रारम्भ में काफी समय तक उसका हर्बर्ट स्पेन्सर के दर्शन से "बहुत अधिक लगाव" था।[19] परन्तु लम्बे चिन्तन के बाद उसे लगा कि स्पेन्सर

14. वही, पृ. 173
15. वही, पृ. 175
16. वही, पृ. 56
17. वही, पृ. 186
18. वही, पृ. 185
19. वही, पृ. 109

के विकासवाद को प्रायः पूर्णतया नया रूप देना होगा। स्पेन्सर की धारणा नाम में तो विकासवादी है परन्तु यथार्थ में इसका विकास या परिणामिता से कोई सम्बन्ध नहीं है। विकसित टुकड़ों से विकास की पुनर्रचना करना स्पेन्सर की सामान्य पद्धति है। "वह सत्ता को अपने वर्तमान रूप में लेता है, उसके टुकड़े-टुकड़े करके उन्हें हवा में फेंक देता है। फिर इन टुकड़ों का समाकलन (integration) करता है और उनकी गति का छितरण कर देता है।"[20]

> "एक सुन्दर दिन मैंने देखा कि स्पेन्सर के दर्शन में काल की कोई उपयोगिता नहीं है, काल कुछ नहीं करता। परन्तु मैंने स्वयं को कहा, कि काल की अपनी सत्ता है। क्या काल का अस्तित्व वस्तुओं में अनियति (indetermination) को सिद्ध नहीं करता है ?"[21]
>
> "कुछ समय के लिये "बर्गसां कहता है," मैं उस कालात्मा के दर्शन में लीन हो गया।"[21अ]

विकासवादी दर्शनों की मुख्य कमजोरी यह है कि वे यन्त्रवाद और नियतिवाद की दृष्टि से सोचते हैं। उनके अनुसार कारण से ही कार्य का निगमन करना चाहिये। उनकी कल्पना में भविष्य वर्तमान में दिया हुआ होता है अर्थात् सम्पूर्ण विश्व का इतिहास अपने सूक्ष्म से सूक्ष्म रूप में आदिम धुंध की दशा में उसी प्रकार परिगणनीय था जिस प्रकार कि आज हम सूर्य और चन्द्र के ग्रहण के बारे में करते हैं।"[22]

भौतिक विज्ञान और रसायन विज्ञान भावी अवस्थाओं की गणना करते हैं। उनके अनुसार अनेकता कुछ निश्चित इकाइयों का समूह है। वे नये रूपों को पूर्व स्थित सामग्री की पुनर्व्यवस्था के रूप में देखते हैं अर्थात् केवल परिमाणात्मक भिन्नता से ही नये गुणों का प्रादुर्भाव मानते हैं। यह एक प्रकार का सत्कार्यवाद है। बर्गसां इस धारणा को अस्वीकार करता है और नये रूपों की अपूर्वत वादी या नवीनतावादी विकास दर्शन से व्याख्या करता है। उसके अनुसार "सच्चा विकास नये रूपों के प्रादुर्भाव में है, जिनका न तो पूर्वज्ञान है और न पूर्वज्ञान हो सकता है।"[23] इसकी अवस्थायें एक दूसरे में आन्तरिक विकास से निरन्तर प्रविष्ट होती रहती हैं जबकि सत्कार्यवादी धारणा में केवल पूर्व सामग्री की स्थिति में ही परिवर्तन होता

---

20. बर्गसां : सृजनात्मक विकास, पृ. 385. *Creative Evolution*, Macmillan, 1911.
21. सृजनात्मक मनस, पृ. 109-110
21. (अ) वही, पृ. 13
22. वही, पृ. 108
23. वही, पृष्ठ 22

है अर्थात् उस पर काल का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। बर्गसां के अनुसार सच्चे विकास में काल से भारी अन्तर पड़ जाता है। जगत् के विकास में नवीनता के प्रादुर्भाव को विज्ञान नहीं समझा सकता। केवल काल ही नवीनता की व्याख्या कर सकता है।

नियतिवादियों के विरुद्ध बर्गसा वस्तुओं में अनियति (Indetermination) का तत्व देखता है। उसका यह आक्षेप है कि जिन दार्शनिकों ने स्वतन्त्र संकल्प को मान्यता दी उन्होंने भी इसे दो या दो से अधिक विकल्पों के बीच साधारण चयन बना दिया। इसके विपरीत बर्गसां का कहना है कि वे कार्य जिनके बारे में हम निश्चित हैं कि हम कल करने वाले हैं, हम आज नहीं जान सकते कि कल उन्हें करते समय हम क्या सोचेंगे या अनुभव करेंगे।[24] एक कलाकार की पूर्ण कृति के बारे में उसको पहले से ही ज्ञान नहीं हो सकता। एक गायक किसी राग को बनाने की क्रिया के पूर्ण होने से पहले उसे उस रूप में नहीं जान सकता।[25] यही बात कविता और अन्य साहित्यिक रचनाओं पर भी लागू होती है। सामाजिक विकास के इतिहास से स्पष्ट है कि आधुनिक प्रजातन्त्र की पूर्वदृष्टि शताब्दियों पहले नहीं हो सकती थी। हालांकि मानवता उस दिशा की तरफ गतिशील थी, परन्तु इस प्रगति की दिशा अन्य दिशाओं की अपेक्षा अधिक स्पष्ट नहीं थी। वस्तुत: उस समय उसका अस्तित्व ही नहीं था, क्योंकि उसकी रचना उस विचारधारा (Movement) ने स्वयं ही की।[26]

उपर्युक्त उदाहरण नियतिवाद की आलोचना में दिये गये हैं और इतिहासवादी दर्शनों पर भी लागू होते हैं। ये विश्वविकास की प्रक्रिया में अनियतिवाद की पुष्टि करना चाहते हैं। आने वाले कल की कला, सभ्यता और साहित्य के बारे में आज भविष्यवाणी नहीं की जा सकती।[27] सत्ता हर क्षण अपने आपको बनाती जा रही है या मिटाती जा रही हैं परन्तु किसी भी समय पूर्ण रूप से बनी बनायी नहीं होती।

बर्गसां की शिकायत है कि पूर्व दार्शनिकों ने काल की महत्ता की अवहेलना कर भारी भूल की। उसने हमारे साक्षात् अनुभव के काल और आधुनिक विज्ञान में प्रचलित काल की धारणा में भेद किया। विज्ञान का काल तो घड़ियों का समय है जो दिक् में स्थित वस्तुओं के कुछ सम्बन्धों को बतलाता है। परन्तु हमारे यथार्थ काल या कालात्मा के अनुभव के काल का विज्ञान के काल से कोई सम्बन्ध नहीं है।

---

24. वही, पृ. 19
25. वही, पृ. 22
26. वही, पृ. 25
27. वही, पृ. 22

यथार्थ काल गणितीय परिधि से परे है।[28] जब हम घड़ी के काल की बात करते हैं तो हम कालात्मा के बारे में विचार नहीं करते बल्कि कालात्मा को मापने का सोचते हैं।[29] हमारा मानसिक जीवन देश-शून्य है। हमारी चेतना में यथार्थ कालात्म का अनुभव होता है जो कि एक अविभाज्य निरन्तरता और सृजनात्मक प्रक्रिया है।

कालात्मा भूत के उस निरन्तर प्रवाह का नाम है जो भविष्य को कुतरता हुआ बढ़ता है और अग्रसर होने के साथ उभरता या फूलता चला जाता है।[30] पूरा अतीत वर्तमान में समा जाता है और वहां यथार्थ रूप में गतिशील रहता है।[31] कालात्मा का अर्थ है कि अतीत बना रहता है और वह किसी रूप में भी विलुप्त नहीं होता है। यह काल प्रतिवर्त्य नहीं है। बर्गसाँ अपने अन्तर्जीवन में ऐसी शुद्ध निरन्तरता को प्राप्त करने का दावा करता है जो न एकता है न अनेकता और जो हमारे बोध के किन्हीं वर्गों में समा नहीं सकती।[32] परिवर्तन के मध्य कालात्मा या आन्तरिक निरन्तरता के अनुभव बर्गसां सृजनात्मकता की व्याख्या करता हैं और स्वतन्त्रता की धारणा को बलपूर्वक मान्यता देने का प्रयत्न करता है।

"मैं देखता हूं कि निरन्तर मैं परिवर्तनशील हूं : संवेदनाऐं, भावनाएं, संकल्प की प्रक्रियायें और विचार एक के बाद एक आते रहते हैं और उनमें से प्रत्येक निरन्तर बदलता रहता है..................हम बिना मिटे बदलते है।"[33] "एक चैतन्य सत्ता के लिये होने का अर्थ है बदलना या परिवर्तित होना। परिवर्तित होना परिपक्व होना है, परिपक्व होना अपने आपका निरन्तर सृजन करते जाना है।"[34]

जड़ पदार्थ और स्मृति

बर्गसां की काल की धारणा उसकी स्मृति की धारणा के साथ सम्बद्ध है। आधुनिक मनोविज्ञान और विकासवाद से उसने सीखा कि जड़ और मनस् के सम्बन्ध का चिरकाल सम्मानित प्रश्न तब तक हल नहीं हो सकता जब तक कि हम स्मृति पर विशेष ध्यान नहीं दे। वह इस समस्या का अनोखा हल प्रस्तुत करता है।

वह दो प्रकार की स्मृति में भेद करता है। पहला जीव के शरीर की जमी हुई आदतें हैं जो गत्यात्मक यान्त्रिकता कही जा सकती हैं। दूसरे रूप में स्मृति जो

---

28. वही, पृ. 10
29. वही, पृ. 12
30. सृजनात्मक विकास, पृ. 5
31. सृजनात्मक विकास, पृ. 16
32. सृजनात्मक मनस, पृ. 12
33. सृजनात्मक विकास, पृ. 2
34. वही, पृ. 8

कि केवल मानव में ही है, काल में घटित सभी घटनाओं के स्वतंत्र अनुस्मरण में हैं।

बर्गसां के अनुसार हमारे अन्दर स्मृति नाम की कोई विशेष शक्ति (Faculty) नही है जिसका कार्य अतीत को वर्तमान में उड़ेलने के लिये इकट्ठा करना है। अतीत तो चैतन्य के अथक विकास में स्वत: ही अपने आपको बनाये रखता है। चैतन्य का अर्थ ही स्मृति है। यह कालात्मा का वाहन है। काल तो एकत्रीकरण है जो अतीत और वर्तमान की एकता को सदा नये अनुभवों के साथ एकत्रित करता हुआ आगे बढ़ता जाता है जिस प्रकार कि बर्फ की गेंद लुढ़कते-लुढ़कते बड़ी होती जाती है।

सम्पूर्ण अतीत हमारी स्मृति में बना रहता है। परन्तु मस्तिष्क इन स्मृतियों को फोटो या टेप रिकार्ड की तरह संग्रह नहीं करता है।[35] सच्ची स्मृति मस्तिष्क का कार्य नहीं है। मस्तिष्क तो केवल शरीर का एक अवयव है। वह चेतना या बोध है को पैदा नहीं करता है। यह तो केवल शरीर की गत्यात्मक यांत्रिक आदतों का भण्डार है, न कि स्मृतियों का।[36] जैविक विकास की योजना में जिस प्रकार पाचन के लिये पेट का होना जरूरी नहीं है उसी प्रकार बोध के लिये मस्तिष्क का होना आवश्यक नहीं है।[37]

मस्तिष्क वह बिन्दु है जहां चैतन्य या कालात्मा का जड़ या शरीर में प्रवेश होता है। मस्तिष्क एक रूपान्तरता की तरह कार्य करता है। वह चैतन्य के दबाव को उस हद तक कम कर देता है जितना मस्तिष्क झेल सकता है।

"मस्तिष्क का कार्य अतीत में से चयन करना, उसे कम करना, सरल करना और उपयोग करना है, न कि इकट्ठा करके रखना।"[38]

स्मृति की तथाकथित भूलें वास्तव में अतीत को सक्रिय बनाने की दिशा में मस्तिष्क की असफलतायें हैं। मस्तिष्क याद करने का नहीं, बल्कि भूलने के लिये एक बड़ा उपयोगी यन्त्र है।[39]

---

35. सृजनात्मक मनस, पृ. 181
36. बर्गसां : मनस-शक्ति, पृ. 27. *Mind-Energy*; Macmillan & Co. London, 1920.
37. "पाचन के लिये पेट या कोई विशेष अंगों का होना आवश्यक नहीं है। एमिबा भी पाचन करता है हालांकि वह तो एक अभिन्न जीव द्रव्य ही है। ....नि:सन्देह मानव में चेतना मस्तिष्क के साथ सम्बन्धित है, परन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि चेतना के लिए मस्तिष्क परमावश्यक है। ज्यों ज्यों हम पशु जगत के नीचे के स्तरों की तरफ जाते हैं, हम स्नायु केन्द्रों को अधिकाधिक सरल और एक दूसरे से अलग पाते हैं, और अन्त में वे जीव के सामान्य पिण्ड में अभिन्न रूप से एक होकर लुप्त हो जाते हैं। वही, पृ. 7
38. सृजनात्मक मनस, पृ. 182
39. वही, पृ. 181

बर्गसां ने पशु की चेतना और मानव चेतना में गहरा भेद किया। पशु केवल कुछ निश्चित कार्यों को यन्त्रवत करते हैं और उनसे भिन्न कार्य यदि हो तो कुछ क्षण के लिये ही होता है। उसके कारागार के द्वार खुलने के साथ ही साथ बन्द हो जाते हैं।[40] परन्तु मनुष्य में संकल्प की स्वतंत्रता है। मनुष्य की यांत्रिक व्याख्या करना एक भूल है। मनुष्य का चैतन्य उस शृंखला को तोड़ देता है। मनुष्य और केवल मनुष्य में ही वह चेतना अपने आपको मुक्त कर पाती है।[41] बर्गसां मनुष्य को मूलत: एक आध्यात्मिक सत्ता के रूप में देखता है। वह स्मृति को आत्मा का लक्षण बतलाता है। यदि आत्मा एक यथार्थता है तो हम यहाँ, स्मृति में प्रायोगिक दृष्टि से, उसके सम्पर्क में आ सकते हैं।"[42]

इस प्रकार बर्गसां की दृष्टि में स्मृति की समस्या कोई मनोवैज्ञानिक समस्या नहीं है। स्मृति उस चेतना का नाम है जो आध्यात्मिक है और जिसको उसने काल, कालात्मा, परिवर्तन, परिणामिता आदि विभिन्न प्रत्ययों से समझाया है।[43]

बुद्धि और प्रातिभ

बर्गसां ने प्रातिभज्ञान को दार्शनिक पद्धति में बहुत महत्व का स्थान दिया है। अन्य कई दार्शनिकों ने भी प्रातिभज्ञान को महत्वपूर्ण स्थान दिया है, परन्तु बर्गसाँ की धारणा उनसे कुछ भिन्न है। अन्य दार्शनिकों ने प्राय: प्रातिभ को बुद्धि के विरोधी के रूप में ही बतलाया है। उनके लिए प्रातिभ एक शाश्वत सत्ता की तत्काल खोज है, परन्तु बर्गसां के लिए, "इन सबसे अधिक महत्वपूर्ण प्रश्न सच्ची कालात्मा का अनुभव है।" सापेक्ष से निरपेक्ष की ओर बढ़ना काल के बाहर जाना नहीं है। बल्कि इसके विपरीत, हमें कालात्मा में प्रवेश करके उसकी मूलता अर्थात् गतिशीलता को पुन: पकड़ना है।

विज्ञान या व्यावहारिक जीवन में बुद्धि उपयोगी हो सकती है परन्तु तत्व दर्शन में यह उपयोगी नहीं है। बुद्धि वस्तुओं को बाहर से जानती हैं, प्रातिभ उनको भीतर से।

"तत्वविज्ञान वस्तुओं को बाहर से ही जानकर सन्तुष्ट नहीं हो सकता बल्कि उनके भीतर प्रवेश करना चाहता है। सत्ता को उसके पूर्णत्व में आत्मसात् करने के लिये हमें प्रातिभ की आवश्यकता है।"

बर्गसां का यह दावा है कि उसकी दार्शनिक धारणाएं उसे बुद्धि से नहीं बल्कि

---

40. सृजनात्मक विकास, पृ. 264
41. वही, पृ. 264 और मनस शक्ति, पृ. 25
42. ब० रसेल : पाश्चात्य दर्शन का इतिहास, पृ. 760 और मनस-शक्ति, पृ. 58-59
43. संक्षेप में शुद्ध परिवर्तन, सच्ची कालात्मा एक आध्यात्मिक वस्तु है। सृजनात्मक मनस, पृ. 37
44. वही, पृ. 34

प्रातिभ से प्राप्त हुई है।[45] उसकी पद्धति वैज्ञानिक पद्धति से भिन्न है। निगमन और आगमन का विज्ञानों में अपना स्थान है, परन्तु वे अन्तिम सत्ता को प्राप्त नहीं कर सकते।

प्रातिभ के द्वारा अपने आपको विषय के भीतर ले जा रखना ही दार्शनिक प्रक्रिया है। प्रातिभ वह "सहानुभूति है जिसके द्वारा हम वस्तु या विषय के भीतर जाकर उसमें जो अवर्णनीय विशेषता है, उससे एक-रूप हो जाते हैं।"[46]

"मानस के द्वारा मानस का सीधा दर्शन ही प्रातिभ का प्रमुख कार्य है।"[47] प्रज्ञा में हमें शुद्ध कालात्मा का अनुभव होता है। "जो व्यक्ति अपने कालात्मा का अनुभव करने की सामर्थ्य नहीं रखता उसे अन्य कहीं से भी यह प्राप्त नहीं हो सकता।"[48]

यह एक अनोखा अनुभव है, इसलिये बर्गसां स्पष्ट कहता है कि कोई व्यक्ति "प्रातिभ की सरल और रेखागणितीय परिभाषा के लिये आग्रह नहीं करे।[49] परन्तु वास्तव में यह परामर्श एक आदेश है जो बर्गसां के दर्शन के हर पहलू पर लागू होता है क्योंकि बर्गसां का दर्शन उसकी विशिष्ट व्यक्तिगत प्रातिभ पर आधारित होने का दावा करता है।

अपनी बात को सरल बनाने के लिये बर्गसां यह आश्वासन देता है कि इसमें कोई रहस्य नहीं है। जिन लोगों ने साहित्यिक रचनाओं पर काम किया है वे जानते हैं कि कुछ समय तक मार्ग स्पष्ट नहीं दिखाई देता। परन्तु फिर प्रातिभ उस विषय को अपने हाथ में ले लेती है और हमारे ज्ञान को गहरा और संघटित कर देती है। तब शब्दों का बहाव शुरू हो जाता है। विज्ञान के महान् आविष्कार, सच्ची कला और तत्वदर्शन के पीछे प्रातिभ ही रही है।

बर्गसां उन लोगों के विरुद्ध शिकायत करता है जो इस प्रातिभ को प्रवृत्ति या सावेगिक स्थिति ही समझते हैं। वह कहता है "मेरी प्रातिभ चिन्तन है।"[50]

यह प्रातिभानुव बुद्धि के द्वारा ही समझाया जा सकता है। यह प्रत्यय से कहीं अधिक है परन्तु इसके संचारण के लिए वाहन के रूप में इसे प्रत्ययों का प्रयोग करना पड़ेगा। "प्रातिभ से हम विश्लेषण तक पहुंच सकते हैं, परन्तु विश्लेषण से प्रातिभ तक नहीं।"[51]

---

45. वही, पृ. 105
46. वही, पृ. 190
47. वही, पृ. 48
48. वही, पृ. 195
49. वही, पृ. 73
50. वही, पृ. 103
51. वही, पृ. 213

"प्रातिभ की पहुंच कहाँ तक है ?" इस प्रश्न के उत्तर में बर्गसां का यह कहना है कि "यह तो वही बता सकती है।"[52] परन्तु एक स्थान पर वह यह कहता है कि कालात्मा का अनुभव अधिकाधिक गहन होता जाता है और उसकी सीमा पर शाश्वतता मिलती है। यह केवल बौद्धिक शाश्वतता ही नहीं जो कि मृत्यु की शाश्वतता है, बल्कि जीवन की शाश्वतता है। "यह एक जीवित और गतिमान शाश्वतता है। "[53] It is a living and moving eternity.

सृजनात्मक विकास

बर्गसां द्वारा बुद्धि की आलोचना व प्रातिभ की प्रशंसा तत्वदर्शन तक ही सीमित नहीं है। विज्ञान की कई धारणाओं की भी वह तीव्र आलोचना करता है। वह बार-बार यह कहता है कि बुद्धि जैविक विकास के रहस्य को समझने में असमर्थ हैं।[54] सृजनात्मक विकास में वह अपनी तात्विक धारणाओं को जीव विज्ञान के साथ जोड़ने का पूर्ण प्रयास करता है। उसके अनुसार जीवन शक्ति या प्राणात्मा (elan vital) ही संप्रभु या परमतत्व है। इसको समझना ही विकास को समझना है। यह शक्ति प्राचीन दार्शनिकों की चिरसत्ता की तरह नहीं है। यह एक मूल शक्ति है, वस्तु नहीं। यह निरन्तर सृजन की मांग है। इस प्रवृत्ति ने जैविक पद्धार्थों को किसी एक दिशा में ही नहीं ढ़केला है। विभिन्न उपजातियां किसी एक पथ की कई अवस्थाओं की प्रतीक नहीं है। जीव विकास का इतिहास इस मूल प्रवृत्ति के पृथक्करण की तीन स्पष्ट दिशायें बतलाता है:— वनस्पति की जड़ता, पशु पक्षियों की नैसर्गिक प्रवृत्तियां और मानव में बुद्धि। इन तीनों पंक्तियों में अपनी-अपनी सीमाओं में यह प्राण शक्ति नाना रूपों का सृजन करती है।

हम देखते हैं कि विकास की बिल्कुल भिन्न दिशाओं में प्राणियों में एक दूसरे के अनुरूप इन्द्रियों और प्रक्रियाओं का सृजन हुआ है। जैसे कई पौधे और पशुओं की जनन क्रियाएं, और दो बिल्कुल भिन्न जातियों-मोलक्स और रीढधारियों में चक्षुइन्द्रिय होना। विकास की दो स्वतन्त्र दिशाओं में असंख्य छोटी-छोटी विविधताओं का एकसा ही परिणाम होना केवल आकस्मिक ही कैसे हो सकता है ?[55]

उपजातियों के विकास, उनकी समानताओं व भिन्नताओं को विकासवादी वैज्ञानिक वातावरण से अनुकूलता, सांयोगिक विविधताओं का संग्रह व आकस्मिक परिवर्तन के द्वारा समझाते हैं। बर्गसां जैविक विकास की "वातावरण से अनुकूलता" की धारणा की तीव्र आलोचना करता है। उसके अनुसार यह धारणा उपजातियों

52. वही, पृ. 57
53. वही, पृ. 221
54. सृजनात्मक विकास, पृ. 174: पृ. ×.
55. वही, पृ. 68, 75

के उद्गम को समझाने में असमर्थ हुई है। अनुकूलता विकास की एक आवश्यक अवस्था अवश्य है, परन्तु उसका कारण नहीं। सत्य तो यह है कि अनुकूलता का सिद्धान्त विकास की प्रक्रिया के मोड़ या घुमाव का ही वर्णन करता है, न कि उसकी दिशाओं की या स्वयं इस प्रक्रिया की व्याख्या।[56] "हम एक क्षण के लिये भी इससे इन्कार नहीं करते कि वातावरण से अनुकूलता जैविक विकास की एक आवश्यक शर्त है। यह स्पष्ट है कि कोई उपजाति उस पर आरोपित जीवन की मूल आवश्यकताओं के अनुसार अपने आपको नहीं ढालने पर समाप्त हो जायेगी।[57] फिर भी यह आवश्यकता तो प्राणियों की उच्च दिशाओं की ओर प्रगति के बजाय जीवन को कुछ निश्चित रूपों में अवरुद्ध होना ही सिद्ध करेगी। एक बिल्कुल निम्न कोटि का जीव भी अपने जीवन को बनाये रखने में सफल होने के कारण, हमारी तरह ही, अपने जीवन की आवश्यकताओं से अनुकूलता सिद्ध करता है। कुछ प्राणी अपने आदिम जीवावस्था के रूप में ही हमें आज भी देखने में आते हैं। वे युगों पर्यन्त इसी रूप में बने रहे। फिर जीवन शक्ति किसी एक निश्चित रूप में ही रुक क्यों न गयी ? जहाँ कभी सम्भव था वह क्यों न रुकी ? वह आगे क्यों बढ़ती गयी ? इसका उत्तर तभी मिलेगा जब हम यह मान लें कि इसके पीछे एक ऐसी शक्ति है जो इसे अधिकाधिक निपुणता के लक्ष्य की तरफ अधिकाधिक खतरा झेलने को धकेलती रहती है।[58]

"जैविक विकास वस्तुतः लाखों व्यक्तियों के द्वारा विभिन्न दिशाओं में हुआ है, जिनमें से प्रत्येक एक चौराहे पर आकर समाप्त होती है। वहां से फिर नये-नये मोड़ लेती हुई अपने पथ पर अग्रसर होती रहती है।[59]

प्राण व जड़ तत्व

बर्गसां के लिए यह जीवन शक्ति केवल जैविक धारणा ही नहीं है। उसने उसे प्राणात्मा का रूप देकर तत्व दर्शन की धारणा बना दिया है। जड़ तत्व के उद्गम को समझाते हुए वह उसे इस प्राणात्मा का गौण उत्पादन बतलाता है। यहां प्राणात्मा अपने प्रत्यावर्तित रूप में है।

"जड़ पदार्थ मूलतः प्राण शक्ति था। यह विश्व-प्राणात्मा, जीवन-शक्ति, चेतना या अतिचैतन्य सत्ता है जो निरन्तर रूप से बहती हुई एक तरंग है। जब यह पीछे मुड़ जाती है, जब किसी अज्ञात कारण से उसके प्रवाह की दिशा उल्टी हो जाती है तब परिणामतः वह प्रवाह होता है जिसे हम जड़ या अचेतन पदार्थ कहते हैं। जड़ पदार्थ यथार्थ है, परन्तु यह व्युत्पादित है और विनष्ट हो रहा है।

---

56. सृजनात्मक विकास, पृ. 107–108
57. वही, पृ. 107
58. मनस-शक्ति, पृ. 18-19
59. सृजनात्मक विकास, पृ. 56-57

इस तत्व ज्ञान को प्राणवाद या आध्यात्मिक अद्वैतवाद कह सकते हैं। जड़, जीवन या आत्मा उद्गम में एक है परन्तु मात्रा में भिन्न।[60] परन्तु कहीं-कहीं बर्गसां जड़ तत्व की स्वतंत्र सत्ता को भी मानता है।

"सर्व प्रथम जड़ पदार्थ के प्रतिरोध की कठिनाई पर विजय प्राप्त करना आवश्यक हुआ। प्राणशक्ति को अपनी नम्रता के कारण इसमें सफलता मिली। उसने अपने आपको अतिसूक्ष्म और उत्तेजित करने वाला बना दिया। इस प्रकार जीवन शक्ति को जड़ तत्व की आदतों में घुसना पड़ा ताकि वह उसे धीरे-धीरे चुम्बकीय बनाकर दूसरी पटरी पर ले आये।[61]

"जीवन वह स्वतंत्रता है जो आवश्यकता में प्रवेश करती है। यदि जड़तत्व में इस हद तक नियंत्रणता होती कि उसमें शिथिलीकरण के लिए कोई स्थान ही न हो तो जीवन असम्भव होता।[62]

वैज्ञानिक दृष्टिकोण की आलोचना करते हुए वह कहता है कि यथार्थ में जिस प्रकार एक वक्र रेखा सरल रेखाओं से मिलकर नहीं बन सकती, उसी प्रकार जीवनशक्ति भी भौतिकी रासायनिकी तत्वों से मिलकर नहीं बनी है।[63]

बर्गसां यह मानता है कि किसी दिन भौतिकी व रासायनिकी के मिले जुले प्रयत्नों से जीवित द्रव्य से मिलता जुलता द्रव्य बनाने में सफलता मिलना कोई असम्भव बात नहीं लगती क्योंकि जीवन शक्ति उत्तेजित करने की क्रिया से बढ़ती है। जड़ तत्व में ज्यों ही इतनी लचकता आ जाती है कि उसमें जीवन का प्रवेश हो सके त्यों ही जीवनशक्ति उस जड़ द्रव्य को पकड़ लेती है।[64] अर्थात् जीवन शक्ति हर समय जड़ द्रव्य में प्रवेश करने को तैयार रहती है।

इस प्रकार बर्गसां इस विचार को मानता है कि जीवन शक्ति में जड़त्व से अलग विद्यमान रहने की सामर्थ्य है। जब वह कहता है[65] कि हमारे ग्रह पर जिस जीवन शक्ति का विकास हुआ है वह वस्तुतः जड़ तत्व के साथ संलग्न है, तो यह स्पष्ट है कि पृथ्वी के बाहर बिना जड़ द्रव्य से संलग्न हुए भी प्राण शक्ति की सत्ता हो सकती है।

---

60. उद्धृत द्वारा जी. आर. डोडसन : बर्गसां और आधुनिक भावना, पृ. 60 G. R. Dodson : *Bergson And the Modern Spirit*, Lindsay Press, 1914.
61. सृजनात्मक विकास, पृ. 103-104
62. मनस शक्ति, पृ. 13
63. सृजनात्मक विकास, पृ. 33
64. मनस शक्ति, पृ. 20-21
65. सृजनात्मक विकास, पृ. 259
66. वही, पृ. 269-71

जीवन शक्ति का विस्फोट दो बातों पर निर्भर है—(1) ऊर्जा का क्रमिक संग्रह; और (2) इस ऊर्जा के अनियत दिशाओं में प्रवाह के लिये मार्ग बनाना। यहद्विपरिणाम हमारी पृथ्वी पर एक विशेष तरीके से सम्भव हुआ है। परन्तु यही परिणाम बिल्कुल भिन्न साधनों से भी प्राप्त हो सकता था।

"यह आवश्यक नहीं था कि जीवन शक्ति कार्बन के कार्बोनिक अम्ल पर ही अपनी पसन्द निश्चित करती। यह सम्भव है कि जीवन शक्ति बिल्कुल भिन्न बाह्य रूप ले सकती थी और जो हमें ज्ञात है उनसे बिल्कुल भिन्न-भिन्न आकारों की रचना कर सकती थी। अन्य रासायनिक आधार से, अन्य भौतिक अवस्थाओं में, प्रेरणा तो वही रहती परन्तु प्रगति करते समय यह बिल्कुल भिन्न रूपों में विभक्त हो जाती।"[66]

विकास व प्रगति

जीव विज्ञान की विशेष रुचि जीवन रक्षा के लिये संघर्ष करने की प्रवृत्ति से रही है। बर्गसां को इस पहलू में विशेष रुचि नहीं है। वह विकास की प्रक्रिया में सृजनात्मकता या नवीनता को विशेष महत्व देता है। उसके अनुसार विकासवाद, यंत्रवाद व प्रयोजनवाद की परिधि से बाहर है। यंत्रवाद की मूल धारणा अतीत व भविष्य को वर्तमान के गणनीय प्रक्रिया के रूप में देखती है। अर्थात् सब कुछ पूर्व प्रदत्त है (All is given)। किसी भी प्रकार की नवीनता सम्भव नहीं है। "भविष्य के द्वार बन्द हैं।" इसके विपरीत बर्गसां की मान्यता है कि भविष्य के द्वार खुले हैं। स्वतंत्रता को असीमित क्षेत्र प्राप्त है।

इसी तरह बर्गसां प्रयोजनवाद या चरम हेतुवाद की भी आलोचना करता है। चरम हेतुवाद की कारणता में लक्ष्य पूर्व निश्चित होता है व उसको प्राप्त करने वाली सम्पूर्ण प्रक्रिया पूर्व नियोजित पथ पर ही चल सकती है। इसमें भी वही दोष है : "सब कुछ पूर्व निश्चित है। इस दृष्टि से चरम हेतुवाद केवल उल्टा हुआ यंत्रवाद ही है।[67]" चरम हेतुवाद की धारणा जीवन शक्ति के पहलुओं को समझने के लिये अपर्याप्त है।[68]

इन दोनों धारणाओं के विरुद्ध बर्गसां की दृष्टि में विकास में सच्ची सृजनात्मकता है।

मूल प्रेरक शक्ति सामान्य है। "समरूपता तो पीछे है न कि आगे। यह केवल धकेलने वाली शक्ति की एकरूपता के कारण है न कि किसी सामान्य लक्ष्य के कारण।"[69] यन्त्रवाद या हेतुवाद की धारणाओं पर तो जैविक विकास केवल

---

67. वही, पृ. 41
68. वही, पृ. 236
69. वही, पृ. 53-54

एक दिशा ही ले सकता है। पर हम देखते हैं कि जैविक विकास वस्तुतः विभिन्न दिशाओं में हुआ है व अत्यन्त भिन्न जीवों में भी हमें एकसी इन्द्रियां देखने में आती हैं। जीव विकास की विभिन्न दिशाओं में भिन्न साधनों से भो प्राणशक्ति ने एक से फल दिये हैं।[70]

जीव विकास का इतिहास प्राण शक्ति के साहसी कार्य, उसकी सफलताओं व विफलताओं की कहानी है। जीव विकास की गति केवल प्रगति ही नहीं बतलाती कई बार हम एक विराम-काल (Marking time) देखते हैं व प्रायः प्रत्यावर्तन भी देखते हैं।[71] मोलक्स, मछलियें व रेंगने वाले जन्तु मनुष्य बनने के पथ पर नहीं चल रहे हैं। वे तो कई युगों पहले ही जैविक पेड़ के तने से अपनी अलग-अलग दिशा ले चुके व अब कभी लौटकर उस स्थिति को नहीं प्राप्त कर सकते।

यदि प्रगति का तात्पर्य प्रथम प्रेरणा से नियंत्रित एक सामान्य दिशा में बढ़ना है तो निःसन्देह प्रगति हुई है। परन्तु यह प्रगति जैविक विकास की केवल दो या तीन बड़ी शाखाओं में हुई है। ....इन शाखाओं के बीच में अनेक छोटे-छोटे मार्गों की भीड़ है जिसमें अवरुद्धता, अधःपतन आदि भी दिखाई देते हैं।[72]

विकास की प्रक्रिया में जीवन शक्ति की एकता उसके मूल या प्रथम धकेलने की शक्ति की एकता के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।

धर्म और नैतिकता

बर्गसां प्रायः जीवन शक्ति, चैतन्य और अतिचैतन्य को पर्यायवाची शब्दों की तरह काम में लेता है। वह जीवन शक्ति को ईश्वर का रूप बतलाता है। वह अद्वैतवाद और सर्वेश्वरवाद के ईश्वर को अस्वीकार करता है, क्योंकि "सम्पूर्ण सत्ता को ईश्वर में केन्द्रित करने के पश्चात् ईश्वर से जगत् और शाश्वतता से काल तक बढ़ना उनके लिए कठिन है।"[73]

बर्गसां के अनुसार ईश्वर एक ऐसा केन्द्र है जहां से जगत निर्माण को अग्निक्रीड़ा शुरू होती है और जो अग्निबाण छूटते हैं वे अलग-अलग जगत बन जाते हैं। "यह केन्द्र कोई वस्तु नहीं है यह तो केवल छूटने की निरन्तरता है।" इस परिभाषा के अनुरूप "ईश्वर में कोई बनी बनाई वस्तु नहीं, वह तो जीवन, कर्म और स्वतंत्रता की निरन्तरता है ...."[74]

---

70. वही, पृ. 57-58
71. वही, पृ. 109
72. वही, पृ. 109
73. वही, प. 372
74. वही, पृ. 262

"मैं ईश्वर को एक ऐसे स्त्रोत के रूप में बतलाता हूं जंहा से उसके स्वतंत्र प्रयास के फलस्वरूप प्रवृत्तियां या तरंगें निकलती हैं, जिनमें से प्रत्येक एक जगत बना देती है।"

उपरोक्त विवरण से बर्गसां की ईश्वर की धारणा का स्पष्ट अर्थ करना अत्यन्त कठिन है। ईश्वर न तो सर्वज्ञानी है, न सर्वशक्तिमान। फिर भी उसे सृष्टा और स्वतंत्र बताया गया है। यद्यपि बर्गसां प्रयोजनवाद को अस्वीकार करता है, फिर भी वह इस पृथ्वी पर मानव जाति के विकास में ईश्वर की रुचि की बात करता है। सन् 1912 में अपने दार्शनिक ग्रन्थों का मूल्यांकन करते हुए वह अपने एक मित्र को लिखता है कि :

"**काल और स्वतंत्र संकल्प** के तर्क स्वतंत्र संकल्प के तथ्य को प्रकाश में लाते हैं, **जड़ पदार्थ और स्मृति** आत्मा की आध्यात्मिकता को समझाते हैं, ऐसी मेरी आशा है, **सृजनात्मक विकास** सृजन (नवीनता) के तथ्य को बतलाता है। इन सबसे ईश्वर का विचार प्रकट होता है जो सृष्टा और स्वतंत्र है, जड़ तत्व और जीवन शक्ति दोनों का जनक हैं, जिसके सृजनात्मक प्रयत्न जीवन क्षेत्र में जातियों के विकास और मानव व्यक्तित्वों को बनाने के लिए चलते रहते हैं। इस धारणा के परिणामस्वरूप सभी अद्वैतवाद और सर्वेश्वरवाद का खंडन हो जाता है।"[75]

अब बर्गसां ईसाई विचारों के अधिक निकट आता दिखाई देता है। उस पर ईसाई सन्तों का गहरा प्रभाव है हालांकि वह मानता है कि सभी धर्मों में मूलभूत एकता है, फिर भी वह ईसाई सन्तों से उच्चतर स्थान देता है।

सन् 1932 में बर्गसां ने अपना अन्तिम प्रसिद्ध ग्रन्थ **धर्म और नैतिकता के दो स्त्रोत** प्रकाशित किया। अब वह अत्यन्त धार्मिक प्रवृत्ति वाला हो गया और ईश्वर को प्रेम और प्रेम का विषय मानने लगा। वह विकास की प्रक्रिया में एक दैविक प्रयोजन भी देखने लगा। उसके अनुसार प्रकृति में मानव का विकास ईश्वर की इस इच्छा की पूर्ति है कि "ईश्वर अपने अलावा ऐसे व्यक्तियों को चाहता है जो उसके प्रेम के योग्य पात्र हो।

धर्म और नैतिकता के विषयों में बर्गसां दो प्रकार का भेद करता है: (1) अचल धर्मों (closed religions) की स्थिर नैतिकता (static morality) और (2) सन्तों की गतिशील या खुली नैतिकता (open morality)। सामाजिक नैतिकता में हमेशा स्थिरता की मांग रही है। यह स्वतन्त्र व्यक्तियों पर सामूहिक इच्छा के दबाव से लादी जाती है। सामाजिक जीवन कुछ निश्चित आदतों या परम्पराओं की समष्टि बन जाता है। इससे सामाजिक एकता बनाये रखने में

---

75. उद्धृत द्वारा रीआन : बीसवीं शताब्दी के विचारक, पृ. 22-23 J. K. Ryan : *The Twentieth Century Thinkers*, Alba House, New York, 1967.

सहायता मिलती है। कल्पित कथाएं, धार्मिक क्रियायें ईश्वर, की धारणा आदि से उन्हें शक्ति प्रदान होती है। दूसरी तरफ महान सन्तों का धर्म और नैतिकता है। वे सच्चे धर्म का मूल तत्व देते हैं और हमारी आत्मा को ऊपर उठाते हैं। सच्चे धार्मिक जीवन में उनका आचरण बहुत महत्व रखता है-वह जातीय या राष्ट्रीय स्वार्थों से परे है-वह सम्पूर्ण मानव जाति के लिए है।

आलोचना

द्रव्य व परिवर्तन की परम्परागत धारणाओं का खण्डन करते हुए व नित्य परिणामिता को नित्य सत्ता से उच्च कोटि का स्थान देते हुए बर्गसां अधिकता को चला जाता है। वह इन विचारों को स्पष्टतया समझाने में असफल हुआ है। यदि शुद्ध परिवर्तन ही यथार्थ है, अर्थात ऐसी कोई वस्तु नहीं है जो बदलती है, तो विकास की बात करने का कोई अर्थ ही नहीं रहता। इस पर टिप्पणी करते हुए रसेल कहता है कि बर्गसां के दर्शन में यथार्थ में कोई अलग-अलग ठोस वस्तुओं की सत्ता नहीं है। केवल एक अनन्त परिणामिता का झरना है, जिसमें निःसत्ता परिणामित होती रहती है और यह निःसत्ता पुनः निःसत्ता में परिणामित होती रहती है।[76]

बुद्धि की आलोचना में भी बर्गसां बहुत दूर चला गया। वह अपने प्रतिभज्ञान के बारे में विश्वस्त है और उसे विश्वास है कि यदि अन्य लोग भी उसकी विधि को अपनायें तो उन्हें वैसा ही अनुभव होगा। कॉलिंगवुड इसे 'मनोगत आदर्शवाद' का एक नया रूप बतलाता है।[77] स्मट्स के अनुसार- "यह मनोगत आदर्शवाद का सर्वाधिक भयानक रूप है।'[78] बर्गसां अपनी धारणाओं की बौद्धिक आलोचना को महत्व नहीं देता। वह उन्हें केवल अज्ञान की उपज बताकर उनकी अवहेलना करता है। इसलिये केवल अन्य प्रकार की प्रातिभ ही बर्गसां की धारणाओं का सामना कर सकती है। परन्तु साधारण बुद्धि वाले मनुष्य के लिये प्रातिभों के परस्पर विरोधी दावों पर निर्णय देना कठिन है।

जड़ तत्व के उद्गम की अपनी धारणा के लिये बर्गसां कोई तर्क प्रस्तुत नहीं करता। जीवन शक्ति के बहाव के प्रत्यावर्तन का परिणाम जड़तत्व बतलाया गया हैं। यह बहाव में रुकावट होने के कारण होता है। परन्तु बिना किसी चीज के द्वारा रुकावट डाले कोई रुकावट नहीं हो सकती। तब फिर वह रुकावट

---

76. पाश्चात्य दर्शन का इतिहास, पृ. 822. *History of Western Philosophy*, Allen & Vnwin, London, 1955 edition.
77. प्रकृति पर विचार. पृ. 139 *The Idea of Nature*, Oxford, 1949.
78. पूर्णतावाद, और विकासवाद, पृ. 95 *Holism And Evolution*, Macmillan, London, 1926.

डालने वाली सत्ता कौनसी है ? जीवन शक्ति अपने आपका किस प्रकार विरोध कर सकती है ?

वैज्ञानिक जीवन शक्ति के लिये भौतिक आधार ढूंढते हैं। इनमें से कुछ का विश्वास है कि कभी न कभी जीव विज्ञान का स्थान भौतिकी ले लेगी। परन्तु इसके विपरीत भौतिक जगत के लिये ऐक जैविक आधार देकर बर्गसां आशा करता है कि भौतिकी अन्ततः जीव विज्ञान बन जायगी। जैविक विकास का इतिहास बतलाता है कि विकास की प्रक्रिया में जीवन शक्ति बहुत देर से प्रकट हुई है और वह भी जगत् के एक बहुत ही छोटे कोने में, व कुछ विशिष्ट अवस्थाओं में। वह सम्पूर्ण जगत् को एक जैविक धारणा से मापता है। इस कारण उसका दर्शन आंशिक या एकांगी है।

बर्गसां एक कवि की तरह लिखता है। उसकी रचनाओं में अलकारों की बहुलता है जो केवल अस्पष्टता को बढ़ाते हैं। जीवन शक्ति को समझाने के लिये बर्गसां कई प्रकार की आलंकारिक उपमाएं देता है। जैसे–जीवन शक्ति एक बम है जिसके फटने से अनेक बम निकलते हैं। यह एक पुलिन्दे की तरह है, यह एक उबलते हुए पानी के कुण्ड की तरह है, यह एक विशाल लहर की तरह है, यह एक बहुत बड़ी फौज की तरह है, यह गलियों के मोड़ पर घुमाव लेने वाली वायु है।[79] और इन सब से अधिक बेतुकी उपमा वह यह देता है कि यह एक पुस्तक की तरह है जो एक नये संस्करण की ओर प्रगति करती हुई हजारों बार हजारों कापियों में पुनर्मुद्रित होती है।[80] बर्गसां की रचनाओं में कवि की कल्पनाओं का संवेगिक प्रदर्शन बहुत अधिक है जिसके कारण कई दार्शनिकों और वैज्ञानिकों ने उसकी तीव्र आलोचना की है। उदाहरण के लिए–हक्सेल : वास्तव में ये कोई व्याख्याएं नहीं हैं, ये तो केवल अज्ञान का प्रकाशन है। ऐसा कहना कि प्राणियों का विकास किसी प्राणात्मा के कारण होता है, वैसी ही बात होगी जैसे कोई यह कहे कि इंजन एक इंजनात्मा (elan locomotif) के कारण दौड़ता है।''[81]

मकेबी "जहां तक सृजनात्मक विकास का सम्बंध है बर्गसां की रचनाएं न तो दर्शन हैं न विज्ञान हैं।''[82]

प्राणशक्ति का कोई लक्ष्य नहीं है। यह भीतर और बाहर अन्य किसी वस्तु से पथ प्रदर्शन की जरूरत नहीं रखती। यह तो केवल एक शक्ति है जिसका मूल

---

79. सृजनात्मक विकास, पृ. 103,104,260,261,280,54,286.
80. वही, पृ. 243-244
81. आधुनिक जगत में मानव, पृ. 150 *Man in the Modern World*, Mentor Books 1951.
82. विकास के सिद्धान्त, पृ. 254 गन् द्वारा बर्गसां और उसका दर्शन, पृ. 138 में उद्धृत

स्वभाव प्रवाहित होता है। परन्तु यदि गली के मोड़ की हवा की उपमा को गम्भीरता से लिया जाय, तो हमें फिर नियतिवाद पर लौट आना होगा।

बर्गसां अपनी उपमाओं के स्वत: विरोधी होने के परिणाम पर विचार ही नहीं करता। आत्माओं के बारे में वह लिखता है : आत्माओं का निरन्तर सृजन होता जा रहा है, जो फिर भी एक अर्थ में पहले से विद्यमान है—[83]

इसी प्रकार ईश्वर का विचार उसके दर्शन में जबरदस्ती घुसेड़ा गया है। उसकी पहले की रचनाओं में ईश्वर में प्राणशक्ति के गुण हैं, उसके पीछे की रचनाओं में वह ईसाई धर्म का ईश्वर बन जाता है।

यद्यपि बर्गसां यंत्रवाद और प्रयोजनवाद दोनों की तीव्र आलोचना करता है, फिर भी वह कहता है कि उसका दर्शन यंत्रवाद की अपेक्षा प्रयोजनवाद के अधिक निकट है।

बर्गसां और आधुनिक विकासवाद

बर्गसां जीवन शक्ति के अद्वैत में विश्वास करता है। इसलिए जीवन शक्ति के उद्गम की समस्या उसके लिए कोई अर्थ नहीं रखती। उसके उत्तरवर्ती दार्शनिकों ने जीवन शक्ति के अद्वैत और उसके साथ ही साथ बर्गसां के सम्पूर्ण सृष्टि विज्ञान को भी त्याग दिया। आने वाले विकासवादी दर्शनों में प्रातिभ की अपेक्षा बुद्धि और विज्ञान का अधिक महत्वपूर्ण योगदान रहा हैं।

बर्गसां की परिवर्तन और परिणामिता की धारणा जोश के साथ एक बड़े ही आकर्षक साहित्यिक रूप में रखी गई। कई विचारकों का ऐसा विश्वास है कि आधुनिक भौतिकी की प्रगति से बर्गसां के द्रव्य और परिवर्तन की धारणाओं की पुष्टि होती है। व्हाइटहेड की पुस्तक **प्रक्रिया और सत्ता** में बर्गसां के दर्शन का प्रभाव स्पष्टतया दिखाई देता है।

बर्गसां की विकासवादी धारणा जिस रूप में उसकी पहले की रचनाओं में मिलती है एक दृष्टि से दर्शन में बहुत महत्व रखती है और जीव विज्ञान के दावों से भी मेल खाती है। यह है उसकी चरम हेतुवाद की अस्वीकृति और विकास की प्रक्रिया में मानव के स्थान की व्याख्या। जगत के विकास की समस्या केवल मानव के भाग्य की समस्या ही नहीं है। मनुष्य विकास की प्रक्रिया का लक्ष्य या सरताज नहीं है। उसने भी अन्य जातियों की तरह जीवन के लिए संघर्ष किया है

83. सृजनात्मक विकास, पृ. 284
Principles of Evolution, P· 254. Quoted by J. A. Gunn in *Bergson And His Philosophy*, P. 138, Methuen & Co, London 1920.

और वह जीव विकास की अनेक शाखाओं में से एक के विकास की एक अवस्था में है। इस अर्थ में वैज्ञानिक बर्गसां के चरम हेतुवाद के खण्डन से सहमत है।

वैज्ञानिक दृष्टिकोण रखने वाले दार्शनिकों ने (जैसे रसेल और कई जीव-विज्ञान शास्त्री) बर्गसां की पुस्तकों की कटु आलोचना की है। फिर भी साहित्य, दर्शन और विज्ञान के बहुत लोगों को उसकी रचनायें बहुत प्रिय हैं जिससे वह बीसवीं शताब्दी के दार्शनिकों में अपना स्थायी स्थान प्राप्त कर चुका है।

डॉ. मांगीलाल कोठारी
जोधपुर विश्वविद्यालय

Bibliography

Authorised English Translations of H. Bergson's Main Works.

Time and Free Will काल और स्वतन्त्र संकल्प	:	Tr. by F. L. Pogson, Allen & Unwin, London, 1910
Matter and Memory जड़ पदार्थ और स्मृति	:	Tr. by M. Paul and W.S. Palmer, Macmillan & Co., New York, 1911
Creative Evolution सृजनात्मक विकास	:	Tr. By A. Mitchell, Macmillan & Co., New York, 1911
Laughter हास	:	Tr. By Brereton & Rothwell, Macmillan & Co., London, 1911
Mind-Energy मनस-शक्ति	:	Tr. by E. W. Carr, Macmillan & Co., London, 1920
The Two Sources of Morality & Religion नैतिकता और धर्म के दो स्रोत	:	Macmillan & Co., London, 1932
The Creative Mind सृजनात्मक मनस	:	Edited & Published by The Philosophical Library, New York, 1946

Works on Bergson :

Carr, H.W.	:	**The Philosophy of Change**, New York, 1912
Lindsay, A.D.	:	**The Philosophy of H. Bergson**, London, 1911
Russell, Bertand	:	**Our knowledge of the External World**, Allen & Unwin.
— do —		**History of Western Philosophy**, Chapter xxviii
— do —		Article in the **Twentieth Century Philosophy**, Edited by D.D. Runes, Philosophical Library New York, 1947
Ryan, J. K.	:	(Ed.) **The Twentieth Century Thinkers**, Alba House, New York, 1967.
Dodson, G. R.	:	**Bergson And the Modern Spirit**, Lindsay Press, 1914
Gunn, J. A.	:	**Bergson And His Philosophy**, Methuen & Co. London, 1920.

ग्रीक दार्शनिकों एवं संबद्ध शब्दों के हिन्दी उच्चारण

1. Abdera	एब्डेरा
2. Achilles	एकिलीज्
3. Aeschylus	ईस्किलस
4. Agrigentum	ऐग्रिगेन्ट्म
5. Anaxagoras	एनेक्सागोरस
6. Anaximender	एनेक्जिमैन्डर
7. Anaximenes	एनेक्जिमेनीज्
8. Anthisthenes	एन्टिस्थेनीज्
9. Aphrodite	एफ्रोडाइट
10. Apollodorus	एपोलोडोरस
11. Apolonius	एपोलोनियस
12. Aristarchus	ऐरिस्टार्कस
13. Aristophanes	एरिस्टोफैनीज
14. Aristotle	एरिस्टॉटल
15. Aristozanus	एरिस्टोजेनस्
16. Cicero	सिसरो
17. Classius	क्लैसियस
18. Critias	क्रिटियास
19. Croseus	क्रीसस
20. Croton	क्रोटोन
21. Delphi	डैल्फि
22. Democritus	डेमोक्रिटस
23. Demosthenes	डेमोस्थेनीज
24. Diogenes	डायोजिनीज
Lartius	लार्शियस
25. Dionysius	डायनिसियस
26. Elenchi	एलेन्कि
27. Empedocles	एम्पेडोक्लीज
28. Ephesus	एफेसस
29. Epicarmus	एपिकार्मस
30. Epicurus	एपिक्यूरस
31. Euripides	यूरिपिडीज्
32. Garbe	गार्बे
33. Gorgias	गोर्गियास
34. Heraclitus	हेराक्लिटस
35. Herodotus	हेरोडोटस
36. Hesoid	हेसियड
37. Hippasus	हिप्पेसस
38. Hippias	हिप्पियस
39. Hippocrates	हिप्पोक्रटीज्
40. Hiro	हिरो
41. Ionia	आओनिया
42. Leucippus	ल्यूकिप्पस
43. Logos	लोगोस
44. Melissus	मेलिस्सस
45. Olympic	ओलिम्पिक
46. Pericles	पेरिक्लीज
47. Phidias	फिडियास
48. Phoenicia	फिनिशिया
49. Plutarch	प्लुटार्क
50. Polybius	पोलिबियस
51. Polycrates	पौलिक्रटीज्
52. Porphyry	पॉरफिरी
53. Poseidon	पोसेडोन
54. Proclus	प्रोक्लस
55. Protagoras	प्रोटागोरस
56. Pythagoras	पाइथागोरस (पीथागोरस, पिथैगरस,)
57. Pythian	पाइथियन
58. Rhetorica	रेटोरिका

59. Samos	सैमोस
60. Simplicissus	सिम्पलिसिसस
61. Smyrna	स्मर्ना
62. Sophocles	सोफोक्लीज
63. Sybil	साइबिल
64. Synthesis	सिन्थेसिस
65. Syracuse	सिरैक्यूज़
66. Thales	थेलीज़
67. Theatetus	थीयेटिटस
68. Theodicy	थियोडिसी
69. Theophrastus	थियोफ्रेस्टस
70. Theos	थीयोस
71. Thrasymachus	थैसीमेक्स
72. Xenophanes	ज़ेनोफ़ेनीज़
73. Zeno	जेनो
74. Zeus	ज़्यूस

डॉ. दयाकृष्ण, जन्म 17-9-1924 दिल्ली। पी. एच. डी. तक सम्पूर्ण शिक्षा दिल्ली में ही पायी। प्रथम नियुक्ति दर्शन के व्याख्याता के रूप में सागर विश्वविद्यालय में 1956 में हुई। चार वर्ष के अध्यापन के बाद रॉक्फैलर फाउन्डेशन फैलोशिप पर 1960-61 में अमरीका में रहे। 1963 में राजस्थान विश्वविद्यालय दर्शन के आचार्य पद पर नियुक्त हुए। संप्रति वे इस विश्वविद्यालय के उपकुलपति पद पर हैं।

भारतीय और पाश्चात्य पत्रिकाओं में अनेक लेखों के अतिरिक्त आपके निम्न ग्रन्थ प्रकाशित हुए :

1. नेचर ऑफ फिलासफी 1955, 2. कंसिडरेशंस् टूवाड्र्स दि थ्योरी ऑफ सोश्यल चेंज 1964, 3. सोश्यल फिलॉसफी: पास्ट एण्ड फ्यूचर 1969, 4. ज्ञानमीमांसा 1975. रिफ्लेक्शंस् ऑन दि कांसेप्ट ऑफ पुलिटिकल डिवेलपमेंट 1979। आप वर्षों तक इंटरनेशल काउन्सिल फॉर फिलासफी एण्ड ह्यूमनिस्टिक स्टडीज, पेरिस की पत्रिका डायोजनीज़ के संपादक मण्डल में भी रहे।

डॉ. दयाकृष्ण अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त दो-चार भारतीय दार्शनिकों में से एक हैं।